तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन

द्वितीय खण्ड

व्रजवल्लभ द्विवेदी



शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्

जंगमवाडी मठ, वाराणसी- २२१००१

शोधप्रकाशन ग्रन्थमाला— २५

तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन

द्वितीय खण्ड

लेखक एवं सम्पादक
राष्ट्रियपण्डित श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी
निदेशक
शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्

प्रकाशक
शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्
जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी - २२१ ००१

प्रकाशक :
शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्
डी. ३५/७७ जंगमवाड़ी मठ
वाराणसी - २२० ००१

प्रथम संस्करण, २००१ ई.

मूल्य : सजिल्द रु. ६००
अजिल्द रु. ४५०

अक्षर संयोजन एवं फिल्म प्रोसेसिंग :
काशी ग्राफिक्स
सी. २/४१ हंकार टोला, वाराणसी - २२१ ०१०
फोन नं. : (०५४२) ३५५३७२

मुद्रक :
काबरा ऑफसेट्स
रवीन्द्रपुरी, वाराणसी

Research Publications Series — 25

TANTRĀGAMĪYA DHARMA-DARSAN

VOL. II

Author & Editor
Pt. Vrajavallabha Dwivedi
Director, Shaiva Bharati Shodha Pratishthanam

SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANAM
D. 35/77, Jangamawadimath, Varanasi - 221 001

Published by :
SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANAM
D. 35/77, Jangamawadimath
Varanasi - 221 001

ISBN 81-86768-44-0 (Set)
81-86768-47-5 (Vol. II) (Hb)
81-86768-48-3 (Vol. II) (Pb)

First Published - 2001

Price : Rs. 600 (Hb) Rs. 450 (Pb)

Laser Typeset & Film Processing :
Kashi Graphics
C. 2/41, Hankartola, Varanasi - 221 010
Phone : (0542) 355372

Printed at :
Kabra Offsets
Ravindrapuri, Varanasi - 221 005

शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के संस्थापक



श्री काशी विश्वाराध्य ज्ञानसिंहासनाधीश्वर
श्री १००८ जगद्गुरु डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामी जी का
शुभाशीर्वचन

भारतीय सनातन धर्म-दर्शन के मूल आधार निगम तथा आगम ही हैं। ये दोनों भगवान् शिव से प्रादुर्भूत हैं। "निःश्वसितमेतद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः" इस श्रुति-प्रमाण से शिव के श्वास के रूप में उत्पन्न हुए एवं 'आगतं शिववक्त्रात्तु' इस उक्ति से आगम उसकी वैखरी वाणी से उत्पन्न हुए, यह ज्ञात होता है। इन दोनों के प्रतिपाद्य विषय में मतभेद नहीं है, अर्थात् दोनों ही एकार्थ के प्रतिपादक हैं। अत एव श्री सिद्धान्त-शिखामणि में कहा गया है—

वेदसिद्धान्तयोरैक्यमेकार्थप्रतिपादनात्।
प्रामाण्यं सदृशं ज्ञेयं पण्डितैरेतयोः सदा।। (सि. शि. ५.१३)

जब दोनों एक ही अर्थ के प्रतिपादक हैं, तो वेद के रहते भगवान् शिव को आगमों का उपदेश क्यों करना पड़ा? इसका रहस्य यह है कि वेदोचित उपनयन, वेदाध्ययन आदि का अधिकार त्रैवर्णिकों के लिए ही वेदों में सीमित किया गया है।

वस्तुत: देखा जाय तो भगवान् शिव की प्राप्ति के लिए वर्णव्यवस्था ही मुख्य नहीं है, किन्तु योग्यता को मुख्य माना गया है। अत: भगवान् शिव ने योग्यता के आधार पर मानव-समाज के उत्थान के लिए आगमों का उपदेश किया है। आगम सिद्धान्त के अनुसार साधना में प्रवृत्त होने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए दीक्षा-संस्कार अनिवार्य माना गया है। यह दीक्षा वर्णव्यवस्था के आधार पर नहीं दी जाती। चाहे किसी भी वर्ण का क्यों न हो, यदि उसको शक्तिपात हुआ है, तो वह दीक्षा के लिए अधिकारी माना जाता है। अत: श्री सिद्धान्तशिखामणि में "शक्तिपातं समालोक्य दीक्षया योजयेदमुम्" (सि. शि. ६.१०) कहा गया है। शिवपूजा, शिवकथाश्रवण, शिवशास्त्राध्ययन आदि के प्रसंग में आनन्दाश्रु आना, रोमांचित होना, अंगकम्पन आदि चिह्न यदि किसी के शरीर में अभिव्यक्त होते हैं, तो उस व्यक्ति को शक्तिपात हुआ है, ऐसा माना जाता है। यह शक्तिपात ही दीक्षा का आधार है।

इस शक्तिपात से विशिष्ट ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और स्त्रियाँ— ये सभी दीक्षा के योग्य हैं। उच्च वर्ण में जन्म लेने पर भी यदि वह व्यक्ति शक्तिपात के लक्षणों से युक्त नहीं होगा, तो वह दीक्षा का पात्र नहीं बन सकता। इससे यह तथ्य समझ में आ जाता है कि भगवान् शिव के लिये सब समान हैं। "समा भवन्ति मे सर्वे" इस उक्ति के अनुसार सबको समान दृष्टि से देखने के कारण ही उनका नाम शिव है। जन्मगत किसी भी भेद को आधार न मानकर योग्यता के आधार पर सभी को आत्मशुद्धि और आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त करने के लिए भगवान् शिव ने अपनी वैखरी वाणी के द्वारा आगमों का उपदेश किया है। इन सभी दृष्टियों से मनुष्यमात्र के कल्याण के लिए ही आगम उपदिष्ट हुए हैं, यही इसका रहस्य है।

निगम और आगम इन दोनों में निगम के ऊपर जितना काम हुआ है, उतना आगम के ऊपर नहीं हुआ। इसीलिये हमारे शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के निदेशक, तन्त्रागमशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् राष्ट्रियपण्डित श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी जी ने तन्त्रागमशास्त्र को अपने अध्ययनक्षेत्र के रूप में स्वीकार कर, उसके ऊपर अनेक लेख एवं ग्रन्थ लिखे हैं। "तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन" नामक यह ग्रन्थ पण्डित द्विवेदी जी की आगमशास्त्र की विद्वत्ता का परिचायक है।

आज भारतीय संस्कृति के ऊपर अनेक प्रकार की टीका-टिप्पणियाँ हो रही हैं। उन सबसे मुक्त कर भारतीय संस्कृति को श्रेष्ठता के उत्तुंग शिखर पर पहुँचाने के लिए तन्त्रागम वाङ्मय के विकास एवं प्रचार-प्रसार की नितान्त आवश्यकता है। इसी विचार से हमारे जंगमवाड़ी महामठ के शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के द्वारा-सूक्ष्म, कारण, मुकुट,

चन्द्रज्ञान, पारमेश्वर आदि शिवागमों का हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशन किया गया है। इस शृंखला में महाशिवरात्रि के शुभ अवसर पर "तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन" (द्वितीय खण्ड) ग्रन्थ का लोकार्पण करते हुए हमें अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। इस ग्रन्थ का प्रथम खण्ड गत महाशिवरात्रि पर लोकार्पित हो चुका है, जिसमें उपक्रमाधिकार, वैष्णवाधिकार एवं शैवाधिकार नामक तीन अधिकारों का समावेश हुआ है। इनकी चर्चा हम प्रथम खण्ड में कर चुके हैं।

प्रस्तुत द्वितीय खण्ड में शाक्ताधिकार, बौद्धाधिकार, जैनाधिकार, स्मार्ताधिकार तथा उपसंहाराधिकार नामक पाँच अधिकार समाविष्ट हैं। शाक्ताधिकार में काली तथा त्रिपुरा नामक दो उपविभाग हैं। शाक्ताधिकार के काली विभाग में शक्ति का स्वरूप, शक्तिपारम्यवाद, महेश्वरानन्दनिर्दिष्ट क्रमदर्शन, महेश्वरानन्द की विशेष दृष्टि आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है। त्रिपुरा विभाग में त्रिपुरोपासना, त्रिपुरा सम्प्रदाय के आचार्य एवं कृतियाँ, शाक्त वामकेश्वर दर्शन जैसे विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है। बौद्धाधिकार में बौद्ध तन्त्रशास्त्र का परिचय, वज्रयान के सामान्य विषय, बौद्ध योग, वज्रयान का दर्शन आदि विषयों की चर्चा उपलब्ध है। जैनाधिकार में जैन तन्त्रशास्त्र का समग्र परिचय तथा उसके प्रतिपाद्य विषयों के ऊपर प्रकाश डाला गया है। स्मार्ताधिकार में पंचायतन पूजा के विषय के साथ स्मार्त तन्त्र-वाङ्मय का परिचय उपलब्ध है। इस अधिकार में स्मार्त पंचायतन पूजा के माध्यम से वेदानुवर्ती तन्त्रों का ही नहीं, उनसे भिन्न बौद्ध और जैन तन्त्रों का भी पौराणिक एवं तान्त्रिक षड्दर्शन पद्धति में कैसे समावेश हो गया था, इसको भी सप्रमाण दिखाया गया है। अन्तिम उपसंहाराधिकार में समस्त तन्त्रागमीय वाङ्मय की, उसकी प्रमुख धाराओं की तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की गई है।

आज तक इन समस्त शाखाओं का अध्ययन खण्ड-खण्ड में हुआ है, किन्तु इस ग्रन्थ में समग्र रूप से तन्त्रागमीय शाखाओं का अध्ययन किया गया है। अभी तक प्रकाशित तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन के इतिहास सम्बन्धी ग्रन्थों में यह अद्वितीय माना जायगा। इस ग्रन्थ के अवलोकन से पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी जी की विद्वत्ता का एवं उनकी परिपक्व विचारधारा का परिचय मिलता है। तन्त्रागमीय धर्म एवं दर्शन के जिज्ञासुओं एवं भारतीय संस्कृति के समग्र स्वरूप को जानने वालों के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। हम प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक, तन्त्रागमशास्त्र के मूर्धन्य मनीषी पं. श्री द्विवेदी जी के पूर्णायु एवं आरोग्य की कामना करते हैं। श्री जगद्गुरु विश्वाराध्य, काशी विश्वनाथ एवं माता अन्नपूर्णा की कृपा से इसी तरह आपके द्वारा सारस्वत सेवा होती रहे। पूर्व खण्ड की भाँति इस खण्ड को भी पण्डित श्री जनार्दन

शास्त्री पाण्डेय जी की सूक्ष्म दृष्टि परिमार्जित रूप दे सकी है। काशी ग्राफिक्स के संचालक श्री विश्वंभर देव उपाध्याय ने इस खण्ड के सुन्दर, स्वच्छ और शुद्ध मुद्रण में पूरी रुचि दिखाई है। इनके यहाँ कार्यरत श्री चिदानन्द ओ. हिरेमठ (कसगी) ने आकर्षण अक्षर-संयोजन किया है। हम इन सबके उज्ज्वल भविष्य की कामना करते हुए अपना आशीर्वचन पूर्ण करते हैं।

महाशिवरात्रि, २०५७ वि. *इत्याशिषः*



प्रस्तावना

किसी चीज को जब हम टुकड़ों में देखते हैं, तो हमें आश्चर्य होता है कि कबीर जैसे अथवा विमलप्रभाकार पुण्डरीक जैसे महानुभावों ने कितना आश्चर्यजनक कार्य किया है, किन्तु अखण्ड रूप में देखने पर यह आश्चर्य शान्त हो जाता है कि अनेक विचारकों के कठिन परिश्रम का यह प्रतिफल है। भारतीय अनुशीलन का यह दुर्भाग्य है कि आधुनिक अध्येताओं ने, विशेष कर भाषाई अध्येताओं ने प्राचीन परम्परा से नाता तोड़कर एक नया रास्ता अपना लिया है। भारत राष्ट्र के लिये यह एक खतरे की घंटी है। इस दृष्टि के परिमार्जन के लिये ही यह ग्रन्थ लिखा गया है कि समस्त भारतीय भाषाओं में निबद्ध सन्त-साहित्य की पृष्ठभूमि में यह जो तन्त्रागमीय वाङ्मय विद्यमान था, उसे हम पहिचानें।

प्रस्तुत ग्रन्थ में आठ अधिकार हैं। उपक्रम और उपसंहार के अतिरिक्त वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन और स्मार्त नामक छः अधिकारों के रूप में इनको बीच में जोड़ा गया है। कालिक दृष्टि को यद्यपि यहाँ प्रधानता दी गई है, तो भी पूरी तरह से इसे सही नहीं माना जा सकता। हम मानते हैं कि आगमों की प्रवृत्ति पाणिनि के समय तक अवश्य हो चुकी थी। कौल प्रकृति के तन्त्रों की प्रवृत्ति का काल आठवीं शताब्दी माना जाता है। हम इसे छठी शताब्दी मानते हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि इस समय तक संहिता, आगम और तन्त्र शब्द पर्यायवाची हो चुके थे। विभिन्न स्थलों पर इसके लिये पर्याप्त प्रमाण दिये जा चुके हैं। लुप्ता. उपो., पृ. १६३ पर उद्धृत देवीयामल और स्वायम्भुव-वचन में आगम के लिये भी [१]संहिता शब्द प्रयुक्त है।

यहाँ शैवागमों का क्रम कालक्रम की अपेक्षा उनकी परस्पर की अनुस्यूतता पर आधारित है। श्रीकण्ठ पाशुपत और लकुलीश पाशुपत के बाद यहाँ कालामुख, कापालिक और कौल मतों का परिचय दिया गया है। हमारी दृष्टि में इन तीनों मतों का लकुलीश पाशुपत मत से गहरा संबन्ध होना चाहिये। सिद्धान्तशैव मत का संबन्ध श्रीकण्ठ की परम्परा से माना जाता है और प्रत्यभिज्ञा दर्शन की प्रवृत्ति द्वैत और द्वैताद्वैतवादी सिद्धान्तागमों की अद्वैतपरक व्याख्या के आधार पर ही हुई है। इस पर तथा बौद्ध एवं शाक्त तन्त्रों पर भी कौल तन्त्रों का विशेष प्रभाव है। इसके विपरीत वीरशैव

---

१. "चतुष्पात्संहिताभिज्ञः" इस देवीयामल के और "संहितापारगस्यैव सेकः" इस स्वायम्भुवागम के वचन में संहिता शब्द का स्पष्ट उल्लेख है।

मत, नाथ मत और जैन तन्त्रों पर कौल तन्त्रों का कोई प्रभाव नहीं है, ऐसा हम मान सकते हैं। इनको हम श्रीकण्ठ की परम्परा से जोड़ सकते हैं। इन सबके कालक्रम पर अभी पर्याप्त विचार अपेक्षित है।

संस्कृत भाषा में लिखे गये अपने निबन्धों, प्रस्तावनाओं अथवा उपोद्घातों के आवश्यक, अथच महत्त्वपूर्ण अंशों का हिन्दी भाषा में परिवर्तित स्वरूप सन्दर्भ के अनुसार यहाँ रखा गया है। इसी तरह से हिन्दी भाषा में निबद्ध निबन्ध, प्रस्तावना आदि के अतिविशिष्ट अंश भी यहाँ संकलित किये गये हैं। तन्त्रागमीय ज्ञानकोश, संस्कृत साहित्य के बृहदितिहास के एकादश तन्त्रागमीय खण्ड और भारतीय तन्त्रशास्त्र में संकलित अन्य विद्वानों की प्रासंगिक सामग्री का वहाँ स्थान-निर्देश मात्र किया गया है, किन्तु अपनी सामग्री के अति आवश्यक अंशों को वहाँ से भी लिया ही गया है। इस ग्रन्थ के निर्माण में हमने अपने और अन्य विद्वानों के किन-किन निबन्धों अथवा ग्रन्थों से सहायता ली है, इसकी सूचना टिप्पणियों में दी जा चुकी है। इस प्रस्तावना में भी उनकी संक्षिप्त सूचना दी जा रही है।

जिन ग्रन्थों के आधार पर लुप्तागमसंग्रह के दो भागों में लुप्तप्राय ४०२ तन्त्रागमशास्त्र के ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के वचनों का संग्रह किया गया और विस्तृत उपोद्घात के रूप में इनका ऐतिहासिक, दार्शनिक एवं सांस्कृतिक परिचय दिया गया, उन ४८ ग्रन्थों का परिचय लुप्ता. उपो. के प्रथम पाँच पृष्ठों में दिया गया है। आगे ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का विस्तृत परिचय देने से पहले (पृ. ५-१४) आधार ग्रन्थों का विश्लेषण, ग्रन्थकारों का कालनिर्णय, इनके नामों की परीक्षा, मुद्रित-ग्रन्थ नामावली, शैव, वैष्णव, शाक्त आदि विभिन्न मतों के आगम-तन्त्रों तथा ग्रन्थ-ग्रन्थकारों की नामावली, नाथ-पाद-भट्टारक-राज-शिव जैसे पदों से अंकित आचार्य, दर्शनशास्त्र और योगशास्त्र के ग्रन्थ जैसे विषय सूचित हैं। आगे (पृ. १४-८५) ४०२ तन्त्र-ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का परिचय देने के बाद संहिता, आगम और तन्त्र-ग्रन्थों की विविध नामावलियों की परीक्षा कर शैवसिद्धान्त के २३२ आगमों और उपागमों की, शिव के पाँच वक्त्रों से विनिर्गत १३२ तन्त्रों की तथा नवविध ६४ तन्त्रों की नामावली दी गई है (पृ. ८५-१११)।

लुप्ता. उपो. के प्रारंभ में निर्दिष्ट सभी ४८ ग्रन्थों की पूरी सामग्री उन दोनों भागों में संगृहीत हो चुकी है, ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। पृ. ५ की टिप्पणी में सूचित किया गया है कि शतरत्नसंग्रह में उद्धृत सभी वचन यहाँ संगृहीत नहीं हो सके हैं। डॉ. मार्क डिच्कोफस्की ने यहाँ की कुछ त्रुटियों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट

किया था। हम समझते हैं कि इनमें संशोधन अपेक्षित हैं। क्षेमराज आदि के विषय में कुछ संशोधन हमने प्रस्तुत किये भी हैं।

लुप्तागमसंग्रह की पद्धति से दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी से लुप्त बौद्ध वचन संग्रह की तथा बौद्ध तन्त्र कोश की सामग्री संकलित की गई है। प्रथम भाग के उपोद्घात (पृ. ९-१०) में उन १९ आधार-ग्रन्थों का परिचय दिया गया है, जहाँ से ये वचन संगृहीत हैं। इसमें भी १२५ बौद्ध ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के वचन संकलित हैं। उपोद्घात में इन सभी का परिचय दिया गया है और उनके कालक्रम की भी संक्षिप्त चर्चा की गई है।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से आगम-तन्त्र कोश के प्रकाशन की प्रक्रिया लगभग पूरी हो चुकी थी। इसके विषय में कुछ न लिखना ही उचित होगा। उसी पद्धति में बौद्ध तन्त्र कोश में उन परिभाषाओं को संकलित किया गया है, जो विभिन्न बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थों में प्रसंगवश परिभाषित हैं। उस ग्रन्थ के उपोद्घात (पृ. ९-१०) में इस तरह के २२ आधार-ग्रन्थों का परिचय दिया गया है। अनेक स्थलों पर किसी विशेष शब्द को परिभाषित करते समय अन्य शब्द भी परिभाषित हुए हैं और प्रमाण के रूप में अनेक ग्रन्थों और ग्रन्थकारों को भी प्रस्तुत किया गया है। परिशिष्ट में इनकी सूची भी प्रस्तुत की गई है और उपोद्घात (पृ. ११-१२) में इनमें से कुछ का यथोपलब्ध परिचय भी दिया गया है। उस उपोद्घात (पृ. १३-४३) में कुछ विशिष्ट विषयों का बौद्ध-तन्त्र संमत स्वरूप भी सप्रमाण विवेचित है। बौद्धाधिकार के लिये वहाँ के आवश्यक अंशों का सदुपयोग किया गया है।

इस ग्रन्थ की रचना में तिब्बती संस्थान, सारनाथ से प्रकाशित "भारतीय तन्त्रशास्त्र" की और उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ से प्रकाशित "संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास" नामक ग्रन्थ के एकादश तन्त्रागमीय खण्ड की विशेष भूमिका रही है। उस इतिहास खण्ड के सम्पादकीय वक्तव्य (पृ. ३८-४४) में हमने डॉ. आर. जी. भाण्डारकर, डॉ. चिन्ताहरण चक्रवर्ती, डॉ. बलजिन्नाथ पंडित, डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची, डॉ. उपेन्द्रनाथ दास, प्रो. नरेन्द्रनाथ भट्टाचार्य, डॉ. एस. सी. बनर्जी, डॉ. जे. गोण्डा, डॉ. तून गान्द्रियान जैसे विद्वानों की चर्चा की है। तान्त्रिक भाषा-साहित्य के प्रसंग में डॉ. संयुक्ता गुप्ता (गोम्बिच) और श्री नर्मदाशंकर देवशंकर पंड्या की विशेष रूप से चर्चा हुई है। इस प्रसंग में पं. श्री बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते जी का "भास्करराय भारती दीक्षित : व्यक्तित्व एवं कृतित्व" नामक ग्रन्थ भी स्मरणार्ह है।

उसी एकादश खण्ड में समाविष्ट स्वरचित "पाशुपत, कालामुख व कापालिक मत" (पृ. १०३-१४४) शीर्षक निबन्ध में डॉ. आर. जी. भाण्डारकर के "वैष्णव, शैव

और अन्य मत" (हिन्दी) का, डॉ. एस. एन. दासगुप्त के "भारतीय दर्शन का इतिहास" का, डॉ. यदुवंशी के 'शैवमत' का, डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय के "शैवदर्शनबिन्दु" का, पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी (प्रस्तुत लेखक) की "आगममीमांसा" का, डॉ. वी. एस. पाठक के "हिस्ट्री आफ शैव कल्ट्स इन नार्दर्न इण्डिया" का, डॉ. डेविड एन. लोरेंजन के "कापालिक्स एण्ड कालामुख्स" का, डॉ. जे. गोण्डा के "मिडीवल रिलीजियस लिटरेचर इन संस्कृत" का तथा डॉ. देवराज पौडेल के अप्रकाशित शोध प्रबन्ध का परिचय दिया गया है (पृ. १३२-१३६)।

"आगम और तन्त्रशास्त्र" में प्रकाशित प्रथम निबन्ध में भारतरत्न म. म. पी. वी. काणे की तथा उनके महनीय ग्रन्थ "धर्मशास्त्र का इतिहास" के पंचम खण्ड की चर्चा की गई है। इसी निबन्ध में डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य के विचार भी समीक्षित हैं। इधर (सन् १९९९ ई.) डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य जी की स्मृति में "तान्त्रिक बुद्धिज्म" नामक ग्रन्थ भी प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रारंभ (पृ. ११-१५) में डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य जी की जीवनी भी दी गई है। डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय जी के प्रसिद्ध ग्रन्थ "अभिनवगुप्त : एन हिस्टोरिकल एण्ड फिलासफिकल स्टडी" की यहाँ अनेक स्थलों पर चर्चा हुई है। इन सभी ग्रन्थों और ग्रन्थकारों से हमने यथोचित सहायता ली है। हम इन सबके प्रति आभार प्रदर्शन करते हैं।

[१]"प्रायश्च सिद्धान्तप्रियो लोकः", "आचार्यशङ्करीयः प्रपञ्चसारः" जैसे संस्कृत निबन्धों की सामग्री का यहाँ पूरी तरह से उपयोग नहीं हो पाया है। हिन्दी भाषा में निबद्ध सामग्री का प्रायः स्थलनिर्देश कर दिया गया है। प्रत्येक उपोद्घात अथवा प्रस्तावना के अन्तिम अंश में हमने कुछ विचार प्रस्तुत किये हैं। यही स्थिति कुछ विशिष्ट संस्कृत-हिन्दी निबन्धों की भी है। उदाहरण के रूप में नेत्रतन्त्र के उपोद्घात के अन्त में हमने लिखा है कि वहाँ (१९. २१९) स्पष्ट घोषणा की गई है कि नेत्रनाथ पर सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। भारतीय जनमानस आज कलिकाल की बिभीषिका से बुरी तरह से परेशान है। नेत्रनाथ के इस स्वरूप की उपासना कर वह इससे त्राण पा सकता है (पृ. ४९)। [२]मन्त्रवाद के विषय में भी वहाँ विशद चर्चा की गई है। वहाँ स्पष्ट बताया गया है कि कुटुम्बी-जनों और प्रजा के कल्याण के लिये, उन पर अनुग्रह करने की दृष्टि से ही मन्त्रवाद का सहारा लेना चाहिये (पृ. ४०)।

---

१. ये दोनों संस्कृत निबन्ध "निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्" नामक ग्रन्थ के क्रमशः पृ. १६५-१८१ तथा पृ. १८२-१९९ पर देखे जा सकते हैं।

२. नेत्रतन्त्र का उपोद्घात (पृ. २८-३३) देखिये।

[1]एक निबन्ध के अन्तिम अंश को भी हम यहाँ प्रस्तुत करना चाहते हैं— "समाज में साधारणतया स्वाभाविक परिवर्तन होता रहता है, किन्तु कभी-कभी क्रान्ति के द्वारा भी सहसा परिवर्तन होता है। क्रान्ति के द्वारा आया परिवर्तन क्षणिक होता है। समाज फिर अपनी सहज गति से चलने लगता है। ····केवल क्रान्ति से चिपके रहने वाला और सतत प्रवहमान धारा का साथ न देने वाला पिछड़ जाता है···· आज के कम्यूनिज्म में इसकी परीक्षा की जा सकती है। ····उस क्रान्ति की अब कहीं आवश्यकता नहीं है, लेकिन एक वर्ग बन गया है, जो **केपिटल** को किसी धर्म-ग्रन्थ से नीचा स्थान देने को तैयार नहीं है"।

अलग पुस्तक के रूप में इस तरह के विचारों को अवश्य इकट्ठा किया जा सकता है, किन्तु उसके लिये प्रस्तुत ग्रन्थ का उपयोग अनपेक्षित है। "भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाता:" इस सूक्ति के अनुसार अपनी उन उक्तियों के प्रति अपने पक्षपात को न छिपा पाने के कारण उनकी सूचना मात्र यहाँ दी गई है। अस्तु.

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम खण्ड की प्रस्तावना में हमने ज्ञान के तीन स्रोतों की चर्चा की है— "गुरुत: शास्त्रत: स्वत:"। जिन शास्त्रों से हमने ज्ञान अर्जित किया, उनकी संक्षिप्त सूचना अभी दी गई है। श्रद्धेय गुरुदेव का संक्षिप्त परिचय दे देना भी प्रसंग-प्राप्त है। म. म. पद्मविभूषण पं. गोपीनाथ कविराज जी की जीवनी "तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि" के प्रारंभ में "ग्रन्थकार परिचय" (पृ. १-६) के रूप में संक्षेप में दी गई है। "मनीषी की लोकयात्रा" में इसको अधिक विस्तार से देखा जा सकता है। "तन्त्रशास्त्र के उद्धारक श्रद्धेय कविराज जी" शीर्षक से हमारे द्वारा लिखा गया इनके विचारों का सांस्कृतिक विश्लेषण "निगमागमीय संस्कृति" (पृ. १७१-१८१) में प्रकाशित हुआ है।

१. तन्त्र का स्वरूप, आविर्भाव और भेद, २. काश्मीरीय शैवदर्शन, ३. तान्त्रिक बौद्ध साधना, ४. तान्त्रिक दृष्टि, ५. वैष्णव साधना और साहित्य, ६. सहजयान और सिद्धमार्ग— जैसे निबन्धों में तथा अपने सन्दर्भ-ग्रन्थ "तान्त्रिक साहित्य" में श्रद्धेय कविराज जी ने आगम एवं तन्त्रशास्त्र में समाविष्ट संपूर्ण साहित्य का दार्शनिक एवं सांस्कृतिक स्वरूप प्रस्तुत किया है। इससे इस साहित्य की विशालता एवं दार्शनिक गंभीरता का परिचय मिलता है। कविराज जी का यह निश्चित मत था कि परवर्ती अद्वैतवादी तान्त्रिक दर्शन ने शून्यवादी बौद्ध दर्शन और मायावादी शांकर दर्शन की त्रुटियों का परिमार्जन कर भारतीय दर्शन को अलीकवाद से हटा कर यथार्थवाद के उच्च

१. आगम और तन्त्रशास्त्र, पृ. १४१ देखिये।

शिखर तक पहुँचाया था। महार्थमंजरीकार महेश्वरानन्द ने अपने ही ग्रन्थ की परिमल टीका में इस विषय को अनेक मनोरंजक युक्तियों के सहारे प्रतिष्ठित किया है।

विगत ढाई हजार वर्षों में विकसित यह यथार्थवादी साहित्य जाने क्यों भारतीय विद्वानों की दृष्टि में उपेक्षित हो गया, जिसके बिना हम बौद्ध धर्म की महायान शाखा के और जैन तथा पौराणिक धर्म के विकास के यथार्थ स्वरूप को नहीं जान सकते। बौद्ध एवं जैन धर्म के स्वरूप को परिवर्तित करने में तथा पौराणिक धर्म की प्रतिष्ठा में आगमिक साहित्य के अवदान को समझने का प्रयास अभी तक नहीं किया गया है। इतना ही नहीं, पूरे देश में, उत्तर और दक्षिण भारत में विकसित भक्ति-साहित्य का, सिद्धों और सन्तों के साहित्य का तथा सूफी सन्तों का भी अध्ययन आज वेदान्त दर्शन की विभिन्न शाखाओं की पृष्ठभूमि में तो किया जाता है, किन्तु अद्वैत वेदान्त को छोड़कर अन्य सभी आचार्यों का वेदान्ती दर्शन इन्हीं शैव और वैष्णव आगमों से प्रभावित था, इस विषय पर सर्वाधिक प्रकाश डालने वाले प्रथम व्यक्ति कविराज जी ही थे। अपने अनेक निबन्धों और प्रवचनों में इन्होंने विस्तार से समझाया है कि सूफी मत किस प्रकार अद्वैतवादी शांकर दर्शन की अपेक्षा शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन एवं अद्वैतवादी शाक्त दर्शन से अधिक प्रभावित है। वज्रयान, सहजयान और शाक्त दर्शन की विभिन्न धाराओं की अनुस्यूतता पर भी इन्होंने पर्याप्त प्रकाश डाला था। आज उनकी इन अवधारणाओं की पृष्ठभूमि में पूरे भारतीय साहित्य के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता है।

आगमिक एवं तान्त्रिक वाङ्मय का सांस्कृतिक एवं दार्शनिक विवेचन ही कविराज जी को प्रिय था। कर्मकाण्ड की चर्चा में उन्होंने कभी रस नहीं लिया। जहाँ तक योगशास्त्र का प्रश्न है, व्यासभाष्य, विज्ञानभैरव और विरूपाक्षपंचाशिका— ये तीनों ग्रन्थ उनको अत्यन्त प्रिय थे। इन ग्रन्थों को उन्होंने शताधिक शिष्यों को बड़े ही मनोयोगपूर्वक उनकी अथाह गंभीरता को उद्‌घाटित करते हुए पढ़ाया था। उनका अखण्ड महायोग इसी मन्थन की चरम परिणति थी। उनका यह निश्चित मत था कि यह अखण्ड महायोग विश्व में शान्ति और सौहार्द की प्रतिष्ठा कर सकेगा, पूरे विश्व में अखण्ड एकता स्थापित कर सकेगा।

इस नवीन दृष्टि के आविर्भावक उस क्रान्तदर्शी मनीषी ने यथार्थवादी जीवन के प्रेरणास्रोत इस आगमिक और तान्त्रिक साहित्य के पुनरुज्जीवन के लिये ही अपने पूरे जीवन को समर्पित कर दिया था। हम लोग उन्हींकी आज्ञा का अनुसरण करते हुए इस कार्य में प्रवृत्त हैं। हम इन सभी शास्त्रों, शास्त्रकारों, ग्रन्थकारों एवं गुरुजनों के प्रति श्रद्धावनत हैं।

संवत् २०५५ के विन्ध्य-पर्वतश्रेणी के दक्षिण भाग में प्रचलित श्रावण मास में श्री इन्दु भाई (इन्द्रकुमार) गांधी के बुलावे पर मैं मालसर (बड़ोदरा, गुजरात) गया था। इनका व्यापार तो बड़ोदरा, बम्बई और विदेशों तक फैला हुआ है, किन्तु यहाँ नर्मदा के पावन तट पर मालसर में एकान्त स्थान पर इनका भव्य निवास-स्थान बना है। इनकी इच्छा थी कि यहाँ भगवती त्रिपुरा के संपूर्ण साहित्य के संग्रह और प्रकाशन के लिये एक शोधसंस्थान स्थापित किया जाय और मैं वहीं रहकर अपनी सारस्वत साधना चालू रख सकूँ। मैं अन्य गतिविधियों से हट कर "तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन" शीर्षक ग्रन्थ के निर्माण में लगना चाहता था, किन्तु भगवती त्रिपुरा के अनन्य उपासक श्री इन्दुभाई की इच्छा थी कि मैं भगवती त्रिपुरा की उपासना से संबद्ध कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को भाषानुवाद के साथ प्रकाशित करने में लग जाऊँ। मैं शोध संस्थान की स्थापना तक अपने को सीमित रखना चाहता था और यह संस्था चिरस्थायी हो, इसके लिये सचेष्ट था। श्रावण पूर्णिमा को सिद्धपुर में पवित्र सरस्वती नदी के तट पर ऋषितर्पण-श्रावणी उपाकर्म के अनुष्ठान के साथ गुजरात के महनीय शाक्त पीठ अम्बा जी में इस संस्थान का प्रधान केन्द्र रहे और उसकी एक शाखा मालसर में भी स्थापित हो, इसकी संभावना की खोज में मैं उधर गया था। एक या दूसरे कारण से यह संकल्प तो पूरा न हो सका, किन्तु पाशुपत योगाचार्यों की इस पवित्र भूमि, विशेष कर भगवान् लकुलीश की इस अवतार-स्थली में भगवती त्रिपुराम्बा के प्रसाद और प्रेरणा से उक्त ग्रन्थ के त्रिपुरा-प्रकरण के लेखन में मैं प्रवृत्त हो गया।

इस ग्रन्थ को शीघ्र पूरा करने की इच्छा से काशी के जंगमवाड़ी मठ के ज्ञानसिंहासनाधीश्वर श्री १००८ डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामी जी की प्रेरणा से मैं संवत् २०५६ के ज्येष्ठ अधिक मास में कर्णाटक के सिमोगा जनपद में स्थित वीरापुर मठ चला गया। वहाँ के मठाधिपति श्री ष. ब्र. मरुळसिद्ध पंडिताराध्य शिवाचार्य महास्वामी जी ज्यौतिष एवं आयुर्वेद के विशिष्ट विद्वान् हैं और इनके ज्ञान का आलोक दूर-दूर तक फैला हुआ है। यहाँ रहकर मैंने इस ग्रन्थ के अधिकांश भाग को लगभग पूरा कर लिया और किसी अलौकिक प्रेरणा से इस ग्रन्थ की संक्षिप्त प्रस्तावना भी लिख सका। इसका प्रकाशन प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में हो चुका है।

यहाँ रहते हुए मैंने देवीकालोत्तर नामक शैवागम के भांषा-भाष्य की भी रचना की। यह ग्रन्थ भी "तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन" के प्रथम खण्ड के साथ संवत् २०५६ के शिवरात्रि के पावन अवसर पर शिवार्पित हो चुका है। वीरापुर शिवाचार्य महास्वामी जी की आज्ञा के अनुसार इस ग्रन्थ को वीरापुर, हिरेमठ के संस्थापक लिंगैक्य श्री ष. ब्र.

चन्नवीर देशिकेन्द्र शिवाचार्य महास्वामी जी की स्मृति में सादर समर्पित किया जा चुका है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड के लेखन का कार्य अभी पूरा नहीं हो सका था। टिप्पणियों और परिशिष्टों के संयोजन का कार्य भी अभी बाकी था। यह कार्य मैंने सारनाथ स्थित केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान के निदेशक समादरणीय एस. रिम्पोछे जी की अनुमति से यहाँ के अतिथिभवन में रहते हुए संवत् २०५७ के ग्रीष्मावकाश में पूरा किया। यहाँ परिशिष्टों के संयोजन में दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध अनुभाग के श्री ठिनलेराम शाशनी जी का बहुमूल्य सहयोग हमें मिला है।

सौभाग्य से संवत् २०५७ का चातुर्मास व्रत पूज्य आचार्यदेव श्रीमद्विजयसूरीश्वर जी महाराज ने भगवान् पार्श्वनाथ की जन्मभूमि, भेलूपुर, वाराणसी में संपन्न किया। इस शुभ अवसर पर उनकी अनुमति लेकर मैंने पूरे जैनाधिकार को उन्हें सुनाया और उन्होंने इस पर सन्तोष व्यक्त किया। उनके निर्देश के अनुसार यहाँ कुछ स्थलों पर आवश्यक संशोधन भी किये गये हैं। इस प्रकार तीन वर्ष के सतत परिश्रम से सम्पन्न हुए इस ग्रन्थ को प्रबुद्ध पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। इन सभी महानुभावों और अन्य सहयोगियों के प्रति भी हम हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के विभिन्न अधिकारों में हमने प्रायः उन्हीं ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का परिचय दिया है, जिनके विषय में हमें भी कुछ कहना है। तन्त्रागमीय वाङ्मय अतिविशाल है। इसकी जानकारी श्रद्धेय कविराज जी के लगभग ८०० पृष्ठ के ग्रन्थ "तान्त्रिक साहित्य" से मिल जाती है। ऊपर दिये गये आधार-ग्रन्थों से भी इसकी जानकारी मिलती है। नि. षो. के उपो. (पृ. ३१-४९) में हमने शिवानन्द और विद्यानन्द के द्वारा स्मृत ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का परिचय दिया है। अन्य ग्रन्थों के उपोद्घातों और प्रस्तावनाओं में भी हमने इसी पद्धति का अनुसरण किया है। उनमें से बहुत थोड़ी सामग्री का ही यहाँ समावेश हो पाया है। प्रामाणिकता की दृष्टि से हम डॉ. चिन्ताहरण चक्रवर्ती जी के ग्रन्थ के अतिरिक्त हालैण्ड के प्रो. जे. गोण्डा, डॉ. तून गान्द्रियान और डॉ. संयुक्ता गुप्ता (गोम्ब्रिच) के द्वारा निबद्ध आगमशास्त्र और तन्त्रशास्त्र संबन्धी दो ग्रन्थों को विशेष महत्त्व देते हैं। गतानुगतिक पद्धति से लिखे गये ग्रन्थों में पर्याप्त संशोधन अपेक्षित रहता है, क्योंकि उनके आधार-ग्रन्थों की सामग्री पुरानी पड़ जाती है। इतिहास एक सतत गतिशील प्रक्रिया है।

नाना प्रकार के तन्त्रों की सूचना देने में शक्तिसंगमतन्त्र का विशेष स्थान है। संमोहनतन्त्र के रूप में इसे अनेक स्थलों पर प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड के संस्कृत उपोद्घात के पूर्वार्ध में तथा "तन्त्रागमीय ज्ञानकोश" (हिन्दी) के

विभिन्न अंशों में इस सामग्री को संकलित करने का हमने प्रयत्न किया है। डॉ. एस. सी. बनर्जी ने हिन्दू तन्त्र, बौद्ध तन्त्र, शैव तन्त्र, सामान्य तन्त्र, बंगाल के तन्त्र, दक्षिण का सिद्धान्त शैव जैसे शीर्षकों से अनेक तन्त्र-ग्रन्थों का परिचय दिया है (पृ. १६४-४९०)। यहाँ तन्त्रागमशास्त्र की विभिन्न शाखाओं के ग्रन्थों का घालमेल-सा हो गया है, तो भी तन्त्रशास्त्र के अनेक ग्रन्थों का एक साथ यहाँ परिचय मिल जाता है। हिन्दू तन्त्र, ब्राह्मण तन्त्र, दक्षिण भारत का शैवसिद्धान्त जैसे शब्दों की हम समालोचना कर चुके हैं।

"प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते" (सम्बन्ध. ५५) भट्ट कुमारिल के श्लोक-वार्तिक का यह वचन है। प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना का भी अपना प्रयोजन है। प्रथम खण्ड की प्रस्तावना में इस पर प्रकाश डाला गया है (पृ. १०)। कुछ अन्य विषयों पर अभी विचार अपेक्षित है। इस ग्रन्थ की रचना का मुख्य लक्ष्य भारतीय संस्कृति के समग्र स्वरूप के निर्धारण की ओर बढ़ना है। इस कार्य में विघ्न उपस्थित करने के लिये जान-बूझकर अथवा अनजाने में पाले-पोसे जा रहे परस्पर विरोधी भावों को चिह्नित कर देना परम आवश्यक है।

'श्रमण-ब्राह्मणम्' की ही तर्ज पर आजकल 'हिन्दु-मुस्लिम' की स्थिति बना दी गई है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कोढ़ में खाज़ का काम कर रहा है। सामंजस्य के स्थान पर सर्वत्र विग्रह खड़ा करना ही इसका परम लक्ष्य है। एक हजार वर्ष पहले के संस्कृत साहित्य में **हिन्दु** शब्द की कोई स्थिति नहीं थी, किन्तु अब बिना प्रसंग के भी यह शब्द प्रयुक्त होने लगा है। भारतीय तन्त्रशास्त्र का अध्ययन आजकल पूरे विश्व में बौद्ध, जैन और हिन्दु शब्दों के माध्यम से हो रहा है और हिन्दु शब्द की परिधि में वैष्णव, शैव, शाक्त और स्मार्त शाखाओं का ग्रहण किया जाता है। बौद्ध और जैन तन्त्रों के अध्ययन के प्रसंग में हमने देखा है कि बौद्ध तन्त्र कहीं वैष्णव आगमों से तथा अन्यत्र कौल तन्त्रों से समरस हैं, जबकि जैन तन्त्र कहीं सिद्धान्त शैवागम के तथा अन्यत्र त्रिपुरा तन्त्रों के अधिक नजदीक हैं। इस तरह के प्रसंगों की तुलनात्मक समीक्षा में हिन्दु शब्द पूरी तरह से असमर्थ है।

भारत में आज वर्गविद्वेष के रूप में अथवा अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये फैलाये गये द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के मायाजाल से देश को उबारने के लिये भी हिन्दु के स्थान पर भारतीय शब्द का प्रयोग होना चाहिये और इस शब्द की परिधि में बौद्ध-जैन जैसे शब्द ही नहीं, इस्लाम और ख्रीष्ट धर्मों का भी समावेश होना चाहिये। पारसीक धर्म तो इससे समरस है ही, सिक्ख धर्म के लिये खड़ा किया गया विवाद भी तब अपने-आप शान्त हो जायगा। धर्मनिरपेक्षता जैसे असांस्कृतिक शब्दों की या उसके

स्थान पर पन्थ-निरपेक्षता जैसे शब्दों की सिफारिश करने की तब कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी, क्योंकि यह देश तब इस विश्व की उदारतम संस्कृति से अनुशासित होगा, जिसकी प्रशंसा, इस देश को उजाड़ देने की मंशा वाले राजनेतागण भी, मुक्तकण्ठ से करने से नहीं अघाते।

आज विश्व की इस उदारतम, उत्कृष्टतम भारतीय संस्कृति को नष्ट कर देने के लिये चारों तरफ से जो हमले हो रहे हैं, उसमें हिन्दु और धर्मनिरपेक्षता जैसे शब्दों की एक-सरीखी भूमिका है। धर्मान्तरण जैसी घिनौनी प्रवृत्ति में लगे हुए धर्माचार्यों की मानसिकता इसमें देखी जा सकती है। आधुनिक भारतीय प्रजा को हिन्दु-धर्म के नाम पर डराने वाले ये धर्मनिरपेक्षतावादी इससे परिचित ही नहीं हैं कि जिन दुर्गुणों को वे भारतीय संस्कृति पर आरोपित करते हैं, उनका समाधान आज से एक हजार वर्ष पहले ही खोज लिया गया था और ब्राह्मणवाद-मनुवाद के नाम से आज प्रचारित हो रही दुष्प्रवृत्तियाँ नामशेष होती जा रही थीं। सुधारवादी आन्दोलनों के माध्यम से भी इस तरह की प्रवृत्तियों पर अंकुश लगा है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का आन्दोलन अन्य धर्मों की दुष्प्रवृत्तियों पर रोक लगाने के लिये अर्गला का काम करता है। उन राष्ट्रविरोधी दुष्प्रवृत्तियों के रुक जाने पर यह आन्दोलन भी अपने आप थम जायगा।

यह सही है कि हिन्दुत्ववादी संगठनों को भी हम पूरी तरह से सही नहीं मान सकते, किन्तु उनके खिलाफ जो दुष्प्रचार किया जा रहा है, वह भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री पण्डित जवाहरलाल नेहरु ने तिब्बत और कश्मीर की समस्या को पैदा कर राष्ट्र के साथ जो विश्वासघात किया, उसको छिपाने के और अपनी कुर्सी को बरकरार रखने के घिनौने प्रयास की कड़ी का एक हिस्सा मात्र है। जाने-अनजाने इससे राष्ट्र-विद्वेषी धर्मान्तरण की पोषक अपसंस्कृतियों की भी स्वार्थ-सिद्धि हो रही है। इसे रोकना ही होगा।

यूरोप में फिलासफी को बुद्धि का विलासमात्र माना जाता है, उसी तरह से अन्य शास्त्रों का अध्ययन भी वहाँ बुद्धिविलास के लिये अथवा धर्म-प्रचार के लिये होता है, किन्तु ऐसा होना नहीं चाहिये। औद्योगिक विकास, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में वहाँ अनेक क्रान्तियाँ हुई हैं, किन्तु मानव-मन को राग-द्वेष से मुक्त करने का प्रयास नहीं के बराबर हुआ है। मानव-समाज के सामने उपस्थित होने वाली समस्याओं के समाधान के लिये भी मानसिक विश्लेषण की नई-नई पद्धतियों और दर्शनों की उद्भावना होती रहनी चाहिये। प्रस्तुत ग्रन्थ का उद्देश्य यही है। भारतीय समाज के ही नहीं, पूरी मानवता के मानसिक विकास के लिये उपयोगी सांस्कृतिक

चिन्तन को यहाँ इस अभिप्राय से प्रस्तुत किया गया है कि परलोक की चिन्ता किये बिना पूरी मानवता परस्पर के राग-द्वेष को भुला कर सहज भाव से जी सके। भारतीय संस्कृति के संरक्षक बंगाल के राजा वल्लालसेन ने कालामुख, कापालिक, कौल, बौद्ध वज्रयान आदि के माध्यम से भारतीय समाज में प्रविष्ट विसंगतियों की समालोचना कर उनके परिमार्जन का प्रयत्न किया था। उसी तरह का प्रयत्न आज भी अपेक्षित है।

केरल, कश्मीर और गौड़ (बंगाल) देश की पद्धति से त्रिविध तान्त्रिक उपासना-पद्धतियाँ प्रचलित रही हैं। अन्य राज्यों की अपेक्षा इन पर अपसंस्कृतियों का प्रसार त्वरित गति से हुआ, इसके कारणों की खोज होना जरूरी है। लंका से अभी हाल में आयातित बौद्ध धर्म 'श्रमण-ब्राह्मणम्' की मनोवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है। मध्यकालीन इस्लामिक बर्बरता अभी बरकरार है। मिशनरी टोली सेवाभाव के बहाने ख्रीष्ट धर्म की सर्वोत्कृष्टता को स्थापित करने में और भारतीय संस्कृति के विरुद्ध अनर्गल प्रचार करने में लगी है। ऐसी स्थिति में सर्वधर्मसमभाव हमारी कोई सहायता नहीं कर सकता।

सभी धर्मों का समादर करते हुए हमें इन सबकी त्रुटियों के परिष्कार के लिये उनमें सहिष्णुता और समन्वय की भावना जगानी होगी, तथाकथित धर्मान्तरण को आपराधिक कृत्य घोषित करना होगा, संविधान की धारा ३७० की समाप्ति, समान नागरिक संहिता, 'इण्डिया देट इज भारत' के स्थान 'भारत देट इज इण्डिया' की स्वीकृति, तीन ही नहीं, सभी धार्मिक अतिक्रमणों का स्वेच्छा से परिष्कार और हिन्दुत्व के व्यामोह के स्थान पर पूरी भारती प्रजा में समग्र भारतीयता का प्रादुर्भाव— ये कुछ आवश्यक तत्त्व हैं, जिनके सहारे अभिनव भारतीय संस्कृति का महल खड़ा हो सकता है, जो पूरी मानवता को परिष्कृत करने में भी समर्थ होगा। ख्रीष्ट और इस्लाम धर्म भी बौद्ध, जैन, वैष्णव आदि धर्मों के समान इसमें अपना स्थान तब बना सकेंगे, जब वे अपनी आक्रामकता और हठवादिता का परित्याग कर इसके लिये सचेष्ट होंगे। सारी प्रबुद्ध भारतीयता के ऐकमत्य से यह संभव हो सकता है। भारतीय प्रजा में भावनात्मक एकता की स्थापना का यही प्रशस्त राजमार्ग है।

इस ग्रन्थ के माध्यम से भारतीय संस्कृति के उत्कृष्टतम उपादानों को सामने लाने का हमने प्रयत्न किया है। इससे इस पर लगाये जा रहे निराधार आरोपों का समाधान भी हो जाता है। अब आवश्यकता एक ऐसे प्रयास की है, जिसके सहारे, पुरा काल में कृतान्तपंचक की मान्यता और पंचायतन पूजा की स्वीकृति की तरह, आज भी पूरी भारती प्रजा के लिये समरसता का नूतन आधार खोज लिया जाय। तन्त्रागमीय वाङ्मय

के साथ सन्तों, भक्तों, गुरुओं और सूफियों की समरसता के सागर को मथ कर वैज्ञानिक विधि से उस अमृत की खोज की जाय, जिस पर अपसंस्कृति रूपी विष का अकाण्ड-ताण्डव कोई प्रभाव न छोड़ सके। यह कार्य यदि होने लगता है, तो हम अपने इस प्रयत्न को सार्थक समझेंगे।

अन्त में प्रस्तुत ग्रन्थ (पृ. ८१९-२०) में उद्धृत बौद्ध, जैन और पौराणिक दृष्टियों को उजागर करने वाले तीन श्लोकों का प्रबुद्ध पाठकों को स्मरण कराते हुए इस लेखनी को विराम देते हैं।

आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।

महाशिवरात्रि, २०५७ वि. — *विद्वद्वशंवद*
२१ फरवरी, २००१ ई. — **व्रजवल्लभ द्विवेद्वी**

* * *

विषय-सूची

द्वितीय खण्ड

शाक्ताधिकार (काली)

शाक्ताधिकार (त्रिपुरा)

बौद्धाधिकार

जैनाधिकार

स्मार्ताधिकार

उपसंहाराधिकार

परिशिष्ट



संकेत-सूची

अ. क्र.	अचिन्त्याद्वयक्रमोपदेश
अनु. सू.	अनुभवसूत्र
अ. प्र.	अष्टप्रकरण
अ. प्र. वि.	अद्वयविवरणप्रज्ञोपाय-विनिश्चयसिद्धि
अभि.	अभिनवगुप्त
अभिनवगुप्त.	अभिनवगुप्त : एन हिस्टोरिकल एण्ड फिलासफिकल स्टडी
अर्थ.	अर्थरत्नावली, नि. षो. टीका
अ. वे.	अथर्ववेद
अ. सि.	अद्वयसिद्धि
आफ्रेख्ट.	कैटलागस् कैटलागरम्
इंस्टीटयूशंस	रिलीजियस इंस्टीटयूशंस एण्ड कल्ट्स इन दी डेक्कन
ई. प्र. वि.	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी
ई. प्र. वि. वि.	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति-विमर्शिनी
ऋ.	ऋग्वेद
ऋजु.	ऋजुविमर्शिनी, नि. षो. टीका
एन. इन्ट्रो.	एन इन्ट्रोडक्शन टू तान्त्रिक बुद्धिज्म
ऐ. आ.	ऐतरेयारण्यक
कठो.	कठोपनिषत्
गु. सि.	गुह्यसिद्धि
गुह्य.	गुह्यकाली खण्ड, महाकालसंहिता
गुह्यादि.	गुह्यादि-अष्टसिद्धिसंग्रह
छा. उ.	छान्दोग्योपनिषत्
ज्ञा. सि.	ज्ञानसिद्धि
त. प्र.	तत्त्वप्रकाश
त. वा.	तन्त्रवार्तिक
त. सा.	तन्त्रसार (कृष्णानन्द)
त. सू.	तत्त्वार्थसूत्र
तन्त्रा.	तन्त्रालोक
तन्त्रा. वि.	तन्त्रालोक, विवेकव्याख्या
तन्त्राज्	तन्त्राज् : स्टडीज ऑन देयर रिलीजन एण्ड लिटरेचर
ता. सा.	तान्त्रिक साहित्य
तै. ब्रा.	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै. सं.	तैत्तिरीय संहिता
धर्मशास्त्र.	धर्मशास्त्र का इतिहास
ना. सं.	नामसंगीति
नि. पू.	निर्वाण प्रकरण, पूर्वार्ध
नि. षो.	नित्याषोडशिकार्णव
नि. षो. से.	नित्याषोडशिकार्णव, सेतुबन्धटीका
न्यू. कैट.	न्यू कैटलागस् कैटलागरम्
प्र. ल. सा.	प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय
प्र. वि. सि.	प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि
प्र. हृ.	प्रत्यभिज्ञाहृदय
प्रा. भा. सा.	प्राचीन भारतीय साहित्य
बृ. ना.	बृहन्नारदीयपुराण
बृहदिति. तन्त्रा.	संस्कृत साहित्य का बृहदितिहास, तन्त्रागम खण्ड

बो. च. भू.	बोधिचर्यावतारभूमिका	शक्ति. उ.	शक्तिसंगमतन्त्र-उपोद्घात
ब्र. पु.	ब्रह्मपुराण	शैव कल्ट्स.	हिस्ट्री आफ शैव कल्ट्स इन नार्दर्न इण्डिया
ब्र. सू.	ब्रह्मसूत्र		
भा. त.	भारतीय तन्त्रशास्त्र	श्वे. उ.	श्वेताश्वतरोपनिषत्
म. म. प.	महार्थमञ्जरी, परिमलव्याख्या	षो. प्र.	षोडशक प्रकरण
मा. म.	मालिनीमत	स. द. सं.	सर्वदर्शनसंग्रह
यो. हृ.	योगिनीहृदय	स. सि.	सहजसिद्धि
यो. हृ. दी.	योगिनीहृदय, दीपिका टीका	सां. का.	सांख्यकारिका
यो. सू.	योगसूत्र (पातंजल)	सा.	सात्वतसंहिता
लक्ष्मी.	लक्ष्मीधरा, सौन्दर्यलहरीटीका	सि. शि.	सिद्धान्तशिखामणि
लुप्ता.	लुप्तागमसंग्रह	सूक्ष्मा.	सूक्ष्मागम
लुप्ता. उपो.	लुप्तागमसंग्रह-उपोद्घात	सौ. ल.	सौन्दर्यलहरी
व. ति. टी.	वसन्ततिलकटीका	स्टडीज.	स्टडीज इन तन्त्राज्
व. र.	वरिवस्यारहस्य	स्व. उ.	स्वच्छन्दतन्त्र, उद्योतटीका
वायु.	वायुपुराण	ह. प्र.	हठयोगप्रदीपिका
वि. भै.	विज्ञानभैरव	हिन्दुइज्म.	हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म
व्य. त. सि.	व्यक्तभावानुगततत्त्वसिद्धि	हे. त.	हेवज्रतन्त्र

* * *

तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन

द्वितीय खण्ड

शाक्ताधिकार

- पृष्ठभूमि
- काली (क्रमदर्शन)
- त्रिपुरा (वामकेश्वर)

शाक्ताधिकार (काली)

पृष्ठभूमि

हड़प्पा-मोहेंजोदड़ो से प्राप्त सांस्कृतिक अवशेषों की चर्चा शैवागम प्रकरण के प्रारम्भ में की जा चुकी है। उन्हीं प्रमाणों से हम शाक्तागम के मूल उपादानों की खोज भी कर सकते हैं। ऊर्ध्वमेढ्र एवं भगांकित मुद्राएँ वहाँ उपलब्ध होती हैं। भगवान् शिव और उनके अवतार लकुलीश की भी ऊर्ध्वमेढ्र प्रस्तर-मूर्तियाँ उपलब्ध हैं। नेत्रतन्त्र[1] में ऊर्ध्वमेढ्र विश्वरूप का ध्यान वर्णित है और तदनुरूप ही इनकी मूर्ति नेपाल में गुह्येश्वरी देवी एवं पशुपतिनाथ के मंदिर के बीच में स्थित पहाड़ी पर मिलती है। महाभारत के अनुशासन पर्व में पाशुपत मत की चर्चा मिलती है। वहाँ यह श्लोक भी उपलब्ध है –

न पद्माङ्का न चक्राङ्का न वज्राङ्का यतः प्रजाः।
लिङ्गाङ्का च भगाङ्का च तस्मान्माहेश्वरीप्रजाः।। (१४.२३३)

यहाँ माहेश्वर पद शिव और शक्ति के सामरस्य का सूचक है। ऋग्वेद में भी शिश्न देवों की चर्चा मिलती है (७.२१.५ ; १०.९९.३)। सौत्रामणी याग में सुरापान का विधायक [2]"सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्" यह वाक्य प्रसिद्ध है। "न काञ्चन परिहरेत्, तद् व्रतम्" (२.१३.२) यह छान्दोग्य उपनिषत् का वाक्य है। "यदेतत् स्त्रियां लोहितं भवत्यग्नेस्तद्रूपम्, तस्मात् तस्मान्न बीभत्सेत। अथ यदेतत् पुरुषे रेतो भवत्यादित्यस्य तद्रूपम्, तस्मात् तस्मान्न बीभत्सेत" (२. ३.७) यह ऐतरेयारण्यक का वाक्य है। इन विधिवचनों से सुरापान, दूतीयाग, अर्घ्यनिष्पादन जैसी शाक्तागम की विधियों की सूचना मिलती है। अपने मत की पुष्टि में अभिनवगुप्त, भास्करराय आदि विद्वानों ने और डॉ. वुडरफ एवं डॉ. पी. वी. काणे ने भी इनको तथा इसी तरह के अन्य वाक्यों को उद्धृत किया है। इसी तरह से – "अकारो वै सर्वा वाक्" (ऐ. आ., २. ३. ६), "अ इति ब्रह्म तत्रागतमहम्" (ऐ. आ., २-३, ८), "छन्दःपुरुष इति यमवोचामाक्षरसमाम्नाय एव। तस्यैतस्याकारो रसः" (ऐ. आ., ३. २. ३) ये सब श्रुतिवाक्य शाक्त आदि सम्प्रदायों में व्याख्यात अनुत्तर अकार और मातृका के स्वरूप की सूचना देते हैं। [3]बौद्ध तंत्रों में भी इनकी इसी रूप में व्याख्या की गई है।

---

१. त्रयोदशाधिकार (श्लो. १०-१३) देखिये।

२. उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में इसकी खोज होनी चाहिये। सौत्रामणी याग के अवसर पर सोमपान एवं सुरापान की चर्चा अनेक स्थलों पर मिलती है।

३. वसन्ततिलका, नवम निर्देश देखिये।

कापालिक मत के प्रसंग में हमने आगममीमांसा (पृ. ५५) को उद्धृत किया है। वहाँ बताया गया है कि इस कापालिक मत का स्वरूप कुल, कौल, क्रम, मत, त्रिक आदि तन्त्रों में वर्णित स्वरूप से बहुत भिन्न नहीं है। "शिवाम्बु रेतो रक्तं च नालाज्यं विश्वनिर्गमः"[१] यहाँ वर्णित रत्नपंचक और कुण्डगोलकात्मक चरु द्रव्य का उपयोग बाह्य या आन्तर कायपूजा में बौद्ध, शैव और शाक्त तन्त्रों के साथ कौल और कापालिक तन्त्रों में भी समान रूप से किया जाता है। इस तरह से डॉ. भाण्डारकर के द्वारा वर्णित (पृ. १६५) शाक्तागमों के तीन तत्त्वों की व्याप्ति शैव तन्त्रों की कुछ शाखाओं तक फैली हुई है। पाशुपत और कापालिक मतों से इन सब शैव और शाक्त सम्प्रदायों का विकास कैसे हुआ, यह अनुसन्धान का एक मनोरंजक विषय है।

[२]डॉ. भाण्डारकर ने शाक्त सम्प्रदाय का विवरण अधूरा दिया है। केवल यहीं नहीं, अन्यत्र भी शाक्त मत का परिचय प्रायः परवर्ती काल में प्रादुर्भूत ग्रन्थों के आधार पर ही किया गया लगता है। शिवदृष्टिकार सोमानन्द ने तृतीय आह्निक के प्रारम्भ में शक्तिपारम्य पक्ष का निराकरण किया है। इस ग्रन्थ की पदसंगति नाम की वृत्ति में भट्ट उत्पल ने भट्ट प्रद्युम्न के तत्त्वगर्भ स्तोत्र का यह वचन उद्धृत किया है –

यस्या निरुपधिज्योतीरूपायाः शिवसंज्ञया।
व्यपदेशः परां तां त्वामम्बां नित्यमुपास्महे।।[३]

क्रम मत में वर्णित इस शाक्त अद्वयदृष्टि का विवेचन अभिनवगुप्त विरचित तन्त्रालोक और जयरथ द्वारा रचित इस ग्रन्थ की विवेक व्याख्या में देखा जा सकता है। स्पन्दकारिका के आधार पर यह विकसित हुआ, ऐसा कहा जा सकता है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा दर्शन का विकास शैव और शाक्त मत के परस्पर समन्वित रूप से हुआ माना जायगा। इसीलिये आगममीमांसा में हमने शाक्तागम के प्रसंग में ही प्रत्यभिज्ञा दर्शन का भी यत्किञ्चित् परिचय दिया है।

नित्याषोडशिकार्णव के उपोद्घात (पृ. ५१-५९) के आधार पर यहाँ तन्त्रशास्त्र की विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं का (पृ. २४-३४) परिचय दिया जा चुका है। इसी तरह से शक्तिसंगमतन्त्र के चतुर्थ खण्ड के उपोद्घात (पृ. २२-२८) में देश, काल, आम्नाय, विद्या, दर्शन, आयतन और आगम नामक सात पर्यायों; तन्त्र, उपतन्त्र, संहिता, चूडामणि,

---

१. तन्त्रालोकविवेक (२९-२००) में उद्धृत वचन।

२. वैष्णव, शैव तथा अन्य धार्मिक मत, पृ. १६३-१६७

३. शिवदृष्टि की वृत्ति (पृ. १६) में उत्पल भट्ट ने भट्ट प्रद्युम्न के तत्त्वगर्भ स्तोत्र का यह श्लोक बताया है। तत्त्वगर्भ स्तोत्र के अन्य श्लोक लुप्ता. प्रथम भाग में संगृहीत हैं।

अर्णव, डामर, यामल, सूक्त, कक्षपुटी, विमर्शिनी, कल्प, कल्पलता, चिन्तामणि, उड्डालक, उड्डीश, अवतार, बोध, कल्पद्रुम, कामधेनु, सद्भाव, तत्त्व, क्रम, अमृत, तर्पण, दर्पण, सागर आदि प्रविभागों में विभक्त सहस्राधिक तन्त्रों की संक्षिप्त सूचना दी है, जिनका परिगणन इस तन्त्र के चतुर्थ छिन्नमस्ता [1]खण्ड में किया गया है। इस एक प्रकृति वाले विशाल शैव-शाक्त तन्त्र-वाङ्मय का प्रचार-प्रसार कैसे हुआ, यह एक परीक्षणीय विषय है।

[2]आधुनिक इतिहास-ग्रन्थों में इस प्रश्न का सही समाधान नहीं मिलता। इस प्रसंग में यह अवधेय है कि अभी हाल में मथुरा-संग्रहालय में प्राय: २३०० वर्ष पुरानी मौर्य-शुंग काल की यक्षी (मनसा देवी) की प्रतिमा लाई गई है। [3]मथुरा के 'झांस का नगला' में यह उपलब्ध हुई थी। वाराणसी के दैनिक 'आज' के ५-२-७२ के अंक में इसका विवरण छपा है। महाभारत में भगवती दुर्गा के दो स्तोत्र उपलब्ध हैं- पहला विराट पर्व के छठे अध्याय में और दूसरा भीष्म पर्व के २३ वें अध्याय में। आधुनिक इतिहासज्ञ इनको प्रक्षिप्त मानते हैं[4], किन्तु महाभारत के भाण्डारकर शोध संस्थान के परिष्कृत संस्करण में भी [5]श्रीपर्वत, शाकंभरी, धूमावती जैसे शब्दों की उपलब्धि उस समय शैव और शाक्त सम्प्रदायों की सत्ता को सूचित करती है। हरिवंश के विष्णु पर्व के तृतीय अध्याय में आर्यास्तव मिलता है। यहाँ देवी को शबर, बर्बर, पुलिन्द आदि के द्वारा सुपूजित कहा गया है (३. ७) और वहीं विन्ध्यवासिनी का नाम भी उपलब्ध है (३. ८)। उदयपुर के संग्रहालय में सुरक्षित ४९० ई. के शिलालेख में भ्रमराम्बा की स्तुति की गई है। यह [6]शिलालेख उदयपुर के पास 'छोटी सादड़ी' नामक ग्राम के पास स्थित भँवर माता के मंदिर के गर्भगृह में स्थापित था। उसका पहला श्लोक यह है—

---

१. अनेक विद्वान् संमोहनतन्त्र के नाम से इसी ग्रन्थ को उद्धृत करते हैं। इस विषय पर हम अलग से विचार कर चुके हैं तन्त्रयात्रा (पृ. १०६-१११)।

२. डॉ. भाण्डारकर, वुडरफ, बागची, भट्टाचार्य आदि विद्वानों के मतों की समीक्षा यहाँ की गई है।

३. 'आज' वाराणसी, दिनांक ५-२-७२ के अंक में इसका परिचय दिया गया है।

४. द्रष्टव्य – हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, हिन्दी संस्करण, भा. ५, पृ. १२

५. "श्रीपर्वते महादेवो देव्या सह महाद्युतिः" (वन. ८३. १७), "ततो गच्छेत राजेन्द्र देव्याः स्थानं सुदुर्लभम्। शाकम्भरीति विख्याता त्रिषु लोकेषु विश्रुता" (वन. ८२. ११), "धूमावतीं ततो गच्छेत्" (वन. ८०. २०)।

६. इस शिलालेख का परिचय "एपिग्राफिया इण्डिया" नामक पत्रिका के ३० वें वर्ष के चतुर्थ अंक (पृ. १२० -१२७), में दिया गया है।

देवी जयत्यसुरदारणतीक्ष्णशूला
प्रोद्गीर्णरत्नमकुटांशुचलप्रवाहा ।
सिंहोग्रयुक्तरथमास्थितचण्डवेगा
भ्रूभङ्गदृष्टिविनिपातनिविष्टरोषा ।।

शैव शाक्त तन्त्रों की विविध सूचियों की चर्चा अन्यत्र[1] की जा चुकी है। इनमें परस्पर समानता और विलक्षणता दोनों देखने को मिलती है। इस अतिविशाल साहित्य की सहस्राधिक मातृकाएँ मिलती हैं। इनमें से अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती साहित्य का प्रकाशन बहुत कम हुआ है। परवर्ती साहित्य ही अधिकतर उपलब्ध है। इनके आधार पर किया गया शाक्त मत का अनुशीलन यथार्थ को प्रकट करने में असमर्थ है। परवर्ती काल में प्रादुर्भूत तान्त्रिक वाङ्मय में दार्शनिक सिद्धान्तों और योग-विधियों की अपेक्षा षट्कर्म-प्रधान बाह्य कर्मकाण्ड का ही अधिक विस्तार मिलता है। यही कारण है कि हिंसाबहुल वैदिक कर्मकाण्ड की भाँति तान्त्रिक कर्मकाण्ड भी कुछ क्षेत्रों तक ही सीमित रह गया।

प्राचीन तन्त्रों की उपलब्धि और उनके प्रकाशन के बाद ही विविध शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त तन्त्रशास्त्र के आविर्भावकाल के विषय में कुछ कहा जा सकता है। अभी हम यह भी नहीं कह सकते कि इन सबका आविर्भाव एक ही समय में हुआ है। जितने भी प्राचीन तन्त्र उपलब्ध हुए हैं, उनके अवलोकन से इतना अवश्य प्रतीत होता है कि इन शैव-शाक्त तन्त्रों का स्वरूप वैष्णव एवं सिद्धान्त शैवागमों की अपेक्षा बहुत विलक्षण नहीं है। जिन कामात्मक तत्त्वों के कारण तन्त्रशास्त्र समालोच्य बन गया है, उनका समावेश यहाँ नहीं के बराबर है। इनका स्वरूप स्पष्ट ही कौल तन्त्रों से विलक्षण है और इनकी रचना पूरी तरह से परिष्कृत भाषा में हुई है।

आगमिक एवं तान्त्रिक उपासनाविधि का लक्ष्य भोग और मोक्ष दोनों है। भोग शब्द यहाँ ऐहिक विषयभोग के अर्थ में प्रयुक्त है, पारलौकिक स्वर्ग आदि के लिये नहीं। [2]आगमिकों के मत के अनुसार एक ही जन्म में मुक्ति मिल सकती है।

---

१. लुप्ता. उपो. (पृ. ८६-१११) देखिये।

२. अवधूतसिद्ध की भक्तिस्तोत्र (श्लो. ३०), महार्थमंजरीपरिमल-धृत (पृ. १४५) शिवधर्म का वचन तथा योगराज-रचित परमार्थसारव्याख्या (पृ. १९५) में उद्धृत शिवधर्मोत्तर का वचन देखिये।

"रुरुसिद्धान्तसंसिद्धौ भोगमोक्षौ ससाधनौ"[१] और [२]"शिवापदाम्भोजयुगार्चकानां भुक्तिश्च मुक्तिश्च करस्थितेव" इन दोनों वचनों में दो भिन्न अर्थों में भोग शब्द प्रयुक्त हुआ है, आगमिक भोग शब्द ऐहिक अभ्युदय के अर्थ को और शाक्त तन्त्रों में प्रयुक्त भोग शब्द संभोगार्थक हो गया है। इसीलिये कुछ आधुनिक विचारक 'संभोग से समाधि' की वकालत करने लगे हैं। तन्त्रशास्त्र की इस शाखा के कारण ही सम्पूर्ण तन्त्रशास्त्र समालोचनार्ह हो गया है। भोग शब्द के अर्थ में यह परिवर्तन कैसे आ गया? यह एक विचारणीय विषय है। [३]कुछ विद्वानों का कहना है कि इस तरह के उपादान पहले बौद्ध तन्त्रों में प्रविष्ट हुए। उनकी लोकप्रियता को देखते हुए इनका फैलाव अन्यत्र भी हो गया। तन्त्रशास्त्र की यह विशिष्ट पद्धति कुलाचार या वामाचार के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस शाखा में इन उपादानों का प्रवेश कब कैसे हुआ, इस पर विचार अपेक्षित है।

वैरोचन के प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय (२. १०८-१२८) में १६४ शैव तन्त्रों के नाम गिनाये गये हैं। ये शिव के पाँच मुखों से निर्गत हैं। ऊर्ध्व ईशान मुख से २८ सिद्धान्त तन्त्र, पूर्व तत्पुरुष वक्त्र से विनिर्गत २८ गारुड तन्त्र, दक्षिण अघोर मुख से उद्धृत ३२ अथवा ६४ भैरव तन्त्र, उत्तर वामदेव मुख से निर्गत २४ वाम तन्त्र और पश्चिम सद्योजात मुख से निकले २० भूत तन्त्रों के नाम यहाँ समाविष्ट हैं। यहीं आगे (२.१३१-१३२) बताया गया है कि सिद्धान्त शास्त्र में चारों वर्णों के अन्न के भोजन का, गारुडतन्त्र में विषभक्षण, भैरवतन्त्र में एकत्र भोजन, वामतन्त्र में कामामृत का पान और भूततन्त्र में शवस्पर्श का विधान है। शतरत्नसंग्रहकार (पृ॰ ९) ने कहा है कि सिद्धान्त मुक्तिप्रद, गारुड सभी प्रकार के विषों का उपचारक, वाम सर्ववशीकरण समर्थ, भूत तन्त्र भूत-प्रेत-ग्रह आदि दोषों का निवारक और भैरव तन्त्र शत्रुक्षयकर तन्त्र है। इन सबका समावेश वहाँ मान्त्रिक विभाग में किया गया है। यहाँ वर्णित वामतन्त्रों और तन्त्रालोक आदि में वर्णित कुल-क्रम आदि तन्त्रों की तुलनात्मक समीक्षा अपेक्षित है।

[४]मृगेन्द्रवृत्तिदीपिका (पृ. ७४) में अघोर शिवाचार्य का कहना है कि हिरण्यगर्भ, कपिल और मत्स्येन्द्र क्रमशः वेद, सांख्य और कौल तन्त्रों के प्रवर्तक हैं। इससे स्पष्ट

१. अष्टप्रकरण स्थित सद्योज्योति शिवाचार्य की भोगकारिका (श्लो. २) देखिये। "यतोऽभ्युदय॰" (१.१२) इस वैशेषिकसूत्र की प्रवृत्ति भी इसी अर्थ में हुई है।

२. सौन्दर्यलहरीटीका सौभाग्यवर्धनी (पृ. २२) में उद्धृत अशेषकुलवल्लरी का श्लोक देखिये।

३. धर्मशास्त्र. भा. ५, पृ. ३७ पर यह मत देखा जा सकता है।

४. देवकोट्टै नगर से यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है।

होता है कि कौल मार्ग के आद्य प्रवर्त्तक मत्स्येन्द्रनाथ हैं। अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक के आरम्भ में मच्छन्दविभु की स्तुति की है। व्याख्याकार जयरथ ने भी इनको सकल कुलशास्त्र का अवतारक कहा है। आधुनिक अधिकांश इतिहासज्ञ नवम शताब्दी के अन्त और दसवीं शताब्दी के आरम्भ में इनकी स्थिति मानते हैं। डॉ. शाहिदुल्ला का कहना है कि इनकी स्थिति सातवीं शताब्दी में थी। [1]डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय तन्त्रालोक आदि में निर्दिष्ट उनकी शिष्य-परम्परा के आधार पर पाँचवीं-छठी शताब्दी में इनका समय निर्धारित करते हैं। यहाँ वर्णित मत्स्येन्द्रनाथ की शिष्य परम्परा में गोरक्षनाथ का नाम कहीं उपलब्ध नहीं है। बारहवीं शदी तक निर्मित ग्रन्थों में गोरक्षनाथ के नाम का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। यह भी कहीं उपलब्ध नहीं होता कि मत्स्येन्द्र के गोरक्ष साक्षात् शिष्य थे। मत्स्येन्द्रनाथ नाथ-सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं और इनके प्रधान शिष्य गोरक्षनाथ हैं, इस तरह का प्रवाद ही इन ऐतिहासिकों को मत्स्येन्द्रनाथ को परवर्ती काल का सिद्ध करने के लिये बाधित करता है।

कौलज्ञाननिर्णय आदि ग्रन्थों की प्राचीन मातृका यदि डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची को न मिली होती और अभिनवगुप्त ने मच्छन्द का उल्लेख न किया होता, तो ये इतिहासज्ञ मत्स्येन्द्र के काल को और भी परवर्ती सिद्ध करते। वे महार्थमंजरीकार महेश्वरानन्द को गोरक्ष मानते हैं और वहीं के "गोरक्षो लोकधिया" इस स्वोपज्ञ परिमल के वचन को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। महेश्वरानन्द ने ऐसा कहा अवश्य है, किन्तु वे अपने गुरु का नाम महाप्रकाश तथा शिवानन्द को अपना परमगुरु बताते हैं। मत्स्येन्द्र के शिष्य के रूप में उन्होंने अपने को कहीं भी प्रस्तुत नहीं किया। महेश्वरानन्द के परमगुरु शिवानन्द के ऋजुविमर्शिनी आदि ग्रन्थों का सम्पादन करते हुए नि. षो. के उपोद्घात (पृ. १८) में हमने उनका समय तेरहवीं शताब्दी बताया है। ऐसी स्थिति में शिवानन्द के प्रशिष्य गोरक्ष के नाम से लोक में प्रसिद्ध महेश्वरानन्द के मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य होने के प्रवाद को अन्य प्रमाणों से सिद्ध नहीं किया जा सकता और प्रवाद को प्रमाण तभी तक माना जा सकता है, जब तक कि अन्य प्रमाणों से वह बाधित न हो जाय।

डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची कौलज्ञाननिर्णय आदि ग्रन्थों को मत्स्येन्द्रनाथ की कृति बताते हैं, किन्तु इस ग्रन्थ में पञ्चपञ्चाशिका, कुलपंचाशिका, कुलसागर, भैरवोद्यान, चन्द्रकौल, सिद्धामृत, ऊर्मिकौल, कौलसद्भाव जैसे अनेक ग्रन्थ स्मृत हैं तथा इनका

१. अभिनवगुप्त० वाराणसी से प्रकाशित द्वितीय संस्करण. पृ० ५४६ देखिये।

उल्लेख तन्त्रालोक और इसकी टीका में भी मिलता है। वस्तुतः पूर्वोक्त प्रमाणों से सकल कुलशास्त्र के अवतारक के रूप में मत्स्येन्द्र की चर्चा होने से इन सब शास्त्रों के रचयिता भले ही उनको मान लिया जाय, किन्तु उन-उन मातृकाओं के लिपिकाल के आधार पर उनका समय निर्धारित करना उचित नहीं माना जा सकता। अभिनवगुप्त से पहले प्रादुर्भूत कुल-कौलाचार्यों की एक लम्बी नामावली है। उसकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते। परात्रीशिकाशास्त्र[1] को तत्काल कौलिक सिद्धि का प्रदाता बताया गया है। इस शास्त्र पर केवल सोमानन्द ने ही नहीं, भवभूति आदि ने भी व्याख्या लिखी थी, ऐसे [2]प्रमाण मिलते हैं। मृगेन्द्रागम के चर्यापाद (१. ४०-४१) में सिद्धकौल और योगिनीकौल सम्प्रदायों की चर्चा मिलती है।

हम यह बता चुके हैं कि डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने मत्स्येन्द्र का आविर्भावकाल पाँचवीं-छठी शताब्दी निश्चित किया है। उसी समय कामरूप क्षेत्र में कौलशास्त्र का आविर्भाव हुआ। तन्त्रालोक (३६.१३) के प्रमाण से कामरूप [3]अर्धमठिका के रूप में मान्य है और त्र्यम्बक की दुहिता के अधिकार-क्षेत्र में यह आता है। [4]आर्यमंजुश्रीमूलकल्प में, जो बौद्ध महायान का सूत्र ग्रन्थ है, शैव-वैष्णव-गारुड़ आदि तन्त्रों का उल्लेख है, किन्तु शाक्त अथवा कुल तन्त्रों का नहीं। इसके विपरीत गुह्यसमाजतन्त्र स्पष्ट रूप में कुलतन्त्र है। इसका आविर्भावकाल छठी या सातवीं शताब्दी अब मान्य हो गया है। स्पष्ट है कि मत्स्येन्द्रनाथ (मीननाथ) के अवतार के बाद ही इस तन्त्र का प्राकट्य हुआ।

मत्स्येन्द्रनाथ ने स्वोपज्ञात ज्ञान को [5]छः राजपुत्रों में बाँट दिया। इन छः राजपुत्रों की परम्परा ओवल्ली के नाम से प्रसिद्ध हुई। तन्त्रालोक (२९. ३६) से यह ज्ञात होता है कि आनन्द, आवलि, बोधि, प्रभु, पाद और योगी के नाम से ये परम्पराएँ चलीं। इनमें

१. "सद्यः कौलिकसिद्धिदम्" परात्रीशिका का यह पहला श्लोक और उस पर की अभिनवगुप्त की व्याख्या देखिये।

२. "श्रीसोमानन्दकल्याणभवभूतिपुरोगमाः" (१३. १४९) तन्त्रालोक के इस श्लोक से यह ज्ञात होता है। धनेश्वर शर्मा भी इसके व्याख्याकार हैं, इसकी सूचना लुप्ता. उपो., ४२ पर धनेश्वर शर्मा के परिचय के प्रसंग में दी गई है।

३. "आद्यस्य चान्वयो जज्ञे द्वितीयो दुहितृक्रमात्। स चार्धत्र्यम्बकाभिख्यः सन्तानः सुप्रतिष्ठितः।।" (तन्त्रा. ३६. १३)। वहीं के (३७. ६१) श्लोक को भी देखिये।

४. प्रस्तुत ग्रन्थ के दरभंगा (बिहार) से सन् १९६४ में प्रकाशित संस्करण (पृ. २३-२४) को देखिये।

५. इस विषय की तन्त्रयात्रा (पृ. ६५) में चर्चा की गई है।

आनन्द और योगी शब्दों का शाक्त-परम्परा में, बोधि, प्रभु और पाद शब्दों का बौद्ध-परम्परा में उल्लेख मिलता है। भारतीय साहित्य में ८४ सिद्धों[१] की नामावली प्रसिद्ध है। सभी धर्मों और वर्णों के अनुयायी उत्कृष्ट साधकों के नाम इसमें समाविष्ट हैं। इतिहासज्ञों का कहना है कि छठी शताब्दी के आस-पास बौद्ध धर्म में एक विलक्षण परिवर्तन हुआ। उस समय मत्स्येन्द्रनाथ-प्रवर्तित कुलविधि का प्रभाव इस पर पड़ा, ऐसा माना जा सकता है।

यहाँ विचारणीय विषय यह है कि जैसे वर्णाश्रम धर्म का अनुसरण करते हुए गुरु-शिष्य परम्परा से वेदशास्त्र का अध्ययन निरन्तर चला आ रहा है, उसी तरह से "प्रसिद्धिरागमो लोके" (तन्त्रा. ३५.२) [२]आगमशास्त्र के इस निर्वचन के अनुसार आगमशास्त्र की परम्परा भी निरन्तर चली आ रही है। समय-समय पर वैदिक वर्णाश्रम धर्म के अविरोधी आगमीय अंशों का समावेश इतिहास, पुराण, स्मृति आदि शास्त्रों में होता रहा। यहाँ स्त्रियों और शूद्रों का भी अधिकार मान्य हुआ। आगम और तन्त्रशास्त्र में वेदविरोधी और वेदों के अविरोधी, इस तरह के दो विभाग मिलते हैं। इनमें से वेदों के अविरोधी मतों में सच्छूद्रों का ही अधिकार मान्य हुआ और अन्य आगमों में "दीक्षयेत् श्वपचानपि"[३] इस वचन के अनुसार दीक्षा में मानवमात्र का अधिकार मान्य हुआ। किरात, पुलिन्द, बर्बर, शबर आदि वनवासी जन नाना नाम और रूपों वाली देवी की आराधना करते थे, इसका उल्लेख हरिवंश आदि में मिलता है। "यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः" (१०३.३०) वाल्मीकिरामायण के अयोध्या काण्ड का यह वचन बताता है कि मनुष्य जो कुछ अपने खाता है, उसी का भोग वह अपने भगवान् को भी लगाता है। ऐसी स्थिति में वनजातियों में मांस, मदिरा आदि के द्वारा अपने इष्टदेव की आराधना का विधान हो, इसमें कुछ भी वैचित्र्य अथवा अनौचित्य का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। कापालिकों की चर्चा पहले आ चुकी है। इसमें स्त्रियाँ भी दीक्षित होती थीं। बौद्ध धर्म की भी यही मान्यता रही है। लकुलीश पाशुपतों की

---

१. "सिद्ध और सहजयान" शीर्षक निबन्ध में यह विषय चर्चित है। देखिये— आगम और तन्त्रशास्त्र, पृ. ६०-७०।

२. तन्त्रालोक और उसकी विवेक टीका देखिये। इस विषय पर वहाँ पर्याप्त विचार किया गया है।

३. यह उक्ति मालिनीवार्तिक (पृ. २०) में कालपादा के और नेत्रतन्त्रोद्योत (१०-१-९) में कालोत्तर के वचन के रूप में उद्धृत है।

शृंगारण[1] आदि विधियों का उल्लेख मिलता है। "घृतकुम्भसमा नारी तप्ताङ्गारसमः पुमान्[2] यह शास्त्रवचन उपलब्ध होता है। मत्स्येन्द्रनाथ के द्वारा प्रवर्तित कौल मत में इन सबका समाहार सा लगता है और परवर्ती शैव, शाक्त और बौद्ध तन्त्रों में इन सब उपादानों का समान रूप से समावेश मिलता है।

इस तान्त्रिक वाङ्मय में उच्चतम आध्यात्मिक भूमि में प्रविष्ट स्थितप्रज्ञ महामानवों के साथ ही अत्यन्त उच्छृंखल अज्ञानी मानवों की आध्यात्मिक उन्नति के लिये अपनी-अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार अलग-अलग मार्ग प्रदर्शित हैं। महार्थमंजरीकार महेश्वरानन्द आदि योगियों ने शास्त्रों के वचनों के आधार पर जाति आदि के दुराग्रहों को [3]पाश माना है और सप्रमाण यह सिद्ध किया है कि शांकर [4]अद्वैतवाद की अपेक्षा आगम-तन्त्रशास्त्र का दर्शन वरिष्ठ है। तान्त्रिक वाङ्मय में इस जगत् को मिथ्या नहीं माना गया है और ब्रह्म को अनिर्वचनीय माया की अपेक्षा सभी कार्यों को करने, न करने अथवा अन्यथा करने में स्वतन्त्र, स्वाभाविक रूप में अपने स्वरूप में स्थित शक्ति से सम्पन्न माना है।

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि दक्ष (भैरव) और वाम तन्त्रों की प्रकृति शाक्त कौल[5] सम्प्रदाय से मिलती-जुलती है। आजकल इन शब्दों की प्रवृत्ति दक्षिणाचार-वामाचार अथवा समयाचार-कुलाचार के लिये होती है, किन्तु वास्तव में शिव के दक्षिण[6] और वाम मुख से निःसृत तन्त्रों के लिये प्रथमतः इन शब्दों की प्रवृत्ति

---

१. "प्रेतवच्चरेत्, क्राथेत वा, स्पन्देत वा... शृङ्गारेत वा" (३. ११-१५) इस तरह के पाशुपतसूत्र उपलब्ध हैं। बौद्ध तन्त्रों में भी इस अभिप्राय के वचन मिलते हैं। इसके लिये गुह्यसिद्धि का षष्ठ परिच्छेद देखिये।

२. "तस्माद् घृतं च वह्निं च नैकत्र स्थापयेद् बुधः" इस उत्तरार्ध के साथ यह श्लोक सुभाषित-ग्रन्थों में मिलता है।

३. महार्थमंजरीपरिमल, वाराणसी संस्करण, पृ० १४५

४. वहीं, पृ. १३० देखिये।

५. "अशेषतन्त्रसारं तु वामदक्षिणमाश्रितम्। एकत्र मिलितं कौलं श्रीषडर्धकशासने।। सिद्धान्ते कर्म बहुलं मलमायादिरूषितम्। दक्षिणं रौद्रकर्माढ्यं वामं सिद्धिसमाकुलम्।। (तन्त्रा. ३७. २६-२७) यहाँ यहीं विषय प्रतिपादित है।

६. "शिवः सदाशिवश्चैव भैरवस्तुम्बुरुस्तथा" (९. ११) नेत्रतन्त्र के इस वचन में शिव के सदाशिव, भैरव और तुम्बुरु स्वरूपों से सिद्धान्त, दक्षिण और वाम शास्त्रों के उपदेश की बात कही गई है। यहाँ और ऊपर के तन्त्रालोक के कथन में भी त्रिस्रोतो विभाग ही निर्दिष्ट है।

हुई थी। विद्यानन्द, अमृतानन्द आदि का कहना है कि यद्यपि त्रिपुरा विद्या का सम्बन्ध चारों आम्नायों से है, तथापि दक्षिणाम्नाय की तरफ इसका अधिक झुकाव है। महेश्वरानन्द क्रम सम्प्रदाय को औत्तराम्नाय कहते हैं। इनमें से शिव के दक्षिण मुख से निःसृत भैरवागमों का उपदेश साक्षात् भैरव करते हैं और क्रम-मत के आगमों का उपदेश स्वयं भैरवी कालसंकर्षिणी करती हैं। शक्तिपारम्य-पक्ष वस्तुतः इसी सम्प्रदाय का प्रमुख प्रतिपाद्य है, अतः क्रमदर्शन को शुद्ध शाक्त दर्शन माना जाता है।

नि. षो. (४. ६-७) में भी शक्तिपारम्य-पक्ष को स्वीकार किया गया है। अतः त्रिपुरा सम्प्रदाय का भी समावेश इसीमें माना जायगा। स्पन्दकारिका के सम्प्रदाय से संबद्ध कल्लट आदि काश्मीरी विद्वान् भी शक्तिपारम्य-पक्ष के ही अनुयायी हैं। भट्ट प्रद्युम्न के तत्त्वगर्भ स्तोत्र के वचन से इसकी पुष्टि होती है। शिवसूत्र, शिवदृष्टि आदि की परम्परा में विकसित कश्मीर का त्रिक दर्शन अथवा प्रत्यभिज्ञा दर्शन यद्यपि शिवपारम्यवाद का पोषक है, तथापि वहाँ प्रकाशविमर्शात्मक, अर्थात् शिवशक्ति-सामरस्य स्वरूप एक ही अद्वय तत्त्व स्वीकृत है। इस त्रिक दर्शन में द्वैतागमों और द्वैताद्वैतागमों का आणवोपाय के रूप में, क्रम दर्शन का शाक्तोपाय के रूप में और कुल दर्शन का शाम्भवोपाय के रूप में समावेश किया गया है। त्रिक दर्शन अथवा प्रत्यभिज्ञा दर्शन का यहाँ अनुपाय प्रक्रिया में समावेश है। इनमें से शिवपारम्यवादी कुल और त्रिक मत का शैवागमाधिकार में परिचय दिया जा चुका है। शाक्त सम्प्रदाय में काली और त्रिपुरा का अपना विशेष स्थान है और इनका विपुल साहित्य उपलब्ध होता है। इन शक्तिपारम्यवादी क्रम और त्रिपुरा मत का परिचय यहाँ शाक्ताधिकार में दिया जा रहा है। दस महाविद्याओं का परिचय स्मार्ततन्त्राधिकार में दिया जायगा।

त्रिक, कुल, क्रम और त्रिपुरा सम्प्रदाय का, इन मतों के विशिष्ट ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का परिचय डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने बड़े परिश्रम से अपने दो ग्रन्थों में दिया है। "अभिनवगुप्त : एन हिस्टोरिकल एण्ड फिलासफिकल स्टडी" नामक आंग्ल भाषा में निबद्ध ग्रन्थ में विस्तार से एवं "शैवदर्शनबिन्दु" नामक संस्कृत भाषा के ग्रन्थ में संक्षेप से यह विषय निर्दिष्ट है। इन्होंने त्रिपुरा-तन्त्रों का अन्तर्भाव कौल तन्त्रों में किया है। त्रिपुरा-तन्त्रों का विस्तृत परिचय हमने विशेष रूप से नि. षो. और शक्तिसंगम-तन्त्र के उपोद्घातों में दिया है। क्रम-सम्प्रदाय के ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का तथा तदन्तर्वर्ती अन्य मत-मतान्तरों का परिचय डॉ. नवजीवन रस्तोगी के "क्रम तान्त्रिसिज्म ऑफ काश्मीर" नामक ग्रन्थ में देखा जा सकता है। लुप्ता. के उपोद्घात में इन सभी मतों के ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का परिचय नई सूचनाओं के साथ दिया गया है।

इन सभी विषयों को हम यहाँ बहुत ही संक्षेप में प्रस्तुत कर रहे हैं। प्रारम्भ में कुछ चुने हुए ग्रन्थ-ग्रन्थकारों का तथा बाद में क्रम दर्शन का परिचय यहाँ दिया जा रहा है। वाम तन्त्रों का प्रचार कम्बोडिया तक हुआ था, इसकी सूचना वहाँ से प्राप्त शिलालेख से मिलती है। वाम, दक्षिण, क्रम और त्रिक सम्प्रदायों के साथ शास्त्रों में मत-सम्प्रदाय की भी चर्चा हुई है। इधर इस सम्प्रदाय के भी कुछ ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। उनका भी परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

ग्रन्थ-ग्रन्थकार परिचय

कम्बुज शिलालेख

डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची के कलकत्ता विश्वविद्यालय से सन् १९३९ में प्रकाशित "स्टडीज इन द तन्त्राज्" नामक ग्रन्थ में कम्बोडिया में उपलब्ध शिलालेख के आधार पर दो निबन्ध (पृ० १-२६) तथा संमोहनतन्त्र को लेकर एक परिशिष्ट (पृ. ९६-१०१) प्रकाशित किया है। यहाँ डॉ. बागची का कहना है कि इस विस्तृत शिलालेख में कम्बोडिया के प्रायः २५० वर्षों का सांस्कृतिक इतिहास संगृहीत है। यद्यपि शिलालेख पर कोई तिथि उत्कीर्ण नहीं है, तो भी ९४७ शक वर्ष (१०५२ ई.) का यहाँ उल्लेख है। ७२४ शक वर्ष (८१२ ई.) में राजा जयवर्धन द्वितीय कम्बोडिया के राजसिंहासन पर आरूढ हुआ, इसकी चर्चा मिलती है। शिवकैवल्य इसके राजपुरोहित थे। इस राजा के राज्यकाल में हिरण्यदाम नामक ब्राह्मण भारतवर्ष से आया था। राजा की अनुमति से उसने शिवकैवल्य को शिरश्छेद, विनाशिख, संमोह और नयोत्तर नामक शास्त्रों का उपदेश दिया। ये शास्त्र तुम्बरु के चार मुखों के समान सुशोभित थे। (पृ. १-२)

उस ग्रन्थ में रोमन लिपि में अंकित शिलालेख के कुछ श्लोकों का पाठ इस प्रकार है—

हिरण्यदामद्विजपुङ्गवोऽग्र्यधीरिवाब्जयोनिः करुणार्द्र आगतः।
अनन्यलब्धां खलु सिद्धिमादरात् प्रकाशयामास महीभृतं प्रति।।

स भूधरेन्द्रानुमतोऽग्र्यजन्मा ससाधनां सिद्धिमदीक्षदस्मै।
होत्रेहितैकान्तमनःप्रसक्ति संबिभ्रते धाम विबृंहणाय।।

शास्त्रं शिरश्छेदविनाशिखाख्यं संमोहनामापि नयोत्तराख्यम्।
तत् तुम्बरुर्वक्त्रचतुष्कमस्य सिद्ध्येव विप्रः समदर्शयत् सः।।

द्विजः समुद्धृत्य च शास्त्रसारं रहस्यकौशल्यधिया सयत्नः।
सिद्धीर्वहन्तीः किल देवराजाभिख्यां विदध्रे भुवनर्द्धिवृद्ध्यै।।

चौसठ तन्त्रों का क्रान्ता-विभाग बहुत पुराना नहीं है, यह विचार कर डॉ. बागची ने निःश्वाससंहिता, ब्रह्मयामल, जयद्रथयामल, पिंगलामत जैसे प्राचीन तन्त्रों की सहायता से प्रस्तुत शिलालेख में उल्लिखित चारों तन्त्रों के विषय में अपने विचार प्रकट किये हैं। इस अध्ययन में श्रीकण्ठीसंहिता में वर्णित ६४ तन्त्रों की एवं वामकेश्वरीमत में वर्णित ६४ तन्त्रों की नामावली का अथवा वैरोचन-कृत प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय का उपयोग नहीं हो सका। इसके अभाव में हमारी दृष्टि में इन चारों तन्त्रों का सही परिचय नहीं दिया जा सका।

नित्याषोडशिकार्णव की सूची के ६४ तन्त्रों का विवरण देते समय हमने इस पर विचार किया है। हमारा मत है कि नित्याषोडशिकार्णव (वामकेश्वरीमत) की सूची में प्राचीन समय में आविर्भूत सभी प्रकार के तन्त्रों का समावेश है, क्योंकि यहाँ के तोतुल, तोतुलोत्तर, सिद्धयोगीश्वरीमत, पंचामृत, योगिनीजालशम्बर, **नयोत्तर** जैसे नाम विभिन्न तन्त्र-शाखाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रतिष्ठा. में वर्णित पंचविध तन्त्रों में इनमें से कुछ नाम देखे जा सकते हैं। इस सूची के वाम-तन्त्रों में **नयोत्तर** और **वीणातन्त्र** नाम पठित है। श्रीकण्ठीसंहिता की नामावली में **शिरश्छेद, वीणाशिख** और **संमोह** नाम उपलब्ध हैं। इन्हीं प्राचीन तन्त्रों का उल्लेख कम्बुज-शिलालेख में माना जाना चाहिये। शिलालेख के विनाशिख नाम से वीणाशिख का ग्रहण ही उचित है। श्रीकण्ठीसंहिता में यही नाम पठित है। शिलालेख में नाम का यह विपर्यय छन्द के कारण अथवा लिपिभ्रंश के कारण हो सकता है। वीणाशिखतन्त्र अब प्रकाशित हो चुका है। यह वाम मत का तन्त्र है। इसके सम्पादक हालैण्ड के तन्त्रशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. तून गांद्रियान हैं। स्पष्ट है कि वाम-तन्त्रों में पठित वीणातन्त्र इससे अभिन्न है।

प्रस्तुत शिलालेख में इन चार तन्त्रों की तुम्बुरु के चार मुखों से तुलना की गई है। तुम्बुरु को शिव का अवतार माना जाता है। डॉ. बागची ने उक्त ग्रन्थ (पृ. २२) में योगवासिष्ठ के प्रमाण से इसे स्पष्ट किया है, जो इस प्रकार है —

अष्टैश्वर्ययुतास्ता हि मातरो रौद्रचेष्टिताः।
कदाचिन्मिलिता व्योम्नि सर्वाः केनापि हेतुना।।

उत्सवं परमं चक्रुः परमार्थप्रकाशकम्।
वामस्रोतोद्भवा एतास्तुम्बुरुं रुद्रमाश्रिताः।।

पूजयित्वा जगत्पूज्यौ देवौ तुम्बुरुभैरवौ।
विचित्रार्थाः कथाश्चक्रुर्मदिरामदतोषिताः।।
(नि. पू. १९. २४-२६)

यहाँ रुद्रावतार तुम्बुरु का वामस्रोत से संबन्ध स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है। "शिवः सदाशिवश्चैव भैरवस्तुम्बुरुस्तथा" (९. ११) नेत्रतन्त्र के इस वचन में भी शिव के तीन अवतारों का वर्णन है। "सदाशिवादिरूपतया ध्यातः सिद्धान्त-वाम-दक्षिणादिशास्त्राणां फलं प्रददाति" क्षेमराज की इस व्याख्या से भी तुम्बुरु का वामस्रोत से और भैरव का दक्षिण स्रोत से संबन्ध स्पष्ट होता है। कम्बुज शिलालेख का तुम्बुरु शब्द इस पद्धति से शिव का अवतार माना जायगा। इस तरह से कम्बुज-शिलालेख में उल्लिखित ये चार तन्त्र तुम्बुरु और भैरव के स्वरूप के परिचायक होने से उनके मुख के सदृश हैं। "शैवीमुखमिहोच्यते" विज्ञानभैरव के इस वचन में मुख शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। इस तरह से शिव के स्वरूप को जानने के साधन-स्वरूप वाम दक्षिण स्रोत से निर्गत इन चार तन्त्रों का उपदेश भारतवर्ष से कम्बुज देश में गये हिरण्यदाम नामक विद्वान् ने वहाँ के राजा की अनुमति से राजपुरोहित शिव-कैवल्य को दिया, यही कहना युक्तिसंगत होगा। इनमें से दो तन्त्रों का यहाँ विशेष परिचय दिया जा रहा है।

वीणाशिखोत्तर

वामकेश्वरीमतविवरण में चौसठ तन्त्रों के परिगणन के अवसर पर जयरथ ने वीणाद्य (१. १७) का अर्थ वीणाशिखोत्तर किया है। इसी के साथ यहाँ नयोत्तर भी पठित है। अन्यत्र "मतोत्तरं च वीणाख्यम्" यह पाठ मिलता है। श्रीकण्ठीसंहिता की सूची में शिखाष्टक में इसका नाम है। कम्बुज शिलालेख में इसका नाम विनाशिख बताया गया है। प्रतिष्ठालक्षण की सूची के वाम-तन्त्रों में नयोत्तर और वीणा-तन्त्र के नाम मिलते हैं (२. १२१-१२२)। २८ शिवागमों में से द्वितीय योगज के उपागमों में वीणाशिखोत्तर नाम मिलता है। कम्बुज शिलालेख वर्णित तन्त्रों की समीक्षा हम अभी (पृ. १३) कर चुके हैं और यह बता चुके हैं कि वाम-तन्त्रों में परिगणित नयोत्तर और वीणाशिख तथा श्रीकण्ठीसंहिता में परिगणित शिरश्छेद, वीणाशिख और संमोह तन्त्रों का ही ग्रहण यहाँ होना चाहिये।

तन्त्रशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ॰ तून गांद्रियान द्वारा सम्पादित होकर वीणाशिखतन्त्र दिल्ली से सन् १९८५ में प्रकाशित हुआ है। यहाँ वाम-तन्त्रों के आराध्य भगवान् तुम्बुरु और उनकी जया आदि चार शक्तियों की पूजाविधि वर्णित है। ऊपर अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक के पन्द्रहवें आह्निक में और नेत्रतन्त्र के ११वें अधिकार में भी वाम-वरिवस्या वर्णित है।

संमोहतन्त्र

डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची ने "कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया" नामक ग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड में प्रकाशित "इवोल्यूशन ऑफ द तन्त्राज्" शीर्षक निबन्ध (पृ. २२१-२२२) में तन्त्रशास्त्र के तन्त्र, उपतन्त्र, डामर, यामल आदि भेदों की चर्चा की है। उनका कहना है कि वह विवरण नेपाल में उपलब्ध प्राचीन संमोह(संमोहन)-तन्त्र के प्रमाण से लिया गया है, मुद्रित संमोहन तन्त्र के आधार पर नहीं (पृ. २११ टि.)। हस्तलेख-सूचियों में तीन तरह के संमोहन तन्त्रों का परिचय अंकित है। इनमें नेपाल की सूची (भा. २, पृ. १८३) और कलकत्ता की सूची (भा. १, पृ. ४००) में उपलब्ध ग्रन्थ एक सरीखा है। राजेन्द्रलाल मित्र की सूची (भा. १, पृ. ३७१) में दूसरा तथा सरस्वती भवन की सूची में स्थित ९५१५९ संख्या का ग्रन्थ इन दोनों से भिन्न है। डॉ. बागची द्वारा उल्लिखित मुद्रित संमोहनतन्त्र को हम देख नहीं पाये हैं, अतः उसके विषय में हम कुछ कह नहीं सकते, किन्तु प्रथम संमोहनतन्त्र, जिसका परिचय डॉ. बागची ने "स्टडीज इन द तन्त्राज्" (पृ. ९६-१०१) में विस्तार से दिया है और जिसके आधार पर उन्होंने तन्त्रों का परिगणन किया है, वह शक्तिसंगमतन्त्र के चतुर्थ छिन्नमस्ता खण्ड से अभिन्न है। यह ग्रन्थ अब प्रकाशित हो चुका है। डॉ. बागची द्वारा निर्दिष्ट सभी विषय यहाँ आनुपूर्वी से मिलते हैं। अतः इस ग्रन्थ के आधार पर चर्चित विषय उतने प्राचीन नहीं हो सकते, जितने कम्बुज शिलालेख में उल्लिखित चार तन्त्र हैं। फलतः प्राचीन संमोहतन्त्र का परिचय इसके आधार पर नहीं दिया जा सकता।

एक समस्या यहाँ उपस्थित होती है। संमोहनतन्त्र का परिचय देने वाली दोनों सूचियों में द्वितीय खण्ड के रूप में इसका उल्लेख है, जब कि शक्तिसंगमतन्त्र में चतुर्थ छिन्नमस्ता खण्ड के रूप में यह प्रकाशित है। ऐसी स्थिति में इन दोनों की एकता कैसे स्थापित की जा सकती है? इसका समाधान यह है कि इस तन्त्र की सरस्वती भवन स्थित मैथिली लिपि की दो मातृकाओं में चतुर्थ खण्ड को द्वितीय खण्ड ही माना गया है। इस तरह से कालभेद या देशभेद के आधार पर उत्पन्न खण्डभेद के कारण इनकी भिन्नता नहीं मानी जा सकती। स्पष्ट है कि शक्तिसंगमतन्त्र का चतुर्थ अथवा द्वितीय खण्ड ही संमोहनतन्त्र के नाम से प्रसिद्ध हो गया। इसको संमोहतन्त्र नहीं माना जा सकता।

कुब्जिकामत

यह कुब्जिकामत बंग लिपि में मुद्रित कुब्जिकातन्त्र से भिन्न एवं प्राचीन ग्रन्थ है। इन दोनों ग्रन्थों की भिन्नता को स्पष्ट रूप से बताने के लिये कुब्जिकामततन्त्र शब्द का

प्रयोग न किया जाय, यही उचित है। इसके दो संस्करण उपलब्ध हैं— एक ३५०० श्लोक वाला और दूसरा ६००० श्लोक वाला। इनमें से [१]षट्साहस्रीसंहिता के प्रारम्भ के पाँच पटल हालैण्ड से रोमन लिपि में सन् १९८२ में ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हुए हैं। इसका सम्पादन हालैण्ड के ही तन्त्रशास्त्र के विद्वान् डॉ. जे. ए. शोतेरमन ने किया था। इस संस्करण की विशिष्टता यह है कि यहाँ परिशिष्ट में प्रस्तार, गह्वर, मालिनी, शब्दराशि जैसे शब्दों पर विस्तार से चित्रों के साथ प्रकाश डाला गया है। यह दुःख का विषय है कि ये अल्पायु हो गये। ३५०० श्लोकवाला कुब्जिकामत कुलालिकाम्नाय के नाम से प्रसिद्ध है। सन् १९८८ में इसका भी प्रकाशन हालैण्ड से ही हो चुका है। उक्त विद्वान् ने इसका सम्पादन हालैण्ड के ही ख्यातनामा विद्वान् डॉ. तून गांद्रियान के साथ मिलकर किया था।

नि. षो. की अर्थरत्नावली टीका (पृ. २०५) में "संवर्तामण्डलान्ते" इत्यादिक पंक्ति मतशास्त्र के नाम से उद्धृत है। यह श्लोक उक्त दोनों ही संस्करणों का प्रथम मंगल पद्य है। कुलालिकाम्नाय का चक्रपाणि (कुम्हार) के गृह से संबन्ध माना गया है। कुम्हार के घर पर कुब्जिका के पूजन का विधान मिलता है, अतः इस सम्प्रदाय में चक्रपाणि-गृह का महत्त्व स्पष्ट है। नेपाल में यह सम्प्रदाय आज भी जीवित है। कुलालिकाम्नाय को बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति कहीं उद्धृत करते हैं, ऐसी सूचना मिलती है। इसकी परीक्षा अपेक्षित है। नि. षो. की ६४ तन्त्रों की नामावली में मत-तन्त्रों के प्रसंग में इसका नाम उपलब्ध है, किन्तु श्रीकण्ठीसंहिता की ६४ तन्त्रों की नामावली में स्थित मताष्टक में यह नाम नहीं मिलता। विद्वानों का कहना है कि शाक्त और बौद्ध तन्त्रों में वर्णित २४ पीठों और ५० वर्णों की विशद चर्चा सबसे पहले यहीं मिलती है। इस विषय की परीक्षा बौद्धाधिकार में की जायगी, क्योंकि यहाँ की पीठों की नामावली बौद्ध पीठों से अधिक मिलती है।

कुब्जिकोपनिषत्

कुब्जिकामत के प्रसंग में षट्साहस्रीसंहिता के प्रारंभ के पाँच पटलों के और कुलालिकाम्नाय नाम के संस्करणों की सूचना अभी दी गई है। इन्हीं दो ग्रन्थों के सम्पादक डॉ. तून गांद्रियान और डॉ. जे. ए. शोतेरमन ने कुब्जिका उपनिषत् का भी सुन्दर संस्करण तैयार किया था। उसे अब सन् १९९४ में प्रकाशित कराया गया है। इस

---

१. षट्सहस्र नाम के दो अन्य ग्रन्थ भी मिलते हैं–षट्सहस्र कालोत्तर और षट्सहस्र त्रिकसार। शतरत्नसंग्रह में उद्धृत षट्साहस्रिका कालोत्तर से अभिन्न होनी चाहिये। ये तीनों ग्रन्थ भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के हैं। सब में छः हजार श्लोक हैं, इतनी ही इनमें समानता लगती है।

ग्रन्थ के सम्पादन के प्रसंग में ही २९ जून १९८९ ई. को डॉ. शोतेरमन का स्वर्गवास हो गया। यह उनकी हमलोगों को अन्तिम भेंट हैं। उनके अन्य अवदानों से हम वंचित कर दिये गये। इस संस्करण की हमारी दृष्टि में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह ग्रन्थ देवनागरी लिपि में मुद्रित हुआ है। कम्प्यूटर युग की यह देन है। भारत में वंग, तेलुगु, ग्रन्थ आदि लिपियों का आग्रह धार्मिक ग्रन्थों के प्रकाशन में आज भी विद्यमान है। ऐसी स्थिति में यूरोप की यह देन सराहनीय है। ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद भी साथ में है।

कुब्जिका पश्चिमाम्नाय की देवी है। मतशास्त्र का भी संबन्ध पश्चिमाम्नाय से ही माना जाता है। शंभुनिर्णय (मतेशभट्टारक) की तथा शिवानन्दमुनि विरचित इसकी दीपिका टीका की मातृकाएँ मद्रास राजकीय पुस्तकालय में उपलब्ध हैं। यहाँ भी मतशास्त्र को पश्चिमाम्नाय से ही संबद्ध माना गया है। कुब्जिकोपनिषत् अथर्ववेद से संबद्ध है। इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में अन्य अथर्ववेदीय उपनिषदों का भी परिचय दिया गया है (पृ. २-४)। अन्त में कुछ परिशिष्ट भी संयोजित हैं।

मतोत्तर

मतोत्तर के कुछ श्लोक नि. षो. अर्थरत्नावली (पृ. १९, २४, १३९) में उद्धृत हैं। यहाँ का द्वितीय उद्धरण यो. हृ. दी. (पृ. ५९) और सेतुबन्ध (पृ. ६०) में स्वच्छन्दसंग्रह का माना गया है। ऋजुविमर्शिनी (पृ. १३३) में मतोत्तर के नाम से पाँच पंक्तियाँ मिलती हैं। दो मातृकाओं में ग्रन्थ का नाम वामिकोत्तर है। नि. षो. की चौसठ तन्त्रों की नामावली में यह नाम उपलब्ध है। श्रीमतोत्तर के नाम से इसकी अनेक मातृकाएँ उपलब्ध हैं। सं. सं. वि. वि., वाराणसी से प्रकाशित गोरक्षसंहिता इसी का अधूरा संस्करण है। अब इसका परिपूर्ण संस्करण प्रकाशित होने वाला है। मतोत्तर के कुछ वचन स्वच्छन्दसंग्रह में भी उपलब्ध हैं। हमारी जानकारी में स्वच्छन्दसंग्रह की मातृका अब तक उपलब्ध नहीं हुई है।

चिद्गगनचन्द्रिका

यह कश्मीर के क्रम-सम्प्रदाय का एक जटिल ग्रन्थ है। इसमें भगवती काली (अम्बिका) की स्तुति के व्याज से पूरी क्रमपद्धति प्रतिपादित है। गौड देश (बंगाल) में प्रचलित भगवती काली की उपासना से यहाँ की पद्धति भिन्न है और उसकी अपेक्षा प्राचीन भी। भट्ट उत्पल की शिवदृष्टिवृत्ति में उद्धृत भट्ट प्रद्युम्न के तत्त्वगर्भ स्तोत्र में संवित्तत्त्वरूपा परब्रह्मस्थानीया शक्ति **अम्बिका** के नाम से स्तुत है। यह संबोधन यहाँ भी अनेक स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है। महाकवि रत्नाकर के हरविजय महाकाव्य में भी हमें कालसंकर्षिणी और क्रम-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है। अतः हम मान सकते हैं कि ८वीं-९वीं शताब्दी में यह सम्प्रदाय कश्मीर में प्रचलित था।

कई स्थानों पर कालिदास के नाम का उल्लेख और मंगलाचरण के द्वितीय श्लोक में मोलविकाग्निमित्र नाटक के नान्दी श्लोक का अनुकरण देखकर इस ग्रन्थ के संपादक और टीकाकार इस ग्रन्थ को कालिदास की रचना मानते हैं। कालिदास नामधारी अनेक कवि हुए हैं, उनमें से कोई इसके कर्ता हो सकते हैं। इसके काव्यत्रयी और नाटकत्रयी के कर्ता महाकवि आद्य कालिदास की कृति होने का कोई प्रसंग ही नहीं है, क्योंकि इस संप्रदाय की प्रवृत्ति ही बहुत बाद की है। "क्रम तान्त्रिसिज्म" के लेखक डॉ. नवजीवन रस्तोगी ने इस ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक के प्रमाण से श्रीवत्स को इस ग्रन्थ का कर्ता माना है। श्रीवत्स ने ही अपने को कालिदास के रूप में प्रस्तुत किया हो, यह संभव हो सकता है। श्रीवत्स का काल डॉ. रस्तोगी ने ११२५-११७५ ई. निर्धारित किया है। विपरीत प्रमाणों के अभाव में हम अभी इसी तिथि को मान्यता दे सकते हैं।

यहाँ ग्रन्थ के नाम चिद्गगनचन्द्रिका का दो बार (श्लोक ३, ३०८) तथा कालिदास नाम का चार बार (श्लो. ३, २७२, ३०४, ३०६) उल्लेख मिलता है। पूर्णपीठ (श्लो. २५९, ३०७, ३१२) ही करवीर (श्लो. ८२) पीठ या करवीर श्मशान के रूप में परिज्ञात है। यह स्थान आजकल कोल्हापुर के नाम से प्रसिद्ध है। आरंभ (श्लो. ९) में योगशास्त्र के प्रवर्तक महर्षि पतंजलि का और अन्त में सोम (श्लो. ३००), सोमपुत्र (श्लो. ३०४), चक्रभानु (श्लो. ३००), सिद्धनाथ और उनकी क्रमस्तुति (श्लो. ३०५) का उल्लेख है। इस सबका परिचय डॉ. नवजीवन रस्तोगी के उक्त ग्रन्थ में दिया गया है। दोनों ही टीकाकारों ने और मूल ग्रन्थ के संपादक ने भी सिद्धनाथ और शंभुनाथ को अभिन्न व्यक्ति माना है। इसका आधार बहुत स्पष्ट नहीं है। भुवनेश्वरीस्तोत्र के रचयिता पृथ्वीधर के काल के विषय में भी हमें अभी पुनः विचार करना होगा। अमृतानन्द और महेश्वरानन्द ने इस ग्रन्थ के अनेक वचनों को उद्धृत किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ को चार विमर्शों में विभक्त किया गया है। प्रथम विमर्श में २२, द्वितीय में ५२, तृतीय में १०५ तथा चतुर्थ विमर्श में १३४— कुल ३१३ श्लोक हैं। विमर्शों की श्लोकसंख्या अलग-अलग न देकर पूरे ग्रन्थ की श्लोकसंख्या ३१२ दी गई है। अन्तिम श्लोक अधूरा है। यहाँ भगवती अम्बिका अम्ब, अम्बिके, ईश्वरि, शिवे, जननि, कालि, चण्डि, चण्डिके, देवि, मङ्गले, उमे, कालकर्षिणि, अम्बरेश्वरि, परमेशि, गौरि जैसे नामों से संबोधित है। सर्वाधिक प्रयोग अम्ब, अम्बिके और शिवे पदों का हुआ है। महार्थमंजरी की परिमल टीका के अनुसार क्रमदर्शन की अधिष्ठात्री देवी का नाम मंगला है। कालकर्षिणी पद भी इस दर्शन की उपास्य काली के स्वरूप पर प्रकाश डालता है। ग्रन्थकार के अनुसार त्रिष्टुप् छन्द में निबद्ध यह कृति ३०९ श्लोकों में पूरी हुई है।

इस ग्रन्थ के तीन संस्करण हमारे सामने हैं। सर्वप्रथम यह (मूलमात्र) आगमानुसन्धान समिति, कलकत्ता से सन् १९३६ में छपी थी। बाद में श्रीकर्रा अग्निहोत्री शास्त्री की टीका के साथ सन् १९४३ में यह ग्रन्थ आन्ध्रप्रदेश के पूर्व गोदावरी जिले से प्रकाशित हुआ। अभी हाल में स्व० पण्डित रघुनाथ मिश्र की टीका के साथ यह ग्रन्थ सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्ववविद्यालय से सन् १९८० में प्रकाशित हुआ है। मूल ग्रन्थ के संस्करण का ही अन्य दोनों टीकाकारों ने सहारा लिया है। अब इस ग्रन्थ के अन्य हस्तलेख भी उपलब्ध हैं। उनकी सहायता से ग्रन्थ का संपादन होने पर सही श्लोकसंख्या और अधूरे श्लोक की पूर्ति हो सकती है। परिशिष्ट में संकलित "खे निरस्त" इत्यादि श्लोक अमृतानन्द के चिद्विलासस्तव का है तथा "यत्र यत्र मिलिता:" यह श्लोक स्तोत्रावली के नाम से उद्धृत मिलता है।

महाप्रकाश

महार्थमंजरी और उसकी परिमल टीका के रचयिता महेश्वरानन्द शाक्त-तन्त्रों के प्रसिद्ध आचार्य हैं। इन्होंने मंगलाचरण (पृ. १) में तथा आगे (पृ. १९०) भी अपने दीक्षागुरु का नाम महाप्रकाश बताया है। अपने ग्रन्थ में इन्होंने अपने गुरु के मनोनुशासनस्तोत्र (पृ. १२, ४४, ९१), मातंगीस्तोत्र (पृ. ४२), संवित्स्तोत्र (पृ. ६८) और आनन्दताण्डवस्तोत्र (पृ. १५९-१६०) को उद्धृत किया है। संवित्स्तोत्र को वे अन्यत्र (पृ. १२४) परमगुरु (शिवानन्द) की कृति मानते हैं। इसके विषय में अब तक इतनी ही जानकारी मिल सकी है।

प्राकृतत्रिंशिका

शिवोपाध्याय विज्ञानभैरव के वृन्दचक्र के प्रतिपादक "करङ्किण्या क्रोधनया" (श्लो. ७६) इत्यादि श्लोक की विस्तार से व्याख्या प्रस्तुत करने के बाद लिखते हैं कि वृन्दचक्र का निर्णय भट्टारक कृत प्राकृतत्रिंशिका के विवरण में अनेक प्रकार से किया गया है, इस विषय का विस्तार वहीं देखना चाहिये (पृ. ६९)। खेद का विषय है कि यह ग्रन्थ और इसका विवरण आज उपलब्ध नहीं है। स्पन्दप्रदीपिका (पृ. १०१) में भी एक प्राकृत गाथा उद्धृत है। क्रमदर्शन के ग्रन्थों का इस भाषा से विशेष लगाव रहा है।

महेश्वरानन्द

नि. षो. के उपोद्घात (पृ. १७-१९) में ऋजुविमर्शिनीकार शिवानन्द का परिचय देते समय महेश्वरानन्द के विषय में हमने जो कुछ कहा है, उससे इतनी जानकारी

मिलती है कि शिवानन्द इनके परमगुरु[1] और चोल देश के शिरोमणि महाप्रकाश इनके गुरु हैं। इन्होंने महाराष्ट्री प्राकृत भाषा में महार्थमंजरी की रचना की। चोल देश निवासी महेश्वरानन्द लोक में गोरक्ष के नाम से प्रसिद्ध थे। इनका दीक्षा-नाम महेश्वरानन्द है। ये सारी बातें इनकी स्वोपज्ञ परिमल व्याख्या से ही ज्ञात होती हैं। इनके विषय में यह बात बहुत चर्चित है कि नाथ सम्प्रदाय में प्रसिद्ध गोरक्षनाथ ये ही हैं और सकल कुलशास्त्र के अवतारक मत्स्येन्द्रनाथ के ये शिष्य हैं। यह चर्चा समुचित नहीं है, इसके विषय में भी हम नि. षो. के उपोद्‍घात (पृ. १७, ११६-११७) में ही लिख चुके हैं। त्रिपुरा प्रकरण (पृ. ६१७) में बताया गया है कि शिवानन्द का समय ई. तेरहवी सदी का अन्तिम भाग और योगिनीहृदय की दीपिका टीका के लेखक अमृतानन्द का समय ई. चौदहवी शताब्दी का अन्तिम भाग है। इसी के बीच में महेश्वरानन्द का समय होना चाहिये।

मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ की कौल प्रकरण (पृ. २२०-२२३) में चर्चा आ चुकी है, तो भी स्थूणानिखनन-न्याय से हम यहाँ उनकी पुनः चर्चा करना चाहते हैं। इनका परस्पर गुरु-शिष्य का संबन्ध मानने वाले विद्वान् अभिनवगुप्त के प्रमाण से मत्स्येन्द्रनाथ का समय ई. नवीं-दसवीं सदी निर्धारित करते हैं। अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमराज ने अनेक ग्रन्थों की रचना की हैं। उनमें शिवसूत्रविमर्शिनी, साम्बपंचाशिकावृत्ति, प्रत्यभिज्ञाहृदय आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। ऋजुविमर्शिनी (पृ. २२९) में शिवानन्द इनका स्मरण करते हैं। यहीं शिवानन्द क्षेमराज के स्पन्दनिर्णय और शिवसूत्रविमर्शिनी की भाषा का आनुपूर्वी से अथवा छाया के रूप में अनुसरण करते हैं। इस तरह से अभिनवगुप्त के द्वारा मच्छन्दविभु के रूप में सादर स्मृत मत्स्येन्द्रनाथ अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमराज के ग्रन्थों को उद्धृत करने वाले शिवानन्द के प्रशिष्य महेश्वरानन्द (गोरक्ष) के गुरु कैसे हो सकते हैं। महेश्वरानन्द इनका गुरु के रूप में कहीं स्मरण भी नहीं करते, वे तो अपने गुरु का नाम महाप्रकाश बताते हैं। महार्थमंजरी और उसकी परिमल टीका में प्रतिपादित सिद्धान्तों से भी नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक हठयोगी गोरक्षनाथ के सिद्धान्तों से कोई समानता नहीं है, अतः इन दोनों की भिन्नता ही माननी पड़ेगी।

शिवानन्द ऋजुविमर्शिनी (पृ. २२५) में सोमशंभु की कृति कर्मकाण्डक्रमावली को उद्धृत करते हैं। सोमशंभु ने इस ग्रन्थ को ११३० वि. (१०७३ ई.) में पूरा किया। इसी तरह से ऋजुविमर्शिनी में ही शिवानन्द दो तीन स्थलों पर नागभट्ट को और उनके ग्रन्थ त्रिपुरासारसमुच्चय के कुछ वचनों को भी उद्धृत करते हैं। ये नागभट्ट जैन सम्प्रदाय में प्रसिद्ध अनेक नाटकों के रचयिता [2]हस्तिमल्ल से अभिन्न हैं। इनका समय भी ई. १३वीं

---

१. महेश्वरानन्द के परमगुरु शिवानन्द की यहाँ उल्लिखित कृतियों का परिचय नि. षो. (उपो. पृ. १७-१९) में देखिये।

२. नागभट्ट (कवि हस्तिमल्ल) का परिचय त्रिपुरा प्रकरण (पृ. ६०८-६१०) में देखिये।

सदी का अन्तिम भाग है। इस तरह से महेश्वरानन्द की और नाथ-सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोरक्षनाथ की एकता किसी भी रूप में स्थापित नहीं की जा सकती।

गोरक्षनाथ भी मत्स्येन्द्रनाथ के साक्षात् शिष्य नहीं हो सकते और न ये मत्स्येन्द्रनाथ के सिद्धान्तों का अनुसरण ही करते हैं। इस विषय पर [1]अन्यत्र विस्तार से विचार किया गया है। इस तरह से इन सब प्रमाणों को देखते हुए महेश्वरानन्द और गोरक्षनाथ की एकता कथमपि स्थापित नहीं की जा सकती।

महेश्वरानन्द ने ७० संख्या की प्राकृत गाथाओं में महार्थमंजरी की रचना की है। शिवानन्द मुनि के द्वारा विरचित सुभगोदय, सुभगोदयवासना और सुभगोदयप्रभा में, शिवानन्द के पौत्र चिदानन्द के पुत्र श्रीकण्ठानन्द-विरचित निष्कलक्रमचर्चा में भी श्लोकों की संख्या ७० ही है। इस विषय की चर्चा नित्या, उपोद्घात (पृ. २०) में हम कर चुके हैं कि शिवानन्द, महेश्वरानन्द आदि का इस संख्या में इतना अभिनिवेश क्यों है? इसका समाधान प्रो. ए. एन. उपाध्ये के "प्राकृत लेंग्वेजेज एण्ड काश्मीर शैविज्म" शीर्षक निबन्ध से मिलती है। डॉ. नवजीवन रस्तोगी के ग्रन्थ "क्रम तान्त्रिसिज्म" (पृ. २१८, टि. ४) से सूचना मिलती है कि यह निबन्ध डॉ. एस. के. वेलवेलकर के अभिनन्दन ग्रन्थ (पृ. १९३) में छपा है। यहाँ बताया गया है कि प्राकृत भाषा में ७० गाथाओं में ग्रन्थ लिखने की परम्परा रही है। स्पन्दप्रदीपिका में अनेक स्थलों पर उद्धृत आत्मसप्तति या स्वात्मसप्तति इसी परम्परा का ग्रन्थ हो सकता है।

महेश्वरानन्द ने अपनी महार्थमंजरी पर स्वयं परिमल नाम की व्याख्या लिखी है। अन्य अनेक विशिष्ट ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने यहाँ अपने गुरु महाप्रकाश के अतिरिक्त स्वयं अपने द्वारा रचित कुण्डलाभरण, कोमलवल्लीस्तव, नखप्रलाप, परास्तोत्र, पादुकोदय, महार्थोदय, मुकुन्दकेलि और संविदुल्लास को भी उद्धृत किया है। इनमें से कुछ के केवल नाम दिये गये हैं और अन्य ग्रन्थों के वचन भी उद्धृत हैं। (पृ० ५७) पर "मदीयं सूक्तम्" कह कर एक श्लोक यहाँ उद्धृत है। यह किसी ग्रन्थ का नाम न होकर प्रकीर्ण सुभाषित होना चाहिये। सूक्त शब्द यहाँ शोभन उक्ति (सुभाषित) के अर्थ में प्रयुक्त प्रतीत होता है।

महार्थमंजरी सपरिमला

महेश्वरानन्द विरचित महार्थमंजरी और उसकी परिमल टीका के दो संस्करण आजकल उपलब्ध हैं। एक विस्तृत संस्करण त्रिवेन्द्रम् संस्कृत ग्रन्थमाला में और दूसरा संक्षिप्त कश्मीर ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुआ है। परिमल टीका के विस्तृत संस्करण का

१. कौल प्रकरण (पृ. २२०-२२३) देखिये।

पुनः प्रकाशन काशी से हुआ और अब सन् १९९२ में इसका दूसरा संस्करण भी हो चुका है। यह एक अतीव महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है और नूतन उपलब्ध मातृकाओं के आधार पर इसका नूतन संस्करण अभी भी अपेक्षित है। क्रमदर्शन के उपलब्ध ग्रन्थों में सहज रूप से इस शास्त्र के विषयों को दिखाने वाला यह सर्वश्रेष्ठ प्रयास है। इतना ही नहीं, उत्पल वैष्णव कृत स्पन्दप्रदीपिका, जयरथ कृत तन्त्रालोक-विवेक, अमृतानन्द कृत योगिनीहृदयदीपिका जैसे ग्रन्थों में इसकी गणना की जा सकती है, जिनकी सहायता से हम आगम-तन्त्रशास्त्र के प्राचीनतम महनीय ग्रन्थों से परिचित हो पाते हैं। लुप्तागमसंग्रह के दो भागों में इन्हीं ग्रन्थों से वचन-संग्रह में सर्वाधिक सहायता मिली है और द्वितीय भाग के विस्तृत उपोद्घात में इनमें उद्धृत ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का परिचय देने में भी।

"सच्चित्सुखमयः" (पृ. ३४) यह वचन पादसूत्र की अडयार पुस्तकालय, मद्रास की ६२१०३ संख्या की मातृका में उपलब्ध है। आनन्दवर्धनाचार्य के ध्वन्यालोक को यहाँ काव्यालोक के नाम से और शिवानन्द की सुभगोदयवासना को क्रमवासना के नाम से उद्धृत किया गया है। नरेश्वरविवेक सद्योज्योति शिवाचार्य विरचित नरेश्वरपरीक्षा से भिन्न ग्रन्थ है। [1]तन्त्रालोक के नाम से उद्धृत दो श्लोक तथा [2]स्वच्छन्दतन्त्र के नाम से उद्धृत तीन पंक्तियाँ वहाँ नहीं मिलतीं। प्रबोधपंचदशिका कश्मीर ग्रन्थमाला में प्रकाशित अभिनवगुप्त की बोधपंचदशिका से भिन्न है। मदालसोक्ति नाम से उद्धृत श्लोक मार्कण्डेय पुराण के मदालसा उपाख्यान का है। महानयप्रकाश के दो संस्करण उपलब्ध हैं। पहला कश्मीर ग्रन्थमाला में प्रकाशित प्राकृत भाषा वाला और दूसरा त्रिवेन्द्रम् संस्कृत ग्रन्थमाला में प्रकाशित संस्कृत भाषा का। परिमल में उद्धृत महानयप्रकाश के अनेक वचन त्रिवेन्द्रम् संस्करण में उपलब्ध हैं। कुछ वचन उपलब्ध नहीं होते। इसका कारण यह हो सकता है कि यह ग्रन्थ अपूर्ण ही उपलब्ध हुआ है। विज्ञानभैरव ग्रन्थ का तथा विज्ञानभट्टारक ग्रन्थकार का नाम है।

शम्भ्वैक्यदीपिका और शाम्भवदीपिका, ज्ञानेन्दुकौमुदी और विज्ञानेन्दुकौमुदी अभिन्न ग्रन्थ लगते हैं। शिवानन्द विरचित शम्भुनिर्णयदीपिका के ही उक्त दो नाम हो सकते हैं। वहाँ उन दोनों ग्रन्थों के उद्धरणों की खोज अपेक्षित है। शम्भुनिर्णय पर शिवानन्दमुनि विरचित दीपिका व्याख्या की मातृका मद्रास राजकीय ग्रन्थालय में

---

१. "एकैकत्र च तत्त्वेऽपि" (पृ. ६५) तथा "गुरुहृदयनिविष्टः" (पृ. १६९)। यहाँ का प्रथम उद्धरण तन्त्रालोकविवेक (३.४६) में मिलता है।

२. "मुक्तानां शिवताव्यक्ति" (पृ. ७०) इत्यादि तीन पंक्तियाँ उपलब्ध नहीं होती।

उपलब्ध है। शम्भुनिर्णय में २६ अवच्छेद हैं और मतेश के नाम से यह वहाँ चर्चित है। यह मातृका पूरी नहीं है। स्तोत्रभट्टारक के दो तरह के उद्धरण मिलते हैं– अनुष्टप्-छन्द वाले और उपजाति छन्द वाले। सिद्धनाथ विरचित क्रमस्तोत्र के द्वादश कालियों के स्वरूप के बोधक उपजाति छन्दवाले वचन जयरथ के तन्त्रालोकविवेक में संगृहीत हैं। अभिनवगुप्त ने इस पर क्रमकेलि नाम की व्याख्या लिखी थी, इसकी जानकारी भी जयरथ की [1]व्याख्या से ही मिलती है। परिमल में अनुष्टुप्-छन्दोमय स्तोत्रभट्टारक के श्लोकों के साथ भी क्रमकेलि का संबन्ध सूचित है, अतः स्तोत्रभट्टारक और क्रमस्तोत्र की स्तोत्रभट्टारक के जैसे संमानसूचक नाम से अभिन्नता प्रतीत होती है। "ये सब कालियाँ सृष्टिकाली आदि के नाम से स्तोत्रभट्टारक आदि में वर्णित हैं" (पृ. १०१) परिमल की इस उक्ति से भी इस बात की पुष्टि होती है। इसी तरह से परिमल (पृ. १२६) में उद्धृत "कौलार्णवानन्दमयोर्मिरूपाम्" स्तोत्रभट्टारक का यह श्लोक तन्त्रालोकविवेक (४.१४८) में क्रमस्तोत्र के नाम से उद्धृत है। उससे भी इन दोनों की अभिन्नता स्थापित होती है। इसीलिये हमने "तद्विवर्त" (पृ. १५०) इत्यादि पंक्ति को स्तोत्रभट्टारक का ही श्लोकार्ध माना है।

परिमल में अभिनवगुप्त विरचित परमार्थसार ही परमार्थसंग्रह अथवा परमार्थसारसंग्रह के नाम से उद्धृत है, क्योंकि ये सभी श्लोक परमार्थसार में उपलब्ध हैं। क्रमवासना के नाम से स्मृत सभी श्लोक सुभगोदयवासना में मिल जाते हैं और यह ग्रन्थ नि. षो. के परिशिष्ट में छप चुका है। स्पष्ट है कि सुभगोदयवासना को ही यहाँ क्रमवासना कहा गया है। शिवानन्द ने जैसे सुभगोदय की रचना की, महेश्वरानन्द ने भी लगता है उसी पद्धति से महार्थोदय की रचना की थी। यह बात महेश्वरानन्द की उक्ति से ही प्रतीत होती है कि उन-उन देवताओं के मन्त्रों का उद्धार मेरे महार्थोदय नामक ग्रन्थ में देखना चाहिये (पृ. १०४)।

परिमल में उद्धृत तन्त्रवटधानिका का "षट्त्रिंशत्तत्त्वपर्यायः" (पृ. ६७) यह पाठ मूल ग्रन्थ में— "विद्यातत्त्वादा शिवान्तम्" (३.१६) इस तरह से उपलब्ध है। इसी तरह से मुद्रित ईश्वरसिद्धि में द्वितीय श्लोक का उत्तरार्ध खण्डित है। परिमल की सहायता से उसकी पूर्ति इस तरह से कर सकते हैं – "घटवद् यदनेवं तन्नैवं खपरमाणुवत्" (पृ. १७)। "अख्यातिर्यदि" (पृ. १५) यह पद्य क्षेमराज के प्रत्यभिज्ञाहृदय के चतुर्थ श्लोक की व्याख्या में अपने ही नाम से स्मृत है। "नमः प्रमातृवपुषे" (पृ. ६१) यह श्लोकार्ध योगिनीहृदयदीपिका (पृ. २९३) में पूर्वार्ध की पूर्ति के साथ परापंचाशिका के वचन के

१. तन्त्रालोकविवेक (भा. ३, पृ. १९१ ; ४.१७३) द्रष्टव्य।

रूप में उद्धृत है, किन्तु मुद्रित परापंचाशिका में यह उपलब्ध नहीं है। [1]महानयप्रकाश एवं भावोपहार (पृ. ४४) में यह श्लोक प्रत्यभिज्ञाकार की कृति के रूप में उल्लिखित है। "यत्रेन्धनम्" (पृ. १०९) इत्यादिक श्लोक परमार्थसारविवृति (पृ. १४६) में वीर वामनक के नाम से उद्धृत है। वामनदत्त का संवित्प्रकाश अब प्रकाशित हो चुका है। वहाँ यह श्लोक उपलब्ध नहीं होता।

शाक्त तन्त्रों में शक्ति का स्वरूप

तन्त्रालोकविवेक में जयरथ द्वारा उद्धृत हस्तनय में इस प्रकार शक्ति की स्तुति की गई है— "हे भगवति! सत् और असत् के भेद को मिटा देने वाली आप ही सहज संवित्ति और जया आदि के रूप में प्रकट होती हैं। एक आगमवचन के अनुसार जया आदि गुह्य शक्तियाँ हैं। सहज संवित्स्वरूपा भगवती पराम्बा का यह विलास मात्र है। यहाँ जयरथ ने आद्य वर्ण अकार की चार कलाओं के रूप में जया आदि चार शक्तियों की व्याख्या की है और आगम का उद्धरण देते हुए कहा है कि [2]शुद्ध परब्रह्म ही आदिवर्ण (अकार) का रूप धारण कर लेता है। इसी को अनुत्तर भी कहते हैं। इस ब्रह्म की परानामक शक्तियों के नाम अम्बिका, ज्येष्ठा, रौद्री और वामा ; परापरा शक्तियों के नाम [3]शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा और निवृत्ति तथा जया आदि चार गुह्य शक्तियाँ अपरा कहलाती है। आगे जयरथ कहते हैं कि क्रमस्तोत्रकार को कामरूप पीठ में चरुक प्रदान कर इन गुह्य शक्तियों ने ही अनुगृहीत किया था। इन जया आदि चार शक्तियों का उल्लेख जयरथ अन्यत्र (१.११०, २९.५१) भी करते हैं।

प्रश्न उठता है कि इन जया आदि चार शक्तियों के नाम क्या हैं? कौलज्ञाननिर्णय में प्रकाशित ज्ञानकारिका (३.१७-१८) में चत्वर का निरूपण करते समय कहा है कि जया, विजया, अजिता और अपराजिता नामक चार शक्तियों से सम्पन्न मातृका-स्थान ही चत्वर कहलाता है। योगवासिष्ठ (नि. पू. १९.२०-२१, २४-२५) में भी इन चार नामों के साथ सिद्धा, रक्ता, अलम्बुषा और उत्पला को मिलाकर कहा गया है कि ये आठ देवियाँ मातृकाओं में श्रेष्ठ मानी गई हैं। आठ ऐश्वर्यों से सम्पन्न ये आठ मातृकाएँ रौद्र स्वभाव वाली हैं और वाम स्रोत से निर्गत

---

१. महानयप्रकाश, काश्मीर संस्करण, पृ. १२ द्रष्टव्य।

२. "अथ ब्रह्म परं शुद्धमादिवर्णत्वमागतम्" (तन्त्रा. वि. ४.१७२) इस वचन को उद्धृत करते हुए जयरथ ने विस्तार से इस विषय का विवेचन किया है।

३. "शान्तिर्विद्या प्रतिष्ठा च निवृत्तिश्चेति ताः स्मृताः। चतुर्व्यूहस्ततो देवः प्रोच्यते परमेश्वरः।।" (कूर्मपुराण, १.११.२७) यहाँ भी चार ही शक्तियाँ निर्दिष्ट हैं। चतुर्व्यूह शब्द वैष्णव मत का स्मारक है।

तुम्बुरु नामक रुद्र के आश्रित हैं। इस प्रकार योगवासिष्ठ में आठ शक्तियाँ वर्णित हैं। टीकाकार ने जया को लक्ष्मी की सखी बताया है।

पांचरात्र आगम में जयाख्या संहिता प्रसिद्ध है। वहाँ (६.७७) लक्ष्मी, कीर्ति, जया और माया नामक चार शक्तियाँ स्मृत हैं। वहीं (२७.९९-१५०) जया की सखियों के रूप में जयन्ती, विजया, अपराजिता और सिद्धा के नाम मिलते हैं। नेत्रतन्त्र (१३.८) में चार दिशाओं में पूजनीय देवियों के नाम जया, लक्ष्मी, कीर्ति और माया है। लघुस्तव (श्लो. १७) में लक्ष्मी और जया की एक साथ स्तुति है। महाभारत के विराट पर्व (६.१६) में जया और विजया को संग्राम में विजय दिलाने वाली बताया है। भीष्म पर्व (२३.६) में जया और विजया की कात्यायनी और कराली के साथ स्तुति की गई है। देवीभागवत (७.३०.६२) में जया की स्थिति वराहशैल पर बताई गई है। षोडश मातृकाओं में भी जया परिगणित है। नेत्रतन्त्रोद्योत (१३.४०) में जयाभेद का उल्लेख है। वीणाशिख[१] नाम के वामस्रोतस् के तन्त्र में तुम्बुरु और उसकी जया आदि चार शक्तियाँ वर्णित हैं। हालैण्ड के तन्त्रशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० तून गान्द्रियान ने इसको संपादित किया है और मोतीलाल बनारसी दास ने इसको प्रकाशित कर दिया है। यहाँ (श्लो. ९४-११८) तुम्बुरु-स्वरूपधारी भगवान् शिव और उनकी जया आदि चार शक्तियों की पूजा-पद्धति वर्णित है। नेत्रतन्त्र के १३ वें अधिकार में भी इनका वर्णन है। इस तरह से जया आदि के रूप में उल्लसित, भेदभाव को मिटा देने वाली, सहज संवित्ति-स्वरूपा यह भगवती ही क्रमदर्शन में परमतत्त्व के रूप में व्याख्यात है।

शाक्त मत के अनुयायी इस शक्ति की ही परमतत्त्व के रूप में उपासना करते हैं। यह संवित्स्वरूपा भगवती अपने भीतर विद्यमान जगत् को बाहर प्रकट कर देती है, यही शाक्त मत का रहस्य है। वामकेश्वरदर्शन में त्रिपुरा नाम की परासंवित् ही परब्रह्म-स्थानीय है। त्रिपुरा प्रकरण (पृ. ६२४) देखिये।

तन्त्रसार (पृ. २७) में अभिनवगुप्त ने भगवती त्रिपुरा का नित्या के रूप में स्मरण किया है और वहीं (पृ. १८७) भगवती के उपासकों को **नित्यातन्त्रविदः** कहा है। अमृतानन्द ने दीपिका (१.४०., ५१) में और नि. षो. (४.९, १२) में बताया गया है कि भगवती त्रिपुरा शृंगाट का आकार धारण कर लेती हैं। शिवानन्द आदि ने इस विषय को विस्तार से समझाया है। विद्यानन्द के द्वारा उद्धृत (पृ. २०५) सिद्धनाथपाद के वचन में मध्यबिन्दु को अनच्क और शृंगाट की तीन रेखाओं को कुलोदय, कुलव्याप्ति और कुलौघ नाम दिया गया है। यहाँ मध्यबिन्दु में महात्रिपुरसुन्दरी और तीन कोणों में कामेश्वरी, वज्रेश्वरी और भगमालिनी का निवास माना गया है।

---

१. वीणाशिख नामक वामतन्त्र का यहाँ अभी (पृ. ५२९) परिचय दिया गया है।

इस तरह से यद्यपि त्रिपुरा दर्शन में भी शक्ति का वैशिष्ट्य वर्णित है, तथापि शाक्त दर्शन में मुख्यतया क्रमदर्शन का ही समावेश माना जाता है। इस विषय को स्पष्ट करने के लिये प्रथमत: शक्ति के स्वरूप का विवेचन अपेक्षित है। कहीं रहस्यशास्त्र के, अन्यत्र सर्वमंगलाशास्त्र के और अमृतानन्द के द्वारा तन्त्रान्तर के वचन के रूप में उद्धृत श्लोक में शक्ति और शक्तिमान् की भिन्नता प्रदर्शित है। यह अद्वयवादी दर्शन का वचन नहीं हो सकता। इसीलिये अमृतानन्द ने इसको तन्त्रान्तर कहा है। अभिनवगुप्त की बोधपंचदशिका (श्लो. ३) में इनका अभेद सोदाहरण प्रदर्शित है। इन दोनों वचनों की संगति द्वैत एवं अद्वैत मत के अनुसार ही बैठाई जा सकती है।

कालिकाक्रम में विमर्श को परमा शक्ति और कालीकुल में पर बोध को परमा शक्ति कहा गया है। परामत में विमर्श में सब कुछ करने की क्षमता मानी गई है और बृहस्पतिपाद ने इसे चित्स्वरूपिणी माना है। इस तरह से विमर्श को शक्ति के साथ परतत्त्व भी बताया गया है। क्रमदर्शन में संवित्स्वरूपिणी काली को परमतत्त्व माना गया है। चार आम्नायों में प्रधान त्रिपुरा नाम की परासंवित् परब्रह्मस्थानीय है, ऐसा ऋजुविमर्शिनी, सुभगोदय, वरिवस्यारहस्य आदि में प्रतिपादित है। नित्यातन्त्रों के जानकार कुल को शक्ति कहते हैं और इसी का नाम नित्या भी है। यहाँ नित्या पद से भगवती त्रिपुरसुन्दरी का बोध होता है। जयाख्यसंहिता (१०.६९) में वैष्णवी शक्ति को भी संवित्स्वरूपा ही कहा है। लक्ष्मीतन्त्र में इसका अधिक विस्तार है। इस तरह से शाक्त दर्शन में तो इसकी श्रेष्ठता प्रतिपादित है ही, अन्यत्र भी परब्रह्म की महिषी (सौ. ल. ५८) के रूप में यह वर्णित है। द्वैत, द्वैताद्वैत और अद्वैतवादी आगमों के अनुसार शक्ति और शक्तिमान् में भेद, भेदाभेद और अभेद संबन्ध प्रतिपादित है।

मालिनीतन्त्र में शांकरी शक्ति की एकता और मालिनीविजय (४.५-८) में इच्छा-ज्ञान-क्रिया के रूप में त्रिविधता लक्षित है। मन्त्रवार्त्तिक की टीका में भी इनकी यह त्रिविधता निदर्शित है। परासूक्त में इच्छाशक्ति का और ज्ञानसंबोध में ज्ञानशक्ति का स्वरूप बताया गया है। परा, परापरा और अपरा शक्तियों की अभी ऊपर चर्चा आई है। इनसे भिन्न तीन प्रकार की शक्तियों की स्तुति तन्त्रालोक में इस प्रकार की गई है—

स्वातन्त्र्यशक्तिः क्रमसंसिसृक्षा क्रमात्मता चेति विभोर्विभूतिः।
तदेव देवीत्रयमन्तरास्तामनुत्तरं मे प्रथयत् स्वरूपम्।। (१.५)

यहाँ तन्त्रालोकविवेक में अम्बिका, ज्येष्ठा, रौद्री और वामा नामक चार शक्तियों को परा का, शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा और निवृत्ति नामक चार शक्तियाँ को परापरा का तथा जया

आदि चार गुह्य शक्तियों को अपरा शक्ति का विस्तार बताया गया है। त्रैपुर तन्त्रों में भी वामा आदि चार शक्तियों की तथा परा आदि चार वाणियों की स्थिति मध्यबिन्दु एवं त्रिकोण में मानी गई है। पूजारहस्य के वचन में बोधभैरव-स्वरूप स्पन्दात्मक देवदेव की औन्मुख्य, इच्छा, ज्ञान और क्रिया नामक चार शक्तियाँ वर्णित हैं।

क्रमदर्शन में द्वादश, त्रयोदश, षोडश और सप्तदशविध काली का वर्णन मिलता है। नि. षो. में नित्याएँ वर्णित हैं। लाद्यादिशास्त्र में सप्तदशी और त्रीशिकाविवृति में अष्टादशी कला प्रदर्शित है। तन्त्रसद्भाव, सर्ववीरभट्टारक जैसे ग्रन्थों में डाकिनी, डामरी, शाबरी आदि विविध शक्तियों का वर्णन मिलता है। स्मृति, ज्ञान, अपोहन शक्तियों की चर्चा भगवद्गीता (१५.१५) में भी है और प्रत्यभिज्ञाकारिका (१.३.७) में भी। महेश्वरानन्द ने महार्थमंजरीपरिमल (पृ. १३५-१३६) में इन शक्तियों का स्वरूप स्पष्ट किया है और उत्पल भट्ट ने प्रत्यभिज्ञाकारिका के ४-६ आह्निकों में इनकी विस्तृत व्याख्या की है। इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि नित्या, त्रिक, क्रम, कुल आदि अद्वैतवादी मतों में शक्तिपारम्यवाद अंगीकृत है।

शाक्त तन्त्रों में शक्तिपारम्यवाद (क्रमदर्शन)

भट्ट प्रद्युम्न शक्तिपारम्यवादी आचार्य हैं। सोमानन्द ने शिवदृष्टि के तृतीय आह्निक के प्रारम्भ में शक्तिपारम्य पक्ष का खण्डन किया है और वहाँ पूर्व पक्ष के रूप में भट्ट प्रद्युम्न के तत्त्वगर्भ स्तोत्र का श्लोक उद्धृत किया है, जिसमें शिव आदि सभी तत्त्वों की उत्पत्ति भगवती अम्बा से मानी गई है। भट्ट प्रद्युम्न क्रमदर्शन के आचार्य हैं और इस मत के आगमों का उपदेश भगवती स्वयं भगवान् शिव को करती हैं, जबकि त्रिपुरा आदि तन्त्रों में यह बात नहीं है। इस दृष्टि से शाक्त तन्त्रों में प्रमुख स्थान क्रम सम्प्रदाय का ही मानना पड़ेगा।

भट्ट प्रद्युम्न के तत्त्वगर्भ स्तोत्र में ३६ तत्त्वों को संविच्छक्ति का प्रसार बताया गया है। इस तरह से शाक्तदर्शन का परब्रह्म संवित्स्वरूप है। भगवती संवित् ही अपने भीतर विद्यमान विश्व को बाहर प्रकाशित कर देती है। शाक्तदर्शन में यही सिद्धान्त मान्य है। वामकेश्वरदर्शन में त्रिपुरा नाम की महासंवित् ही परब्रह्मस्थानीय मानी जाती है, उसी तरह से क्रमदर्शन में क्षेप, ज्ञान, प्रसंख्यान, गति और नाद नामक पंचकृत्यों का निष्पादन करने वाली काली परतत्त्व है, परब्रह्मस्थानीय है। तन्त्रालोक (४.१७३-१७८) में इन पंचकृत्यों का स्वरूप बताया गया है। उसके अनुसार स्वात्मा का भेदन ही **क्षेप** है। उसकी निर्विकल्प स्थिति **ज्ञान** और सविकल्प स्वरूप **प्रसंख्यान** है। प्रतिबिम्ब के समान किसी स्वरूप में प्रकट होना **गति** और इस स्वरूप को अपने स्वरूप में पुनः

विलीन करने पर स्वात्मपरामर्श का बचा रहना ही नाद है। इस तरह इस पंचविध कलना को करने वाली देवी काली ही कालकर्षिणी, मातृसद्भाव, वामेश्वरी आदि नामों से जानी जाती है। "श्रयेत्" इत्यादि नाथपाद के वचन में और "या सा शक्तिः" इत्यादि वाजसनेयतन्त्र के वचन में विविध रूपों में भगवती काली की ही स्तुति की गई है।

"द्वादशारा" इत्यादि आगम-वचन में द्वादशविध और तन्त्रराज के "त्रयोदशविधा" इत्यादि वचन में त्रयोदशविध काली वर्णित है। "यत् सृष्टि" इत्यादि आगम-वचन में और "सृष्टिकाली च" इत्यादि तन्त्रराजभट्टारक के वचन में सृष्टि, स्थिति, संहार, रक्त, यम, मृत्यु, रुद्र, परमादित्य, मार्तण्ड, कालाग्निरुद्र, महाकाल, महाभैरव और चण्डकाली ये इनके नाम मिलते हैं। "द्वादशारम्" इत्यादि सार्धशतिक के वचनों में भी ये नाम उपलब्ध हैं। तन्त्रालोकविवेक में संगृहीत क्रमसद्भाव, क्रमस्तोत्र, पंचशतिक के वचनों में इन सबके लक्षण बताये गये हैं। क्रमसद्भाव में षोडश तथा सप्तदश कालियों का भी उल्लेख मिलता है।

महेश्वरानन्द (म. म. प., पृ.९२) का कहना है कि [1]क्रमदर्शन प्रधानतः त्रिकदर्शन का अनुवर्तन करता है। वे ही (म. म. प., पृ. १९२) यह भी कहते हैं कि इसकी कुलागम से भी बहुत भिन्नता नहीं है। मूल पद्धति समान ही है, किन्तु शब्दों के प्रयोग में ही भिन्नता लक्षित होती है।

त्रैपुर दर्शन भी कौल मत का अनुवर्तन करता है। इन सब मतों में अन्तर इतना ही है कि तीन शक्ति, तीन चक्र, तीन धाम, तीन बीज, तीन तत्त्व, तीन गुण, तीन कोण और तीन मूर्ति— इस तरह से तीन संख्या वाले सभी पदार्थों की जननी त्रिपुरा कही गई है। त्रिक दर्शन में भी तीन संख्या वाले पदार्थों का विशेष स्थान है। यहाँ सिद्धा, वामक[2] और मालिनी नामक तीन तन्त्रों को विशेष मान्यता मिली है। परा, परापरा और अपरा नामक तीन देवियों की, शिव, शक्ति और सामरस्यमय तीन तत्त्वों की तथा शिव, शक्ति और नर नामक तीन स्वरूपों की विशेष रूप से व्याख्या मिलती है। भेद, भेदाभेद और अभेद के प्रतिपादक तीन प्रकार के शास्त्रों का यहाँ दार्शनिक दृष्टि से पर्यालोचन किया गया है, इसीलिये यह त्रिकदर्शन के नाम से भी प्रख्यात है। जयरथ (तन्त्रा. वि. १.१०६) ने इसे परा आदि तीन शक्तियों का प्रतिपादक शास्त्र कहा है।

---

१. "क्रकारः क्रोधरूपस्तु मकारो मङ्गलो भवेत्। क्रोधे तु मङ्गलं कुर्यात् क्रमः कालक्रमो भवेत्।।" म. म. प. (पृ. १०६) में उद्धृत क्रमसिद्धि में क्रम पद की यह व्युत्पत्ति बताई गई है। बौद्ध कालचक्रतन्त्र की विमलप्रभा (पृ. १७) टीका में कालचक्र की व्युत्पत्ति भी कुछ इसी तरह से की गई है।

२. वामक नाम अशुद्ध है, यह कई स्थलों पर बताया जा चुका है।

त्रिपुरा सम्प्रदाय में संकेतपद्धति और [1]योगिनीहृदय का अनुसरण करने वाले शिवानन्द, विद्यानन्द, अमृतानन्द आदि आचार्यों ने [2]अनाख्य, तुरीय अथवा त्रितय-समष्टि रूप एक अधिक तत्त्व को स्वीकार कर धाम, तत्त्व, पीठ, लिंग, शक्ति, बीज आदि के चार-चार भेद माने हैं। "क्रमः चतुष्टयार्थः" (तन्त्रा. वि. १.१०६) कहकर जयरथ भी चार भेदों का समर्थन करते हैं। डॉ. नवजीवन रस्तोगी के ग्रन्थ (पृ. १०-१३, ७२) की टिप्पणी में त्र्यर्थ, चतुष्टयार्थ और पंचार्थ क्रमदर्शन की सूचना दी है। इनमें से पहले दो पक्ष ऊपर प्रदर्शित हैं। तन्त्रालोक और विवेक में [3]चतुष्टय वाला पक्ष विशेष रूप से व्याख्यात है।

महेश्वरानन्द आदि ने लकुलीश पाशुपत दर्शन के अनुसार पाँच पदार्थों का विवेचन किया है। इनमें संख्या मात्र की समानता है। प्रतिपाद्य वस्तु नितान्त भिन्न है। जैसे क्रमदर्शन स्वीकृत परतत्त्व का स्फुरण व्योमवामेश्वरी, खेचरी, दिक्चरी, गोचरी और भूचरी के रूप में होता है। सृष्टि, स्थिति, संहार, अनाख्या और भासा [4]नामक पाँच परा

---

१. नित्याषोडशिकार्णव (वामकेश्वरीमत) और योगिनीहृदय ये दोनों भिन्न ग्रन्थ हैं, इसकी सूचना त्रिपुरा प्रकरण (पृ. ५९१-५९३) में दी गई है।

२. निर्विकल्प स्थिति में विद्यमान संवित् को कोई नाम नहीं दिया जा सकता, अतः उसे अव्यपदेश्या, अनामका, अनाख्या आदि नाम दिये जाते हैं (तन्त्रा. वि. ४.१२५, पृ. १३३), यह जयरथ का कथन है। अनाख्य का अर्थ आख्या से शून्य है। यह आख्या पश्यन्ती आदि तीन वाणियों से मिलती है। यह शांभव तत्त्व शून्यकल्प होते हुए भी अशून्य है। तीन वाणियों से अतीत परावाक्-स्वरूप यह तत्त्व औपचारिक रूप से **अकथ्य** कहलाता है, यह कथन महेश्वरानन्द का है (म.म.प., पृ. १००)। "संहार दशा में सब कुछ एकाकार होकर जब अनाख्या तत्त्व में लीन हो जाता है, तो यह प्रोत्तीर्ण सर्वतोमुख तत्त्व अक्रम स्थिति में विद्यमान रहता है", इस आगम-वचन के अनुसार सब कुछ अनाख्य तत्त्व में विद्यमान रहता है। क्रमसद्भाव के अनुसार यह अनाख्य तत्त्व संवित्स्वरूपा शक्ति का ही स्वरूप है।

३. तन्त्रालोक (२९. ५७) और उसकी विवेक टीका में माधवकुल के प्रमाण से सृष्टि, स्थिति, संहार और अनाख्या नामक चार क्रम वर्णित हैं। वहीं (३,७०.१-३३५-३३८) देवीयामल के प्रमाण से परा, परापरा, अपरा और परातीता (संकर्षिणी) नामक चार देवियाँ निर्दिष्ट हैं। अर्थरत्नावली में विद्यानन्द ने क्रमचतुष्क पक्ष का ही संकेतपद्धति के प्रमाण से समर्थन किया है।

४. महार्थमञ्जरीपरिमल (पृ. १०१-१०४) में पादुकोदय आदि ग्रन्थों के प्रमाण से बताया गया है कि यह भासा तत्त्व सृष्टि आदि कृत्यों के रूप में समस्त विश्व के विचित्र व्यवहारों को अपने भीतर समेटे हुए सर्वोत्तीर्ण अथ च सब पर अनुग्रह करने वाली पारमेश्वरी चिच्छक्ति का ही दूसरा नाम है। "स्वातन्त्र्यशक्ति भासा" शीर्षक से इसका विस्तृत परिचय आगे (पृ. ५६०-५६१) दिया जा रहा है। निग्रह और अनुग्रह का तथा अनाख्या और भासा का परस्पर संबन्ध एवं वैलक्षण्य म. म. प. (पृ. ५१) में देखना चाहिये।

शक्तियाँ है। सूक्ष्मा, परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी ये पाँच वाणियाँ हैं। अर्च्य देवताचक्र के भी श्रीपीठ, पंचवाह, नेत्रत्रय, वृन्दचक्र और गुरुपंक्ति नामक पाँच भेद हैं। परतत्त्व के साथ अभिन्न रूप से विद्यमान शक्तियाँ भी पाँच हैं – चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया। यह पाँच तत्त्वों की धारा काली के मौलिक क्षेप, ज्ञान, प्रसंख्यान, गति और नाद रूप कृत्यपंचक से प्रसूत प्रतीत होती है। पाशुपत मत में निर्दिष्ट आठ गणों में विभक्त पदार्थपंचक पूरी तरह से इनसे भिन्न हैं।

इन त्रिविध, चतुर्विध और पंचविध पदार्थों के व्याख्यान भेद के आधार पर ही त्रिपुरा, त्रिक और क्रमदर्शन की भिन्नता स्पष्ट होती है। महाम्नाय के वचन का अनुसरण करते हुए महेश्वरानन्द ने श्रीपीठ आदि पाँच पदार्थों की व्याख्या के प्रसंग में धाम, मुद्रा, वर्ण, कला, संवित्, भाव, पात और अनिकेत नामक आठ पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या कर क्रमदर्शन की विशेषता को स्पष्ट किया है। इन सभी शब्दों की व्याख्या तन्त्रागमीय ज्ञानकोश के "शाक्त तन्त्र" खण्ड में देखी जा सकती है।

क्रमदर्शन के सार को हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं— समस्त परिच्छिन्न स्वभाव वाले पृथ्वी से लेकर शिव पर्यन्त ३६ तत्त्वों से उत्तीर्ण अपरिच्छिन्न स्वभाव का संवित् तत्त्व ही परमार्थ है, परब्रह्मस्थानीय है। इसी से संसार की सारी वस्तुएँ स्वरूप-लाभ करती हैं, सारे विश्व का ओज यही है, अर्थात् सारे विश्व में यही बल का संचार करती है, इसी के कारण सारा विश्व जीवित रहता है। यह मुझ से अभिन्न है। इस तरह से मैं ही विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय हूँ। यह शुद्ध विकल्प माया से आवृत जीवों में उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि उनमें सत्तर्क का स्फुरण नहीं हो पाता। भगवान् शिव के दृढ़ शक्तिपात से आविष्ट जीव सदागम के अभ्यास आदि के क्रम से विकल्पों का परिशोधन कर परम स्वरूप में प्रविष्ट हो पाते हैं। इनमें से भी जो अतितीव्र शक्तिपात से आविष्ट हैं, उनमें स्वयं ही स्वाभाविक रूप में सत्तर्क का उदय हो जाता है। ऐसे मानवों को स्वयं देवियाँ दीक्षित कर देती हैं। अन्य व्यक्तियों की दीक्षा आगमों में प्रदर्शित विधि के अनुसार होती है। इस मत में शुद्धविद्या के प्रकाशक सत्तर्क के अतिरिक्त अन्य योगांगों की कोई उपयोगिता नहीं मानी गई। [1]तप आदि नियमों की, अहिंसा आदि यमों की और पूरक आदि के भेदों में विभक्त प्राणायाम की स्थिति केवल वेद्य पदार्थों में रहती है, अत:

१. तन्त्रालोक में भी यह विषय इस तरह से वर्णित है— "अहिंसा सत्यमस्तेयं... प्राणायामो निरर्थकः।। प्राणायामो न कर्तव्यः शरीरं येन पीड्यते।... तदेषा धारणाध्यानसमाधित्रितयी पराम्। संविदं प्रति नो किञ्चिदुपयोगं समश्नुते।।" (४.८७-९५) यह विषय वीरावली ग्रन्थ के प्रमाण से वहाँ उपस्थापित किया गया है। इसी अवधारणा को ध्यान में रखकर नेत्रतन्त्र में इनकी परिभाषा को ही बदल दिया गया है।

संवित् में इनकी कोई उपयोगिता नहीं मानी जाती। प्रत्याहार भी अन्त:करण की ही परिशुद्धि कर सकता है। इसी तरह ध्यान, धारणा और समाधि के उत्तरोत्तर अभ्यास से भी ध्याता का ध्येय वस्तु से तादात्म्य मात्र संभव है और संविदात्मक स्व-स्वभाव परतत्त्व में इस तरह के अभ्यास की कोई उपयोगिता नहीं है। फलत: स्व-स्वरूप के साक्षात्कार में मात्र सत्तर्क की ही साक्षात् उपयोगिता मानी जा सकती। यह सत्तर्क ही विकल्प का परिशोधन कर शुद्धविद्या बन जाता है, जिससे स्व-स्वरूप का साक्षात्कार होता है।

विकल्प-परिशोधन के लिये याग, होम, जप, व्रत और योग नामक पाँच उपाय यहाँ प्रदर्शित हैं। इनमें सभी पदार्थों की स्थिति परमेश्वर में ही है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है, इस शुद्ध विकल्प की सिद्धि के लिये परमेश्वर के प्रति सभी भावों को अर्पित कर देना ही **याग** है। सभी भाव परमेश्वर के तेज से आप्यायित है, यह शुद्ध विकल्प की प्राप्ति के लिये संवित्स्वरूप तेज में समस्त भावों की आहुति दे देना ही **होम** है। अशुद्ध और शुद्ध परामर्श के उदय के लिये बाह्य और आभ्यन्तर प्रमेयों से निरपेक्ष स्व-स्वभाव स्वरूप परतत्त्व का अन्त: परामर्श ही **जप** कहलाता है। सर्वत्र सर्वदा निरुपाय परमेश्वरता के लाभ के लिये परमेश्वर के साथ अपनी समानता के अभिमान को जगाने के लिये अपने शरीर के प्रति भी घट आदि के समान दृष्टि को जगा लेना ही **व्रत** है। इस तरह के विचित्र, शुद्धविद्या के अंशभूत विकल्पों के सहारे अनपेक्षित अशुद्ध विकल्पों का परिशोधन करने के उपरान्त स्वाभाविक परमार्थ तत्त्व प्रकाशित हो उठता है। उसका उसी रूप में निरन्तर प्रकाशन होता रहे, इसके लिये परमेश्वर के इस स्वरूप का परामर्शरूप शुद्ध विकल्प ही **योग** कहलाता है।

यहाँ परमेश्वर पूर्ण संवित्स्वभाव माना गया है। यह पूर्णता ही शक्ति, कुल, सामर्थ्य, ऊर्मि, हृदय, सार, स्पन्द, विभूति, त्रीशिका, काली, कर्षणी, चण्डी, वाणी, भोग, दृक् और नित्या जैसे नामों से विभिन्न आगमों में प्रतिपादित है। ये शक्तियाँ असंख्य हैं। यह सारा विश्व इस पूर्ण संवित्स्वभाव परमेश्वर की शक्तियाँ ही हैं। इन सबका तीन शक्तियों में समावेश कर लिया जाता है, जिनकी सहायता से यह परमेश्वर शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त सभी तत्त्वों का शुद्ध संवित्स्वरूप से पालन, अवलोकन और भासन करता है, वह इसकी **परा** शक्ति है। जिसकी सहायता से दर्पण में विद्यमान हाथी आदि की तरह भेदाभेद रूप में सबको देखता है, वह **परापरा** शक्ति है। जिसकी सहायता से इस जगत् को परस्पर भिन्न-स्वरूप में भेद दृष्टि से देखता है, वह इसकी **अपरा** शक्ति है। इस त्रिविध स्वरूप को जो शक्ति अपने भीतर समेट कर उसका अनुसन्धान करती रहती है, वही भगवती मातृसद्भाव, कालकर्षिणी आदि नामों से भी जानी जाती है। ये ही चारों

शक्तियाँ अपने स्वातन्त्र्य के आधार सृष्टि, स्थिति और संहार के आधार पर त्रिधा विभक्त होकर बारह स्वरूप धारण कर लेती हैं। इन बारह स्वरूपों की निष्पत्ति इस प्रकार होती है—

१. संवित् पहले अपने भीतर ही भावों की कलना करती है, २. बाद में बाहर भी स्पष्ट रूप में इनका कलन करती है, ३. इस पर राग के उत्पन्न हो जाने पर उस भाव को अपने भीतर समेट लेती है, ४. ऐसा करते समय कोई विघ्न तो नहीं आ रहा है, इस तरह की शंका को उत्पन्न कर उसका उपशमन करती है, ५. इस शंका से ग्रस्त भाग को अपने में ही समेट लेती है, ६. यह उपसंहृत स्वरूप भी मेरा ही स्वभाव है, ऐसी कलना करती है, ७. इसके बाद उपंसहृत स्वभाव की कलना करते समय किसी भाव की वासना के रूप में तथा अन्य की संविन्मात्र-स्वरूप में भावना करती है, ८. तब स्वरूप की कलना करते समय अनिवार्य रूप से आने वाले करणचक्र की कलना करती है, ९. आगे इस करणचक्र के संचालन की भी कलना करती है, १०. तदनन्तर इस कल्पित मायीय प्रमाता के रूप का भी कलन करती है, ११. इसके बाद संकोच और विकास की निरन्तर चल रही प्रक्रिया के अन्त में विकास को ग्रहण करने में रस लेने वाले प्रमाता का भी कलन करती है और १२. अन्त में इस विकसित स्वरूप का भी कलन कर लेती है। काली के रूप में निर्दिष्ट ये बारह संवित्तियाँ प्रमाताओं के प्रति एक-एक के क्रम से अथवा एक साथ दो-दो या तीन-तीन के क्रम से उदित होकर चक्र के समान चलती हुई मास, राशि आदि के क्रम से और अन्ततः घट-पट आदि के क्रम से भासित होती हुई चक्रेश्वर[1] के स्वातन्त्र्य को पुष्ट करती हुई काली शब्द से अभिहित होती है। कलन का अर्थ यहाँ गति, क्षेप, ज्ञान, गणन, भोगीकरण, शब्दन और स्वात्मलयीकरण किया गया है।

इस तरह से पूर्वोक्त याग आदि पंचविध उपायों की सहायता से स्व-स्वरूप की प्राप्ति के लिये साधक को शुद्ध विकल्प के उदय पर्यन्त निरन्तर सचेष्ट रहना चाहिये। ऐसा करते समय [2]भक्ष्याभक्ष्य, शुद्धि-अशुद्धि आदि की विवेचना में, जिनका वस्तु की कलना में कोई उपयोग नहीं है, केवल कल्पना में जो विद्यमान है, अपनी आत्मा को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिये। वस्तु की अपनी आकृति के समान शुद्धि उसका वास्तविक

---

१. बौद्ध तन्त्रों में भी इस शब्द का व्यवहार हुआ है। कृष्णाचार्य रचित वसन्ततिलका का उपोद्घात (पृ. २७-२८) देखिये।

२. क्रमदर्शन-संमत विधि-निषेध व्यवस्था का स्वरूप आगे (पृ. ४१-४२) देखिये। उपक्रमाधिकार का "तन्त्रागमशास्त्र की सामयिक उपयोगिता" शीर्षक प्रकरण (पृ. ५६-६८) में भी इस पर विचार किया गया है।

स्वरूप नहीं है, क्योंकि एक मत में जिसको शुद्धि कहा जाता है, अन्यत्र वही अशुद्धि मानी जाती है। अतः वेद से लेकर पारमेश्वर सिद्धान्त, तन्त्र, उच्छुष्म आदि शास्त्रों में निर्दिष्ट नियम, विधि-निषेध आदि की क्रमदर्शन में कोई वास्तविक स्थिति नहीं मानी गई है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, शक्तिपारम्यवादी क्रमदर्शन के आगम ग्रन्थों की उपद्रेष्ट्री काली कालसंकर्षिणी है। भगवान् शिव शिष्य के रूप में प्रश्न पूछते हैं। इस तरह से शाक्त तन्त्रों में प्रमुख स्थान क्रमदर्शन का ही माना जायगा।

महेश्वरानन्द निर्दिष्ट क्रमदर्शन

महेश्वरानन्द ने महार्थमंजरी और उसकी स्वोपज्ञ व्याख्या में [१]महार्थ, औत्तराम्नाय, अनुत्तराम्नाय, क्रमसरणि जैसे शब्दों से परिचेय क्रमदर्शन की व्याख्या की है। क्रमदर्शन और त्रिकदर्शन में बहुत अधिक भेद नहीं है, स्वयं वे ऐसा लिखते हैं (पृ. ९२)। कौलदर्शन से भी इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय भिन्न नहीं है। जिन पारिभाषिक शब्दों के माध्यम से यह प्रतिपादित हुआ है, उनमें शैली की भिन्नता अवश्य है, यह भी उन्हीं का कथन है। मतदर्शन की यद्यपि यहाँ कोई चर्चा नहीं है, तो भी महेश्वरानन्द के परमगुरु शिवानन्द ने मतेश नामक शंभुनिर्णय की व्याख्या की है। मतशास्त्र, मतोत्तर जैसे ग्रन्थों को उद्धृत भी किया है। परात्रीशिकाविवृति में अभिनवगुप्त ने जो श्लोक [२]उद्धृत किया है, तदनुसार कुल और त्रिक मत के बीच में मतशास्त्र का नाम है। इस तरह से हम कह सकते हैं कि क्रम, कुल, मत और त्रिक दर्शन में आपस में बहुत थोड़ा अन्तर है। हाँ, इनकी उपासना विधियों में अवश्य ही भेद है।

मतशास्त्र की दृष्टि और उपासनाविधि से अन्य मतों की दृष्टि और विधि-विधान में कितना अन्तर है, इस विषय पर ग्रन्थों की अनुपलब्धि के कारण अभी तक कार्य नहीं हो सका है। अभी द्विविध कुब्जिकामत और मतोत्तर का प्रकाशन हुआ है। ऊपर शंभुनिर्णयदीपिका की मातृका की सूचना दी गई है। नि. षो. की ६४ तन्त्रों की तथा श्रीकण्ठी के ६४ भैरवागमों की सूची में मत-तन्त्रों का भी उल्लेख मिलता है। इन सबकी उपलब्धि होने पर अथवा जो कुछ उपलब्ध है, उनकी सहायता से इस विषय पर कुछ लिखा जा सकता है।

---

१. "क्रम तान्त्रिसिज्म" के दूसरे परिच्छेद (पृ. १०-३०) में क्रम, महार्थ आदि शब्दों के विषय में विस्तार से विचार किया गया है।

२. "वेदाच्छैवं ततो वामं ततो दक्षं ततः कुलम्। ततो मतं ततश्चापि त्रिकं सर्वोत्तमं परम्।।" (पृ. ९२) यहाँ क्रम का उल्लेख नहीं है।

दक्षिण स्रोत से प्रवृत्त ६४ भैरवागमों में भगवान् भैरव वक्ता और भगवती पार्वती श्रोता हैं। कुलागमों की भी यही पद्धति है। उपलब्ध मत-तन्त्रों में भी इसी क्रम का अनुसरण किया गया है, किन्तु क्रमशास्त्र की उपदेष्ट्री भगवती काली और श्रोता भगवान् शिवभट्टारक हैं। औत्तराम्नाय आदि के रूप में प्रसिद्ध क्रमसद्भाव आदि के उद्धरणों में इसे देखा जा सकता है। भैरवागमों की दक्ष नय के रूप में और औत्तराम्नाय के देव्यागम एवं ऊर्ध्वाम्नाय के [1]कुलागम तथा कौलागमों की वाम नय के रूप में प्रसिद्धि है। आजकल प्रचलित दक्षिणाचार और वामाचार शब्द जिस अर्थ को द्योतित करते हैं, उस समय उस अर्थ में वाम और दक्षिण शब्द प्रयुक्त नहीं होते थे। इन दोनों मतों की दक्ष और वाम मुखों से निर्गति एवं वाम क्रम से पूजन के अतिरिक्त अन्य कोई विशेषता नहीं थी। महेश्वरानन्द ने कहा है कि पूजा के उपादानों में इनमें परस्पर बहुत भेद नहीं था। त्रिकदर्शन की प्रवृत्ति सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध २८ शैवागमों, ६४ भैरवागमों और क्रम-मत-कुल-कौल सिद्धान्तों की शिवाद्वैतपरक व्याख्यान के आधार पर हुई है। यहाँ शैवागमों का आणव उपाय में, क्रमदर्शन का शाक्तोपाय में और कुलागमों के सिद्धान्तों का शाम्भवोपाय में तथा चतुर्थ अनुपाय प्रक्रिया के रूप में त्रिकदर्शन का समावेश किया गया है। आगमदर्शन का यहाँ चूडान्त उत्कर्ष हुआ है। शिवानन्द, विद्यानन्द आदि त्रिपुरादर्शन के आचार्य इसी त्रिकदर्शन से अनुप्राणित हैं।

इनमें परस्पर जो कुछ थोड़ा-बहुत भेद प्रतीत होता है, वह उपासना की पद्धति में है। क्रम-कुल-मत-त्रिक— ये सभी मत अद्वैतवादी हैं। इन सभी शाखाओं का प्रभूत साहित्य है। त्रिपुरा विद्या चारों आम्नायों से संबद्ध होते हुए भी भैरवागम से विशेष रूप से संबद्ध है, [2]विद्यानन्द और [3]अमृतानन्द स्पष्ट रूप से इस बात को स्वीकार करते हैं। त्रिपुरा पद की निरुक्ति त्रिपुरा प्रकरण (पृ. ६२४) में दी गई है। महेश्वरानन्द (पृ.७६) लघुस्तव के १६वें श्लोक को उद्धृत कर इसकी पुष्टि करते हैं। कौलदर्शन में पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत नामक चार पदार्थ स्वीकृत हैं। तदनुरूप शिवानन्द ने ऋजुविमर्शिनी में और अमृतानन्द ने योगिनीहृदय, सौभाग्यसुधोदय आदि ग्रन्थों में संकेतपद्धति के आधार पर चतुर्थ अनाख्या तत्त्व की व्याख्या की है। विद्यानन्द ने अर्थरत्नावली में पीठादिपंचक, वामादिपंचक, इच्छादिपंचक, अकार-हकारादिपंचक, हतानाहतादि नाद, अनिकेत, रसत्रितय आदि शब्दों की व्याख्या क्रमदर्शन की पद्धति से की है। त्रिपुरसुन्दरीदण्डक

---

१. कुलार्णव तन्त्र के तृतीय उल्लास.(श्लो. १.४०) में ऊर्ध्वाम्नाय के रूप में कुलशास्त्र की महिमा वर्णित है।

१. "इयं च विद्या चतुराम्नायसाधारण्यपि दक्षिणपक्षपातिनी" (अर्थरत्नावली, पृ.४१)।

२. "दक्षिणस्रोत:पक्षपातिन्या: सौभाग्यदेवताया:" (दीपिका, पृ. १३३-१३४)।

में दीपकनाथ ने वाम मार्ग की पद्धति से त्रिपुरा भगवती का पूजाविधान बताया है। इस तरह से एक ही त्रिपुरा भगवती की विविध रूपों में उपासना की जाती है। महार्थमंजरी में स्वात्मदेवता की उपासना क्रमपद्धति से बताई गई है। यह स्वात्मदेवता भगवती ललिता (त्रिपुरा) है, तन्त्रराजतन्त्र (३५.१३) में इसको स्पष्ट किया गया है। इस स्वात्मदेवता का स्वरूप परिमलव्याख्या (पृ. ११७-१२७) में बताया गया है। इसका विस्तार से वर्णन वहीं (पृ. ७९-११७) देखा जा सकता है।

तन्त्रालोक की जयरथकृत विवेक टीका के आधार पर डॉ. [1]कान्तिचन्द्र पाण्डेय जी ने क्रमदर्शन के इतिहास को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि शिवानन्द क्रमदर्शन के प्रथम आचार्य हैं। उनको वहाँ [2]अवतारक नाथ कहा गया है। क्रमकेलि को उद्धृत करते हुए जयरथ कहते हैं कि गोविन्दराज, भानुकनाथ और एरकनाथ नामक तीन आचार्यों ने उत्तर पीठ की शिवानन्दनाथ से अनुगृहीत केयूरवती, मदनिका और कल्याणी नाम की पीठेश्वरियों से क्रमशः ज्ञान प्राप्त किया। इनमें से प्रथम आचार्य ने···· सोमानन्द को इस ज्ञान को दिया। इन्हीं आचार्यों की परम्परा में उज्जट, उद्भट आदि के क्रम से यह ज्ञान हमें (अभिनवगुप्त) प्राप्त हुआ (तन्त्रा. वि., भा. ४, पृ. १९२)। इसी प्रसंग में जयरथ ने ह्रस्वनाथ, नवेरक, भोजराज, [3]चक्रभानु, भूतिराज आदि आचार्यों की भी चर्चा की है। इस आचार्य-परम्परा में भट्ट कल्लट के शिष्य तत्त्वगर्भ स्तोत्र के कर्ता भट्ट प्रद्युम्न की कोई चर्चा नहीं की गई है। त्रिपुरा[4] प्रकरण में हमने इस विषय पर पूरा प्रकाश डाला है। स्पष्ट है कि ये भी क्रमदर्शन के ही आचार्य हैं। अभिनवगुप्त से प्राचीन क्रमदर्शन के काली के उपासकों में स्मृत शिवानन्द निश्चय ही महेश्वरानन्द के परमगुरु शिवानन्द से भिन्न हैं।

महेश्वरानन्द ने अपने सम्प्रदाय की प्रवृत्ति देवपाणि से मानी है (पृ. १०४)। पृ. ९५ पर भी उन्होंने देवपाणि को ही आद्य आचार्य माना है। यह नाम ऊपर निर्दिष्ट नामावली में नहीं है। डॉ. रस्तोगी के ग्रन्थ से भी इनके विषय में कुछ ज्ञात नहीं होता, तो भी महेश्वरानन्द के प्रमाण से इनको क्रमदर्शन का आचार्य माना ही जायगा। महेश्वरानन्द के परमगुरु शिवानन्द ऋजुविमर्शिनी अथवा अन्यत्र भी क्रमदर्शन की कहीं चर्चा नहीं

---

१. अभिनवगुप्त, पृ. ४६३-४६६ देखिये।

२. वहीं, पृ. ४६६ द्रष्टव्य।

३. चिद्गगनचन्द्रिका (श्लो. ३००) में इनका स्मरण किया गया है। क्रमदर्शन के आचार्यों का परिचय "क्रम तान्त्रिसिज्म" से प्राप्त किया जा सकता है।

४. आगे का त्रिपुरा प्रकरण (पृ. ६२२-६२४) देखिये।

करते। महेश्वरानन्द के द्वारा क्रमवासना के नाम से उद्धृत सुभगोदयवासना में भगवती त्रिपुरा की आन्तर उपासना वर्णित है। इनके किसी भी ग्रन्थ में कहीं भी क्रम-सम्प्रदाय का थोड़ा सा भी प्रभाव देखने को नहीं मिलता। स्पष्ट है कि ये शिवानन्द क्रमदर्शन के अवतारक शिवानन्द से पूरी तरह से भिन्न हैं। अतः देवपाणि के सम्प्रदाय में प्रविष्ट होने के उपरान्त ही महेश्वरानन्द ने क्रम मत में प्रवेश किया, यही मानना उचित होगा। क्रमदर्शन का अनुसरण करते हुए भी महेश्वरानन्द स्वात्मदेवता ललिता की ही उपासना करते थे, यही उनकी परम्परा की विशिष्टता प्रतीत होती है।

महेश्वरानन्द की विशेष दृष्टि

महार्थमंजरी में क्रम, कुल और त्रिक दर्शन का मिला हुआ स्वरूप वर्णित है। इसी दृष्टि से कुछ सांस्कृतिक एवं दार्शनिक विषयों की यहाँ चर्चा की जा रही है।

श्रौत-स्मार्त आदि शास्त्रों की अवरता

श्रौत और स्मार्त शास्त्रों की चर्चा यहाँ (पृ. १७७) बाह्याम्नाय के रूप में की गई है। शांकर अद्वैतदर्शन मायावेदान्त (पृ. ५०), पाशववेदान्त (पृ. ७५), बाह्याद्वैतसिद्धान्त, पाशवशास्त्र (पृ. १३०) जैसे पदों से संबोधित है। [1]परात्रीशिका और [2]कुलार्णव के वचनों से भी इनके मत की पुष्टि होती है। इसी आधार पर श्रुति-स्मृति की अपेक्षा वे अपने मत को अधिक प्रामाणिक मानते हैं (पृ. २२)। महेश्वरानन्द ने आगे (पृ. १४५) वैदिक वर्णाश्रम-व्यवस्था की कड़ी समालोचना करते हुए इनका आठ पाशों में समावेश माना है। इनका यह सारा प्रतिपादन स्वच्छन्दतन्त्र (४. ५४०-५४६) के अनुकूल है। इनका कहना है कि ब्राह्मण-चाण्डाल आदि व्यवस्था को पूरी तरह से छोड़ देना चाहिये।

विधि-निषेध व्यवस्था

इसी तरह से विधि-निषेध की शास्त्रीय व्यवस्था की भी वे समालोचना करते हैं। सातवीं गाथा की व्याख्या करते समय वे कहते हैं कि शास्त्रों में संध्यावन्दन आदि का विधि के रूप में और कलंज-भक्षण आदि का निषेध के रूप में वर्णन मिलता है।.... यहाँ वे प्रश्न करते हैं कि इन शास्त्रीय वचनों के ज्ञानमात्र से व्यक्ति प्रवृत्त अथवा निवृत्त होता है, या इसमें उसकी अपनी रुचि भी रहती है। ज्ञानमात्र से यदि ऐसा होता है, तो संध्या आदि न करने वाला और कलंज आदि का भक्षण करने वाला कोई भी नहीं मिलेगा। ऐसा हमें दिखाई नहीं देता। ऐसी स्थिति में प्रथम पक्ष को छोड़ कर द्वितीय रुचि

---

१. पृ. ५४८ की दूसरी टिप्पणी देखिये।

२. "सर्वेभ्यश्चोत्तमा वेदा वेदेभ्यो वैष्णवं परम्। वैष्णवादुत्तमं शैवं शैवाद् दक्षिणमुत्तमम्।। दक्षिणादुत्तमं वामं वामात् सिद्धान्तमुत्तमम्। सिद्धान्तादुत्तमं कौल कौलात् परतरं नहि।।" (२.७-८)।

वाले पक्ष को स्वीकार करें, तो इस स्थिति में अनुष्ठाता की रुचि को ही वरीयता देनी होगी, अर्थात् व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार ही विधि और निषेध की व्यवस्था को मानेगा। जिसकी रुचि संध्योपासन आदि में और कलंज-भक्षण निषेध में है, उसके लिये तो यह ठीक है, किन्तु उसी पद्धति से रुचि के आधार पर यदि किसी की रुचि संध्योपासन आदि में नहीं है और कलंज भक्षण आदि में है, तो तदनुसार ही हमें विधि और निषेध की व्याख्या करनी पड़ेगी (पृ. २१-२२)। महेश्वरानन्द यहाँ संवित्प्रकाश के वचन को उद्धृत करते हुए अपने इसी मत की पुष्टि करते हैं कि जिसका त्याग संभव है, वही हेय है और जिसका त्याग हम कर नहीं सकते, वही हमारे लिये उपादेय हो जायगा।

ख्याति का स्वरूप

ख्याति शब्द का सामान्य अर्थ तो प्रसिद्धि है, तो भी संस्कृत भाषा में धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं। तदनुसार ही दर्शनशास्त्र में यह शब्द भ्रान्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस जड़चेतनात्मक जगत् को देखकर यह जिज्ञासा उठती है कि इसका कारण क्या है? इस जिज्ञासा के समाधान के रूप में ही भारतीय दर्शनों की उत्पत्ति हुई है। कारण और कार्य के भी जड़चेतनात्मक स्वरूप को लेकर दार्शनिकों में मतभेद हैं। इस मतभेद को ख्याति शब्द ठीक अभिव्यक्ति देता है। छः प्रकार की ख्याति दर्शनशास्त्र में प्रसिद्ध है। विज्ञानवादी योगाचार बौद्ध आत्मख्यातिवादी हैं, शून्यवादी माध्यमिक असत्ख्याति मानते हैं। प्राभाकर मीमांसक अख्याति के पक्षपाती हैं। नैयायिक अन्यथाख्याति को, ब्रह्माद्वैतवादी शांकर मत के अनुयायी अनिर्वचनीय ख्याति को और रामानुज आदि वैष्णव दार्शनिक सत्ख्याति को स्थापित करते है। संक्षेप में इनके स्वरूप को समझ लेना जरूरी है। इनमें—

१. आत्मख्याति – का अर्थ आत्मा, अर्थात् विज्ञान की विषय के रूप में प्रतीति है। यह रजत है, यहाँ विज्ञान ही रजत के रूप में भासित होता है। इस विज्ञान के लिये किसी विषय की अपेक्षा नहीं है। यह घट है, इत्यादि स्थलों में भी सर्वत्र विज्ञान ही विषय के रूप में भासित हो उठता है, अतः विज्ञानात्मक आत्मस्वरूप के ही विविध रूपों में भासित होने से विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध आत्मख्याति के पक्षपाती है।

२. असत्ख्याति – का अर्थ है असत् रजत आदि की ख्याति, अर्थात् प्रतीति। शून्याद्वैतवादी माध्यमिकों के मत में शून्य के अतिरिक्त अन्य किसी की भी सत्ता मान्य नहीं है।

३. अख्याति – का अर्थ है ख्याति का अभाव, उसकी अप्रतीति। शुक्ति में जब रजत की प्रतीति होती है, तब इदं के रूप में उसकी प्रतीति होती है, रजत के

रूप में नहीं, क्योंकि रजत से चक्षु का कोई सम्पर्क वहाँ नहीं होता, आपणस्थ रजत की उस समय स्मृति जाग उठती है। अत: प्राभाकरों के मत में भ्रम की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। अभिनवगुप्त भी अख्यातिवादी हैं। वे कहते है— "जिस पूर्ण रूप से विमर्श पर्यन्त ज्ञान का प्रकाश होना चाहिये, उतना वह जब प्रकाशित नहीं हो पाता, अत: अपूर्णताख्याति रूप अख्याति ही यहाँ भ्रान्ति का कारण बन जाती है (ई. प्र. वि., २.२.१३)।

४. अन्यथाख्याति – का अर्थ है अन्य की अन्य के रूप में प्रतीति। अन्य देश और अन्य काल में प्रतीत रजत की उससे विपरीत देश और काल में संस्कार के कारण शुक्ति से संयुक्त दोषदुष्ट दृष्टि के कारण जब शुक्ति की रजत के रूप में प्रतीति होने लगती है, तो नैयायिकगण इसे अन्यथाख्याति मानते हैं। मीमांसकों का कहना है कि संसर्ग सर्वत्र असत् ही है, संसर्गी की ही वास्तविक स्थिति है। अत: शुक्ति में रजत की भ्रान्ति के समय विद्यमान रजत जाति का अनात्मभूत शुक्ति-शकल के साथ संसर्ग हो जाता है। इसीसे शुक्ति की रजत के रूप में प्रतीति होने लगती है। [१]भाट्ट मीमांसकों के द्वारा प्रतिपादित यह विपरीत ख्याति अन्यथाख्याति से बहुत भिन्न नहीं है, अत: सदसत्ख्याति के नाम से भी यह जानी जाती है।

५. अनिर्वचनीयख्याति – का अर्थ है सत् या असत् आदि रूपों में अनिर्वचनीय, कहे जाने के अयोग्य, रजत आदि की प्रतीति। शुक्ति का जब रजत के रूप में भान होता है, तब शुक्ति के अज्ञान के कारण सत्, असत् आदि के रूप में अव्याख्येय एक अनोखा रजत पदार्थ वहाँ प्रतीत होने लगता है। इसी तरह से यह सारा प्रपंच भी अविद्या के कारण ही प्रतीत होता है, इसको सत्, असत् आदि रूपों में समझा नहीं जा सकता। यह मत ब्रह्माद्वैतवादी शांकर दर्शन का है।

६. सत्ख्याति – का अर्थ है कि जो भी ज्ञान होता है, वह सत्य ही है। तब भ्रम की उत्पत्ति कैसे होती है, इस प्रश्न पर [२]रामानुजीयों का उत्तर है कि किसी वस्तु को लेकर जब व्यवहार बाधित हो जाता है, तो इसका भान होता है। ख्याति की व्याख्या के प्रसंग में स्थापित इस कार्यकारण की प्रक्रिया से उन उन दर्शनों के मूल सिद्धान्तों से भी हम परिचित हो जाते हैं।

अभिनवगुप्त की दृष्टि का अनुसरण करने वाले महेश्वरानन्द "ख्यातिमपूर्णाम्" (श्लो. ५२) इस विरूपाक्षपंचाशिका के और "अख्यातिर्यदि" प्रत्यभिज्ञाहृदय में उद्धृत इस

१. शास्त्रदीपिका, तर्कपाद (पृ. ५८), निर्णयसागर प्रेस, बम्बई संस्करण द्रष्टव्य।
२. यतीन्द्रमतदीपिका, द्वितीयावृत्ति (पृ. १२), आनन्दाश्रम, पूना संस्क. देखिये।

क्षेमराज के वचन के प्रमाण से भी अपूर्णताख्याति को मान्यता देते हैं (पृ. १४-१५)। आगे (पृ. २४) अपूर्णताख्याति को आणव मल का व्यापार बताकर भेदवाद का खण्डन करते समय (पृ. ४५-४६) पुनः अख्यातिवाद का स्मरण करते हैं। निष्कल शब्द का अर्थ बताते हुए (पृ. १३९) भी वे कला शब्द की व्याख्या अपने स्वरूप की अपूर्ण (अधूरी) प्रतीति, अर्थात् स्वात्मसंकोच के रूप में करते हैं। इस तरह प्रायः गुरु-(प्रभाकर) मत संमत अख्यातिवाद ही अभिनवगुप्त, महेश्वरानन्द आदि को अभिप्रेत है।

तान्त्रिक दर्शन गुरुमत का अनुवर्ती

केवल अख्यातिवाद के विषय में ही नहीं, संवित् के स्वरूप के विषय में (पृ. ७७), विश्व के व्यवहार में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी के विषय में (पृ. ७६), अन्विताभिधान को मान्यता देने के विषय में (पृ. ७५) भी महेश्वरानन्द ने प्राभाकर दर्शन का अनुवर्तन किया है। महेश्वरानन्द ने संवित् के विषय में प्रभाकर भट्ट के इस मत को पूरी तरह से स्वीकार किया है कि विषय की सत्ता को जानने का एकमात्र उपाय संवित् है। संवित् के विषय में इससे भी आगे बढ़कर शाक्त तान्त्रिकों का कहना है कि प्राभाकर दर्शन की तरह संवित् केवल ज्ञान का पर्याय ही नहीं है, यह स्वयं परतत्त्व-स्वरूप है, ब्रह्मस्थानीय है। इसीलिये ऋजुविमर्शिनीकार शिवानन्द का कहना है कि यह भगवती संवित् ही अपने भीतर विद्यमान इस विश्व को बाहर प्रकाशित कर देती है (पृ. २७)। प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, प्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी जैसे ग्रन्थों में अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने इसकी व्याख्या की है। [1]शंकरनन्दन और [2]भट्ट नारायण के मतों का अपनी विवृतिविमर्शिनी में उल्लेख करते हुए उन्होंने इनके द्वारा प्रदर्शित संवित् के स्वरूप की चर्चा की है। काव्यप्रकाश के कर्ता भट्ट मम्मट रसप्रक्रिया का विवेचन करते समय मीमांसक भट्ट लोल्लट के सिद्धान्तों की चर्चा करते हैं। क्षेमराज ने स्पन्दनिर्णय में (पृ. ३४) स्पन्दकारिका के व्याख्याता के रूप में भट्ट लोल्लट को स्मरण किया है। वे इनसे अभिन्न हो सकते हैं। इन सब उद्धरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि कश्मीर के दार्शनिकों की, विशेष रूप से मीमांसकों की और तन्त्रशास्त्र के दार्शनिक पक्ष के विद्वानों की लम्बी परम्परा चली है, जो बौद्ध दार्शनिकों के प्रतिस्पर्धी रहे हैं। इसी परम्परा की ओर भट्ट कुमारिल ने श्लोकवार्त्तिक में शायद इंगित किया है कि [3]कुछ दार्शनिकों ने मीमांसाशास्त्र को चार्वाक दर्शन का

१. "प्राक्तनकुशलविपाकप्रवर्तितसंवित्सारपरामर्शाभ्यासतपःप्रभावप्रतिलब्धोन्मेषेण भट्टशङ्करनन्दनेन" (भा. २, पृ. १९९)।

२. "संवित्सारमीमांसकेन भट्टश्रीनारायणेन" (भा. २, पृ. १९७)।

३. प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता" (पृ. ४)। चौखम्बा संस्करण, काशी सन् १८९८

स्वरूप दे दिया है। टीकाकार इसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि भर्तृमित्र आदि ने ऐसा किया है। भर्तृमित्र का नाम हमें भर्तृप्रपंच, भर्तृहरि जैसे महनीय दार्शनिकों का स्मरण कराता है। प्राभाकर सिद्धान्त और काश्मीर का तान्त्रिक दर्शन इसी परम्परा में विकसित हुआ, ऐसा हम मान सकते हैं। इसकी विशेषता यह प्रतीत होती है कि नैयायिकों और मीमांसकों पर बौद्ध दार्शनिकों के द्वारा उपस्थापित तर्कों का यहाँ उन्हीं की पद्धति से खण्डन किया गया है। विज्ञानाद्वयवाद और संविदद्वयवाद की इस अनोखी चर्चा पर अभी पर्दा पड़ा हुआ है। काश्मीर का प्रत्यभिज्ञादर्शन शून्याद्वयवाद, विज्ञानाद्वयवाद, अनिर्वचनीयाद्वैतवाद तथा भर्तृमित्र, प्रभाकर, शंकरनन्दन जैसे मीमांसकों की प्रतिभा से अनुप्राणित हो प्रतिष्ठित हुआ था। स्वात्मदेवतावाद के रूप में इसमें हम लोकायत दर्शन को भी देख सकते हैं। लोकायत दर्शन के तत्त्वोपप्लवसिंह जैसे ग्रन्थों को भी इस प्रसंग में देखा जा सकता है। परिमलव्याख्या (पृ. ६) में बाह्य शास्त्र के नाम से उद्धृत "अन्यथा देवपाण्डित्यम्" इत्यादिक श्लोक इस प्रसंग में अवधेय है।

अन्विताभिधानवाद

एक ही भाव में अन्य सभी भावों का समावेश हो जाता है, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय (पृ. ७२) महेश्वरानन्द अभिहितान्वयवाद की अपेक्षा अन्विताभिधानवाद के औचित्य को स्थापित करते हुए कहते हैं कि 'स्तम्भं पश्य' यहाँ स्तम्भ शब्दार्थ से अन्वित दर्शन 'पश्य' क्रिया से बोधित होता है। इसी तरह से 'पश्यति' क्रिया के अर्थ से अन्वित 'स्तम्भ' कर्मकारक के रूप में उससे जुड़ा हुआ है। स्पष्ट है कि महेश्वरानन्द प्रभाकरभट्ट के मत का अनुसरण करते हैं, जैसा कि अभी ऊपर बताया गया है। इस विषय को थोड़ा समझ लेने की आवश्यकता है। भट्ट कुमारिल **अभिहितान्वयवाद** के और भट्ट प्रभाकर **अन्विताभिधानवाद** के पक्षपाती हैं। अभिहित, अर्थात् अपनी-अपनी वृत्ति से पदों के द्वारा उपस्थापित अर्थों का आपस में अन्वय होता है, ऐसा अभिहितान्वयवादी भट्ट कुमारिल का मत है। उनके मत में 'घटं करोति' इस वाक्य का अर्थ है 'घटवृत्तिकर्मत्वानुकूल क्रिया'। यहाँ 'घट' शब्द घड़े को और 'अम् प्रत्यय' कर्म को बताता है। वृत्तिता का बोधक कोई शब्द नहीं है, तो भी तात्पर्य के रूप में क्रिया घटवृत्ति कर्म से संबद्ध है, इस तरह संसर्ग के रूप में उसकी प्रतीति होती है।

अन्विताभिधानवादी प्राभाकारों के मत में पदार्थ वाच्य, अर्थात् अभिधेय ही है, इसको जानने के लिये किसी तात्पर्य नामक वृत्ति की अपेक्षा नहीं है। जैसे कि— "देवदत्त गामानय" उत्तम वृद्ध के ऐसा कहने पर मध्यम वृद्ध सास्नादिमती गाय को

लेकर आता है, तो बालक इसी पद्धति से कारक पदों के अर्थ को ग्रहण करता है। वही बालक "गां नय, अश्वमानय" जैसे वाक्यों के सहारे क्रियापदों से भी परिचित हो जाता है। इस तरह से जब वह स्वयं बोलने लगता है, तब कारक और क्रिया से अन्वित बोध उसमें पहले से रहता है। ऐसी स्थिति में अभिधेय से अन्वय की उपपत्ति के लिये अलग से तात्पर्य रूप वृत्ति को मानने की कोई आवश्यकता अन्विताभिधानवादी नहीं मानते। इसी पद्धति से एक ही भाव की अपने से अतिरिक्त समस्त भावों में अनुस्यूति रहने के कारण अन्विताभिधानवाद को ही यहाँ स्वीकार किया गया है, क्योंकि प्रकाश कभी भी विमर्श क्रिया के बिना नहीं रह सकता और इसी तरह से विमर्श के बिना प्रकाश भी कोई स्थिति नहीं पा सकता, अत: प्रकाश और विमर्श से अन्वित ही सारे पदार्थ परस्पर अनुस्यूत हैं।

परमार्थसार की टीका (पृ. ५८-५९) में योगराज द्वारा उद्धृत शम्भुभट्टारक के "एको भाव: सर्वभावस्वभाव:" इस श्लोक में यही विषय प्रतिपादित है। यह श्लोक उत्पल वैष्णव की स्पन्दप्रदीपिका (पृ. १२१) तथा द्वादशारनयचक्र नामक जैन ग्रन्थ की टीका (पृ. ११११९) में भी उपलब्ध है। पूरा श्लोक इस प्रकार है—

एको भाव: सर्वभावस्वभाव: सर्वे भावा एकभावस्वभावा:।
एको भावस्तत्त्वतो येन दृष्ट: सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन दृष्टा:।।

"सर्वं सर्वात्मकम्" इस सिद्धान्त के आधार पर इस विषय को समझा जा सकता है।

सर्वं सर्वात्मकम्

शिव प्रकाशस्वरूप और शक्ति विमर्शस्वरूप है, यह आगम का सिद्धान्त है। सारा विश्ववैचित्र्य इसी में समाया हुआ है। प्रकाशस्वरूप आत्मा विमर्श शक्ति से अनुप्राणित है। वस्तुत: सूतसंहिता (४.१३.२९) के अनुसार शिव के बिना शक्ति और शक्ति के बिना शिव की कोई स्थिति नहीं रहती। स्पष्ट है कि प्रकाश विमर्श-क्रिया को और विमर्श प्रकाशात्मकता को कभी नहीं छोड़ते, अत: वास्तव में ये अद्वयस्वभाव हैं। परमेश्वर की उन्मेष-निमेष रूप शक्ति सतत एक साथ उसमें विद्यमान है। इस शक्ति में स्वात्मस्वरूप का उन्मेष होने पर विश्व का निमेष और विश्व का उन्मेष होने पर स्वात्मस्वरूप का निमेष निरन्तर चलता रहता है। तुला के धटों (पलड़ों) के समान इनका ऊर्ध्वाधरीभाव चलता रहता है। इस तरह से ये स्थितियाँ ईश्वर के विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय स्वरूप का प्रतिनिधित्व करती हैं। विश्व का उन्मेष होते समय स्वात्मस्वरूप तिरोहित होता है, उसका आत्यन्तिक नाश नहीं होता।

इनमें परस्पर विरोध की कोई आशंका नहीं उठ सकती। व्यावहारिक जगत् में सभी दार्शनिक ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय की त्रिपुटी के आधार पर ही प्रवृत्त होते हैं। वास्तव में देखा जाय, तो ज्ञाता ही ज्ञेय है, ज्ञेय ही ज्ञाता है और ज्ञान ही ज्ञेय है। यही स्वरूप अन्ततः समस्त स्वभावों के सामरस्य के रूप में उभरता है। इसी तरह उन्मेष और निमेष व्यापार की भी संगति बैठाई जा सकती है। प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में कहा गया है— "विमर्श में सब तरह की सामर्थ्य है। वह अपने को पराया और पराये को अपना बना लेता है, दोनों को एक कर सकता है अथवा दोनों की उपेक्षा कर सकता है" (१.५.१३)। इस तरह से सबकी एकरसता स्वीकार कर लेने पर सत्य और असत्य की, भाव और अभाव की युक्तिपूर्वक व्याख्या करने पर सर्वत्र एकरूपता ही भासित होती है। महेश्वरानन्द ने ३२-३३ संख्या की गाथाओं की व्याख्या करते समय इस विषय को सयुक्तिक प्रस्तुत किया है। इस तरह से स्पष्ट होता है कि एक ही भाव अपने से भिन्न प्रतीत हो रहे भावों से वास्तव में अभिन्न है। यही आगमों का सिद्धान्त है। (तन्त्रालोक (२.१९) में) बताया गया है कि इस परमार्थ भूमि में सुख-दुःख, बन्ध-मोक्ष, जड़-चेतन उसी तरह से अभिन्न हो जाते हैं, जैसे घट और कुम्भ शब्द एक ही अर्थ का बोध कराते हैं।

"सर्वं सर्वात्मकम्" इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा सोमानन्द ने शिवदृष्टि के प्रथम आह्निक की समाप्ति में संक्षेप से तथा आगे चतुर्थ-पंचम आह्निकों में विस्तार से सब कुछ शिवमय है, यह बताते हुए की है। तन्त्रालोकविवेक (४.२७४) में "समता सर्वभावानाम्" त्रिकशास्त्र के इन श्लोकों को उद्धृत करते हुए अष्टविध समता का प्रतिपादन किया गया है। इन्हीं दो श्लोकों को उद्धृत कर महेश्वरानन्द भी यही बात कहते हैं। इसी पृष्ठभूमि में परिमलकार ने "अतो विश्वात्मको नाथः" से लेकर "महार्थात्मा महार्थिकमनीषिणाम्" (पृ. ११) पर्यन्त पादुकोदय के श्लोकों को उद्धृत करते हुए बताया है कि चार्वाक, शून्यवादी माध्यमिक, सांख्य, शब्दब्रह्मवादी वैयाकरण, मीमांसक, नैयायिक, सौगत— इन सभी श्रौत एवं अश्रौत सिद्धान्तों में वास्तव में कोई अत्यन्त विसंवाद नहीं है। स्वात्मपरामर्श ही परा देवता है, यह कहकर वे बताते हैं कि [1]जिसको जिस रूप में यह प्रतीत होता है, उसके लिये वही देवता है। इसके विभिन्न स्वरूपों की भी वहाँ (पृ. १०३) चर्चा की गई है।

---

१. "येन केन स्वरूपेण भाव्यते तस्य तन्मयी। माहेश्वराणां शक्तिः सा···· अज्ञानतिमिरान्धानां सर्वेषां मोहनी स्मृता।।" (पृ. १०३)

पारमार्थिक अवस्था में सभी के साथ सामरस्य के सिद्ध हो जाने पर भी व्यवहार दशा में तो भेद स्वीकृत है ही। इसीलिये महेश्वरानन्द ने अपनी परिमल व्याख्या में प्रसंगवश क्षणभंगवाद, अनिर्वचनीयवाद आदि की समालोचना भी की है।

दर्शनान्तर समालोचन

महेश्वरानन्द निर्विकल्पक महाप्रकाश को ही सामान्य कहते हैं (पृ. ७७)। ऐसा करते समय वे वैशेषिक मत के सामान्य के लक्षण का और उसकी भिन्नपदार्थता का खण्डन करते हैं। इसी तरह से ५४वीं गाथा की परिमल व्याख्या में वे क्षणभंगवाद और शून्यवाद की समालोचना करते हैं। शांकर अनिर्वचनीयवाद और माध्यमिकों के शून्यवाद की वे अनेक स्थलों पर समीक्षा करते हैं। जैसे कि द्वितीय गाथा की परिमल-व्याख्या (पृ. १०) में वे कहते हैं कि सारे प्रपंच की स्पष्ट रूप से प्रकाश स्वरूप में प्रतीति जब हो रही हो, तो उसको मिथ्या मानने का छल करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस तरह से वे माध्यमिकों और अनिर्वचनीयतावादियों की एक साथ समीक्षा करते हैं। अधिकारी का निरूपण करते समय वहाँ (पृ. २१) वेदान्तशास्त्र के द्वारा साधनचतुष्टय सम्पत्ति के रूप में उपदिष्ट इहामुत्रार्थफलभोग विराग एवं मुमुक्षुत्व की अनावश्यकता बताई गई है। एक स्थान पर (पृ. ५०) वे लिखते हैं कि परमेश्वर का यह असाधारण स्वभाव है कि वह सृष्टि आदि पंचकृत्यों को निरन्तर करते रहते हैं। ऐसा न करने से ही ***मायावादी वेदान्तियों के द्वारा निर्णीत आत्मा में स्वात्मस्फूर्ति की सुगन्ध की अल्पता के कारण अभाव की सी स्थिति उत्पन्न हो गई है।***

इसी विषय को स्पष्ट करते समय आगे (पृ. १३०) अन्य अद्वयवादी दर्शनों को पाशवशास्त्र की कोटि में रखते हुए, अद्वैतवाद का निर्वाह वेदान्त में भी हो सकता है, ऐसी प्रतिज्ञा करने के उपरान्त भी और तदनुरूप कई श्लोकों में उनके कुछ सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए भी, वहीं कुछ विसंगतियों की भी चर्चा करते हुए वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि इसीलिये हमारे मत में प्रकाशस्वरूप देवता का विमर्श ही स्वभाव है। शक्ति, ऐश्वर्य, उद्यम, स्पन्द, स्वतन्त्रता, स्फूर्ति, ऊर्मि, ओज, कला आदि शब्द इसीके पर्याय हैं (पृ. १३०)।

आगे (पृ. १४९) पुनः वे वेदान्त-संमत विमर्श के लक्षण की समीक्षा के उपरान्त क्रमकेलि में निर्दिष्ट विवर्त का लक्षण देते हैं कि विचित्र रूपों में प्रस्फुटित होने से यह विवर्त कहलाता है। अविद्या के कारण इसकी स्थिति नहीं है, किन्तु स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण यह विविध रूपों में भासित होता है (पृ. १५०)। इसी प्रसंग में वे कहते हैं कि संवित् की स्वतन्त्रता ही महासत्ता है। इस महासत्ता के कारण ही विश्व का सारा

व्यवहार चलता है, अतः वह निर्वचनीय है। ऐसी स्थिति में अनिर्वचनीयतावाद की कहीं स्थिति नहीं रहने पाती। परिमलव्याख्या (पृ. ५३-५४) में द्वैतवादियों, आर्हतों (जैनों), भूतचैतन्यवादियों (चार्वाकों) और शून्यवादियों के मतों का भी खण्डन किया गया है। इसी तरह से ५६-५७ पृष्ठों पर सांख्यसंमत पुरुष के स्वरूप की और १५० पृष्ठ पर ब्रह्मपरिणामवादी (भास्कर) पक्ष की समालोचना की गई है। इस प्रकार व्यावहारिक दृष्टि के अनुसार अन्य मतवादों की समीक्षा कर महेश्वरानन्द ने कुल, क्रम और त्रिक दर्शनों के अनुसार ब्रह्म, जीव और जगत् विषयक विचारों को प्रस्तुत किया है। महेश्वरानन्द आभासवाद-सदृश प्रतिबिम्बवाद को स्वीकार करते हैं। उसीका अब संक्षेप में स्वरूप बताया जा रहा है।

प्रतिबिम्बवाद

माध्यमिकों के शून्यवाद, योगाचारों के विज्ञानवाद और शांकर वेदान्त के अनिर्वचनीय मायावाद के समान अद्वैतवादी तान्त्रिकों का सिद्धान्त प्रतिबिम्बवादसहोदर आभासवाद अथवा स्वातन्त्र्याद्वैतवाद के रूप में प्रसिद्ध है। दक्षिणामूर्तिस्तोत्र का "विश्वं दर्पणदृश्यमान" यह प्रथम श्लोक इसी सिद्धान्त को दिखाता है। महेश्वरानन्द ने "दर्पणादिप्रकाशानां हि" (पृ. ११), "तस्य च विमर्शाख्योऽतिशयः" (पृ. २९), "प्रतिबिम्बप्रक्रिया च" (पृ. १०२) इत्यादि स्थलों पर जिस प्रतिबिम्बवाद की सूचना दी है, उसका तन्त्रालोक के तृतीय आह्निक में विस्तार से वर्णन मिलता है। शाम्भवोपाय के स्वरूप की निदर्शिका ५९वीं गाथा में महेश्वरानन्द ने उसीके आधार पर प्रतिबिम्बवाद का संक्षिप्त एवं स्पष्ट विवेचन किया है (पृ. १४७-१५३)। उसको हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं— लोकव्यवहार में दर्पण एवं उसी तरह की स्वच्छ (निर्मल) वस्तुओं में प्रतिफलित मुख आदि की अपने सामने प्रतीति होती है, इस बात से हम सभी परिचित हैं। यहाँ मुख के रूप में अभिमत भाव प्रतिबिम्बन क्रिया का अनुभव करता है और आदर्श (दर्पण) उसके आधार के रूप में प्रतिबम्बन क्रिया का प्रयोजक होता है। इसी उदाहरण से ये सारी दर्पण, आनन आदि के रूप में दिखाई पड़ने वाली स्तम्भ, कुम्भ आदि वेद्य वस्तुएँ स्वच्छता के अत्यन्त उत्कर्ष की स्थिति पर पहुँचे स्व-स्वभाव से अभिन्न परमेश्वर नामक मुकुर(दर्पण)मण्डल में प्रतिबिम्बित होती हैं।

प्रश्न उठता है कि तब तो इस वाद में भी मिथ्यात्व का आरोप लगेगा, क्योंकि यहाँ स्वच्छ दर्पण आदि द्रव्यों से टकरा कर चक्षु की किरणें लौटकर अपने ही स्वरूप को देखती हैं, यह बात सर्वमान्य है, अतः दर्पण में पुरुष की प्रतीति भ्रान्ति ही मानी जायगी, क्योंकि दर्पण में पुरुष नहीं है, उत्तर काल में होने वाली इस प्रतीति से इसका बाध हो जाता है। इसका समाधान यह है कि बाह्य दर्पण आदि में प्रतिबिम्ब के लिये

बिम्ब की अपेक्षा रहती है, किन्तु स्वात्मस्वरूप में इसकी प्रवृत्ति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि समस्त विश्ववैचित्र्य यहाँ प्रतिबिम्ब-स्वरूप ही प्रतीत होता है। परमेश्वर का प्रतिबिम्ब एक ऐसी अनोखी अलौकिक वस्तु है कि इसमें बिम्ब की अपेक्षा ही नहीं रहती। जब बिम्ब की यहाँ अपेक्षा ही नहीं है, तब बिम्ब के अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर प्रतिफलित होने वाले प्रतिबिम्ब के मिथ्यात्व की आशंका कैसे उठ सकती है?

पुन: प्रश्न उठ सकता है कि बिम्ब के बिना प्रतिबिम्ब की सत्ता कहीं देखने को तो नहीं मिलती? आपका कहना सही हो सकता है, किन्तु यही तो परमेश्वर का अतिशय निर्मल स्वातन्त्र्य है कि वह बिना बिम्ब के भी अपने में सारे विश्व को प्रतिफलित करने में समर्थ है। दर्पण आदि में प्रतिबिम्ब को प्रकाशित करने की सामर्थ्य अवश्य है, किन्तु उसको प्रमाता की अपेक्षा है। इसके विपरीत प्रमाता को किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि उसमें स्वाभाविक रूप में विमर्श नामक शक्ति विद्यमान है, जिससे दर्पण आदि की अपेक्षा इसकी भिन्न स्थिति मानी गई है। अन्यथा विमर्श शक्ति के अभाव में प्रमाता में जड़ता का प्रसंग उठ खड़ा होगा। अत: पारमेश्वरी प्रतिबिम्ब क्रिया की यह विशेषता है कि वह स्फटिक, मुकुर आदि में प्रतिबिम्बित होने वाली स्फुरण क्रिया की अपेक्षा एक अनोखी अलौकिक प्रक्रिया से सम्पन्न होती है। स्फटिक आदि में प्रतिबिम्बन के लिये भले ही बिम्ब की अपेक्षा हो, किन्तु इस पारमेश्वरी स्फुरत्ता में तो सारा विश्वप्रपंच प्रतिबिम्बित होता है, अत: यहाँ अलग से बिम्ब की कोई अपेक्षा नहीं रहती।

स्वातन्त्र्य शक्ति भासा

पारमेश्वरी स्वातन्त्र्य शक्ति की अभी ऊपर चर्चा हुई है। यह परमेश्वर का स्वातन्त्र्य अत्यन्त असंभव घटनाओं को भी घटित करने में समर्थ है, क्योंकि ईश्वर परम स्वतन्त्र है। उसके स्वातन्त्र्य की पराकाष्ठा को इसीमें देखा जा सकता है कि अपने अद्वयस्वभाव स्वरूप में सारे भेद-उपभेद की विचित्रताओं से भरे जगत् को भासित करने में वह प्रवीण है। इसीलिये परमेश्वर को अतिदुर्घटकारी कहा जाता है। इसीलिये इसे लोकपति और देह, इन्द्रिय, भुवन आदि प्रपंच का स्वामी कहा गया है। माया के बिना भेददृष्टि प्रधान प्रपंच की कोई स्थिति नहीं रह सकती और उसके बिना प्रपंच के प्रतियोगी ईश्वर के ऐश्वर्य की भी कोई स्थिति न बननें पर इस संसार का भी कोई स्वरूप नहीं बन पावेगा। अत: इस मायाशक्ति को ही ईश्वर का उत्कृष्ट स्वातन्त्र्य माना गया है। परमार्थसार (श्लो. १५) में बताया गया है कि महेश्वर का असंभव को संभव कर दिखा देने वाला परम स्वातन्त्र्य ही देवी मायाशक्ति कहलाती है। इसकी सहायता से शिव स्वयं अपने स्वरूप को ढँक लेता है।

परमशिव भट्टारक की यह महती स्वातन्त्र्य-स्वरूपा शक्ति तत्त्वों के परस्पर प्रयोज्य-प्रयोजक भाव को पैदा करने में समर्थ है। इसीके कारण वह पृथिवी आदि समस्त भाववर्ग के साथ अनाश्रित शिव पर्यन्त समस्त तत्त्वों को अपने भीतर समेटे रहती है। प्रत्यभिज्ञाहृदय के पहले ही सूत्र में बताया गया है यह स्वतन्त्र चितिशक्ति इस विश्व के निर्माण में कारण है, समर्थ है। क्रमदर्शन में यह स्वातन्त्र्य शक्ति **भासा** के नाम से व्याख्यात है। परिमलकार ने भासा का स्वरूप बताते हुए कहा है कि यह भासा नाम की शक्ति सृष्टि आदि कृत्यपंचकों को और इस सारे विश्ववैचित्र्य के व्यवहार को भी अपने में समेट कर रखती है। सर्वश्रेष्ठ, सब पर अनुग्रह करने वाली यह चितिशक्ति ही पारमेश्वरी स्वातन्त्र्य शक्ति है। क्रमदर्शन में यह भासा शक्ति के नाम से प्रसिद्ध है। परिमलकार ने पादुकोदय के प्रमाण से इसके स्वरूप को स्पष्ट किया है – "भित्ति पर उकेरे गये चित्र अथवा दर्पण में दृश्यमान नगरी के समान भासा नामक यह भगवान् की शक्ति अपने पारमेश्वर स्वरूप में सारे जगत् का उन्मीलन करती है। इस शक्ति से सम्पन्न भगवान् ही सबके गुरु हैं, तदभिन्न होने से यह शक्ति भी गुरुस्वरूपा मानी गई है" (पृ. १०१)।

यह भासास्वरूपा स्वातन्त्र्य शक्ति अपने संवित् स्वरूप से कभी विचलित नहीं होती। भगवती संवित् ही अपने भीतर विद्यमान विश्व को बाहर आभासित कर देती है। प्रत्यभिज्ञाकार भट्ट उत्पल भी कहते हैं – "यह चित्स्वरूप परमेश्वर इच्छा होने पर बिना किसी उपादान के उसी तरह इस विश्व को प्रकाशित कर देता है, जैसे कोई सिद्ध योगी अभिप्रेत वस्तु का निर्माण करने में समर्थ है" (१.५.७)। इस तरह से भित्ति (दीवाल), पट (वस्त्र), पत्र (कागज) आदि में चित्रकार की संवित् जैसे नानाप्रकार के चित्र बनाने में प्रवृत्त होती है, जिस तरह से स्वच्छ दर्पण, तलवार, जल आदि में मुख आदि का प्रतिबिम्ब बनता है, उसी तरह से स्वातन्त्र्य शक्ति से सम्पन्न चिदात्मा में इस विश्व का उन्मीलन होता है और वही घट, पट आदि के रूप में भासित होने लगता है। यह आभास सुरेश्वराचार्य आदि के द्वारा प्रतिपादित आभास के समान अलीक या अनिर्वचनीय नहीं है, किन्तु शुद्ध संवित्स्वरूप है। परमतत्त्व विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण उभय-स्वरूप है, ऐसा आगमवादियों का सिद्धान्त है (प्र. हृ., ८ सूत्रव्याख्या)।

विश्वोत्तीर्ण ३८वाँ तत्त्व

विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय अनाश्रित शिव से लेकर कालाग्निरुद्र पर्यन्त छत्तीस तत्त्वात्मक इस विश्ववैचित्र्य के संयोजन एवं वियोजन की कुशलता से सम्पन्न इस परमशिव भट्टारक की स्वातन्त्र्य-स्वरूपा शक्ति तत्त्वों के परस्पर प्रयोज्य-प्रयोजक भाव

में अत्यन्त प्रवीण है। वह पृथिवी आदि भाव-वर्ग के समान अनाश्रित शिव पर्यन्त शुद्ध तत्त्वों को भी अपने में समेटे रहती है। यह शक्ति विमर्शसंरम्भ-स्वरूपा है, अर्थात् विमर्श के नाम से अपने भीतर स्फुरणशील क्रियाशक्ति से सम्पन्न है, उसके साथ मिली हुई है। यह चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया नामक पाँच शक्तियों का सामरस्यमय स्वरूप है। इन समी शक्तियों से सम्पन्न, समस्त छत्तीस तत्त्वों के समूह को अपने भीतर समेट कर अवस्थित परमशिव भट्टारक नाम का यह प्रमाता सैंतीसवें तत्त्व के रूप में विद्यमान है। इस सैंतीसवें विश्वमय तत्त्व की स्थिति भी पर्यन्ततः विकल्प भूमि में मानी जाती है। विश्वोत्तीर्ण तत्त्व को तो विकल्पशून्य होना चाहिये, अतः इसके ऊपर विकल्प वृत्ति से रहित भगवान् का अड़तीसवाँ विश्वोत्तीर्ण स्वरूप आगमों में स्वीकृत है। महेश्वरानन्द ने अनेक युक्तियों के सहारे इस सिद्धान्त की स्थापना की है (पृ. ६६-६७) और अभिनवगुप्त के तन्त्रवटधानिका नामक ग्रन्थ को भी उद्धृत किया है।

परमेश्वर का विश्वव्यवहार

विश्वोत्तीर्ण अविकल्पस्वभाव परमेश्वर से ही गीता के वचन (१५-१५) के अनुसार स्मृति, ज्ञान और अपोहन शक्तियाँ स्फुरित होती हैं। प्रत्यभिज्ञाशास्त्र (१.३.७) में भी बताया गया है कि यह अकेला ही चिन्मय परमेश्वर ज्ञान, स्मृति और अपोहन नामक तीन शक्तियों की सहायता से इस विश्व के सारे व्यवहारों का संचालन करता है। परिमलकार ने तेरहवीं गाथा की व्याख्या करते समय इस विषय को सूचित करते हुए आगे ५४वीं गाथा में इस विश्व की स्फुरण की प्रक्रिया को इन त्रिविध शक्तियों के स्वरूप की विशद व्याख्या करते हुए समझाया है (पृ. १३५-१३६)। भागवद्गीता के विभिन्न भाष्य-व्याख्यानों और प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी आदि ग्रन्थों से इन त्रिविध शक्तियों का स्वरूप विस्तार से जाना जा सकता है। विश्व का स्फुरण करने की प्रक्रिया में उपादेय इन तीन शक्तियों में बोध (ज्ञान) और स्मृति अपनी विश्वमयी चिच्छक्ति से तादात्म्य को कभी नहीं छोड़ सकती, अतः विश्व की उपसंहार-प्रक्रिया में इनका सहारा नहीं लिया जा सकता। वेद्य वित्ति से, एक वित्ति अन्य वित्ति से और एक वेद्य अन्य वेद्य से जैसे विच्छिन्न हो सके, ऐसे सामर्थ्य वाली भगवान् की स्वातन्त्र्य शक्ति **अपोहन** नाम से प्रसिद्ध है। यह अपोहन शक्ति ही विश्व के विस्फुरण में और विश्व के उपसंहार में भी समान रूप से परमेश्वर की सहायता करती है। परिमलकार इस प्रकरण का उपसंहार इस प्रकार करते हैं— इन तीन शक्तियों की सहायता से शिव इस विश्व का निर्माण कर उसी तरह सुख का अनुभव करता है, जैसे जुलाहा पट का और कुम्हार घट का निर्माण कर। अपनी स्मरण शक्ति की सहायता से वह इस विश्व में नाना प्रकार की विचित्रताओं, विकल्पों को भर

देता है (पृ. १.३६)। विश्वोत्तीर्ण तत्त्व की विश्ववैचित्र्य के लिये स्फुरत्ता का प्रकार महेश्वरानन्द पहले ही (पृ. ५०-६०) बता चुके हैं। उसकी यहाँ चर्चा न कर स्वातन्त्र्य शक्ति कृत्यपंचक की प्रवृत्ति में कैसे सहायक बनती है, इस विषय की चर्चा की जा रही है।

स्वातन्त्र्य शक्ति की कृत्यपंचककर्तृता

परमशिव भट्टारक की यह स्वातन्त्र्य शक्ति अपनी चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया नामक पाँच शक्ति-किरणों के सहारे [1]सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह नामक अथवा सृष्टि, स्थिति, संहार, अनाख्या और भासा नामक कृत्यपंचक का सम्पादन करती है। इस स्थिति में परमेश्वर "मैं ही सब कुछ हूँ" इस तरह विश्वात्मभाव की भूमि में प्रविष्ट होकर उसीमें से अपने विचित्र चमत्कार के सहारे सारे विश्व का विस्तार करता है। इस कार्य में वह संकोच रूपी कलंक की आशंका से शून्य शुद्ध संवित् का सहारा लेता है। यह शुद्ध संवित् परमेश्वर की अपनी स्व-स्वभाव स्वातन्त्र्य शक्ति से भिन्न नहीं है। इसीलिये "नर्तक आत्मा" (३.९) इस शिवसूत्र की पद्धति से इस विश्वरूपी नाटक का खिलाड़ी यह शिव नट का रूप धारण कर लेता है और पृथिवी से लेकर शिव पर्यन्त तत्त्वसमूह रूप यह विश्व सृष्टि-स्थिति आदि पाँच अवस्थाओं के रूप में [2]आरम्भ-यत्न आदि साहित्यशास्त्र वर्णित पाँच अवस्थाओं वाला नाटक बन जाता है। इस कृत्यपंचक में से सृष्टि, स्थिति और संहार नामक तीन कृत्यों में कोई विषमता नहीं रहती, किन्तु ऊपर के दो में से एक तिरोधान व्यापार में जब व्यामोह में पड़े अज्ञानी आत्मा के शास्त्रीय समयों (नियमों) का पालन न करने के कारण उसके चित्त को व्याकुल कर देते हैं अथवा अनुग्रह व्यापार में करुणा का उद्रेक होने के कारण जीव के सारे दोषों का परिष्कार कर उसे स्वरूपलाभ की तरफ प्रवृत्त कराते हैं, तो इन दोनों कृत्यों के स्वरूप में विषमता विद्यमान रहती ही है। पशुप्रमाता को छोड़कर जब इस पूरे विश्व का कार्य के रूप में अनुसन्धान किया जाता है, तो क्रमदर्शन में ये दो कृत्य अनाख्या और भासा के रूप में भासित होते हैं।

क्रमदर्शन के अनुसार **सृष्टि** [3]उद्योग, अवभासन, चर्बण, आत्मविलापन और निस्तरंगता नामक पाँच प्रथाओं का समष्टि स्वरूप है। हमारे जैसे सभी प्राणियों में पाँच

---

१. "आभासन-रक्ति-विमर्शन-बीजावस्थापन-विलापनतस्तानि" (सू. ११) इस प्रत्यभिज्ञासूत्र के अनुसार परिच्छिन्न प्रमाता में भी पंचकृत्यकारिता अभिव्यक्त हो उठती है। सूत्र का अर्थ वहीं देखिये।

२. दशरूपक (१. १९-२२) साहित्यदर्पण (६. ७०-७३) और अग्निपुराण (३३८.२१) में आरम्भ, यत्न, प्रत्याशा, नियताप्ति और फलागम नामक पाँच अवस्थाओं का स्वरूप प्रदर्शित है।

३. उद्योग आदि प्रथापंचक का विश्लेषण वहीं परिमलव्याख्या (पृ. ९७) में देखिये।

प्रकार के ये व्यापार निरन्तर अनुस्यूत रहते हैं। क्रिया, ज्ञान, इच्छा, उद्योग और प्रतिभास स्वभाव ये पाँच प्रकार की प्रथाएँ ही सृष्टि, स्थिति, संहार, अनाख्या और भासा के रूप में प्रकट होती हैं। इसी के कारण कृत्यपंचक के अन्तर्गत समस्त विश्व-वैचित्र्य इस एक ही सृष्टि में स्फुरित होता है। सृष्ट पदार्थों की संहार करने की इच्छा के उदय पर्यन्त जो निराकुल निरन्तरता बनी रहती है, उसे **स्थिति** कहते हैं। **संहार** का अर्थ है – बाहर निकाले गये भावों का पारमेश्वर प्रकाश में इस रूप में विलयन कि समय आने पर वट-बीज में वृक्ष के समान वासना के रूप में इनकी स्थिति बनी रहे। **अनाख्या** का अर्थ है आख्याशून्य। आख्या का अर्थ है – पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी का विषय होना। अनाख्या की स्थिति में इन तीनों वाणियों की कोई स्थिति नहीं रहती। सृष्टि आदि कृत्यों से आक्रान्त इस विश्व-व्यवहार को अपने में समेटे हुए सबसे श्रेष्ठ, सब पर अनुग्रह करने वाली पारमेश्वरी चिच्छक्ति ही **भासा** कहलाती है। इस कृत्यपंचक को सम्पन्न करने वाला परमेश्वर का पारमैश्वर्य ही— चार प्रकार के नष्ट अर्थों का अवभासन, लीन मेयत्रय की वासना की अनुवृत्ति, सारे मेयमान-व्यवहार की उपसंहृति, सविकल्पक मेय का विमर्श एवं निर्विकल्पक मेय का अवभास— इन पाँच नामों से शास्त्रों में वर्णित है।

चितिशक्ति बिना किसी की सहायता के स्वतन्त्र रूप में विश्व के निर्माण में समर्थ है, यह बताया जा चुका है। चितिशक्ति जब चेतन पद से उतर कर चैतन्य का संकोच कर देती है, तो उसी का नाम **चित्त** हो जाता है। परमेश्वर अपनी ही स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के सहारे अपनी शक्तियों में संकोच कर लेता है, तो वही संसारी **जीव** कहलाने लगता है। यह स्थिति इस प्रकार आती है – स्वभावत: इच्छा आदि शक्तियों की स्वतन्त्रता में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती, किन्तु पशु-दशा में इनका संकोच उसी तरह से हो जाता है, जैसे कूर्म (कछुआ) इच्छा होने पर अपने अंगों को सिकोड़ लेता है। शक्तिसंकोच की इस स्थिति में क्रमश: अपूर्णता ख्यातिस्वरूप **आणव मल** वेद्य पदार्थों में भिन्नता दिखाने वाला **मायीय मल** और शुभ-अशुभ कर्मों के अनुष्ठान से उत्पन्न **कार्म मल** से घिर जाता है। इस तरह से त्रिविध मलों से आवृत हो जाने से उसकी सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व, व्यापकत्व नामक शक्तियाँ संकुचित होकर क्रमश: कला, विद्या, राग, काल और नियति नामक **कंचुकों** का रूप धारण कर इसे शक्तिशून्य संसारी जीव बना देती है। तब वह अवच्छिन्न **(परिमित) प्रमाता** कहलाता है। चित्तमय यह परिमित प्रमाता प्रत्यभिज्ञाहृदय (सू. ६) में **मायाप्रमाता** कहा गया है। परिमलव्याख्या (पृ. २४) में उद्धृत अभिनवगुप्त के "स्वतन्त्र: स्वच्छात्मा" इत्यादि श्लोक में भी यह पूरा विषय संक्षेप में संगृहीत है।

मलत्रय के [1]तारतम्य से ही सकल, प्रलयाकल, विज्ञानाकल, मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर और अनाश्रित शिव नामक **प्रमातृसप्तक** का उन्मीलन होता है। अतः इन तीनों मलों के विनाश से ही अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति हो सकती है। मैं मल से आवृत हूँ, इस शंका का परिहार ही मलक्षय का मुख्य उपाय है। इस तरह से यहाँ अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति ही मोक्ष है और स्वरूप की अभिव्यक्ति न होना ही बन्ध है। इसी विषय को आगे स्पष्ट किया जा रहा है।

बन्ध और मोक्ष

आत्मसप्तति के एक वचन में बताया गया है कि वास्तव में जब बन्ध की कोई व्यवस्था नहीं है, तो फिर मोक्ष की चर्चा कहाँ से आवेगी, अतः बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था केवल विकल्प-व्यापार पर ही टिकी हुई है। इस स्थिति में मोक्ष की प्राप्ति की इच्छा पूरी तरह से निराधार है। अपने स्वरूप का परामर्श करते रहने से चिदानन्द की प्राप्ति के रूप में अपने स्वभाव की अभिव्यक्ति ही मोक्ष कहलाती है। अपना यह स्वभाव अपूर्णताख्याति रूप आणव मल से जब आवृत हो जाता है, तब पशुदशा से आविष्ट स्वभाव ही बन्ध बन जाता है। ज्ञानदान और पाशक्षपण रूप दीक्षाव्यापार द्वारा मलत्रय के दग्ध हो जाने पर जिन जीवों पर दीक्षागुरु की कृपादृष्टि पड़ जाती है, ऐसे धन्य जीवों के सामने परमशिव-स्वरूप मोक्ष पुनः अभिव्यक्त हो उठता है। इस तरह यहाँ पाशव वेदान्तशास्त्र के द्वारा उपदिष्ट ऐहिक[2] और आमुष्मिक फलभोग के प्रति वैराग्य आदि का अधिकारी के विशेषण के रूप में ग्रहण नहीं किया जाता, क्योंकि इस सिद्धान्त में तो भोग के उद्रेक को और मोक्ष को भिन्न नहीं माना गया है, क्योंकि भोग के माध्यम से भी पुरुषार्थ-स्वरूप स्वात्मविमर्शात्मक मोक्ष की प्रयोजकता मानी गई है। अन्य दर्शनों की अपेक्षा क्रमदर्शन की यही विशेषता है कि भोग और मोक्ष की समरसता यहाँ मान्य है। महेश्वरानन्द ने ६५वीं कारिका की परिमलव्याख्या में इस विषय को विस्तार से समझाया है और अन्त में कहा है कि इस अनुत्तर (सर्वश्रेष्ठ) क्रमसरणि का प्रवर्तन करते समय परम कारुणिक परमेश्वर ने उसी यामली सिद्धि का प्रतिपादन किया है, जो कुलगुह्वर आदि शास्त्रों में भोग-मोक्ष के सामरस्य के रूप में वर्णित है (पृ. १६५)। महेश्वरानन्द ने यहाँ तन्त्रालोक (२.१९) के एक वचन को भी उद्धृत किया है। वहाँ बताया गया है

१. मलत्रय के तारतम्य क्रम का तथा सकल आदि शब्दों का अर्थ परिमलव्याख्या (पृ. ३१-३२) में ही देखिये।

२. वेदान्तशास्त्र के अनुसार उसका अधिकारी साधनचतुष्टय से सम्पन्न होना चाहिये। साधनचतुष्टय में नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रार्थफलभोगविराग शमदमादिषट्कसम्पत्ति और मुमुक्षुत्व का समावेश माना गया है। महेश्वरानन्द ने इनको पाशव वेदान्त के लिये आवश्यक माना है, प्रस्तुत शास्त्र के लिये नहीं (पृ. २१)।

कि इस भोग-मोक्ष सामरस्यमय स्थिति में सुख-दुःख, बन्ध-मोक्ष, चिति-जड़ जैसे सभी शब्द घट और कुंभ के समान एक ही अर्थ का बोध कराते हैं (पृ. १६५)। सारे विकल्पात्मक प्रपंच के परिस्फुरण को अपने में समेटे हुए यह विलक्षण विमर्श भोग-मोक्ष स्वरूप दोनों ही पुरुषार्थों को स्वात्मस्वरूप में ही प्रतिबोधित करने में समर्थ है। इस स्थिति में भोग भी मोक्षस्वरूप और मोक्ष भी भोगस्वरूप प्रतीत होता है। इस तरह से भोग और मोक्ष की अन्योन्य सामरस्यमय यह दशा ही जीवन्मुक्ति कहलाती है। अनुत्तर संविदद्वयवाद के सिद्धान्त का अनुसरण करने से ही इसको प्राप्त किया जा सकता है।

जीवन्मुक्ति

प्रत्यभिज्ञाहृदय (सू. १६) में बताया गया है कि देह, इन्द्रिय आदि की विद्यमानता में भी जब चिदानन्द की अभिव्यक्ति हो उठती है और इनके कारण चिदैकात्म्य की दृढ़ प्रतीति जाग उठती है, तो वह **जीवन्मुक्ति** दशा कहलाती है। इसके अनुसार साधक इसी जीवन में भोग और मोक्ष दोनों का साक्षात्कार कर लेता है। अपनी विश्वात्मकता का अनुसन्धान करते रहने से ऐसे जीवन्मुक्त प्रमाताओं को अपने ऐश्वर्य की अनुभूति स्वाभाविक रूप से होती रहती है, इसके लिये उन्हें कोई अतिरिक्त प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इस जीवन्मुक्ति दशा में जनन-मरण की परम्परा में अनुस्यूत जीवात्मा में भी सभी अवस्थाओं में एकरस स्वात्मानन्द की अनुभूति होती रहती है। इस दशा में साधक के हृदय में स्वात्मस्फुरत्ता-स्वरूपिणी महासत्ता प्रस्फुटित हो उठती है। रत्नमालाशास्त्र की पद्धति से दीक्षागुरु जिस क्षण निर्विकल्पक ज्ञान का उपदेश कर देता है, उसी क्षण शिष्य मुक्त हो जाता है। यह जीवन्मुक्त साधक इसके बाद यन्त्रवत् सारा व्यवहार चलाता रहता है, वस्तुतः वह तो अपने अमृतस्वभाव चिदाह्लाद रूप में ही सदा डूबा रहता है। इस तरह के स्वभाव के कारण ही वह सभी तिर्यक्त्व-मनुष्यत्व, जीवत्व-अमृतत्व, जड़त्व-अजड़त्व आदि विभागों से शून्य प्रमातृवर्ग के रूप में बन्ध के हेतुभूत समस्त विश्वविलास से ऊपर उठकर, शुद्ध चैतन्य स्वरूप को धारण कर जब तक कालतत्त्व की स्थिति है, तब तक पाषाण आदि जड़ पदार्थ के रूप में इदन्ता के साम्राज्य को और परमशिवीभाव के रूप में चैतन्य का उत्कर्ष कर **महाहन्ता** को भी एक साथ ही अधिगत करते हुए विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण दशा का एक साथ ही अनुभव कर सामरस्य रस का आस्वादन करते हुए ऐसे अपूर्व सौभाग्य को प्राप्त करता है, जिससे उसका अन्तःकरण अत्यन्त परिशुद्ध हो जाता है और वह अत्यन्त श्लाघनीय दशा के परिस्फुरण का निरन्तर साक्षात्कार करता रहता है। इसका अभिप्राय यह है कि गुरु के कृपाकटाक्ष के पड़ते ही साधक को अपने हृदय में जीवन्मुक्ति-स्वरूप उस पुरुषार्थ की अनुभूति होने लगती है, जिससे उसका हृदय स्वात्मानन्द से आत्मविभोर हो उठता है। इस तरह से सर्वसाम्यस्वभाव स्व-स्वरूप में अवस्थिति ही क्रमदर्शन की **जीवन्मुक्ति** है।

इस जीवन्मुक्ति दशा का उन्मीलन स्वात्मविमर्श-स्वरूप **क्रमपरामर्श** से होता है। क्रमपरामर्श की प्रक्रिया महेश्वरानन्द ने इस प्रकार बताई है – सृष्टि आदि प्रथम चार कृत्यों में से प्रत्येक में सृष्टिसृष्टि, सृष्टिस्थिति आदि के क्रम से चातुर्विध्य माना गया है और अन्ततः भासा में इनका पर्यवसान हो जाता है। स्व-स्वरूप के साक्षात्कार में भासातत्त्व मात्र संवित् की सहायता से ही समर्थ हो पाता है, तो भी प्रतिबिम्बवाद की पद्धति से वह जब प्रपंच के रूप में स्फुरित होता है, तब उसके ये पाँचों स्वरूप पंचकृत्य के सम्पादन में निरन्तर सचेष्ट रहते हैं। इनमें पूर्व-पूर्व पंचक की पाँचवीं कला (भासा) का सहारा लेकर उत्तरोत्तर पंचक की कलाओं का स्फुरण होता है। इस तरह से उत्तरोत्तर पंचकों की प्रथम स्फुरत्ताओं को नीचे-नीचे की समस्त शक्तियों में विश्रान्ति की प्रतीति होती है। यह सारा व्यापार शतदलकमल के भेदन के क्रम के सदृश अत्यन्त सूक्ष्म है। इसीलिये क्रम की विद्यमानता में उसको देख पाना कठिन है। इसी तरह से परमेश्वर की इस कृत्यपंचक की प्रक्रिया का क्रम अत्यन्त दुर्लक्ष्य है। कोई एक अत्यन्त प्रवीण साधक बहुत गहरे अभ्यास के द्वारा ही इस क्रमपरामर्श को कर सकने में समर्थ हो पाता है। इस प्रकार यह क्रमपरामर्श ही **स्वात्मविमर्श** को जगाने में मुख्य कारण है और तभी साधक में जीवन्मुक्ति दशा की अभिव्यक्ति होती है।

वैष्णव दार्शनिक जीवन्मुक्ति की स्थिति को स्वीकार नहीं करते। आचार्य रामानुज ने समन्वयाधिकरण के भाष्य में— "तत एव जीवन्मुक्तिरपि दूरोत्सादिता" यहाँ से लेकर "अतः सकलभेदनिवृत्तिरूपा जीवन्मुक्तिर्जीवतो न संभवति" यहाँ तक जीवन्मुक्ति का प्रत्याख्यान किया है। प्रत्याख्यान की यह पद्धति स्वात्मविमर्श-लक्षण, स्व-स्वरूप में अवस्थिति के रूप में प्रसिद्ध जीवन्मुक्ति के विषय में लागू नहीं हो सकती, अतः स्वातन्त्र्याद्वैतवाद-संमत जीवन्मुक्ति का लक्षण असंभावना आदि दोषों से ग्रस्त नहीं माना जा सकता।

इस तरह से महार्थमंजरी और परिमलव्याख्या में वर्णित क्रमदर्शन-संमत कुछ सांस्कृतिक और दार्शनिक विषयों पर यहाँ प्रकाश डाला गया है। प्रकाश-विमर्श, छत्तीस तत्त्व, षडध्व आदि का परिचय यहाँ (पृ. २९-७२) विस्तार से दिया गया है। इसी तरह से पीठ, पंचवाह, नेत्रत्रय, वृन्दचक्र, गुरुपंक्ति आदि के रूप में निर्दिष्ट क्रम-सम्प्रदाय की साधना का परिचय हम [1]अन्यत्र दे चुके हैं। अतः क्रमदर्शन के इस प्रकरण को अब हम यहीं समाप्त करते हैं।



१. तन्त्रागमीय ज्ञानकोश में प्रकाशित इन शब्दों का विवरण देखिये।

शाक्ताधिकार (त्रिपुरा)

त्रिपुरोपासना : देश एवं काल

महार्थमंजरीकार महेश्वरानन्द के परमगुरु शिवानन्द ने नित्याषोडशिकार्णव की टीका ऋजुविमर्शिनी में त्रिपुरा सम्प्रदाय का उद्भव [1]कश्मीर में माना है। दक्षिण देश के इन त्रिपुरामत के अनुयायी आचार्यों की रचनाओं में कश्मीर के प्रत्यभिज्ञादर्शन का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। तन्त्रालोक के व्याख्याता काश्मीराभिजन जयरथ [2]वामकेश्वरी-मत की अपनी व्याख्या में कहते हैं कि [3]वस्तुतः ईश्वरशिव और विश्वावर्त नामक दो आचार्यों ने त्रिपुरादर्शन का प्रवर्तन किया। [4]अन्यत्र वे लिखते हैं कि विश्वावर्त ही कश्मीर में इस दर्शन के साक्षात् प्रवर्तक हैं। इन दो उद्धरणों से ज्ञात होता है कि कश्मीर में प्रथमतः इसका प्रादुर्भाव नहीं हुआ, किन्तु इन आचार्यों ने प्रदेशान्तर से लाकर इसकी कश्मीर में प्रतिष्ठा की। इन दोनों आचार्यों में जयरथ ईश्वरशिव के मत को वरीयता देते हैं, क्योंकि वे ही वामकेश्वरी मत के रसमहोदधि नामक व्याख्यान के रचयिता और [5]शूरमठ के अधिपति थे।

नवम शताब्दी (८५५-८८३) के राजा अवन्तिवर्मा के मन्त्री शूर ने इस मठ की स्थापना की थी। शिवसूत्र के अवतारक वसुगुप्त के शिष्य कल्लट राजा अवन्तिवर्मा के समकालीन थे, ऐसा राजतरंगिणी के प्रमाण से माना जाता है। स्पन्दकारिका वसुगुप्त की कृति है या कल्लट की? इस विषय में दो मत हैं। अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमराज आदि के मत से इसके कर्ता वसुगुप्त हैं। शिवसूत्रवार्त्तिककार भट्ट भास्कर, स्पन्दप्रदी-पिकाकार उत्पल वैष्णव आदि आचार्य इसको कल्लट की कृति मानते हैं। इस विषय में [6]डॉ. नवजीवन रस्तोगी ने विस्तार से विचार किया है। उसको देखते हुए हमें

---

१. "सम्प्रदायस्य कश्मीरोद्भूतत्वात्" (पृ. ११४) द्रष्टव्य।

२. नित्याषोडशिकार्णव का ही यह दूसरा नाम है, यह आगे बताया जा रहा है।

३. "वस्तुतो ह्यस्य दर्शनस्यैतदेवाचार्यद्वयं कश्मीरेष्ववतारकम्" (पृ. ४८)। प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादक शंकरराशि को प्रथम आचार्य मानते हैं, किन्तु पूर्वापर ग्रन्थ के अवलोकन के बाद यह सही नहीं ठहरता।

४. "कश्मीरेषु श्रीमान् विश्वावर्त एवास्य दर्शनस्य साक्षात् प्रवर्तयिता" (पृ. १२५)। आचार्य विश्वावर्त का परिचय (पृ. ४५४) पर दिया गया है।

५. वामकेश्वरीमतविवरण (पृ. ४८) द्रष्टव्य।

६. क्रम तान्त्रिसिज्म (पृ. ११३-११९) द्रष्टव्य।

कल्लट-कृति वाला पक्ष ही तर्कसंगत लगता है। **स्पन्द** शब्द विमर्श (स्फुरत्ता) का वाचक है। शैव और शाक्त तन्त्रों में विमर्श अथवा स्फुरत्ता (स्पन्दन) शक्ति का ही व्यापार है। इस तरह से स्पन्दकारिका में शाक्त दर्शन व्याख्यात है। कल्लट के शिष्य भट्ट प्रद्युम्न ने [1]तत्त्वगर्भ स्तोत्र में शक्ति-पारम्य पक्ष की स्थापना की है और कश्मीर में अद्वैतवादी शैव दर्शन के प्रतिष्ठापक सोमानन्द ने शिवदृष्टि के तीसरे आह्निक के प्रारम्भ में इस मत का खण्डन किया है।

सोमानन्द ने परात्रीशिका नामक कौल मत के ग्रन्थ की भी त्रिकदर्शन-परक व्याख्या की है। तन्त्रालोक के २९वें आह्निक में कौल मत का परिचय देते समय कल्लटनाथ के मत को [2]उद्धृत किया गया है (२९. १२३-१२४)। कल्लट की तत्त्वचिन्तामणि अथवा [3]मधुवाहिनी का यह वचन है या उसने कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ कौल मत पर लिखा था, अभी इसके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता, क्योंकि ये दोनों ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। कल्लट स्पष्ट ही शाक्तमत के आचार्य हैं। यदि इन्हींको स्पन्दकारिका का कर्ता मान लिया जायगा, तो इसके आधार पर शैवदर्शन की प्रतिष्ठा हो नहीं पावेगी। इसलिये सोमानन्द के अनुयायियों ने इसको वसुगुप्त की कृति के रूप में स्थापित कर दिया। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि राजा अवन्तिवर्मा के राज्यकाल (८५५-८८३ ई.) में कश्मीर में कौल और क्रम दोनों दर्शन प्रचलित हो चुके थे। शक्तिपारम्यवादी त्रैपुरदर्शन का प्रवेश भी कश्मीर में तभी हुआ होगा।

नवत्रिकोणात्मक श्रीचक्र के केन्द्रस्थान मध्यत्र्यश्र में महाबिन्दु विराजमान है। यह ओडचाण पीठ का और उसमें विराजमान भगवती त्रिपुरा एवं चर्यानन्दनाथ का, कामेश्वर-कामेश्वरी के समरस स्वरूप का प्रतीक है, ऐसा शिवानन्द आदि का मानना है। वामकेश्वरीमतविवरण में जयरथ ने [4]इस ग्रन्थ को विद्रूप करने वालों और अपने को चर्यानन्दनाथ का शिष्य मानने वालों की आलोचना की है। इससे स्पष्ट होता है कि त्रिपुरा सम्प्रदाय के प्रथम प्रवर्तक चर्यानन्दनाथ हैं। [5]उड्डियान की स्थिति उत्तर दिशा में

---

१. इस विषय पर आगे (पृ. ६२२-६२३) विचार किया जा रहा है।
२. "स्वशरीराधिकसद्भावभावितामिति ततः प्राह। श्रीमत्कल्लटनाथः" (२९.१२३-१२४) द्रष्टव्य।
३. इन दोनों ग्रन्थों के विषय में पहले लिखा जा चुका है।
४. "अलं चर्यानन्दनाथोपदेशविशदप्रतिभाविभवैः सह संभाषितेन" (पृ. ३४) यहाँ जयरथ उन आचार्यों का उपहास करते हैं, जो त्रिपुरा सम्प्रदाय के आद्य आचार्य चर्यानन्दनाथ से अपना संबन्ध बताते हैं।
५. डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने "सारस्वती सुषमा" (व. ६ अं. ३-४) में प्रकाशित "अत्र ते कीर्तयिष्यामि वर्षं भारत भारतम्" (पृ. ३३९-३४३) शीर्षक निबन्ध में यह स्थापित किया है कि उड्डियान पीठ की स्थिति कश्मीर में है। इससे हम सहमत हैं।

कश्मीर में ही मानी जाती है। आजकल स्वात के नाम से प्रसिद्ध सुवास्तु नदी गन्धार (अफगानिस्तान) में बहती है। सुवास्तु नदी की घाटी पहले औदार्यनी के नाम से प्रसिद्ध थी। उसीका दूसरा नाम उड्डियान भी था। इसी क्षेत्र में सर्वप्रथम चर्यानन्दनाथ ने त्रिपुरा सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की होगी। यहीं से दीक्षा लेकर ईश्वरशिव कश्मीर आये होंगे। यह स्थान कश्मीर से लगा हुआ है, अतः शिवानन्द का यह कहना उचित ही है कि त्रिपुरा सम्प्रदाय का उद्भव कश्मीर में हुआ।

सम्प्रदाय, विद्याएँ एवं उपासना पद्धति

नित्याषोडशिकार्णव (पृ. ७-४९), योगिनीहृदयदीपिका (पृ. ६-१६), लुप्तागमसंग्रह (पृ. ११ एवं १४-१११) एवं शक्तिसंगमतन्त्र (पृ. १०-५०) के उपोद्घातों एवं उत्तरषट्क (पृ. २-६) तथा ज्ञानदीपविमर्शिनी (पृ. ५-१०) की प्रस्तावनाओं में हमने त्रिपुरा-तन्त्रों के साथ अन्य तन्त्र-ग्रन्थों का तथा सम्प्रदायों का विस्तार से विवरण दिया है, अतः यहाँ चुने हुए मत-मतान्तरों एवं ग्रन्थ-ग्रन्थकारों का ही परिचय संक्षेप में दिया जा रहा है। इस प्रसंग में शक्तिसंगमतन्त्र में वर्णित कुछ विषयों की सूचना के साथ नि. षो. की ६४ तन्त्रों की नामावली का विश्लेषण करते हुए त्रिपुरा-तन्त्रों के इतिहास को प्रस्तुत किया जा रहा है।

भैरव सम्प्रदाय

शक्तिसंगमतन्त्र (१.६.१५२-१५३) में वेदबाह्य शास्त्र के रूप में इसका परिचय दिया गया है। वहाँ कहा गया है कि किसी भी सम्प्रदाय में न आने वालों को कुलशास्त्र में प्रवृत्त कराने के कारण यह भैरव सम्प्रदाय वेदबाह्य माना जाता है। उन्मत्तभैरव और असितांगभैरव[1] आदि की नामावली प्रथम खण्ड (६.१६३-१६९) में दी गई है। विरूपाक्ष मत के अनुसार तेरह विद्याएँ और भैरव मत के अनुसार १६ विद्याएँ यहाँ वर्णित हैं।

कामराज विद्या

कामराजसन्तान और लोपामुद्रासन्तान के नाम से त्रिपुरा सम्प्रदाय के दो मुख्य विभाग हैं। कामराजसन्तान के प्रवर्तक क्लीमानन्द, अर्थात् रति के भर्ता कामदेव हैं। इन्होंने ही सर्वप्रथम लोक में कादिविद्या को प्रवृत्त किया। इसीलिये इस विद्या का नाम कामराज विद्या पड़ा। [2]कादिविद्या का अभिप्राय त्रिपुरा भगवती के उस मन्त्र से है, जिसका आरंभ ककार से होता है। दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ क्रम से यह विद्या

१. तृतीय खण्ड (११.२५३-२५४) में मन्थान, षट्चक्र, फट्कार, विभक्ष, वीरेश, श्रीमन्तेश्वर, हंसगर्भ और चण्डिकेश्वर नामक आठ भैरव सूचित हैं।

२. योगिनीहृदयदीपिका के उपोद्घात (पृ. २३) में इस विद्या का उद्धार किया गया है।

आज भी लोक में प्रवृत्त है। प्रपंचसार, सौन्दर्यलहरी, नित्याषोडशिकार्णव जैसे ग्रन्थों में इस विद्या का उद्धार और उपासनाविधि विस्तार से वर्णित है। ज्ञानार्णव, श्रीविद्यार्णव जैसे ग्रन्थों में इस विद्या के अनेक भेदों और उपभेदों का वर्णन मिलता है। भास्करराय इस विद्या की परम्परा के उज्ज्वल रत्न हैं। नित्याषोडशिकार्णव की टीका सेतुबन्ध, ललितासहस्रनामभाष्य, वरिवस्यारहस्य जैसे ग्रन्थों में इस विद्या के गरिमामय दर्शन का इन्होंने बड़ी ओजपूर्ण भाषा में विवेचन किया है।

लोपामुद्रा विद्या

लोपामुद्रासन्तान और कामराजसन्तान के नाम से त्रिपुरा सम्प्रदाय के दो मुख्य विभाग हैं। लोपामुद्रासन्तान की प्रवृत्ति अगस्त्य मुनि की पत्नी लोपामुद्रा से मानी जाती है। लोपामुद्रा ने ही सर्वप्रथम इस विद्या को लोक में प्रवृत्त किया था। इसलिये उन्हीं के नाम से यह विद्या प्रसिद्ध हुई। [२]हादिविद्या का अभिप्राय भगवती त्रिपुरसुन्दरी के उस मन्त्र से है, जिसका आरंभ हकार से होता है। दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ क्रम से यह विद्या आज भी लोक में प्रवृत्त है। प्रपंचसार और सौन्दर्यलहरी में पहले हादिविद्या का ही उद्धार किया गया है। योगिनीहृदय में इसी विद्या की व्याख्या की गई है। ऋजुविमर्शिनी, अर्थरत्नावली, ज्ञानदीपविमर्शिनी, सौभाग्यसुधोदय जैसे ग्रन्थों में इस विद्या की दिव्यौघ आदि त्रिविध गुरु-परम्परा सुरक्षित है। तदनुसार दिव्यौघ क्रम में चर्यानाथ, ओड्डुनाथ, षष्ठीनाथ और मित्रीशनाथ के नाम आते हैं, सिद्धौघ क्रम में लोपामुद्रा, अगस्त्य, कंकालतापस, धर्माचार्य, मुक्तकेशिनी और दीपकाचार्य हैं। इनमें धर्माचार्य लघुस्तव के तथा दीपकाचार्य त्रिपुरसुन्दरीदण्डक के रचयिता हैं। मानवौघ क्रम में जिष्णुदेव, मातृगुप्तदेव, तेजोदेव, मनोजदेव, कल्याणदेव, रत्नदेव और वासुदेव के नाम स्वीकृत हैं। ऋजुविमर्शिनीकार शिवानन्द वासुदेव के शिष्य थे। कामकलाविलास के कर्ता पुण्यानन्द और उनके शिष्य योगिनीहृदयदीपिका के रचयिता योगी अमृतानन्द भी इसी हादिविद्या की परम्परा के प्रमुख थे। इस विषय की अधिक जानकारी के लिये त्रिपुरा संप्रदाय के प्राचीन आचार्य विषयक प्रकरण (पृ. ६०१) देखिये।

कादि-हादि-कहादि मत

शक्तिसंगमतन्त्र (१.१.९-१०; २.५८.७८-७९) में बताया गया है कि तन्त्रराजतन्त्र में आठ खण्ड हैं — चार खण्ड पूर्वार्ध में और चार खण्ड उत्तरार्ध में। पूर्वार्ध में कादिमत का और उत्तरार्ध में हादिमत का प्रतिपादन किया गया है। काली के मन्त्र का प्रथम अक्षर ककार है और सुन्दरी के मन्त्र का पहला वर्ण हकार है। अतः काली का

२. योगिनीहृदयदीपिका के उपोद्घात (पृ. २३) में इस विद्या का उद्धार किया गया है।

सम्प्रदाय कादिमत के नाम से और सुन्दरी का सम्प्रदाय हादिमत के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। ककार ब्रह्मरूप है और हकार शिवस्वरूप। वहीं अन्यत्र (१.२.९८-९९) बताया गया है कि उक्त उभय मतों का प्रतिपादक होने से ही तन्त्रराजतन्त्र को विराण्मत के नाम से भी जाना जाता है। उक्त दो मतों के अतिरिक्त शक्तिसंगमतन्त्र (२.६.३५) में कहादि मत का उल्लेख कर उसकी भी व्याख्या की गई है कि इस मत में तारिणी (तारा) विद्या की आराधना की जाती है। वहीं इसको उत्तराम्नाय विद्या भी कहा गया है। इस विषय की विशेष जानकारी उक्त ग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड के संस्कृत उपोद्‌घात (पृ. २८-३०) से प्राप्त की जा सकती है।

काश्मीर सम्प्रदाय

शक्तिसंगमतन्त्र (३.७.१५-७३ ; ४.२. १६-३२) में पूरे भारतवर्ष को कादि और हादि के भेद से ५६ देशों में बाँटा गया है और बताया गया है कि मरुदेश से नेपाल तक काश्मीर सम्प्रदाय को मान्यता प्राप्त है। हादिमत के अनुसार काश्मीर में त्रिपुरा की और कादिमत कें अनुसार तारिणी की उपासना की जाती है। इस सम्प्रदाय में शक्तिपात के अनुसार ऊर्ध्वाम्नाय-दीक्षा प्राप्त होती है। प्रथमतः यह ऋक्‌काश्मीर, यजुःकाश्मीर, सामकाश्मीर और अथर्वकाश्मीर के रूप में चतुर्धा विभक्त है। शैवकाश्मीर, शाक्तकाश्मीर और शिवशक्तिकाश्मीर को शुद्ध, उग्र और गुप्त भेदों में विभक्त करने पर इसके नौ भेद हो जाते हैं।

केरल सम्प्रदाय

शक्तिसंगमतन्त्र के अनुसार अंग से मालव पर्यन्त केरल सम्प्रदाय को मान्यता प्राप्त है। हादिमत के अनुसार केरल सम्प्रदाय में कालिका की और कादिमत के अनुसार त्रिपुरा की उपासना की जाती है। यह उपासना षट्‌शाम्भव पद्धति से होती है और इसमें साधक सर्वोत्कृष्ट मेधादीक्षा भी प्राप्त कर सकता है। प्रथमतः यह सम्प्रदाय ऋक्‌केरली, यजुःकेरली, सामकेरली और अथर्वकेरली नाम से चतुर्धा विभक्त होता है। इसके पुनः शैवकेरल, शक्तिकेरल और शिवशक्तिकेरल विभाग होते हैं और इन तीनों को शुद्ध, उग्र और गुप्त भेदों में विभक्त करने पर इनके नौ भेद हो जाते हैं। द्रविड़ सम्प्रदाय का भी केरल में ही अन्तर्भाव होता है। भवसिद्ध, हरसिद्ध, कलहट्ट, गोमुख, विज्ञानी, पूर्वकेरल, उत्तरकेरल, दिव्य, सत्य, चैतन्य, चिद्‌घन, सर्वज्ञ, ईश, माहेश्वर, विश्वरूप, ज्ञानकेरल और व्यंकटेशाख्य केरल आदि भी केरल सम्प्रदाय के ही अंग हैं। इस सम्प्रदाय के दिव्य, कौल और वाम भेद भी इसी ग्रन्थ में प्रदर्शित हैं, किन्तु वहीं यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि केरल सम्प्रदाय में दक्षिणाचार की प्रधानता है और यह वेद-मार्ग का

अनुवर्तन करता है। इसी लिये इसको शुद्ध-मार्ग भी कहा जाता है। **सम्प्रदायों के भेद का मुख्य कारण पूजाविधि और पात्रासादनविधि का अन्तर है।**

गौड़ सम्प्रदाय

शक्तिसंगमतन्त्र के अनुसार सिलहट्ट से सिन्धु देश तक गौड़ सम्प्रदाय को मान्यता प्राप्त है। हादिमत के अनुसार गौड़ सम्प्रदाय में तारा की और कादिमत के अनुसार काली की उपासना की जाती है। इस सम्प्रदाय में पूर्णाभिषेक की प्रधानता है। प्रथमतः यह ऋग्गौड़, यजुःगौड़, सामगौड़ और अथर्वगौड़ के भेद से चतुर्धा विभक्त है। शिवगौड़, शक्तिगौड़ और शिवशक्तिगौड़ भेदों को शुद्ध, उग्र और गुप्त भेदों में विभक्त करने पर इनके नौ भेद हो जाते हैं। गौड़ सम्प्रदाय के वाम और दक्षिण भेद भी यहाँ वर्णित हैं, किन्तु प्रधानतः गौड़ सम्प्रदाय वाममार्गी ही माना जाता है। इस सम्प्रदाय का आविर्भाव निगम, अर्थात् तन्त्रशास्त्र से माना गया है। शक्तिसंगमतन्त्र के उपोद्घात (पृ. ३०-५०) में नाना प्रकार के सम्प्रदायों और मत-मतान्तरों का परिचय दिया गया है। समयिमत और कौलमत की चर्चा वहीं (पृ. ४-१३) विस्तार से की जा चुकी है।

चतुष्षष्टि (६४) तन्त्र

चौसठ तन्त्रों की विविध नामावलियाँ तन्त्रालोक की जयरथकृत विवेकव्याख्या में स्मृत श्रीकण्ठीसंहिता में, नि. षो. और कुलचूड़ामणि तन्त्र में, सर्वोल्लासतन्त्र में तथा महासिद्धसारतन्त्र में परिगणित विष्णुक्रान्ता, रथक्रान्ता और अश्वक्रान्ता विभागों में मिलती हैं। इनमें श्रीकण्ठीसंहिता में अभेद-प्रधान चौसठ भैरवागमों का परिगणन किया गया है। दूसरे प्रकार की नामावली नि. षो. और कुलचूड़ामणि की है। इसमें प्रमुख तान्त्रिक शाखाओं में स्वीकृत प्रसिद्ध तन्त्रों का समावेश है। सर्वोल्लास आदि तन्त्रों में तीसरे प्रकार की नामावली है। इसमें कुछ मानव-कृतियों के भी नाम समाविष्ट हैं, अतः कालक्रम की दृष्टि से यह सूची नवीन है। इन सब नामावलियों को अक्षर-क्रम से संयोजित कर लुप्ता. उपो. (पृ. ९४-१११) में तालिका के रूप में प्रस्तुत कर दिया गया है। यहाँ असावधानी से सर्वोल्लास की सूची के उड्डीश, कुक्कुटाख्या और कुब्जिका नाम श्रीकण्ठी की पाँचवी सूची में अंकित हो गये हैं। इनको छठी सूची में पढ़ना चाहिये।

आठ भैरवों में से प्रत्येक ने आठ-आठ आगमों का उपदेश किया। इस प्रकार कुल चौसठ भैरवागम हैं। तन्त्रालोक की विवेकव्याख्या में स्मृत श्रीकण्ठीसंहिता के उद्धरण से यंह विषय स्पष्ट होता है। तदनुसार स्वच्छन्द आदि आठ भैरव-तन्त्रों का उपदेश बहुरूप ने किया, आठ मत-तन्त्रों का चण्ड ने, आठ मंगला-तन्त्रों का क्रोधेश ने, चक्राष्टक का असितांग ने, अन्धक आदि बहुरूपाष्टक का रुरु ने, वागीशाष्टक का

कपालीश ने और शिखाष्टक का उन्मत्तभैरव ने उपदेश किया। यामलाष्टक के प्रवक्ता भैरव का नाम नहीं मिलता। इसी तरह से भैरव, यामल और मत-तन्त्रों में आठ की जगह सात ही नाम मिलते हैं। श्रीकण्ठीसंहिता के आधार पर ही भैरव-तन्त्रों की नामावली दो-तीन ग्रन्थों में दी गई है। इनमें से नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित हिन्दी विश्वकोश के ५वें खण्ड में **तन्त्र-साहित्य** शब्द पर दी गई नामावली ही मूल ग्रन्थ का अनुसरण करती है।

नि. षो. की नामावली में और भैरवाष्टक, बहुरूपाष्टक और यामलाष्टक की सूचना है, किन्तु वहाँ इनके नाम नहीं गिनाये गये हैं। मताष्टक के नाम अवश्य मिलते हैं, किन्तु ये श्रीकण्ठी की नामावली से भिन्न हैं। [१]नि. षो. में परिगणित ६४ तन्त्रों की नामावली के विषय में टीकाकारों में परस्पर मतभेद है। इनमें से वामकेश्वरीमतविवरण के एवं लक्ष्मीधर के पाठ में ६४ संख्या पूरी मिलती है। नामावली में अवश्य ही भिन्नता है। भास्करराय के सेतुबन्ध और कुलचूड़ामणि के पाठ में यह संभव नहीं हो पाती। इसके लिये भास्करराय ने उस प्रकरण की इस प्रकार व्याख्या की है।

यहाँ ऋजुविमर्शिनी में महामायातन्त्र और शम्बरतन्त्र को अलग-अलग माना है। [२]लक्ष्मण के मत से महामायाशम्बर नामक एक ही तन्त्र है। अर्थरत्नावलीकार ने दोनों का परिगणन नहीं किया। "महालक्ष्मीमतं देव" इत्यादि दो श्लोकों को कुछ आचार्यों ने छोड़ दिया और अन्यों ने स्वीकार किया है। किन्तु इनमें से किसीके भी मत में ६४ संख्या पूरी नहीं हो पाती। इसके लिये यह आवश्यक है कि प्रथम श्लोक के पूर्वार्ध में चार तन्त्रों के नाम माने जाँय। आगे तत्त्वशम्बर और भैरवाष्टक को भी एक-एक मानने से इनकी संख्या छः होगी। यहाँ कुछ आचार्यों का कहना है कि असितांग, रुरु, चण्ड, क्रोध, उन्मत्तभैरव, कपाली, भीषण और संहार नाम के आठ भैरवों ने आठ तन्त्रों का उपदेश किया। लक्ष्मीधर, गौरीकान्त आदि के मत से सिद्धिभैरव, बटुक, कंकाल, योगिनी, महा, शक्ति, मायिक और कंकालाग्नि नामक आठ भैरवों के प्रतिपादक आठ तन्त्र हैं। इनके मत को मानने पर एक तो ६४ संख्या पूरी नहीं होने पावेगी, दूसरे यामल शब्द की तरह भैरव शब्द का प्रयोग तन्त्र के अर्थ में कहीं देखने को नहीं मिलता। अतः जैसे एक ही तन्त्र में षोडश नित्याओं का प्रतिपादन मिलता है, उसी तरह आठ भैरवों का निरूपक तन्त्र भी एक ही है, यही मानना उचित है (नि. षो. से., पृ. २२)। इस विषय

१. चौसठ तन्त्रों का परिगणन करते समय हमने प्रधान रूप से वामकेश्वरीमत के पाठ को ही स्वीकार किया है।

२. लक्ष्मण शब्द से सेतुबन्धकार भास्करराय को लक्ष्मीधर अपेक्षित हैं।

पर आगे विचार किया जा रहा है। सामूहिक समीक्षा के आधार पर ६४ तन्त्रों की नामावली इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है—

१-५. लक्ष्मीधर के मत में मायामहाशम्बर, योगिनीजालशम्बर और तत्त्वशम्बर ये तीन तन्त्र हैं। गौरीकान्त का भी यही कहना है। इनके अतिरिक्त अन्य सभी व्याख्याकार महामाया, शम्बर, योगिनी, जालशम्बर और तत्त्वशम्बर के रूप में यहाँ पाँच तन्त्रों की गणना करते हैं। अर्थरत्नावली में इस अंश की व्याख्या नहीं मिलती बौद्ध तन्त्रों का भोट भाषा में अनुवाद हुआ है। वहाँ महामाया, जालशम्बर, मायाजाल आदि तन्त्रों के नाम उपलब्ध हैं। नगेन्द्रनाथ वसु के विश्वकोश (बंगला, हिन्दी) में शम्बर, डाकिनीजाल, योगिनी, योगिनीजाल, मायाजाल आदि बौद्ध तन्त्रों की नामावली दी गई है। म. म. हरप्रसाद शास्त्री के द्वारा तैयार की गई नेपाल की ग्रन्थसूची में डाकिनीजालशम्बर और योगिनीजाल की मातृकाएँ सूचित हैं। इन सभी तन्त्रों का उपदेश भगवान् बुद्ध ने अथवा उनके अवतारस्वरूप बोधिसत्त्व आदि ने किया है। नि. षो. (१. २१-२२) में इनको शिवोपदिष्ट माना है। इस विषय में अभी कुछ कह पाना कठिन है।

६-१३. भैरवाष्टक के विषय में लक्ष्मीधर और भास्करराय के मतभेद की चर्चा अभी ऊपर की जा चुकी है। लगता है इन दोनों आचार्यों ने श्रीकण्ठीसंहिता में निर्दिष्ट ६४ भैरवागमों की नामावली नहीं देखी। अर्थरत्नावलीकार ने भैरवाष्टक को असितांग आदि भैरवों के पूजाशास्त्र कहा है। **'पूजाशास्त्राणि'** यह वचन इनकी अनेकता को सूचित करता है। सेतुबन्ध के श्लोक की इन्होंने व्याख्या नहीं की है। इसी तरह का श्लोक उत्तरषट्क (२-११) में उपलब्ध है। असितांग आदि आठ भैरवों के नाम प्रपंचसार (९-१९), त्रिपुरासारसमुच्चय (८.३३), ईशानशिवगुरुदेवपद्धति (मन्त्र. १५.४३ ; १७.७) आदि ग्रन्थों में मिलते हैं। श्रीकण्ठीसंहिता में स्वच्छन्द, चण्ड, क्रोध, उन्मत्त, असितांग, महोच्छुष्म और कपालीश नामक सात ही भैरवों के नाम हैं। आठवाँ नाम वहाँ नहीं मिलता। ब्रह्मयामल में स्वच्छन्द, क्रोध, उन्मत्त, उग्र, कपाली, झंकार, शेखर और विजय नामक भैरव और स्वच्छन्दतन्त्र में कपालीश, शिखिवाहन, क्रोधराज, विकराल, मन्मथ, मेघनादेश्वर, सोमराज और विद्याराज नामक आठ भैरव परिगणित हैं। इस तरह भैरवों की नामावली में अनेक मत हैं। मुद्रित अथवा उद्धृत निम्न भैरवतन्त्र आज भी उपलब्ध हैं— स्वच्छन्दतन्त्र मुद्रित हो चुका है। स्वच्छन्द, चण्ड और त्रिशिरोभैरव का उल्लेख नेत्रतन्त्रोद्योत (भा. १, पृ. २२५) में है। त्रिशिरोभैरव तन्त्रालोक और उसकी विवेकटीका में भी स्मृत है। उन्मत्तभैरव का उल्लेख ऋजुविमर्शिनी की मातृका में है। उच्छुष्मभैरव को क्षेमराज ने शिवसूत्रविमर्शिनी और स्वच्छन्दोद्योत आदि में उद्धृत किया है। बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थ अद्वयवज्रसंग्रह (पृ. २८) में भी यह स्मृत है।

मन्थान-भैरव की ५८१९ संख्या की मातृका कलकत्ता स्थित एशियाटिक सोसाइटी में मिलती है। इस तरह से अनेक भैरव तन्त्रों की उपलब्धि होने से प्रस्तुत प्रकरण में आठ भैरव-तन्त्रों की गणना ही उचित होगी, भैरवाष्टक नाम के किसी एक तन्त्र की नहीं। लुप्ता. उपो. (पृ. १०३ टि. १), शक्ति. उपो. (पृ. ४५ एवं टि. ८५) और गुरुगीता (पृ. ४० एवं टि. १) भी देखिये।

१४-२१. शिवानन्द ने बहुरूपाष्टक पद से आठ शक्ति-तन्त्रों का ग्रहण किया है। लक्ष्मीधर और गौरीकान्त ब्राह्मी आदि सात मातृकाओं और शिवदूती के प्रतिपादक आठ तन्त्रों का ग्रहण करते हैं। श्रीकण्ठीसंहिता में अन्धक, रुरुभेद, अज, मूल, वर्णभण्ठ, विडंग, ज्वालिन और मातृरोदन— ये नाम बहुरूपाष्टक के दिये गये हैं। विद्यानन्द का कहना है कि बहुरूपाष्टक शास्त्र का ही संक्षिप्त स्वरूप नि. षो. के चार सौ श्लोकों में किया गया है। कादिमत पर मनोरमा टीका के लेखक सुभगानन्दनाथ नौ नित्या-तन्त्रों में एक तन्त्र के रूप में इसका उल्लेख करते हैं। भास्करराय ने सौभाग्यभास्कर (पृ. ४०, १९०) में बहुरूपाष्टक (बहुरूपाष्टकप्रस्तार) को उद्धृत किया है। इस तरह से विद्यानन्द, सुभगानन्द और भास्करराय बहुरूपाष्टक को एक ही तन्त्र मानते हैं। ऐसा क्यों है? अभी कुछ कहा नहीं जा सकता।

२२. भास्करराय ने ज्ञान पद से ज्ञानार्णव का ग्रहण किया है (से., पृ. २४), किन्तु कादिमत-मनोरमा में सुभगानन्द नौ तन्त्रों का परिगणन करते समय इसका उल्लेख नहीं करते। नौ नित्या-तन्त्रों में उन्होंने सुन्दरीहृदय, नित्याषोडशिकार्णव, चन्द्रज्ञान, मातृकातन्त्र, संमोहनतन्त्र, वामकेश्वर, बहुरूपाष्टक, प्रस्तारचिन्तामणि और मेरुप्रस्तार के नाम दिये हैं। स्पष्ट है कि यह तन्त्र नि. षो., कादिमत आदि की अपेक्षा परवर्ती है, अतः इसका ६४ तन्त्रों में समावेश नहीं माना जा सकता। नि. षो., योगिनीहृदय आदि में डाकिनी आदि छः योगिनियाँ वर्णित हैं और प्राचीन टीकाकार इससे सहमत है, किन्तु ज्ञानार्णव (१४. ९६-१०३) में इनकी संख्या सात है। सौन्दर्यलहरी आदि ग्रन्थों में श्रीविद्या के हादि और कादि विभाग का ही उल्लेख है, किन्तु ज्ञानार्णव में श्रीविद्या के बारह प्रकार बताये गये हैं। इससे भी ज्ञानार्णव की अर्वाचीनता ही सिद्ध होगी। इस ज्ञानार्णव तन्त्र के आधार पर ही भास्करराय नि. षो., योगिनीहृदय आदि ग्रन्थों की अन्यथा व्याख्या कर प्राचीन [1]आचार्यों के व्याख्यान का खण्डन करते हैं। इसकी संगति कैसे बैठेगी? राजेन्द्रलाल मित्र की सूची में ज्ञानतन्त्र का नाम मिलता है। महाज्ञानार्णव योगिनीहृदय (२.७७) में स्मृत है। ज्ञानमहार्णव का भोट अनुवाद मिलता है। ये सभी किसी एक ही तन्त्र के नाम हैं या भिन्न यह कह पाना अभी कठिन है।

---

१. नि. षो. के व्याख्याकार शिवानन्द और विद्यानन्द के तथा योगिनीहृदय के व्याख्याकार अमृतानन्द के व्याख्यानों के खण्डन की संगति-असंगति के विषय में नि. षो. की हमारी टिप्पणियाँ देखिये।

२३-३० अर्थरत्नावली (पृ. ४३) में ब्रह्मयामल, विष्णुयामल, रुद्रयामल, जयद्रथयामल, स्कन्दयामल, उमायामल, लक्ष्मीयामल और गणेशयामल नामक [1]आठ यामल परिगणित हैं। श्रीकण्ठीसंहिता में ब्रह्मयामल, विष्णुयामल, स्वच्छन्द, रुरु, आथर्वण, रुद्र और वेताल नाम के सात ही यामल गिनाये गये हैं। ब्रह्मयामल में इनके नाम रुद्रयामल, स्कन्द, ब्रह्म, विष्णु, यम, वायु, कुबेर और इन्द्र दिये गये हैं। इनमें से अनेक यामल मुद्रित हो चुके हैं या मातृका के रूप में उपलब्ध हैं। जैसे कि रुद्रयामल के अनेक संस्करण हो चुके हैं। ब्रह्मयामल और जयद्रथयामल की मातृकाएँ उपलब्ध हैं। स्पन्दप्रदीपिका में उत्पल वैष्णव ने विष्णुयामल को और तन्त्रालोक में अभिनवगुप्त ने स्कन्दयामल को याद किया है। रघुनन्दन और प्राणतोषिणीकार भी इन दोनों को उद्धृत करते हैं। विष्णुयामल की मातृका भी उपलब्ध हैं। गणेशयामल और ग्रहयामल की मातृकाएँ आफ्रेख्ट बृहत्सूची में विवृत हैं। इनके अतिरिक्त देवीयामल, वीरयामल, संकर्षणीयामल क्रमशः तन्त्रालोक एवं विवेक में एवं स्वच्छन्दोद्योत में, विज्ञानभैरव विवरण में और तन्त्रालोकविवेक में उद्धृत मिलते हैं। शक्तियामल और कृष्णयामल की मातृका सरस्वती भवन पुस्तकालय, वाराणसी में उपलब्ध हैं। आफ्रेख्ट बृहत्सूची में इनका उल्लेख है। इनमें से कृष्णयामल तो अब प्रकाशित भी हो चुका है। भैरवयामल लक्ष्मीधर की सौन्दर्यलहरी की टीका में, कामकलाविलास की टीका चिद्वल्ली में और विज्ञानभैरव की टीका [2]विज्ञानेन्दुकौमुदी में भी उद्धृत है। कृष्णयामल के सम्पादक डॉ. शीतलाप्रसाद उपाध्याय ने इस ग्रन्थ के संस्कृत उपोद्घात (पृ. ७-१९) में कुल ७० यामल-ग्रन्थों का विवरण दिया है।

३१. चन्द्रज्ञान का नाम अठारह रुद्रागमों में मिलता है। शिवसूत्रविमर्शिनी, महार्थमंजरीपरिमल आदि में यह स्मृत है। इसकी [3]मातृका भी उपलब्ध है। सुभगानन्दनाथ[4] नौ नित्या-तन्त्रों में इसको गिनते हैं। लक्ष्मीधर (पृ. ९९) चन्द्रज्ञानविद्या को भैरवयामल का भाग मानते हैं। वे यह भी कहते हैं कि चन्द्रज्ञानविद्या में षोडश नित्याओं का प्रतिपादन किया गया है। यह कौलमत का अनुसरण करती है, अतः यह हेय है। उपादेय चन्द्रज्ञानविद्या चौसठ तन्त्रों में समाविष्ट नहीं है। मातृका की उपलब्धि के बाद ही इस विषय में कुछ कहा जा सकता है, तथापि चन्द्रज्ञानविद्या से चन्द्रज्ञानागम

---

१. सेतुबन्ध में आठ यामलों के क्रम में थोड़ा अन्तर है, नाम वे ही हैं। कुलचूडामणि में भ्रमवश इसका विपरीत अर्थ हो गया है और उसके स्थान पर ग्रहयामल का समावेश हो गया है।

२. "ब्रह्मविष्णुरुद्रभैरवाख्ययामलेषु" (पृ. ३)।

३. रौरवागम का प्रथम भाग (पृ. २११) देखिये। श्रीविद्या के प्रतिपादक चन्द्रज्ञानागम की दो मातृकाएँ (५६२४-२५ सं.) मद्रास राजकीय ग्रन्थालय में हैं।

४. कादिमत-मनोरमा (१.२) देखिये।

को भिन्न ही होना चाहिये। उपादेय चन्द्रज्ञानविद्या से लक्ष्मीधर को चन्द्रकलाविद्याष्टक अभिप्रेत है। उनका यह कहना है कि चन्द्रकलाविद्याष्टक श्रीविद्या के प्रतिपादक आठ तन्त्र हैं। चन्द्रकला, ज्योत्स्नावती, (कलानिधि)[१], कुलार्णव, कुलेश्वरी, भुवनेश्वरी, बार्हस्पत्य और दूर्वासमत ये उनके नाम है। मद्रास संस्करण में सात ही नाम हैं। आठवाँ नाम नहीं मिलता। ये मिश्र-तन्त्र हैं, क्योंकि कुल और समय दोनों ही मार्गों का यहाँ प्रतिपादन किया गया है। लक्ष्मीधर के मत में प्रस्तुत ६४ तन्त्र [२]कौलतन्त्र हैं। समय मार्ग के प्रतिपादक पाँच शुभागमों का ही वैदिकों को अनुसरण करना चाहिये। लक्ष्मीधर के इस मत का अवलोकन वहीं (पृ. १३७-१४१) करना चाहिये। कुलचूडामणि में तन्त्रज्ञान पाठ मिलता है।

३२. वासुकि के स्थान पर लक्ष्मीधर मालिनी नाम देते हैं। यह मालिनीविद्या समुद्रयात्रा में सहायक है। इस विवरण से स्पष्ट है कि लक्ष्मीधर को यहाँ मालिनी-विजयतन्त्र अभिप्रेत नहीं है। वासुकितन्त्र के विषय में अभी तक कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका है।

३३. महासंमोहन। इस नाम पर सभी टीकाकार सहमत हैं। श्रीकण्ठीसंहिता के शिखाष्टक विभाग में संमोह नाम मिलता है और विष्णुक्रान्ता विभाग में संमोहन। डॉ॰ प्रबोधचन्द्र बागची के द्वारा स्मृत कम्बुज शिलालेख में शिरश्छेद, विनाशिख, संमोह और नयोत्तर नाम के चार तन्त्रों का उल्लेख मिलता है। शिखाष्टक की नामावली के शिरश्छेद, वीणाशिख और संमोह नामक तीन तन्त्र यहाँ स्मृत हैं, ऐसा कविराज जी का विचार है। महासंमोहन इससे भिन्न ही तन्त्र होना चाहिये। कुलचूडामणि में तन्त्रज्ञान, वासुकि और महासंमोहन तन्त्र का उल्लेख है, किन्तु उस ग्रन्थ की भूमिका में इनका परिगणन नहीं किया गया है।

३४. महोच्छुष्म। उच्छुष्मभैरव अथवा उच्छुष्मतन्त्र पहले भैरवाष्टक विभाग में चर्चित है। यह उससे भिन्न है। श्रीकण्ठीसंहिता में भैरवाष्टक विभाग में इसकी गणना है। कुलचूडामणि में महासूक्ष्म पाठ है और वहाँ की भूमिका में महोच्छुष्म नाम दिया

---

१. मैसूर संस्करण में और सरस्वतीभवन स्थित १९४३१ संख्या की मातृका में यह नाम उपलब्ध होता है। इसको लेकर तन्त्रों की संख्या आठ हो जाती है।

२. लक्ष्मीधर का कहना है कि वैदिक मार्ग से दूर होने से और आ विद्वत्पामर सभी को ठगने का यहाँ उपक्रम होने से ये चौसठ तन्त्र अप्रामाणिक हैं (पृ. १३७-१३८)। लक्ष्मीधर ऐसा शुभागमपंचक के प्रति पक्षपात के कारण कहते हैं। उनका यह कथन नि.षो., सौ.ल. जैसे ग्रन्थों के अभिप्राय के विपरीत पड़ेगा। फिर यहाँ केवल कौल तन्त्रों के ही नहीं, सभी प्रकार के प्राचीन तन्त्रों के नाम मिलते हैं। जैसा कि यहाँ (पृ. २३.३२) बताया गया है।

गया है। सेतुबन्ध में भी यही पाठ मिलता है। इस ग्रन्थ की भूमिका के लेखक कुलाचूडामणि के पाठ की अवहेलना कर सर्वत्र सेतुबन्ध के पाठ को ही महत्त्व देते हैं। यहाँ भास्करराय का कहना है कि **महादेव** यह संबोधन है। अन्य व्याख्याकारों का मानना है कि महोच्छुष्ममहादेव यह आठ अक्षर का नाम है। गौरीकान्त का कहना है कि यहाँ दो भिन्न नाम हैं। "वामजुष्टं महादेवम्" यह पाठ मानकर अन्य व्याख्याकार वामजुष्ट का अर्थ वामकेश्वर-चतु:शतीशास्त्र करते हैं (पृ. २३)। यहाँ केचित् (अन्य) पद से प्रदर्शित मत नि. षो. अथवा सौन्दर्यलहरी की किसी भी टीका में नहीं मिलता। लक्ष्मीधर का यहाँ कहना है कि वामजुष्ट और महादेव तन्त्र वामाचार के प्रवर्तक होने से हेय हैं। गौरीकान्त वामजुष्ट का अर्थ वामकेश्वरतन्त्र करते हैं। इसको चतु:शती भी कहते हैं तथा महादेवतन्त्र बटुक आदि की सिद्धि की विधि का और कुलाचार का प्रदर्शक है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि [1]गौरीकान्त सौ. ल. के व्याख्याता हैं, नि. षो. के नहीं। लक्ष्मीधर और गौरीकान्त को छोड़कर बाकी सभी टीकाकार **महादेव** को संबुद्धि पद मानते हैं। यह भी जान लेना जरूरी है कि गौरीकान्त सर्वत्र लक्ष्मीधर का अनुसरण करते हैं और ये दोनों सौ. ल. के टीकाकार हैं।

३५-३६. वातुल और वातुलोत्तर के नाम शिवागमों तथा उनके उपागमों में उपलब्ध हैं। इनमें वातुल नाम का उल्लेख अनेक स्थलों पर मिलता है और वातुलोत्तर शतरत्नसंग्रह में उद्धृत है। "बाथुलं च नयोत्तरम्" यह वाक. ख. का पाठ है। वातुल या वाथुल की मातृका भी उपलब्ध है। नयोत्तर का उल्लेख कम्बुज शिलालेख में स्मृत चार तन्त्रों में हुआ है। ऐसी स्थिति में नि:श्वाससंहिता का यह एक भाग है, ऐसा डॉ. [2]बागची का कथन उचित नहीं माना जा सकता। ६४ तन्त्रों में इसकी स्वतन्त्र गणना की गई है, अत: यह स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इसको स्वतन्त्र ग्रन्थ मानने पर ही ब्रह्मयामल, जयद्रथयामल आदि में नयोत्तर की वामस्रोतस्कता तथा निश्वासतत्त्वसंहिता की मध्य(ऊर्ध्व)स्रोतस् से उद्भव की संगति बैठती है। कुलचूडामणि में वाहन और वाहनोत्तर पाठ हैं।

३७. हृद्भेदतन्त्र का उल्लेख अब तक कहीं नहीं मिला है।

३८. मातृभेद। मातृकाभेदतन्त्र उपलब्ध है। इसकी भिन्नता अथवा अभिन्नता पर अभी कुछ कहा नहीं जा सकता। लक्ष्मीधर, गौरीकान्त और भास्करराय के मत से यहाँ **तन्त्रभेद** पाठ है।

---

१. कुछ विद्वानों ने गौरीकान्त को नि.षो. का व्याख्याता मान लिया है।
२. "स्टडीज इन दी तन्त्राज" (पृ. ४-६) देखिये।

३९. गुह्यतन्त्र। क्षेमराज के द्वारा नेत्रतन्त्र की उद्योत टीका में उद्धृत गुप्ततन्त्र से अभिन्न हो सकता है।

४०. कामिक। दशविध शैवागमों में परिगणित यह ग्रन्थ ग्रन्थाक्षर और नागराक्षर में भी मुद्रित हो चुका है।

४१. कलावाद। वाक. ख. में कालपाद पाठ है। शिवदृष्टि (३.११, ६३) तथा मालिनीविजयवार्त्तिक (पृ.२०) में यह उद्धृत है। शिवदृष्टि की वृत्ति में उत्पलदेव ने इसे कालोत्तर कहा है (पृ. १०२, १२२)।

४२. कलासार। वाक. ख. का पाठ कालसार है। वातुल के उपागमों में कालज्ञान नाम मिलता है।

४३. कुब्जिकागम। अर्थरत्नावली में श्रीमत के नाम से यह उद्धृत है। इसकी मातृकाएँ एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता और नेपाल के वीर पुस्तकालय में भी उपलब्ध हैं। मतशास्त्र के रूप में इसका परिचय नि. षो. के उपोद्घात (पृ. ४२) में दिया गया है। यह ग्रन्थ अब प्रकाशित हो चुका है। लक्ष्मीधर और गौरीकान्त ने कुण्डिकामत नाम दिया है।

४४. मतोत्तर। अर्थरत्नावली में यह अनेक स्थलों पर उद्धृत है। वाक. ख. में नयोत्तर पाठ है। इसका परिचय ऊपर ३६. वातुलोत्तर के प्रसंग में दिया जा चुका है। सेतुबन्ध का पाठ तन्त्रोत्तर और कुलचूडामणि का पाठ मायोत्तर है। इसकी मातृका का विवरण नेपाल सूची में मिलता है। उससे ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से प्रकाशित गोरक्षसंहिता से अभिन्न है।

४५. वीणाख्य। वाक. ख. का पाठ वीणाद्य है। जयरथ ने वीणाद्य पद से वीणाशिखोत्तर का ग्रहण किया है। श्रीकण्ठी की शिखाष्टक सूची में इसका नाम है और कम्बुज [1]शिखालेख में विनाशिख नाम से उद्धृत है। शिवागम के द्वितीय योगज आगम के उपागमों में वीणाशिखोत्तर नाम मिलता है। वीणाशिख तन्त्र अब प्रकाशित हो चुका है।

४६-४७. त्रोतल एवं त्रोतलोत्तर। वाक. ख. का पाठ "त्रोतुलं त्रोतुलोत्तरम्" है। क्षेमराज ने तोतुलतन्त्र को नेत्रतन्त्र और स्वच्छन्दतन्त्र की अपनी उद्योत टीका में उद्धृत किया है।

---

१. कम्बुज शिलालेख का परिचय पूर्वप्रकरण (पृ. ५२७-५२९) में देखिये।

४८. पंचामृत। तन्त्रालोक की विवेकव्याख्या (भा. ९, आ. १५, पृ. १४०) में जयरथ ने इसको उद्धृत किया है। आफ्रेख्ट सूची से ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ अहल्याकामधेनु में भी स्मृत है।

४९. रूपभेद। इसके विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं होता।

५०. भूतोड्डामर। ऋ. कु. गौ. के अनुसार भूतडामर पाठ है। रथक्रान्ता और विष्णुक्रान्ता विभाग में भी यह नाम उपलब्ध है। शिवानन्द (पृ. ४४) भूततन्त्र और डामरतन्त्र के रूप में दो तन्त्रों का परिगणन करते हैं, किन्तु ख. मातृका में भूतोड्डामर तन्त्र के रूप में एक ही तन्त्र स्वीकृत है। सटीक भूतडामर की मातृका का विवरण आफ्रेख्ट सूची में है। उससें ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ के अलग-अलग दो उद्भव हुए हैं। भोट भाषा में अनूदित इस नाम का तन्त्र भी उपलब्ध होता है।

५१. कुलसार। शिवसूत्रविमर्शिनी (पृ. १३५-१३६) में यह स्मृत है।

५२. कुलोड्डीश। राजेन्द्रलाल मित्र की सूची में इसकी मातृका का विवरण मिलता है। उड्डीशतन्त्र से यह भिन्न है या अभिन्न, इसकी परीक्षा अपेक्षित है।

५३. कुलचूडामणि। शिवसूत्रविमर्शिनी (पृ. ५८) में यह स्मृत है। यहाँ का श्लोक मुद्रित कुलचूडामणि में उपलब्ध नहीं होता। यहाँ "तन्त्रं विश्वात्मकम्" पाठ है।

५४. सर्वज्ञानोत्तर। तन्त्रालोक एवं विवेकव्याख्या, शिवसूत्रविमर्शिनी, मृगेन्द्रवृत्ति, शतरत्नसंग्रह आदि अनेक ग्रन्थों में इसके उद्धरण मिलते हैं। ज्ञानोत्तर और सर्वज्ञानोत्तर को जयरथ (भा. ६, आ. ९, पृ. ४५) अभिन्न मानते हैं। लक्ष्मीधर ने सर्वज्ञानोत्तर आदि पाँच तन्त्रों को कापालिक और दिगम्बर मत से संबद्ध माना है और गौरीकान्त ने उसीका अनुसरण किया है। भास्करराय ने उनका खण्डन किया है। सर्वज्ञानोत्तर की मातृका नेपाल की सूची में उपलब्ध है। इस पर अघोरशिवाचार्य की वृत्ति की भी उपलब्धि की सूचना आफ्रेख्ट बृहत्सूची से मिलती है। कु. का पाठ सर्वज्ञानात्मक है। ऐसी भी सूचना मिलती है कि सन् १९२३ में देवकोट्टै नगर से इसका प्रकाशन हो चुका है। इसकी शिवाग्रयोगीन्द्र शैवाचार्य विरचित टीका भी उपलब्ध होती है।

५५. महापिचुमत। तन्त्रालोक (भा. १०, आ. २७, पृ. ३६३, ३६५; भा. ११, आ. २८, पृ. १६३, १७५) में चार स्थलों पर पिचुशास्त्र उद्धृत है। उसीसे संबद्ध यह ग्रन्थ हो सकता है। से. और ल. में महाकालीमत और कु. में महापितृमत पाठ है।

५६. महालक्ष्मीमत। छः मत-तन्त्रों की सूचना देने वाली यहाँ की तीन पंक्तियाँ लक्ष्मीधरा, [1]ऋजुविमर्शिनी और गौरीकान्त की टीका में उपलब्ध नहीं है। जयरथ के

---

१. ऋजुविमर्शिनी की क.मातृका में ६४ तन्त्रों की नामावली वाले श्लोक उपलब्ध हैं। अर्थरत्नावली में कुछ चुने हुए नाम ही व्याख्यात हैं।

विवरण, कुलचूडामणि और सेतुबन्ध में मिलती हैं। महालक्ष्मीमतभट्टारक नाम की मातृका नेपाल की सूची में विवृत है।

५७. सिद्धयोगीश्वरमत। त्रिक मत का यह प्रसिद्ध ग्रन्थ तन्त्रालोक आदि में बहुशः उद्धृत है। अभिनवगुप्त ने त्रिक शास्त्र के तीन ग्रन्थों में इसे प्रथम स्थान दिया है। सिद्धातन्त्र और सिद्धामत के नाम से उपलब्ध वचन भी इसी ग्रन्थ के लगते हैं। नेपाल-सूची में सिद्धयोगीश्वरतन्त्र नाम मिलता है।

५८-५९ कुरूपिकामत और रूपिकामत। भास्करराय देव रूपिका पाठ मानकर उसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि यहाँ देव पद संबोधन है और शेष तन्त्र का नाम। इससे तन्त्र के नाम में कोई अन्तर नहीं पड़ता। "डाकिनीरूपिकागणः" (नि. षो. ४.५०) में रूपिका देवी के रूप में स्थित है। महालक्ष्मीमत और कुब्जिकामत के समान ये नाम भी कुरूपिका और रूपिका देवियों से संबद्ध माने जायँगे।

६०. सर्ववीरमत। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी (भा. ३, पृ. ३३१) में यह स्मृत है। तन्त्रालोक एवं विवेकव्याख्या, शिवसूत्रविमर्शिनी, स्वच्छन्दोद्योत, नेत्रोद्योत, प्रत्यभिज्ञाहृदय, महार्थमंजरीपरिमल आदि में स्मृत सर्ववीर अथवा सर्ववीरभट्टारक इस तन्त्र से अभिन्न होना चाहिये।

६१. विमलामत के विषय में अभी तक कोई जानकारी नहीं मिल सकी है।

६२. अरुणेश की भी यही स्थिति है।

६३. मोदनेश। से. में मोहिनीश, ल. और ऋ. में मोदिनीश तथा कु. में मोहनेश पाठ मिलता है। इसके विषय में अभी कुछ कहा नहीं जा सकता।

६४. विशुद्धेश्वर। भास्करराय ने योगिनीहृदय के सेतुबन्ध (पृ. २४७) में इसको उद्धृत किया है। तन्त्रसार, शाक्तानन्दतरंगिणी, आगमतत्त्वविलास आदि में भी यह स्मृत है। शिवानन्द का भी कहना है कि ६४ तन्त्रों में यह अन्तिम तन्त्र है।

चौसठ तन्त्रों का परिगणन करते समय ल. ऋ. से. कु. में यह श्लोक पाठभेद के साथ उपलब्ध होता है—

पूर्वपश्चिमदक्षं च उत्तरं च निरुत्तरम्।
तन्त्रं वैशेषिकं ज्ञानं वीरावलि तथा परम्।।

वामकेश्वरीमतविवरण तथा बड़ोदा की प्राचीन मातृका में यह उपलब्ध नहीं है। इस श्लोक के कारण ही लक्ष्मीधर छः मत-तन्त्रों की गणना करने वाली तीन पंक्तियों को छोड़ देते हैं और भास्करराय भैरवाष्टक को एक ही तन्त्र मानते हैं। ऊपर के श्लोक

के उत्तरार्ध का लक्ष्मीधरा में यह पाठ है — "विमलं विमलोत्थं च देवीमतमतः परम्"। लक्ष्मीधर का कहना है कि पूर्व से लेकर देवीमत पर्यन्त नामावली दिगम्बरों के क्षपणक सम्प्रदाय से संबद्ध तन्त्रों की है। अतः ये सब हेय हैं। लक्ष्मीधर अपने मत की पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं देते (पृ. १४०)। भास्करराय इस श्लोक की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि पूर्वाम्नाय आदि नामों से प्रसिद्ध चार तन्त्र यहाँ संगृहीत हैं। निरुत्तर पद से ऊर्ध्वाम्नाय अथवा अनुत्तराम्नाय का ग्रहण किया जाता है। वैशेषिक तन्त्र एक नाम है। ज्ञान पद से ज्ञानार्णव प्रसिद्ध है। वीरावली इसी नाम का एक तन्त्र है (पृ. २३-२४)। यहाँ भास्करराय शिव के पाँच मुखों से निःसृत शास्त्रसमूह-रूप आम्नायों का एक-एक तन्त्र के नाम के रूप में संकोच कर देते हैं, जिसका कोई आधार नहीं है। ज्ञानार्णव के विषय में ३२वीं संख्या पर कहा जा चुका है। वीरावलीशास्त्र एक प्राचीन तन्त्र है। तन्त्रालोक और विवेक में तथा शिवसूत्रविमर्शिनी आदि में यह उद्धृत है। वीरावलीहृदय अथवा वीरावलीकुल भी इसीका नाम है। कु. में शिवाबलि पाठ है।

बहुरूपाष्टक शास्त्र

विद्यानन्द अपनी टीका के प्रारंभ (पृ. ४) में बताते है कि बहुरूपाष्टक शास्त्र को संक्षिप्त कर इस चतुःशती शास्त्र का उद्धार किया गया हे। शिवानन्द बहुरूपाष्टक का अर्थ शक्तितन्त्राष्टक करते हैं (पृ. ४३-४४)। यामलाष्टक जैसे असितांग आदि आठ भैरवों के पूजाशास्त्र माने गये हैं (अर्थ. पृ. ४३), उसी तरह बहुरूपाष्टक शास्त्र में शक्तियों की उपासना बताई गई होगी। चौसठ तन्त्रों का परिचय देते समय (पृ. २५-२६) यह बताया जा चुका है कि विद्यानन्द, सुभगानन्द और भास्करराय इसको एक तन्त्र मानते हैं, जबकि श्रीकण्ठीसंहिता में बहुरूपाष्टक विभाग के आठ तन्त्रों के नाम परिगणित हैं। लक्ष्मीधर और गौरीकान्त ने ब्राह्मी आदि सात मातृगणों के साथ आठवीं शिवदूती की पूजा के विधायक शास्त्रों को यह नाम दिया है। अर्थरत्नावलीकार ने इस प्रसंग में इस शब्द की कोई व्याख्या नहीं की है। जो सामग्री उपलब्ध है, उससे दोनों ही मतों की पुष्टि होती है। चौसठ तन्त्रों की नामावली भी अपने ढंग से पूरी हो जाती है। अर्थरत्नावली में बहुरूपाष्टक-प्रस्तारन्याय (पृ. ५०) शब्द मिलता है। सौभाग्य-भास्करभाष्य (पृ. १९०) में भी यह उद्धृत है और यहाँ भी वे ही श्लोक उद्धृत हैं, जो पहले (पृ. ४०) बहुरूपाष्टक तन्त्र के बताये गये हैं। स्पष्ट है कि एक ही तन्त्र के ये दो नाम हैं। इस विषय में सामग्री के अभाव में अभी कुछ कहा नहीं जा सकता।

नेत्रतन्त्रोद्योत (१६.२२) में क्षेमराज ने प्रणव, प्रासाद आदि के साथ बहुरूप मन्त्र की भी गणना की है। सिद्धान्तसारावलि की टीका (पृ. २११) में बहुरूपी शब्द से अघोर मन्त्र गृहीत है। इससे भी कुछ स्पष्ट नहीं हो पाता।

वामकेश्वर शास्त्र

ऋजुविमर्शिनीकार शिवानन्द (पृ. २) ने वामकेश्वर शास्त्र की चर्चा की है और कहा है कि इसी विस्तृत शास्त्र के बीच में नित्याषोडशिकार्णव स्थित है। इस विस्तृत वामकेश्वरशास्त्र का स्वरूप कैसा था? उसको जानने का हमारे पास कोई साधन अब तक उपलब्ध नहीं हुआ है। विद्यानन्द नि. षो. को ही वामकेश्वर शास्त्र मानते हैं और जयरथ वामकेश्वरीमतविवरण के नाम से इसी पाँच पटल वाले ग्रन्थ की व्याख्या करते हैं। भास्करराय पूर्व और उत्तर चतु:शती के रूप में आठ पटल वाले ग्रन्थ को नित्याषोडशिकार्णव अथवा वामकेश्वरतन्त्र नाम देकर उस पर सेतुबन्ध नामक अपना व्याख्यान प्रस्तुत करते हैं। इनके मत में योगिनीहृदय की कोई पृथक् सत्ता नहीं है। इस विषय पर आगे विचार किया जा रहा है।

नित्याषोडशिकार्णव

जयरथ, शिवानन्द और विद्यानन्द के अनुसार इसमें पाँच पटल हैं। भास्करराय ने इसमें योगिनीहृदय के तीन पटलों का भी समावेश कर इस ग्रन्थ को आठ पटलों का मान कर उस पर सेतुबन्ध व्याख्या लिखी है। योगिनीहृदय के प्राचीन टीकाकार अमृतानन्द ने तीन पटलों की ही व्याख्या की है। नित्याषोडशिकार्णव के प्रारंभ में मंगलाचरण की पद्धति से देवी की स्तुति में समर्पित १२ श्लोक द्वादशश्लोकी के नाम से प्रसिद्ध है। ये श्लोक तन्त्रराजतन्त्र (२.८८-९९) में इसी क्रम से उपलब्ध हैं। वहाँ टीकाकार सुभगानन्दनाथ का कहना है कि इन श्लोकों की जो व्याख्या काश्मीर के किसी महात्मा ने की है, उसीको हम यहाँ लिख रहे हैं। जयरथ की व्याख्या से इसकी कोई समानता नहीं है। इस ग्रन्थ के अन्य वृत्ति, व्याख्यान, वार्त्तिक आदि की चर्चा आगे (पृ. ६१) की गई है। नारदपुराण (१.८९.१०-२१) के तन्त्रशास्त्रीय प्रकरण में भी यह द्वादशश्लोकी उपलब्ध है। चतु:शती और वामकेश्वरतन्त्र के नाम से भी यह ग्रन्थ उद्धृत है। जयरथ ने इसे वामकेश्वरीमत नाम देकर इस पर विवरण नामक व्याख्यान लिखा है। देवी और ईश्वर के संवाद के रूप में यह तन्त्र प्रवृत्त है।

विद्यानन्द के अनुसार (अर्थ, पृ. ४) 'बहुरूपाष्टक शास्त्र का यह संक्षिप्त स्वरूप चार सौ श्लोकों में संदृब्ध है। इन्होंने ग्रन्थ का नाम वामकेश्वरशास्त्र दिया है। चार सौ श्लोकों का ग्रन्थ होने से इसे चतु:शतीशास्त्र भी कहा जाता है। विद्यानन्द के वचन (पृ. १८८) से ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अन्य नामों की उपस्थिति में भी इसका नित्याषोडशिकार्णव नाम ही मुख्य है और इससे पाँच पटल वाले ग्रन्थ का बोध होता

१. बहुरूपाष्टक शास्त्र के विषय में अभी अलग से लिखा गया है (पृ. ५८३)।

है। तीन पटल वाले योगिनीहृदय की गणना पृथक् ग्रन्थ के रूप में की जाती है। अभिनवगुप्त ने नित्यातन्त्र के विद्वानों की चर्चा की है। जयरथ का कहना है कि ईश्वरशिव ने नि. षो. पर रसमहोदधि नामक वार्तिक की रचना की थी। इन्हीं सब प्रमाणों के आधार पर डॉ॰ कान्तिचन्द्र पाण्डेय इस ग्रन्थ का अवतारकाल[1] ई. ९वीं शताब्दी निश्चित करते हैं।

चतुःशतीशास्त्र

नि. षो. को अमृतानन्द चतुःशती शास्त्र के नाम से उद्धृत करते हैं। शिवानन्द के अनुसार इसमें पूरे ४०० श्लोक हैं। वहाँ प्रथमतः (१.२९-४१) सृष्टिक्रम के अनुसार तथा बाद में (१. ५९-७१) संहार क्रम के अनुसार श्रीचक्र का उद्धार बताया गया है। अमृतानन्द का कहना है कि चतुःशतीशास्त्र (१. ७७-७८) में सृष्टिक्रम और संहारक्रम से श्रीचक्र का उद्धार बताया गया है। अतः इन दो क्रमों के अतिरिक्त किसी तृतीय क्रम से श्रीचक्र की उपासना नहीं की जा सकती। इस प्रसंग में यह अवधेय है कि संहारक्रम के उद्धारक श्लोक जयरथ अथवा विद्यानन्द की व्याख्या में उपलब्ध नहीं है। भास्करराय पूर्वचतुःशती और उत्तरचतुःशती के रूप में नि. षो. और योगिनीहृदय का ग्रहण करते हैं, क्योंकि वे इन दोनों ग्रन्थों को अभिन्न मानते हैं। इस मत का निराकरण अभी किया जा चुका है।

नि. षो. की सेतुबन्धव्याख्या में भास्करराय ने पंचम पटल में कुछ अधिक श्लोकों का समावेश किया है, जो वामकेश्वरीमत, ऋजुविमर्शिनी, अर्थरत्नावली आदि में व्याख्यात नहीं है। प्राचीन हस्तलेखों में भी ये श्लोक उपलब्ध नहीं होते। अमृतानन्द ने दीपिकाव्याख्या में नि. षो. के वचनों को सर्वत्र चतुःशती के नाम से उद्धृत किया है, किन्तु इन अधिक वचनों को उन्होंने चतुःशती के नाम से उद्धृत न कर [2]अभियुक्त-वचन या प्रामाणिकवचन कहा है। हमारी समझ में ये वचन [3]संकेतपद्धति जैसे किसी प्राचीन ग्रन्थ के होने चाहिये।

इस विषय में नि. षो. के संस्कृत उपोद्घात (पृ. ९-११) में पर्याप्त विचार किया गया है। शिवानन्द के अनुसार इस ग्रन्थ का चतुःशती नाम पूरी तरह से सार्थक है, किन्तु भास्करराय के मत से ऐसी स्थिति नहीं है। उनके मतानुसार इस ग्रन्थ की श्लोकसंख्या

---

१. अभिनवगुप्त, द्वितीय संस्करण, पृ. ५७८ द्रष्टव्य।

२. योगिनीहृदयदीपिका, भाषानुवाद संस्करण की पृ. ६९, ९३, २२७, २८१ की संबद्ध टिप्पणियाँ देखिये।

३. संकेतपद्धति का परिचय आगे (पृ. ६०७-६०८) दिया जा रहा है।

सार्ध ४३०· बैठती है। ऐसा लगता है कि भास्करराय ने संकेतपद्धति जैसे प्राचीन ग्रन्थों के वचनों का समावेश यहाँ पंचम पटल में कर लिया है। भास्करराय के मन्तव्य की वहाँ विस्तृत समीक्षा की जा चुकी है। यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि सुभगानन्दनाथ आदि आचार्य शिवानन्द आदि की अपेक्षा परवर्ती आचार्य हैं। अन्य आचार्यों पर किये गये उनके आक्षेपों का समाधान भी वहाँ कर दिया गया है।

वामकेश्वरीमतविवरण

नि. षो. के उपलब्ध व्याख्यानों में जयरथ कृत विवरण सबसे प्राचीन है। यहाँ आगे (पृ. ६१) बताया गया है कि ईश्वरशिव, विश्वावर्त, शंकरराशि जैसे आचार्यों ने इस शास्त्र का कश्मीर में प्रचार किया। उनके अनुयायी कुछ व्याख्याकारों के मतों की समालोचना करते हुए जयरथ ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, तन्त्रालोक आदि के प्रमाण से अपने विवरण की श्रेष्ठता स्थापित करते हैं। जयरथ द्वारा समालोचित कुछ मतों एवं बीजोद्धार आदि के प्रसंगों को अर्थरत्नावलीकार विद्यानन्द प्रामाणिक मानते हैं। अत: सेतुबन्धकार भास्करराय के समान ही जयरथ द्वारा प्राचीन आचार्यों के मतों का जो खण्डन किया गया है, वह सही है या नहीं, इस पर सावधानी से विचार करना होगा। तन्त्रालोक पर विवेक व्याख्या के लेखक ही इस विवरण के भी लेखक हैं, ऐसा इस ग्रन्थ के सम्पादक का कहना है। विवरण के— "तैरस्मद्गुरूपज्ञतद्विवेकादवगन्तव्यम्" (पृ. ७६-७७) इस वचन से ऐसा लगता है कि जयरथ के किसी शिष्य ने इसकी रचना की है। विवेककार की प्रौढि और प्रतिभा यहाँ बहुत स्पष्ट नहीं हो पाई है। यह उनका प्रथम ग्रन्थ हो सकता है। मूलविद्या के समुद्धार के प्रसंग (१.८४) में यहाँ कादिविद्या का उद्धार किया गया है। इस ग्रन्थ से अनेक सूचनाएँ मिलती है, जिनका भरपूर उपयोग यहाँ किया गया है। योगिनीहृदय में वर्णित षड्विध मन्त्रार्थ भी यहाँ सूचित है और इनकी बाह्य, द्विक, त्रिक शास्त्रों के आधार पर व्यवस्था की गई है (पृ. १३८-१३९)। जयरथ का आधार महाज्ञानार्णव होना चाहिये।

ऋजुविमर्शिनी (नित्याषोडशिकार्णवटीका)

अर्थरत्नावली की मद्रास-भिन्न [1]मातृका (पृ. २१४) में ऋजुविमर्शिनी उद्धृत है, किन्तु वहाँ का श्लोक प्रस्तुत ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है। अन्य कोई ऋजुविमर्शिनी यह हो सकती है। ऋजुविमर्शिनी और अर्थरत्नावली की रचना एक ही समय में हुई हो, ऐसा लगता है, तो भी दार्शनिक दृष्टि से ऋजुविमर्शिनी की अपनी विशेषता है।

---

१. अर्थरत्नावली (पृ. २५३) की मद्रास मातृका में 'केचित्' पद से संभव है ऋजुविमर्शिनी का स्मरण किया गया हो।

क्षेमराजकृत शिवसूत्रविमर्शिनी और स्पन्दनिर्णय की व्याख्यान-पद्धति, प्रतिपादन-चातुरी, भाषा एवं प्रमाण-वचनावली का शिवानन्द ने अनुसरण किया है, यह बात ग्रन्थ स्थित टिप्पणियों से स्पष्ट हो जाती है। नित्याषोडशिकार्णव और उत्तरषट्क में प्रदर्शित **त्रिपुरा** पद के निर्वचन से अभिव्यक्त त्रितत्त्व, त्रिधाम, त्रिलिंग, त्रिबीज, त्रिशक्ति के सिद्धांत को तो यहाँ स्पष्ट किया ही गया है, साथ ही संकेतपद्धति के अनुसार तत्त्व, धाम, बीज, शक्ति के चतुष्टयवाद को भी बताया गया है। इसी प्रसंग में अनाख्या तत्त्व का स्वरूप भी निर्दिष्ट है। यहाँ ग्रन्थ की प्रधान रूप से प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार व्याख्या की गई है। यहाँ उन्हीं प्रमाण-वचनों को प्रधान रूप से प्रस्तुत किया गया है, जो क्षेमराज के द्वारा उद्धृत हैं। तन्त्रालोक यहाँ त्रिंशिकाशासन, षडध्वसार-शास्त्र जैसे नामों से स्मृत है। प्रथम श्लोक की व्याख्या के अवसर पर और गुरुपंक्ति के समाराधन-स्थल के विषय में यहाँ योगिनीहृदय का स्मरण न कर प्रपंचसार को सर्वत्र प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यहाँ नाग भट्ट विरचित त्रिपुरासारसमुच्चय तीन बार निर्दिष्ट है। शिवस्तोत्रावली और स्पन्दकारिका को रहस्यगुरुप्रवर की कृति माना है। मन्त्र, मातृका, पीठ और मुद्रा जैसे विषयों को महासंवित्-स्वरूप कहा गया है। मूलविद्या के समुद्धार के प्रकरण में हादिविद्या का उद्धार किया गया है और हादिविद्या की त्रिविध दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ परम्परा वर्णित है। ऋजुविमर्शिनी में कौलिकी पद्धति की सूचना अवश्य मिलती है, किन्तु इस पूरी पदावली की प्रत्यभिज्ञा दर्शन की पद्धति से अथवा तन्त्रशास्त्र की अन्तर्याग (आन्तर वरिवस्या) की विधि से आध्यात्मिक व्याख्या की है। प्रसन्नगभीर, सरल एवं विशद, पारम्परिक पदार्थों को स्पष्ट करने वाली, प्रमाण-वचनों से अपने मन्तव्य को पुष्ट करने वाली, संक्षिप्त होते हुए भी विषय को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने वाली यह ऋजुविमर्शिनी विद्वान् पाठकों के हृदय को अपनी ओर बलात् आकृष्ट कर लेती है।

अर्थरत्नावली (नित्याषोडशिकार्णवटीका)

अर्थरत्नावली प्रधानतया कौल और क्रम मत के अनुसार ग्रन्थ का व्याख्यान करती है। [१]उत्तरषट्क-शास्त्र, सिद्धनाथ और संकेतपद्धति इन तीन ग्रन्थों की यहाँ प्रधान रूप से सहायता ली गई है। मतशास्त्र एवं मतोत्तर भी यहाँ उद्धृत हैं। यह टीका हादिविद्या को विशेष महत्त्व देती है, तो भी विभिन्न प्रकरणों की कादिविद्यापरक व्याख्या भी करती

१. पंचम पटल में स्वयंभू आदि त्रिविध लिंगों की व्याख्या करते समय विद्यानन्द ने उत्तरषट्क को उद्धृत किया है, लिंगचतुष्टय के प्रतिपादक योगिनीहृदय को नहीं। यहाँ भास्करराय से मतभेद प्रमाणभेद-प्रयुक्त है।

है। ऋजुविमर्शिनी, सेतुबन्ध आदि में प्रदर्शित चक्रोद्धार का [1]द्वितीय प्रकार यहाँ उपलब्ध नहीं होता। सेतुबन्धकार ऋजुविमर्शिनी को कहीं-कहीं प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हैं, किन्तु अर्थरत्नावली को पूरी तरह से अप्रामाणिक मान लिया है। नि. षो. में तीन संख्या वाले, कौलिक मत में चार संख्या वाले और क्रम मत में पाँच संख्या वाले पदार्थ वर्णित हैं। अर्थरत्नावली में कुलपंचक, पीठपंचक, वामादिपंचक, इच्छादिपंचक, अकारपंचक, हकारपंचक की, हत-अनाहत-उत्तीर्ण नादों की, अनिकेत-रसत्रितय जैसे पदों की व्याख्या संकेतपद्धति के प्रमाण से की गई है। इससे संकेतपद्धति एवं इस व्याख्या में क्रमदर्शन का भी अनुवर्तन किया गया है, ऐसा माना जा सकता है। इन पदों की तथा धाम-मुद्रा-वर्ण-कला आदि शब्दों की व्याख्या चिद्गगनचन्द्रिका, वातूलनाथ-सूत्रवृत्ति, महानयप्रकाश, महार्थमंजरीपरिमल जैसे ग्रन्थों का अनुसरण करती है। इसी तरह से अर्थरत्नावली कुल मत का भी अनुसरण करती है, इसके अनेक उदाहरण दिये जा सकते है। यहाँ कुलाकुल आसन (पृ. ३८), कुलतर्पण (पृ. १३३-१३४), कुलाचार (पृ. १३४-१३५), कौल आसन (पृ. १७१) अकथक्रम (पृ. १७१) त्रिविध कौल जप (पृ. २६८-२६९), जैसे कुल-कौल मत से संबद्ध विषय वर्णित हैं। यहीं (पृ. ७४) अकुल, कुल, कुलाकुल, कौल और शुद्ध कौल नामक कुलपंचक-शास्त्र भी चर्चित है। अकथ- क्रम का परिचय सुभगोदय (पृ. २८७) तथा उत्तरषट्क (४. २५-३०) में भी मिलता है। इस विवरण से स्पष्ट है कि यह व्याख्या कुल, मत और क्रमदर्शन का एवं त्रिपुरा सम्प्रदाय का भी अनुसरण करती है। इस प्रकार अर्थरत्नावलीकार ने "किन्तु शब्दस्य शय्यान्या" (पृ. १९२) महेश्वरानन्द की इस उक्ति को सार्थक कर दिया है।

सेतुबन्ध (नित्याषोडशिकार्णवव्याख्या)

सेतुबन्ध-व्याख्या में कादिविद्या का प्रतिपादन किया गया है। ऋजुविमर्शिनी एवं अर्थरत्नावली से मतभेद केवल हादि-कादिविद्या के प्रसंग में ही नहीं, विविध पदों की व्याख्या के प्रसंग में भी देखने को मिलता है। उत्तरषट्क, प्रपंचसार, संकेतपद्धति जैसे ग्रन्थों के आधार पर रचित उक्त दोनों व्याख्यानों का निराकरण भास्करराय योगिनीहृदय, कादिमत, ज्ञानार्णव जैसे ग्रन्थों के आधार पर करते हैं। ऐसे स्थलों में कल्पभेद अथवा शाखाभेद के आधार पर वैकल्पिक व्यवस्था मानना ही उचित है, प्रमाणों से पुष्ट एवं अन्य सम्प्रदायों में स्वीकृत विषय का खण्डन उचित नहीं माना जा सकता। सेतुबन्ध के उक्त दोनों व्याख्यानों की समालोचना करने वाले प्रायः सभी वचनों को नि. षो. के

---

१. चक्रोद्धार का यह द्वितीय प्रकार नि. षो. (१. ५९-७५) में देखा जा सकता है। वामकेश्वरीमतविवरण (पृ. ३२-३४) में इनको रसमहोदधि का अंश माना गया है।

काशी संस्करण के ग्रन्थभाग की टिप्पणियों में दे दिया गया है। इनको देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि भास्करराय ने उक्त दो व्याख्यानों के अतिरिक्त अन्य किसी व्याख्यान की भी आलोचना की है। द्वादशश्लोकी के व्याख्यान के प्रसंग में कादिमत की मनोरमा टीका में उद्धृत काश्मीर व्याख्यान का स्मरण भास्करराय भी करते हैं। उसीकी यहाँ आलोचना की गई है अथवा अन्य की, इसको जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। भास्करराय द्वारा उद्धृत अथवा व्याख्यात उक्त दोनों टीकाओं के अंशों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इनका भावार्थ यहाँ दिया गया है अथवा कहीं विपरीत रूप में भी इनको प्रस्तुत किया गया है। परवर्ती तान्त्रिक दर्शन के आचार्यों में सौभाग्यभास्कर, सेतुबन्ध, वरिवस्यारहस्य जैसे महनीय ग्रन्थों के रचयिता भास्करराय का अपना विशिष्ट स्थान है। सेतुबन्ध-व्याख्यान की सहायता से उक्त दोनों टीकाओं के कुछ अस्पष्ट अंश स्पष्ट हो जाते हैं और मानवस्वभाव-सुलभ त्रुटियों का परिहार हो जाता है। कहीं-कहीं युक्तियों से प्रमाणित नये अर्थों का भी बोध होता है। भास्करराय द्वारा निदर्शित तान्त्रिक दर्शन पर अन्य दर्शनों का प्रभाव परिलक्षित होता है और सुन्दरीतापिनी जैसे उपनिषदों के साथ परानन्द, दक्षिणामूर्तिसंहिता जैसे तन्त्र-ग्रन्थ को और पुराणों को भी प्रमाण के रूप में यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

उत्तरषट्क

कुलदीपिका टीका के साथ यह ग्रन्थ अब सं. सं. वि. वि. की योगतन्त्र ग्रन्थमाला के २२वें पुष्प के रूप में प्रकाशित हो चुका है। योगिनीहृदयदीपिका (पृ. ३०५) में उत्तरपद के नाम से यहाँ का पहला श्लोक उद्धृत है, किन्तु शिवानन्द की ऋजुविमर्शिनी, विद्यानन्द की अर्थरत्नावली और लघुस्तव की जैनाचार्य सोमतिलकसूरि-कृत व्याख्या में उत्तरषट्क के नाम से ही यह स्मृत है। यास्क मुनि के निरुक्त के प्रथम छः अध्याय पूर्वषट्क तथा आगे के छः अध्याय उत्तरषट्क के नाम से प्रसिद्ध हैं। किसी ग्रन्थ के उत्तर भाग के रूप में इस नाम की भी प्रवृत्ति होनी चाहिये। गोरक्षसंहिता (१६.३७) में उत्तर और दक्षिण षट्क पद प्र५ुु ह। यह ग्रन्थ मतोत्तर से अभिन्न है। उत्तरषट्क की मद्रास मातृका में मतोत्तर स्मृत है। रुद्रयामल से भी इसका संबन्ध माना जाता है, किन्तु इन सबसे ग्रन्थ के अथवा नाम के विषय में कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता। उपलब्ध मातृकाओं के आधार पर यहाँ सात पटल हैं, जबकि नाम के अनुरूप इसमें छः ही पटल होने चाहिये। इतना स्पष्ट है कि यह त्रिपुरा सम्प्रदाय का प्राचीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ विद्यानाथ द्वारा रचित है, ऐसी सूचना मिलती है, किन्तु यह सही नहीं है। विद्यापीठ-विनिर्गत तन्त्रों में इसकी गणना की जा सकती है।

मूलग्रन्थ के साथ इसकी कुलदीपिका नाम की टीका भी उपलब्ध है। टीकाकार का नाम उपलब्ध नहीं होता, किन्तु यहाँ बताया गया है ब्रह्मानन्द टीकाकार के परमगुरु हैं। इनके भी देश-काल के विषय में कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। टीकाकार ने प्रधानतः कुल और मत सम्प्रदाय के अनुसार ग्रन्थ की व्याख्या की है। टीका में उद्धृत ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का, सात पटलों में प्रतिपाद्य विषयों का संक्षिप्त परिचय ग्रन्थ की प्रस्तावना में दिया गया है। साथ ही वहाँ इस ग्रन्थ के विशेष विषयों में— योनिमुद्रा-बन्ध, त्रैलोक्यडामर-यन्त्र, मातृका-पीठ, कामतत्त्व, चतुर्विध विशेष विद्या, हंस-मन्त्र, हंस-योग, नवाधार, मन्त्रसिद्धि-लक्षण की भी चर्चा की गई है। कहा जा सकता है कि इस तन्त्र में त्रिपुरा यन्त्र और बीजत्रयात्मिका त्रिपुरा विद्या की उपासनाविधि विशेष रूप से वर्णित है।

हंसपारमेश्वर

हंसपारमेश्वर के कुछ श्लोक ऋजुविमर्शिनी (पृ. ११०), अर्थरत्नावली (पृ. ११४-११५) और चिद्वल्ली (पृ. ३९) में उद्धृत हैं। यहाँ हादिविद्या का समुद्धार किया गया है, अतः कादिविद्या के अनुयायी भास्करराय ने नि. षो. के इस प्रकरण में इसको उद्धृत नहीं किया। योगिनीहृदयदीपिका (पृ. १७९), स्पन्दप्रदीपिका (पृ. १०९), नेत्रतन्त्रोद्योत (१८.११७), स्वच्छन्दोद्योत (४. १३०) और मृगेन्द्रागम क्रियापाद की वृत्ति (पृ. १५९) में उद्धृत वचन लुप्ता. (भा. २, पृ. २१७-२१८) में संगृहीत हैं। तन्त्रसार आदि में भी इसके वचन उद्धृत हैं, ऐसा ता. सा. (पृ. ७२४) से ज्ञात होता है। आफ्रेख्ट की सूची (भा. १, पृ. ७५२, भा. २, पृ. १८१ ; भा. ३, पृ. १५५) को भी देखना चाहिये।

हंसतन्त्र से यह अभिन्न हो सकता है। मृगेन्द्रागम की क्रियापाद की भट्ट नारायणकण्ठ की वृत्ति में चण्ड मन्त्र के स्वरूप का निदर्शक वचन उपलब्ध है। शैवागमों की नामावली में पारमेश्वर के उपागम के रूप में यह परिगणित है। श्रीकण्ठीसंहिता और सर्वोल्लासतन्त्र में पठित ६४ तन्त्रों की नामावली में भी यह नाम मिलता है। पारमेश्वरागम का उपागम होने से इसीको हंसपारमेश्वर नाम दे दिया गया हो, यह हो सकता है। यह भी हो सकता है कि हादिविद्या का उद्धारक पारमेश्वर पारमेश्वरागम के उपागम से भिन्न हो।

महाज्ञानार्णव

महाज्ञानार्णव एक तन्त्र का नाम है। योगिनीहृदय (२. ७७) में यह उद्धृत है। भास्करराय इसको तन्त्र-ग्रन्थ ही मानते हैं, किन्तु अमृतानन्द इस शब्द की आध्यात्मिक व्याख्या कर देते हैं। जयरथ (२. ७७) इसको तन्त्र ग्रन्थ के रूप में ही उद्धृत करते हैं,

किन्तु वामकेश्वरीमतविवरण के सम्पादक महाज्ञानार्णव को योगिनीहृदय से अभिन्न मान लेते हैं। यह कथन सही नहीं है, क्योंकि इस ग्रन्थ में महाज्ञानार्णव के नाम से उद्धृत सभी वचन योगिनीहृदय में उपलब्ध नहीं होते। जो उपलब्ध हैं, उनकी आनुपूर्वी में विषमता है। समानता का आधार यह हो सकता है कि योगिनीहृदय का यह प्रकरण महाज्ञानार्णव से प्रभावित हो। स्वयं योगिनीहृदय (२, ७७-७८) में महाज्ञानार्णव और विद्यापीठ निबन्धों की चर्चा मिलती है। डॉ॰ प्रबोधचन्द्र बागची ने "स्टडीज इन दी तन्त्राज" शीर्षक ग्रन्थ में ब्रह्मयामल का विवरण देते समय (पृ. १०५) विद्यापीठ से विनिर्गत तन्त्रों में योगिनीहृदय का परिगणन किया है।

योगिनीहृदय

योगिनीहृदय के [१]"अनुप्रास्ताविकम्" में हमने नित्याषोडशिकार्णव से योगिनीहृदय की भिन्नता स्थापित की थी। अपने इस मत की पुष्टि में नि. षो. के उपोद्घात (पृ. ११-१२) में कुछ नूतन प्रमाण प्रस्तुत किये थे। यह विचारणीय विषय है कि "गणेशग्रहनक्षत्र" नि. षो. के इस प्रथम सूत्र (श्लोक) की व्याख्या करते समय शिवानन्द और विद्यानन्द प्रपंचसार को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हैं, योगिनीहृदय को नहीं। वामकेश्वरतन्त्र (नि. षो.) में कादिविद्या का और योगिनीहृदय के मन्त्रसंकेत प्रकरण में हादिविद्या का उद्धार मिलता है। नि. षो. में मूलविद्या के साथ करशुद्धिकरी आदि आठ विद्याएँ उद्धृत हैं, जबकि योगिनीहृदय में सातवें स्थान पर मूर्तिविद्या को स्वीकार कर नौ विद्याओं की चर्चा की गई है। नि. षो. में और उत्तरषट्क में भी स्वयंभू आदि तीन ही लिंग वर्णित हैं, जबकि यो. हृ. में परलिंग का समावेश कर चार लिंग प्रतिपादित हैं। ऐसी स्थिति में सेतुबन्धकार (पृ. ७) का पूर्व और उत्तर चतुःशती की परस्पर साकांक्षता का प्रतिपादन सही नहीं माना जा सकता, क्योंकि योगिनीहृदय की प्रवृत्ति वामकेश्वर-शास्त्र के अज्ञात अर्थों के ज्ञापन के लिये होने से उसकी साकांक्षता मानी जा सकती है, किन्तु नि. षो. को यो. हृ. की कहीं भी कोई अपेक्षा नहीं है। वहाँ [२]आठ ही विद्याएँ मान्य हैं, नौ नहीं। पूरी तरह से भिन्न इन दोनों शास्त्रों में अभिन्नता आरोपित कर सेतुबन्धकार जैसे नवीन आचार्यों ने पूर्व और उत्तर चतुःशती जैसे नामों की कल्पना कर ली है। अमृतानन्द और नटनानन्द ने चतुःशती के नाम से नि. षो. का ही ग्रहण किया है। अतः इन दोनों की भिन्नशास्त्रता ही मानना उचित है।

शिवानन्द ने श्रीचक्र में गुरुपंक्ति की आराधना कहाँ करनी चाहिये, इसका निर्णय प्रपंचसार के प्रमाण से (पृ. २२५) किया है, यद्यपि योगिनीहृदय में भी यह प्रदर्शित है।

---

१. तन्त्रयात्रा, पृ. ३५-३८ द्रष्टव्य।

२. संकेतपद्धति के प्रमाण से अर्थरत्नावली (पृ. १०७) में आठ विद्याओं के नाम बताये गये हैं।

भास्करराय को छोड़कर सभी आचार्यों ने पाँच पटल वाले नि. षो. की ही व्याख्या की है। इसीलिये अमृतानन्द अपनी दीपिका-टीका के प्रारंभ में (पृ. २) यह सूचना देते हैं कि इस पर अभी तक किसी ने व्याख्या नहीं लिखी। क्या इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उन प्राचीन टीकाकारों के सामने योगिनीहृदय की सत्ता नहीं थी। वामकेश्वरीमतविवरण के संपादक ने कुछ श्लोकों का स्थलनिर्देश करते समय योगिनीहृदय को अंकित किया है। वास्तव में ये उद्धरण वहाँ के नहीं हैं। योगिनीहृदय (२. ७७) में महाज्ञानार्णव उद्धृत है। वहाँ के ये वचन हो सकते हैं। विद्या के षड्विध अर्थ को बताने वाले प्रकरण को जयरथ स्वीकार नहीं करते (पृ. १३६-१३७)। नि. षो. और यो. हृ. को एक मानने पर यह कैसे संभव हो सकता है। इस स्थिति में डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची के "स्टडीज इन तन्त्राज्" (पृ. १०५) ग्रन्थ में ब्रह्मयामल का विवरण देते समय विद्यापीठ तन्त्रों में परिगणित योगिनीहृदय कोई भिन्न ही ग्रन्थ होना चाहिये।

डॉ॰ आन्द्रे पादु का "वामकेश्वरतन्त्रान्तर्गतं योगिनीहृदयम्" [१]शीर्षक निबन्ध अभी प्रकाशित हुआ है। जैसाकि शीर्षक से ज्ञात होता है, विद्वान् लेखक ने यहाँ यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि नि. षो. की तरह यो. हृ. भी वामकेश्वरतन्त्र का ही एक भाग है। इसमें उन्होंने दो प्रमुख प्रमाण दिये हैं— पहला शिवानन्द का "मध्ये शास्त्रस्य तस्याऽस्ति नित्याषोडशिकार्णवः" (पृ. ३) यह श्लोक तथा दूसरा योगिनीहृदय के दूसरे संस्करण के प्रथम पटल के अन्त की पुष्पिका का यह वाक्य— "वामकेश्वरतन्त्रयोगिनीहृदयदीपिकायाम्" (पृ. ८९)। यह पाठ उसी संस्करण की ख. मातृका को मान्य नहीं है तथा अन्य सभी मातृकाएँ ख. मातृका का ही अनुसरण करती हैं। क. मातृका में भी केवल प्रथम पटल की पुष्पिका में यह मिलता है, अतः भाषा-भाष्य वाले संस्करण में इस पाठ को मान्यता नहीं दी गई है। अमृतानन्द स्वयं एक जगह लिखते हैं— "वामकेश्वरशास्त्र एवासामुद्धारः, अत्र त्वज्ञातार्थप्रतिपादनपरत्वादस्य शास्त्रस्येति" (पृ. १०६)। इस वाक्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे वामकेश्वरशास्त्र (तन्त्र) से योगिनीहृदय को भिन्न मानते हैं। वामकेश्वरशास्त्र से उनका अभिप्राय चतुश्शतीशास्त्र (नि. षो.) से है। यह विषय उनके ही एक अन्य उद्धरण से भी स्पष्ट हो जाता है— "नन्वयं कौलिकार्थो वामकेश्वरतन्त्रे कुत्र सूचितः?..... गणेश (नि. षो. १. १) इत्यत्र सूचितं कौलिकार्थं विवृणोति" (२.५७)। स्पष्ट है कि अमृतानन्द की दृष्टि में नि. षो. और यो. हृ. दो भिन्न शास्त्र हैं।

---

१. श्री गोपालचन्द्र सिंह स्मृत्यंक, ऋतम्, अखिल भारतीय संस्कृत परिषत्पत्रिका, भा.१६-१८, सन् १९८४-८६, पृ. २५१-२५७ द्रष्टव्य।

शिवानन्द वामकेश्वरशास्त्र का प्रयोग विस्तृत अर्थ में करते हैं। कादिमत (तन्त्रराज) में नित्या-तन्त्रों का उल्लेख मिलता है और उसके टीकाकार सुभगानन्दनाथ ने अपनी (१.२) टीका में इनके नाम दिये हैं। इन ९ नित्या-तन्त्रों में सुन्दरीहृदय (योगिनीहृदय) भी एक है। हम समझते हैं कि इन अथवा इनसे भी प्राचीन त्रिपुरा सम्प्रदाय के ग्रन्थों का समावेश वामकेश्वर शास्त्र के नाम से किया जाता होगा, जिनके बीच में नि. षो. की विशेष स्थिति मानी जाती होगी।

स्वच्छन्दसंग्रह

योगिनीहृदयदीपिका में महास्वच्छन्द, महास्वच्छन्दसंग्रह, स्वच्छन्दभैरव और स्वच्छन्दसंग्रह नाम के चार ग्रन्थ उद्धृत हैं। स्वच्छन्दतन्त्र क्षेमराज की उद्योत टीका के साथ मुद्रित हो चुका है। अघोरेशतन्त्र के नाम से भी यह प्रसिद्ध है। यहाँ महास्वच्छन्द और स्वच्छन्दभैरव के वचन उपलब्ध हो जाते हैं, किन्तु महास्वच्छन्दसंग्रह और स्वच्छन्दसंग्रह के नहीं मिलते। नेत्रतन्त्रोद्योत (१०.१) में दक्षिण स्रोत से विनिर्गत भैरवागमों में स्वच्छन्द, चण्ड और त्रिशिरोभैरव परिगणित हैं। यह स्वच्छन्द स्वच्छन्दतन्त्र से अभिन्न है। महास्वच्छन्द के वचन यहाँ उपलब्ध हैं, तो भी इनकी भिन्नता-अभिन्नता के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। इसी तरह से महास्वच्छन्दसंग्रह और स्वच्छन्दसंग्रह की भी यही स्थिति है। स्वच्छन्दसंग्रह के वचन योगिनीहृदयदीपिका में विशेष रूप से तथा अन्यत्र भी स्वल्प मात्रा में मिलते हैं। आगमिक योग और दर्शनशास्त्र का यह विशिष्ट ग्रन्थ है। संकेतपद्धति जैसे ग्रन्थों के समान यह भी तन्त्रागमशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसकी मातृका मद्रास राजकीय ग्रन्थालय में विद्यमान है और उसमें दीपिका में उद्धृत वचन उपलब्ध हैं, ऐसी सूचना हमें तन्त्रशास्त्र के विशिष्ट विद्वान् डॉ॰ मार्क डिच्कोफिस्की ने दी थी। इसकी परीक्षा अपेक्षित है। कश्मीर में भी इसके उपलब्ध होने की संभावना है। महास्वच्छन्द और महास्वच्छन्दसंग्रह के वचन सौभाग्यभास्कर (पृ. ३०, ५१, ८८) में भी उपलब्ध है। महास्वच्छन्दसंग्रह की मातृका ता. सा., (पृ. ५०३) पर विवृत है। इसके साथ भी स्वच्छन्दसंग्रह के वचनों की तुलना अपेक्षित है। दक्षिण तन्त्रों में [1]स्वच्छन्दभैरव का परिगणन प्र. ल. सं. (२. ११६) की नामावली में मिलता है। स्वच्छन्दभैरव के नाम से एक ही स्थान पर संगृहीत सभी वचनों का समावेश लुप्ता. के प्रथम भाग में नहीं हो सका, अत: उनको द्वितीय भाग में दे दिया गया है। शतरत्नसंग्रह (पृ. ८०) स्वच्छन्द एवं स्वतन्त्रतन्त्र उद्धृत हैं। इन सबकी परीक्षा अपेक्षित है।

---

१. "स्वच्छन्दभैरवे तन्त्रे यद्यपीदमुदाहृतम्। तथापीह समानत्वात् सिद्धान्तेऽप्युपयुज्यते।।" (श्लोक ५०१) कर्मकाण्डक्रमावली में भी यह तन्त्र उद्धृत है।

नित्यातन्त्र

अभिनवगुप्त ने अपने तन्त्रसार के पवित्रक प्रकरण (पृ. १८७) में और तन्त्रालोक (२८.१३३) में नित्यातन्त्रविदों की चर्चा की है। परात्रीशिकाव्याख्या में "नित्यातन्त्रेषु" (पृ. १५५) कहकर वे नित्यातन्त्रों की सूचना देते हैं। इन सभी स्थलों पर किसी नित्यातन्त्र का नाम नहीं है। त्रिपुरा आदि षोडश नित्याओं के प्रतिपादक नित्याषोडशिकार्णव, उत्तरषट्क जैसे ग्रन्थ नित्यातन्त्र कहलाते हैं। तान्त्रिक साहित्य (पृ. ३३५) में इसी नाम के एक ग्रन्थ की मातृकाओं का विवरण दिया गया है, किन्तु अभिनवगुप्त के द्वारा स्मृत नित्यातन्त्र शब्द सामान्य नित्यातन्त्रों का वाचक है, किसी ग्रन्थविशेष का नहीं, अत: "नित्यातन्त्रविद:" शीर्षक से लुप्ता के द्वितीय भाग (पृ. १०१) में संगृहीत वचन किसी प्राचीन नित्यातन्त्र का होना चाहिये। तन्त्रराजतन्त्र (१-२) में नौ नित्यातन्त्रों की चर्चा है, इसकी अनेक स्थलों पर चर्चा हो चुकी है।

तन्त्रराजतन्त्र (कादिमत)

तन्त्रराजतन्त्र (कादिमत) सुभगानन्दनाथ की मनोरमा टीका के साथ कलकत्ता से प्रकाशित हो चुका है। इसमें छत्तीस पटल हैं। नवविध नित्यातन्त्रों की (१.२) और नित्या(योगिनी)हृदय की यहाँ (३६.१३) चर्चा होने से स्पष्ट है कि यह तन्त्र अर्वाचीन है। कुछ ग्रन्थ सूचियों में इसका नाम नित्याषोडशिकार्णव बताया गया है। यह उचित नहीं है, तो भी इतना सही है कि षोडश नित्याओं का विवरण इसी तन्त्र में मिलता है, नित्याषोडशिकार्णव में केवल इनके नाम दिये गये हैं।

तन्त्रालोकविवेक में तन्त्रराज या तन्त्रराजभट्टारक के नाम से जो वचन उद्धृत हैं, वे प्रस्तुत मुद्रित ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होते। जयरथ द्वारा उद्धृत ग्रन्थ में त्रयोदश कालियों की उपासना वर्णित है, जबकि मुद्रित ग्रन्थ में षोडश नित्याओं की पूजा-विधि। इन दोनों ग्रन्थों को एक मान कर किया गया निष्कर्ष सही नहीं माना जा सकता। तन्त्रराजभट्टारक के द्वितीय [1]उद्धरण में आदिषट्क स्मृत है। उत्तरषट्क के समान यह भी स्वतन्त्र ग्रन्थ हो सकता है। भुवनाध्व का विवेचन करते समय (८. २१) भी जयरथ दो बार इस ग्रन्थ का स्मरण करते हैं और अन्यत्र (२९.५६) माधवकुल को इस ग्रन्थ का एक प्रकरण मानते हैं। डॉ. रस्तोगी (पृ. ७३) ने माधवकुल का क्रम सम्प्रदाय के ग्रन्थ के रूप में परिचय दिया है। यह भी हो सकता है कि आगम-कोटि के इस ग्रन्थ में सिद्धान्त, क्रम, कुल आदि मतों का एक साथ निरूपण किया गया हो, जैसा कि यामल-ग्रन्थों में प्राय: देखने को मिलता है। तन्त्रराजभट्टारक जयद्रथयामल से अभिन्न है और

१. लुप्ता. द्वितीय भाग (पृ. ५८) देखिये।

आक्सफोर्ड विश्व विद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष डॉ. ए. साण्डरसन इसका संस्करण तैयार कर रहे हैं, इसकी सूचना हमें पेरिस के तन्त्रशास्त्र के वरिष्ठ विद्वान् डॉ. आन्द्रे पादु ने दी है।

नि. षो. में दी गई चौसठ तन्त्रों की नामावली में इसका नाम नहीं मिलता। सौन्दर्यलहरी (श्लो. ३१) में निर्दिष्ट स्वतन्त्रतन्त्र के रूप में कुछ आचार्य कादिमत का ग्रहण करते हैं, क्योंकि स्वतन्त्रतन्त्र के नाम से भी यह ग्रन्थ उद्धृत मिलता है। गौरीकान्त ज्ञानार्णव को तथा अन्य आचार्य तन्त्रराज को ही यह स्थान देते हैं, जबकि भास्करराय ने नि. षो. को ही यह स्थान दिया है। हमने (उपो., पृ. १२-१३) भी इसी मत का समर्थन किया है।

शक्तिसंगमतन्त्र (१. १. ९-१०; २.५८ ७८-७९) में तन्त्रराज के आठ खण्डों की सूचना मिलती है। वहाँ बताया गया है कि यह ग्रन्थ पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में विभक्त है और प्रत्येक में चार-चार खण्ड हैं। वहाँ का पूर्वार्ध कादिमत और उत्तरार्ध हादिमत का प्रतिपादक है। इसके विषय में अभी कुछ भी कहना संभव नहीं है।

उद्धारकोश

दक्षिणामूर्ति रचित उद्धारकोश नामक ग्रन्थ का प्रथम संस्करण सन् १९३८ में लाहौर से तथा दूसरा संस्करण सन् १९७८ में दिल्ली से मुंशीराम मनोहर लाल द्वारा निकाला गया था। इसमें मन्त्रों के उद्धार के लिये शास्त्रों में निर्दिष्ट संकेतों का संग्रह किया गया है। योगिनीहृदयदीपिका (पृ. २५-२६) में रमाशक्ति के बीज के उद्धार के प्रसंग में-"चन्द्रः शक्तिर्महाशक्तिर्ब्रह्माणी कालिकादिकम्" यह वचन उद्धारोर्ध्वतन्त्र के नाम से स्मृत है। इस वचन की उक्त ग्रन्थ में खोज होनी चाहिये। इसी तरह का तन्त्राभिधान नाम का एक ग्रन्थ कलकत्ता की आगमानुसन्धान समिति द्वारा सन् १९३७ (द्वितीय संस्करण) में प्रकाशित हुआ था। मन्त्रोद्धार की पद्धति को बताने वाले पाँच लघु-ग्रन्थों का यहाँ संग्रह किया गया है। विभिन्न नामों से बोधित होने वाले बीजाक्षरों एवं उनकी परिभाषाओं की सूची भी अकारादि क्रम से यहाँ दी गई है। इतना सब होने पर भी मन्त्रोद्धार के विषय में कठिनाई बनी ही रहती है, क्योंकि प्रायः प्रत्येक तान्त्रिक संप्रदाय की परिभाषाएँ अलग-अलग हैं और किसी एक सम्प्रदाय के मन्त्रों का सही रूप में उद्धार करने के लिये उनकी अपनी इस प्रकार की परिभाषा उपलब्ध हो, तभी यह संभव हो सकता है। प्रपंचसार, अहिर्बुध्न्यसंहिता आदि में इस तरह की स्वयं अपनी परिभाषाएँ उपलब्ध हैं। उनकी सहायता से उन्हीं संप्रदायों के मन्त्रों का उद्धार किया जा सकता है। जहाँ ऐसी सामग्री नहीं मिलती, वहाँ मन्त्रोद्धार सही ही हुआ है, ऐसा नहीं माना जा सकता। बौद्ध तन्त्रों में यह कठिनाई विशेष रूप से लक्षित होती है।

पारानन्दसूत्र

परमानन्द सम्प्रदाय के तीन ग्रन्थ हमारे सामने हैं – पारानन्दसूत्र, परमानन्दमत-संग्रह और परमानन्दतन्त्र। पारानन्दसूत्र का प्रकाशन गायकवाड़ सिरीज, बड़ौदा से सन् १९३१ में हुआ। इसका परिचय डॉ. एन. एन. भट्टाचार्य (पृ. ७१-७२) ने दिया है। इसका रचनाकाल वे ९०० ई. मानते हैं। डॉ. चिन्ताहरण चक्रवर्ती ने इस ग्रन्थ के विषय में स्थान-स्थान पर पर्याप्त विचार किया है, किन्तु इस ग्रन्थ के काल के विषय में वे मौन हैं। ग्रन्थ की विषयवस्तु को देखते हुए इसका प्राचीन तन्त्रों में समावेश नहीं हो सकता। परमानन्दमतसंग्रह का प्रकाशन डॉ. चक्रवर्ती के ग्रन्थ (पृ. १०९-११४) में परिशिष्ट के रूप में हुआ है। परमानन्द मुनि इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने गये हैं। परमानन्दतन्त्र और परानन्दपुराण की भी चक्रवर्ती जी ने (पृ. १०४) चर्चा की है। तीसरे परमानन्दतन्त्र का महेश्वरानन्दनाथ-कृत सौभाग्यानन्दसन्दोह नामक टीका के साथ सं. सं. वि. वि. वाराणसी की योगतन्त्र ग्रन्थमाला के नवम पुष्प के रूप में सन् १९८५ में प्रकाशन हुआ है। टीकाकार ग्रन्थ के प्रारंभ में सौभाग्यप्रपंचोद्योतपद्धति के कर्ता एवं मातृकाचक्रविवेक के व्याख्याता शिवानन्द का तथा सौभाग्यकल्पद्रुम के कर्ता महागुरु माधवानन्द का स्मरण करते हैं। ग्रन्थ के अन्त (पृ. ७०१-७०२) में टीकाकार ने अपनी गुरुपरम्परा का वर्णन इस प्रकार किया है— शिवस्वरूप बालगोपालेन्द्रयति, ईश्वरानन्दनाथ, लोकनाथाश्रम, यादवानन्दनाथ, द्राविडान्वयसंभूत माधवानन्द (लक्ष्मण), गंगाधर, कल्पद्रुमव्याख्याता क्षेमानन्द, श्रीनिवासबुध, विश्वनाथ, अमृतानन्दनाथ, कोंकणस्थ भास्कर और महेश्वरानन्दनाथ। शम्भुनाथ, बालकृष्ण, गणेश, विश्वनाथ आदि के कहने पर महेश्वरानन्द ने इस ग्रन्थ की रचना की। ४९२९ कल्यब्द (१८२८ ई.) के बीतने पर (नन्दपक्षाङ्कजलधिमिताऽतीताब्दके कलौ) भाद्र शुक्ल पंचमी रविवार के दिन यह ग्रन्थ पूरा हुआ।

स्वतन्त्रानन्दनाथ-कृत मातृकाचक्रविवेक का शिवानन्दरचित टीका के साथ सरस्वती भवन ग्रन्थमाला में प्रकाशन हो चुका है। ये शिवानन्द ऋजुविमर्शिनीकार शिवानन्द से और सिंहसिद्धान्तसिन्धुकार जगन्निवासात्मज गोस्वामी शिवानन्द से भी भिन्न हैं। सौभाग्यकल्पद्रुमकार माधवानन्द आदि के द्वारा अनुसृत यह परमानन्द-संप्रदाय स्पष्ट ही परवर्ती काल का है। ऊपर वर्णित आचार्यों में से अनेक के ग्रन्थों की मातृका काशी के सरस्वती भवन ग्रन्थालय में सुरक्षित है। इनके आधार पर उक्त आचार्यों के विषय में पर्याप्त जानकारी मिल सकती है। इनमें श्रीनिवास बुध टीका के साथ त्रिपुरारहस्य के ज्ञान खण्ड का प्रकाशन सरस्वती भवन ग्रन्थमाला में हो चुका है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल वहाँ ४९३२ कल्यब्द (१८३१ ई.) बताया गया है। कोंकणस्थ भास्कर से क्या भास्करराय गृहीत होंगे?

परातन्त्र

[1]मुद्रित परातन्त्र में परातन्त्र अथवा परामत के नाम से लुप्ता. में संगृहीत वचन उपलब्ध नहीं होते, अतः इनकी स्थिति मुद्रित ग्रन्थ से भिन्न ही माननी होगी। पराख्य, पराख्यतन्त्र, पराख्यसंहिता जैसे नामों से संभवतः एक ही ग्रन्थ का परामर्श किया जाता है। क्षेमराज महासंहिता के नाम से भी पराख्यसंहिता को उद्धृत करते हैं। यह शैवागम का ग्रन्थ लगता है, मुद्रित परातन्त्र के समान शाक्त तन्त्र का नहीं। परातन्त्र की अनेक मातृकाएँ उपलब्ध हैं। उनकी परीक्षा अपेक्षित है। स्वच्छन्दोद्योत (१०.२००) में स्मृत पराख्यसंहिता में श्वेत महामुनि चर्चित हैं। पुराणों की २८ पाशुपत योगाचार्यों की नामावली में प्रथम नाम श्वेत सर्वत्र मिलता है। ब्रह्मसूत्र के शैवभाष्यकार श्रीकण्ठ अपने भाष्य के आरंभ में इनका समस्त आगमों के प्रवर्तक आचार्य के रूप में नमन करते हैं।

ललितोपाख्यान

ब्रह्माण्डपुराण के अन्त में ललितोपाख्यान उपलब्ध है। ललितासहस्रनाम उसी का एक भाग है और इस पर लिखा गया भास्करराय का भाष्य त्रिपुरा सम्प्रदाय का एक माननीय ग्रन्थ है। ब्र. पु. (४. ३८. ८-१०) में दशविध ललिता-मन्त्रों का उल्लेख मिलता है और बताया गया है कि लोपामुद्रा की हादिविद्या और कामराज की कादिविद्या का इनमें विशेष स्थान है। ज्ञानार्णवतन्त्र के बारहवें पटल में मनु, चन्द्र, कुबेर आदि के द्वारा प्रवर्तित द्वादश विद्याओं का स्वरूप निर्दिष्ट है और इस तन्त्र की व्याख्यानात्मिका शंकरानन्दनाथ-कृत सुन्दरीमहोदय नामक पद्धति में इन विद्याओं का विवरण दिया गया है। यह ग्रन्थ अब सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से प्रकाशित हो चुका है।

शक्तिसंगमतन्त्र

इस ग्रन्थ का कालीखण्ड नामक प्रथम भाग सन् १९२२ में, ताराखण्ड नामक दूसरा भाग सन् १९४१ में, सुन्दरीखण्ड नामक तीसरा भाग सन् १९४७ में तथा छिन्नमस्ता नामक चतुर्थ भाग सन् १९७८ में बड़ौदा के गायकवाड़ शोध संस्थान से प्रकाशित हुआ। प्रथम तीन खण्डों के सम्पादक डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य थे और चतुर्थ खण्ड का सम्पादन इन पंक्तियों के लेखक ने किया था। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के सरस्वती भवन पुस्तकालय में इस ग्रन्थ के चारों खण्डों की १८ मातृकाएँ उपलब्ध हुईं थी। उनको देखने से ज्ञात हुआ कि इसका तृतीय खण्ड

---

१. परातन्त्रम्, चण्डी कार्यालय, प्रयाग, संवत् २०१६

[1]षट्शाम्भवरहस्य के और चतुर्थ खण्ड तारा[2] के नाम से भी जाना जाता है। डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची ने[3] अपने ग्रन्थ में जिस संमोहतन्त्र का परिचय दिया है, वह भी इस तन्त्र के चतुर्थ खण्ड से अभिन्न[4] है।

प्राय: ८० के लगभग ग्रन्थों के तथा १५० के लगभग मत, सम्प्रदाय, क्रम, मार्ग आदि के परिचायक इस ग्रन्थ का महत्त्व स्पष्ट है। प्राचीन ग्रन्थों में इसका परिगणन अथवा उल्लेख न होने के कारण इसका महत्त्व कम नहीं हो जाता। अन्यत्र अनुपलब्ध अनेक ग्रन्थों के नामों का, उनके विषयों का, लुप्तप्राय अनेक सम्प्रदायों और आचार्यों का एवं उनके मतों का परिचय मिलने से इस ग्रन्थ को तान्त्रिक विश्वकोश का स्थान दिया जा सकता है। अपनी इसी विशेषता के कारण यह किसी एक सम्प्रदाय का ग्रन्थ नहीं है। इसके सभी खण्डों में अपने नाम के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों के विशिष्ट विषयों का भी विश्लेषण मिलता है। प्रत्येक पटल की समाप्ति पर प्रतिपाद्य विषय की सूचना पुष्पिका-वाक्य से मिलती है, किन्तु उनसे भिन्न विषयों का भी वर्णन वहाँ हुआ है। ये ही विषय अन्य पटलों और खण्डों में भी देखे जा सकते हैं। इस विषय में ग्रन्थ (१. ५. १०१) में ही एक स्थान पर बताया गया है कि ऐसे स्थलों पर पुनरुक्ति नहीं मानी जानी चाहिये, क्योंकि विद्या के भेद से इनमें विशेषता आ जाती है।

प्राचीन तन्त्रों में जैसे दार्शनिक एवं योगशास्त्रीय विषयों का प्रतिपादन मिलता है, वैसा नवीन तन्त्रों में देखने को नहीं मिलता। इस तन्त्र का आविर्भाव अर्वाचीन काल में हुआ है, अत: इसकी भी यही स्थिति है। चतुर्थ खण्ड की समाप्ति में छ: प्रकार की वन्ध्याओं का तथा अपस्मार, ब्रह्मराक्षस आदि का वर्णन अप्रासंगिक लगता है, किन्तु इससे पहले द्विविध शाबर मन्त्रों का वर्णन करके बताया गया है कि इन शाबर मन्त्रों की सहायता से विविध दोषों का परिहार किया जा सकता है (११. १५)। यहाँ

---

१. सरस्वती भवन पुस्तकालय, वाराणसी में शक्तिसंगमतन्त्र की विभिन्न मातृकाओं की परीक्षा करते समय षट्शांभवरहस्य नाम की दो मातृकाएँ मिली थीं। ये दोनों मातृकाएँ इस ग्रन्थ के तृतीय खण्ड की हैं। इनकी संख्या २४६५८ तथा ९५९०५ हैं।

२. मैथिली लिपि में लिखित ६७१५७ संख्या की मातृका में यही नाम दिया गया है। शक्ति. उपो. की पृ. २, ४, ७, ४४ की टिप्पणियाँ भी देखिये। इस चतुर्थ खण्ड को संमोहनतन्त्र के नाम से भी जाना जाता है।

३. डॉ० बागची का स्टडीज इन तन्त्राज्, पृ. ९६-१०१ देखिये।

४. "संमोहनतन्त्रं शक्तिसंगमतन्त्रादभिन्नम्" शीर्षक निबन्ध में इस विषय पर विस्तार से विचार किया गया है। देखिये— तन्त्रयात्रा, पृ. १०६-१११

स्वाभाविक रूप से जिज्ञासा होती है कि किन-किन दोषों का परिहार होता है? इसी के उत्तर के रूप में वन्ध्या आदि दोषों के निवारण की चर्चा यहाँ हुई है। अथवा इसका यह भी समाधान दिया जा सकता है कि ग्रन्थ के अन्त में सूचित इन विषयों का किसी अन्य ग्रन्थ में विस्तार से समाधान दिया जाने वाला हो। तन्त्रशास्त्र की इस पद्धति से हम सभी परिचित हैं[१]।

शक्तिसंगमतन्त्र (४. ८. २१७-२१८) में ही बताया गया हैं कि कलियुग में शंकर की उत्पत्ति के बाद १०३० वर्ष बीत जाने पर इस तन्त्र का आविर्भाव होगा। शंकर पद से यहाँ शंकराचार्य ही गृहीत हैं। इसी तन्त्र के प्रथम खण्ड (१.१६-१७) में बताया गया है कि बौद्धों के पाखण्ड को दूर कर सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा के लिये ६७२ संवत् में दिव्यौघ परम्परा में इनका आविर्भाव हुआ था। इन दोनों उद्धरणों को मिलाकर देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ आचार्य शंकर के विषय में ही कहा गया है। दो बातें इससे स्पष्ट हो जाती हैं – एक तो यह कि १७वीं शताब्दी में इस तन्त्र का आविर्भाव हुआ, जो अन्य प्रमाणों से भी पुष्ट हो जाता है। दूसरा यह कि भारतीय परम्परा कुमारिल भट्ट और आचार्य शंकर को जो समकालीन मानती है, उसकी पुष्टि इस वचन से भी हो जाती है। स्पष्ट है कि आधुनिक इतिहासज्ञों के द्वारा निर्धारित इनका काल सही नहीं है। उसके पुनः परीक्षण[२] की आवश्यकता है।

कुछ विद्वान् इस पर सन्देह व्यक्त करते हैं कि इन प्रकरणों में आद्य शंकराचार्य की चर्चा है। उनके सन्देह की निवृत्ति के लिये ही यहाँ इसी ग्रन्थ के दो और उद्धरण दिये जा रहे हैं —

कुलौ युगे तु सम्प्राप्ते जम्बुद्वीपे महेश्वरि।
खण्डे भारतसंज्ञे तु श्रीशैलगिरिगह्वरे।।
परिधावीवत्सरे तु सप्तम्यां शनिवासरे।
उद्दण्डवर्षातीते तु दिननित्योदये शिवे।।
सकारोदयवेलायां मध्याह्ने शाङ्करे गृहे।
बौद्धोत्सादनकार्यार्थं शङ्करो मर्त्यरूपधृक्।।
अवतीर्णो महेशानि पञ्चप्रेतसमन्वितः। (४.८. ६२-६५)

---

१. नित्याषोडशिकार्णव, योगिनीहृदय, तन्त्रराजतन्त्र जैसे शाक्त तन्त्रों में तथा योगिनीसंचर्या जैसे बौद्ध तन्त्रों में इस पद्धति को देखा जा सकता है।

२. डॉ. तून गान्द्रियान का "हिन्दू तान्त्रिक एण्ड शाक्त लिटरेचर" शीर्षक ग्रन्थ (पृ. १३१) देखिये।

यहाँ आचार्य शंकर की उत्पत्ति के देश-काल आदि के वर्णन के साथ यह भी बताया गया है बौद्धों के उत्सादन के लिये पाँच प्रेतों के साथ शंकर ने मानव शरीर धारण किया था। पाँच प्रेतों का वर्णन वहीं इस प्रकार किया गया है—

कुलौ युगे शङ्करो हि ह्यवतीर्णो महेश्वरि।।

शङ्करश्च महेशानि हस्तामलक एव च।
सुरेश्वरस्ततः प्रोक्तस्तोटकस्तदनन्तरम्।।
पद्मपादः पञ्चमः स्यात् पञ्चप्रेतानुकल्पनम्। (४.८. १११-११३)

प्रस्तुत स्थल पर आचार्य शंकर और उनके चार शिष्यों का पंचप्रेत के रूप में उल्लेख स्पष्ट है। अतः इस ग्रन्थ के विभिन्न चार स्थलों पर वर्णित शंकर आचार्य शंकर ही हैं और विक्रम संवत् ६७२ उन्हीं के आविर्भाव का समय है, यह मानने में हमें किसी कठिनाई का अनुभव नहीं होना चाहिये। ऊपर के उद्धरण में तिथि, वार, वर्ष का भी उल्लेख मिलता है। ज्यौतिषशास्त्र की पद्धति से गणना कर इसकी पुष्टि की जा सकती है कि विक्रम संवत्सर ६७२ में इन सबका योग था या नहीं?

इस ग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड के अष्टम पटल (श्लो. ६०-११५, २१७-२१८) शंकराचार्य द्वारा प्रवर्तित दशनामी सम्प्रदाय का और पंचाम्नायों का भी परिचय दिया गया है। इस प्रसंग को वहीं अथवा "निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्" नामक ग्रन्थ (पृ. ८३-८५) में प्रकाशित "शक्तिसंगमतन्त्रे शाङ्करदशनामिसम्प्रदायः" शीर्षक निबन्ध में देखा जा सकता है।

आगमवागीश कृष्णानन्द ने अपने तन्त्रसार में इस तन्त्र को उद्धृत किया है। इस तन्त्र में निम्बार्क, रामानन्द, राधावल्लभ, हरिव्यासी संप्रदायों की चर्चा है। डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य ने इस तन्त्र की प्रथम भाग की प्रस्तावना में १५८१ ई. इसका आविर्भावकाल माना है। उन्होंने गोकुलेश संप्रदाय पर ध्यान नहीं दिया। पुष्टिमार्ग के संस्थापक वल्लभाचार्य के पौत्र गोकुलनाथ ने इसकी स्थापना की थी। डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त १५५४-१६४३ ई. के बीच इनका समय मानते हैं। सम्राट् जहाँगीर के समय (१६०५-१६२७) में उन्होंने अपना संप्रदाय चलाया था। शक्तिसंगम के उक्त विवरण के अनुसार वि. ६७२ वर्ष व्यतीत होने पर शंकर की उत्पत्ति हुई और इससे १०३० वर्ष बीत जाने पर यह तन्त्र प्रकाशित हुआ। तदनुसार १७०२ वर्ष अर्थात् १६४५ ई. वर्ष में इसका आविर्भाव हुआ, ऐसा माना जायगा। ऊपर के विवरण से इसका सामंजस्य भी बैठ जाता है। डॉ. वी. भट्टाचार्य तन्त्रसार के कर्ता आगमवागीश का समय १६०७ के आसपास मानते हैं। डॉ० चिन्ताहरण चक्रवर्ती कृष्णानन्द को चैतन्य-समकालीन

(१४८५-१५२३ ई.) मानते हैं। अन्य विद्वान् इनको परवर्ती आचार्य सिद्ध करते हैं। कृष्णानन्द ने वास्तव में शक्तिसंगमतन्त्र को उद्धृत किया है, तो इस तन्त्र के आविर्भाव की उक्त तिथि के बाद ही उनकी स्थिति माननी होगी।

"समाप्ते फाल्गुने मासे कृष्णैकादशिका तु या" (४. ६. २२), "श्रावणे चाष्टमी कृष्णा बुधरोहिणीसंयुता। वज्रयोगे मध्यरात्रौ पूर्णः कृष्णो हरिः स्वयम्।।" (४. ६. ६४) इस तरह के जयन्ती प्रकरण में पठित वाक्यों से स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रन्थ में कृष्ण पक्ष में मासान्त माना गया है। शुक्ल पक्ष से मासारम्भ होने के कारण ही तदनुसार जन्माष्टमी श्रावण मास के कृष्ण पक्ष में पड़ती है। विन्ध्य के दक्षिणवर्ती प्रदेशों के पंचांग इसी का अनुसरण करते हैं। स्पष्ट है कि इस तन्त्र का आविर्भाव उन्हीं प्रदेशों में कहीं हुआ है, क्योंकि उत्तरभारत के पंचांगों के अनुसार फाल्गुन मास की समाप्ति शुक्ल पक्ष में और जन्माष्टमी भाद्रपद कृष्ण पक्ष में आयोजित होती है।

श्रीकण्ठीसंहिता, नित्याषोडशिकार्णव, सर्वोल्लासतन्त्रोद्धृत तोडलोत्तरतन्त्र में प्रदर्शित ६४ तन्त्रों की नामावली में शक्तिसंगमतन्त्र का नाम नहीं मिलता। महासिद्धसारतन्त्र में विष्णुक्रान्ता, रथक्रान्ता और अश्वक्रान्ता के भेद से प्रत्येक में ६४ तन्त्र परिगणित हैं। यहाँ रथक्रान्ता विभाग में इसका नाम उपलब्ध होता है। इससे भी इस बात की पुष्टि होती है कि यह तन्त्र परवर्ती काल में आविर्भूत हुआ था।

शक्तिसंगमतन्त्र में वर्णित मेधादीक्षा, क्रमदीक्षा जैसे प्रकरणों की भी अलग से मातृकाएँ उपलब्ध हैं। इसी तरह के अन्य अनेक विषयों की विस्तृत सूचना तथा शक्तिसंगमतन्त्र में उद्धृत ग्रन्थों का परिचय इसके चतुर्थ छिन्नमस्ता खण्ड के संस्कृत उपोद्घात (पृ. १-२०) से प्राप्त किया जा सकता है। इस तन्त्र में प्रतिपादित दर्शन का स्वरूप वहीं (पृ. ५१-५४) देखिये।

त्रिपुरा सम्प्रदाय के आचार्य एवं कृतियाँ

अगस्त्य की कृति के रूप में प्रसिद्ध शक्तिसूत्र, परशुरामकल्पसूत्र, गौडपाद कृत श्रीविद्यारत्नसूत्र और सुभगोदयस्तुति, शंकराचार्य कृत सौन्दर्यलहरी, सुभगोदय, सौभाग्यविद्या और त्रिशतीभाष्य, ब्रह्माण्डपुराण का ललितोपाख्यान, त्रिपुरारहस्य के माहात्म्य और ज्ञानखण्ड तथा ज्ञानार्णव, कादिमत, दक्षिणामूर्तिसंहिता, परमानन्दतन्त्र जैसे त्रिपुरामत के तन्त्र-ग्रन्थ शिवानन्दकृत ऋजुविमर्शिनी, महेश्वरानन्दकृत महार्थमंजरीपरिमल, अमृतानन्द की योगिनीहृदयदीपिका, जयरथ के वामकेश्वरीमतविवरण, विद्यानन्दकृत अर्थरत्नावली में उद्धृत नहीं हैं। प्राचीन ग्रन्थों में इनके उद्धरणों की खोज अपेक्षित है।

[1]अम्बास्तव की टीका में— "श्रीशङ्कराचार्यकृतौ सौभाग्यविद्यासुभगोदयाख्यौ" यह वचन मिलता है। इनका उल्लेख अनेक स्थानों पर हुआ है। सुभगोदय के व्याख्यान भी उद्धृत हैं, किन्तु उनकी मातृकाएँ कहीं उपलब्ध नहीं है। गौडपादाचार्य-कृत सुभगोदय- स्तुति इससे भिन्न ग्रन्थ है। शिवानन्द-विरचित सुभगोदय और सुभगोदयवासना का भी इनसे कोई संबन्ध नहीं है। शंकराचार्य विरचित सुभगोदय और उसकी व्याख्या का उल्लेख लक्ष्मीधर ने किया है। लल्ल की कृति सुभगोदयटीका का उल्लेख भास्करराय ने ललितासहस्रनामभाष्य (सौभाग्यभास्कर) में किया है। इस तरह के अन्य भी अनेक ग्रन्थ इस सम्प्रदाय के आज उपलब्ध नहीं हैं। शांकर मठों में इनकी खोज होनी चाहिये।

समयी मत के आज उपलब्ध ग्रन्थों में गौडपादकृत सुभगोदयस्तुति, शंकराचार्य कृत सौन्दर्यलहरी और उसकी लक्ष्मीधरा टीका प्रसिद्ध हैं। श्रीमान् अनन्तकृष्ण शास्त्री के द्वारा सम्पादित सौन्दर्यलहरी की भूमिका में इसकी ३३ टीकाओं का उल्लेख मिलता है। इनमें गौरीकान्त की टीका भी समाविष्ट है। डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने[2] इसे नि. षो. की टीका बताया है। यह ठीक नहीं है। बात यह है कि सौन्दर्यलहरी के "चतुष्षष्टचा तन्त्रैः" (१. ३१) इस श्लोक की व्याख्या करते समय सभी व्याख्याकार नि. षो. (१. १४-२१) में परिगणित तन्त्रों की नामावली को ही उद्धृत करते हैं। भास्करराय ने अपने सेतुबन्ध में इनकी आलोचना की है। इसीके आधार पर इन दोनों ग्रन्थों के व्याख्याकारों के नामों में घालमेल हो गया है।

ईश्वरशिव और विश्वावर्त नाम के दो आचार्यों ने त्रिपुरा सम्प्रदाय की कश्मीर में अवतारणा की, ऐसा बताया जा चुका है। ईश्वरशिव रसमहोदधि के कर्ता हैं। इसमें वामकेश्वरीमत की श्लोकबद्ध व्याख्या की गई लगती है। इसके विस्तृत उद्धरण जयरथ के विवरण में मिलते हैं। यहाँ [3]वार्त्तिककार के भी अनेक वचन उद्धृत हैं। यह वार्त्तिककार विश्वावर्त हैं, या रसमहोदधि को ही वार्त्तिक कहा गया है, प्रमाण के अभाव में इस विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। जयरथ के [4]दो वचनों से विश्वावर्त इस मत के महनीय आचार्य थे, यह स्पष्ट होता है। जयरथ के ही अन्य [5]दो वचनों के प्रमाण से यह भी ज्ञात होता है कि शंकरराशि ने भी वामकेश्वरीमत की व्याख्या की थी।

१. सरस्वती भवन पुस्तकालय, वाराणसी की २१९२२ संख्या की मातृका का द्वितीय पत्र देखिये।
२. अभिनवगुप्त०, द्वितीय संस्करण, पृ. ५७० देखिये।
३. वामकेश्वरीमतविवरण (पृ. ९, १२, ३०) द्रष्टव्य।
४. वहीं, पृ. ३६ एवं ४८ देखिये।
५. वहीं, पृ. ४८, ५४ द्रष्टव्य।

इन्हीं में आचार्य अल्लट भी थे। इनके मत की जयरथ ने [1]स्थान-स्थान पर समालोचना की है। सूत्रकार नरवाहनदत्त (पृ. २), वामकेश्वरीमतव्याख्याता कल्याणवर्मा (पृ. १३७), वृत्तिकार दीपकनाथ (पृ. ११५), मन्त्रसंकेतकर्ता वुप्पाराहुल (पृ. १२५), ये सब ग्रन्थ और ग्रन्थकार त्रिपुरा सम्प्रदाय के ही लगते हैं। डॉ. कान्तिचन्द्र[2] पाण्डेय ने जयरथ का समय ई. द्वादश शताब्दी का अन्तिम भाग तथा त्रयोदश शताब्दी का पूर्व भाग निर्धारित किया है। इस ग्रन्थ की भूमिका में ई. बारहवीं शताब्दी का पूर्व भाग माना गया है। ये सभी ग्रन्थ और ग्रन्थकार इससे पूर्ववर्ती ही माने जायंगे।

इसके बाद दक्षिण भारत में प्रवृत्त त्रिपुरा सम्प्रदाय की परम्परा में दीपकनाथ के अतिरिक्त ऊपर चर्चित किसी भी ग्रन्थ या ग्रन्थकार की चर्चा नहीं है। इसी तरह से ऊपर के ग्रन्थों में त्रिपुरा विद्या के हादि-कादि विभाग की भी कोई चर्चा नहीं है। शिवानन्द आदि के ग्रन्थों में हादिमत के ग्रन्थ-ग्रन्थकारों की चर्चा आई है। इनमें सिद्धौघ परम्परा के कंकालतापस का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। कंकाल, कंकालतापन अथवा कालतापन के रूप में भी इनका उल्लेख मिलता है। सिद्धौघ परम्परा के दूसरे गुरु धर्माचार्य हैं। [3]अमृतानन्द के अनुसार ये लघुस्तव के कर्ता हैं। मूलमात्र अथवा टीकाओं के साथ इसके अनेक संस्करण हो चुके हैं। पंचस्तवी में [4]प्रकाशित पाँच स्तवों में यह प्रथम है। इन पाँचों स्तवों की प्राप्ति एक ही मातृका में एक साथ हुई है, अतः इन पाँचों स्तवों के कर्ता एक ही आचार्य हैं, ऐसा इस ग्रन्थ के सम्पादक का मानना उचित ही लगता है।

हादिमत की सिद्धौघ परम्परा में चौथा नाम दीपकाचार्य अथवा दीपकनाथ है। ऋजुविमर्शिनीकार ने अपने गोत्र के महत्तर दीपकाचार्य को दण्डक का रचयिता बताया है। इस ग्रन्थ का पूरा नाम त्रिपुरासुन्दरीदण्डक है। विद्यानन्द ने अर्थरत्नावली में इसको दो बार उद्धृत किया है और भास्करराय ने भी सेतुबन्ध (४. ९) में इनका स्मरण किया है। [5]जयरथ के अनुसार ये वामकेश्वरीमत के प्रथम वृत्तिकार हैं। यहाँ दीपिकाचार्य के

---

१. वहीं, पृ. ५४-५५ देखिये ; इस प्रसंग में अल्लट के लिये प्रयुक्त भाषा अन्यत्र भी देखने को मिलती है।
२. अभिनवगुप्त॰ द्वितीय संस्करण, पृ. २६२ द्रष्टव्य।
३. सौभाग्यसुधोदय (६.१५) द्रष्टव्य। ऋजुविमर्शिनी (पृ. २२३) भी देखिये।
४. इसके अनेक संस्करण हो चुके हैं। यहाँ लघुस्तव के अतिरिक्त घट, चर्चा, अम्बा और सकलजननीस्तव समाविष्ट हैं।
५. "आ श्रीदीपकनाथतो ह्यगणितैरद्यापि वृत्तिः कृता" (पृ. ११५) जयरथ के इस वचन को इसमें प्रमाण मान सकते हैं।

स्थान पर दीपकाचार्य पाठ होना चाहिये। वामकेश्वरीमतविवरण के सम्पादक ने दीपिकाचार्य पद से पुण्यानन्द के शिष्य योगिनीहृदयदीपिकाकार योगी अमृतानन्द का ग्रहण किया है और डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय दीपिकानाथ नाम मानते हैं। दीपकनाथसिद्ध का त्रिपुरसुन्दरीदण्डक अब नि. षो. के परिशिष्ट में प्रकाशित हो चुका है। ये ही वामकेश्वरीमत के प्रथम व्याख्याता हैं। दीपिकाकार अमृतानन्द योगी परवर्ती काल के आचार्य हैं।

भास्करराय ने ललितासहस्रनाम के सौभाग्यभास्कर नामक भाष्य (पृ. ७३-७४) में कल्याणाचार्य को उद्धृत किया है। संभव है, इसके रचयिता हादिविद्या के मानवौघ परम्परा के पंचम गुरु कल्याणदेव हों।

धर्माचार्य

इनकी संक्षिप्त चर्चा अभी आ चुकी है। धर्माचार्य हादि(लोपामुद्रा)विद्या की सिद्धौघ परम्परा के द्वितीय आचार्य हैं। शिवानन्द ने ऋजुविमर्शिनी (पृ. २२३) में और अमृतानन्द ने सौभाग्यसुधोदय (६.१५) में इनको लघुनुति(स्तव) का कर्ता माना है। यह लघुस्तव निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई से प्रकाशित काव्यमाला के तृतीय गुच्छक में और मैसूर से प्रकाशित सौन्दर्यलहरी में पंचस्तवी के नाम से प्रकाशित ग्रन्थ का प्रथम स्तव है। ये पाँचों स्तव सर्वत्र एक ही मातृका में उपलब्ध होते हैं, अत: सभी का कर्ता एक ही [1]आचार्य को माना गया है। स्पष्ट है कि धर्माचार्य ही इस पंचस्तवी के कर्ता हैं। भोजराज ने सरस्वतीकण्ठाभरण के पंचम परिच्छेद में यहाँ के तृतीय अम्बास्तव का "लक्ष्मीवशीकरण" इत्यादि १८वाँ श्लोक और काव्यप्रकाश के कर्ता मम्मट ने इसी स्तव के "पादाम्बुजं भवतु" इस प्रथम श्लोक के उत्तरार्ध को दशम उल्लास में उद्धृत किया है। स्पष्ट है कि पंचस्तवी के रचयिता धर्माचार्य सरस्वतीकण्ठाभरणकार और काव्यप्रकाशकार से पहले हो चुके थे।

जैन धर्मावलम्बी प्रभाचन्द्राचार्य की कृति प्रभावकचरित में धर्मपंडित की चर्चा मिलती है। ये लघुस्तुति के कर्ता धर्माचार्य से अभिन्न प्रतीत होते हैं। इस ग्रन्थ (पृ. १४६-१५०) में धर्म पंडित के लिये लिखा गया है कि ये लाट देश के नर्मदा तटवर्ती भृगुकच्छ प्रदेश के रहने वाले थे। इनके पिता का नाम सूरिदेव था, जो वेद और वेदांग में पारंगत ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम सावित्री देवी था। धर्म और शर्म के नाम के ये दो भाई थे और इनके गोमती नाम की एक बहिन थी। इनकी क्षेत्रपाल की उपासना और योगिनीदर्शन आदि का भी वर्णन मिलता है। इनके धारापुरी जाने तथा वहाँ राजा भोज की राजसभा में काव्य-निर्माण करने और विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ करने की

१. एक ही मातृका में इन पाँचों स्तवों की उपलब्धि होने से ऐसा माना गया है।

भी चर्चा है। धर्म का सिद्ध सारस्वत कवि के रूप में बार-बार उल्लेख किया गया है। राजस्थान पुरातत्त्व ग्रन्थमाला में प्रकाशित त्रिपुराभारती-लघुस्तव के अन्त में सिद्ध सारस्वत की कृति मातंगी स्तोत्र भी प्रकाशित है। क्या सिद्ध सारस्वत धर्माचार्य का ही उपनाम है?

प्रभावकचरित में वर्णित धर्म पंडित ही भृगुकच्छ से आकर यहाँ बस गये थे और संभवतः यहीं इन्होंने पंचस्तवी की रचना की। सरस्वतीकण्ठाभरण का रचनाकाल म. म. पी. वी. काणे[1] ने १०३०-१०५० ई. माना है। इसी के आसपास पंचस्तवी का रचनाकाल भी माना जा सकता है।

त्रिपुरा सम्प्रदाय का जैन धर्म के साथ निकट का सम्पर्क रहा है। कवि हस्तिमल्ल (नागभट्ट) को हम उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। ऊपर चर्चित, त्रिपुराभारतीलघुस्तव की भूमिका में जैन मुनि जिनविजय जी ने लिखा है कि इस लघुस्तुति का प्रचार जैन सम्प्रदाय में भी प्राचीन काल से बहुत अधिक रूप में प्रचलित रहा है (पृ. २)। जैनाचार्य सोमतिलक सूरि की टीका के साथ मुनि जी ने इसी नाम से लघुस्तव को प्रकाशित कराया है।

लघुस्तव राघवानन्द-कृत वृत्ति के साथ त्रिवेन्द्रम् संस्कृत ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुआ है। इस स्तव की परमेश्वर-कृत लगभग दो हजार श्लोक प्रमाण की लघुबृंहणी-व्याख्या को महेश्वरानन्द ने महार्थमजंरीपरिमल (पृ. १३९, १६७) में उद्धृत किया है। त्रिवेन्द्रम् में इसकी मातृका भी सुरक्षित है। उक्त पंचस्तवी के तीन स्तवों (लघुस्तव, चर्चास्तव और सकलजननीस्तव) का पंडित हरभट्ट शास्त्री कृत पांडित्यपूर्ण टीका के साथ कश्मीर के प्रसिद्ध विद्वान् पंडित श्री दीनानाथ यक्ष द्वारा संपादित संस्करण दो जिल्दों में प्रकाश में आ चुका है। यह दुःख का विषय है कि बाकी के दो स्तव (घटस्तव और अम्बास्तव) अभी प्रकाशित नहीं हो सके।

दीपकनाथ

दीपकनाथ अथवा दीपकाचार्य हादि(लोपामुद्रा)विद्या की सिद्धौघ परम्परा के अन्तिम आचार्य हैं। शिवानन्द ने ऋजुविमर्शिनी में— "अस्मद्गोत्रमहत्तरः प्रसिद्धबह्वपादानो भोजदेवदृष्टचमत्कारो महादेशिकप्रवरः श्रीमान् दीपकाचार्यो दण्डककर्ता" (पृ. २२३) इस तरह से इनका परिचय दिया है। इन्होंने ही मानवौघ परम्परा के प्रथम गुरु जिष्णुदेव को इनका औरस पुत्र कहा है। इससे **'अस्मद्गोत्रमहत्तरः'** यह विशेषण सार्थक है। **'प्रसिद्धबह्वपादानः'** इनका दूसरा विशेषण हैं। अमृतानन्द ने सौभाग्यसुधोदय (६.१६) में

१. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स, तृतीय संस्करण, पृ. २६१ द्रष्टव्य।

इनको **'नानापदानमहितः'** कहा है। इन दोनों विशेषणों का एक ही अर्थ है कि दीपकनाथ अपने महनीय कार्यों के लिये लोक में प्रसिद्ध रहे हैं। **'भोजदेवदृष्टचमत्कारः'** इनका तीसरा विशेषण है। धर्माचार्य के प्रसंग में बताया गया है कि सरस्वतीकठाभरण के कर्ता भोजंदेव ने इनकी पंचस्तवी का श्लोक उद्धृत किया है। इस विशेषण से यह स्पष्ट होता है कि भोजदेव ने इनके चमत्कार को देखा है। इनका चौथा विशेषण है **'दण्डककर्ता'**। दण्डक पद से त्रिपुरसुन्दरीदण्डक का ग्रहण होता है। विद्यानन्द ने अर्थरत्नावली (पृ. २०४, २३७) में दण्डक को उद्धृत किया है। नि. षो. के परिशिष्ट में छपे इस ग्रन्थ में ये वचन उपलब्ध हैं। स्पष्ट है कि दीपकनाथ इस दण्डक के कर्ता हैं। भास्करराय (४. ९) ने अपनी सेतुबन्धव्याख्या में दीपकाचार्य के व्याख्यान को उद्धृत किया है। वामकेश्वरीमत के विवरण (पृ. ११५) में जयरथ ने भी इसकी सूचना दी है। वहाँ 'दीपिकाचार्य' के स्थान पर 'दीपकाचार्य' पाठ होना चाहिये, जो सेतुबन्ध में स्वीकृत है। इस ग्रन्थ के सम्पादक ने [1]डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने और तदनुरूप [2]हमने भी दीपिकाचार्य के नाम से अमृतानन्द का ग्रहण कर इनके समय को निर्धारित किया था। इन सबकी अब कोई प्रासंगिकता नहीं रह गई है और नई उपलब्ध सामग्री के आधार पर अमृतानन्द के समय का निर्धारण अन्यत्र किया गया है। स्पष्ट है कि अन्तिम सिद्धाचार्य दीपकनाथ अथवा दीपकाचार्य त्रिपुरसुन्दरीदण्डक के कर्ता तथा नित्याषोडशिकार्णव (वामकेश्वरीमत) के आद्य व्याख्याता हैं।

रससारसंग्रह

इस नाम के ग्रन्थ के वचन ऋजु. (पृ. ११०), अर्थरत्नावली (पृ. ११४) तथा चिद्वल्ली (पृ. ३९) में उपलब्ध हैं। ऋजु. (पृ. १०८) में उद्धृत अभियुक्तवचन के प्रमाण से यह ग्रन्थ ईश्वर-कृत है और इसमें २४ हजार श्लोक हैं। हादिविद्या का यहाँ उद्धार किया गया है, अतः कादिविद्या के उपासक भास्करराय (नि. षो., पृ. ६५) ने इसे प्रमाण नहीं माना। आफ्रेख्ट सूची (भा. १, पृ. ४९६) से इस नाम के आयुर्वेद ग्रन्थ की सूचना मिलती है। इसके कर्ता का नाम गंगाधर है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में उपचार के रूप में यन्त्रों और मन्त्रों के उपयोग का भी विधान मिलता है। स्तोत्रकार भट्ट गंगाधर मिश्र के वचन ऋजु. (पृ. ६९, ८०, १३४) में उद्धृत हैं। इन सबकी सूक्ष्म परीक्षा अपेक्षित है।

क्षेमेन्द्र

ऋजुविमर्शिनी (पृ. ७८, १५१) में क्षेमेन्द्र के गीतानिष्यन्द को उद्धृत किया गया है। महार्थमंजरीपरिमल (पृ. १०८, ११८) और चिद्वल्ली (पृ. १७) में भी

१. अभिनवगुप्त, द्वितीय संस्करण, पृ. २६२ एवं ५८१ द्रष्टव्य।

२. तन्त्रयात्रा (पृ. ३९-४०) द्रष्टव्य।

गीतानिष्यन्द के वचन उद्धृत हैं। काव्यशास्त्र में औचित्य सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक क्षेमेन्द्र से ये भिन्न हैं या अभिन्न, इसका अभी निर्णय होना है। यहाँ के सभी वचन नि. षो. के उपोद्घात में (पृ. ३५) में संगृहीत हैं। अन्तिम श्लोक विज्ञानभैरवोद्योत में भी पाठभेद के साथ मिलता है।

संकेतपद्धति

अर्थरत्नावली, ज्ञानदीपविमर्शिनी, योगिनीहृदयदीपिका, सौन्दर्यलहरी की टीका सौभाग्यवर्धनी जैसे ग्रन्थों में संकेतपद्धति के वचन बहुशः उद्धृत हैं। शिवानन्द ने ऋजुविमर्शिनी में अभियुक्तवचन अथवा पूजोपनिषत् के नाम से तथा चिद्वल्लीकार नटनानन्द ने आगम के नाम से यहाँ के वचनों को उद्धृत किया है। ज्ञानदीपविमर्शिनी, योगिनीहृदयदीपिका में ग्रन्थारंभ में गणेश, बटुक आदि की वन्दना इसी ग्रन्थ की पद्धति से की गई है। इस ग्रन्थ के कर्ता के विषय में अभी तक कोई सूचना नहीं मिली है। इसके विभिन्न वचनों को देखने से स्पष्ट होता है कि हादिविद्या के अनुयायी किसी आचार्य ने इसकी रचना की है। बाद के सभी पद्धतिकारों और व्याख्याकारों ने साम्प्रदायिक स्थिति की जानकारी के लिये इसको प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है। ऋजुविमर्शिनी (पृ. ११) और चिद्वल्ली (पृ. १३, २९) में उद्धृत "स्वेच्छाविभावितानन्त" इत्यादि श्लोक संकेतपद्धति का मंगलाचरण हो सकता है। इसीके साथ चिद्वल्ली (पृ. १२) का "अखण्डितस्वभावोऽपि" यह श्लोक भी मिलता है। ऋजुविमर्शिनी (पृ. १०७-१०८) में उद्धृत "अनेककोटि······ रससारकसंज्ञके" ये दो श्लोक भी उसी ग्रन्थ के होने चाहिये। यहाँ का पहला श्लोक चिद्वल्ली (पृ. ५५) में भी उपलब्ध है। इस ग्रन्थ के अब तक उपलब्ध सभी वचनों का संग्रह लुप्ता. के दोनों भागों में कर दिया गया है। इनको देखने से ज्ञात होता है कि यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह आज उपलब्ध नहीं होता। हमारी जानकारी में इसकी कोई मातृका भी अभी तक प्राप्त नहीं हुई है। इसकी खोज होनी चाहिये।

भास्करराय के समय में भी संभवतः यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं था। यह बताया जा चुका है कि यहाँ के कुछ वचनों को परवर्ती काल में नि. षो. के पंचम पटल के अन्त में जोड़ दिया गया था। भास्करराय ने इन सब वचनों की नि. षो. के अंग के रूप में व्याख्या की है। संकेतपद्धति का "आदावस्य शिरो रौद्री" यह वचन 'अकारस्य' इस पाठ के साथ तन्त्रा. वि. (३. ६७) में जयरथ द्वारा उद्धृत है। स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ की रचना जयरथ से पहले हो चुकी थी। वातूलनाथसूत्रवृत्ति (पृ. १६-१७) में भी यह विषय उपलब्ध है। इस ग्रन्थ के संगृहीत वचनों में दीपकसन्तान और दीपकनाथ पर्यन्त सिद्धौघ

परम्परा प्रदर्शित है। अत: हम यह निर्धारित कर सकते हैं कि इस ग्रन्थ का कर्ता दीपकनाथ के बाद का कोई आचार्य है। "दीपकेन महात्मना" यह यहाँ का उद्धृत वचन अधूरा लगता है। अत: आगे कितने आचार्य यहाँ उद्धृत हुए, इसको जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है।

यहाँ बताया गया है कि ६४ योगिनियों की नामावली रुद्रयामल में देखनी चाहिये। इस ग्रन्थ की असाधारण विशेषता यह है कि यहाँ वर्णों के ६७ भेदों का परिगणन किया गया है और इसको मातृकापीठ की संज्ञा दी गई है। पश्यन्ती के ११, मध्यमा के ९ और वैखरी के ४७ भेदों के योग से यहाँ मातृकापीठ के वर्ण परिगणित हैं। इनका विशेष विवरण योगिनीहृदयदीपिका (पृ. १२३, १९२-१९३, ३३४) की टिप्पणियों में देखा जा सकता है। नि. षो. के उपोद्‌घात (पृ. ६४-६६) में भी अर्थरत्नावली आदि के प्रमाण से यह विषय चर्चित है।

नागभट्ट (कवि हस्तिमल्ल)

नागभट्ट विरचित त्रिपुरासारसमुच्चय अथवा त्रिपुरासार गोविन्दाचार्य कृत व्याख्या के साथ कलकत्ता से सन् १८९७ ई. में प्रकाशित हुआ था। भट्ट नाग के नाम से ऋजुविमर्शिनी (पृ. ११९) में ये स्मृत हैं। इस ग्रन्थ के अन्य भी कुछ वचन ऋजुविमर्शिनी में उद्धृत मिलते हैं। स्पष्ट है कि ये शिवानन्द से प्राचीन आचार्य हैं। योगशास्त्र के ग्रन्थों में भी यहाँ के उद्धरण मिलते हैं। लघुस्तव के जैन टीकाकार सोमतिलक सूरि त्रिपुरासारसमुच्चय को कवि हस्तिमल की कृति मानते हैं। कवि हस्तिमल्ल के नाम से स्मृत सभी वचन यहाँ मिल जाते हैं। इस टीका का रचनाकाल १३९७ वि. संवत् है। स्पष्ट है कि कवि हस्तिमल इससे पहले विद्यमान थे। कवि हस्तिमल्ल एक जैन लेखक के रूप में प्रसिद्ध हैं। जैन इतिहासकार श्री नाथूराम प्रेमी के "जैन साहित्य और इतिहास" (पृ. २६०-२६६) के आधार पर कवि हस्तिमल्ल का परिचय हमने अपने ग्रन्थ "आगम और तन्त्रशास्त्र" (पृ. ८४-८६) में दिया है। तदनुसार कवि हस्तिमल्ल कर्णाटक प्रदेश के शासक पांड्यराज (१२९० ई.) के आश्रित कवि थे। यहाँ इनको विक्रान्तकौरव, मैथिलीकल्याण, अंजनापवनंजय और सुभद्राहरण नामक चार नाटकों का कर्ता बताया गया है। ये सभी नाटक माणिक्यचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो चुके हैं। इन चार नाटकों के अतिरिक्त उदयराज, भरतराज, अर्जुनराज और मेघेश्वर नामक अन्य चार नाटकों का रचयिता भी इन्हीं को [1]बताया गया है।

---

१. आफ्रेख्ट का कैटलाग्स कैटलागरम्, पृ. ७६५ द्रष्टव्य।

नाग विपश्चित् की परमार्चनत्रिंशिका [1](अर्चनात्रिंशिका) और चित्तसन्तोषत्रिंशिका[2] कश्मीर से प्रकाशित हो चुकी है। इनकी [3]परमाद्वयद्वादशिका की मातृका उपलब्ध है। इनके चिद्विमर्शिनी ग्रन्थ की भी सूचना मिलती है। इन सभी ग्रन्थों के रचयिता नाग भट्ट शैव हैं और बौद्ध नागार्जुन से भिन्न हैं। गुह्यसमाजतन्त्र के व्याख्याता नागबोधि अवश्य बौद्धाचार्य हैं, किन्तु ये बौद्ध दार्शनिक एवं रसशास्त्र के प्रवर्तक नागार्जुन से भिन्न हैं। चिद्विमर्शिनी के कर्ता नाग भट्ट कामकलाविलास की [4]चिद्वल्ली में नागानन्द के नाम से उद्धृत हैं। उनका यह वचन चिद्विमर्शिनी की बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में स्थित ६६३२ संख्या की मातृका में आनुपूर्वी से मिल जाता है। यहाँ ग्रन्थकार का नाम भवभूति बताया गया है। ई. प्र. वि. वि. (भा. २, पृ. १९७) में अभिनवगुप्त ने भट्ट नाग को उद्धृत किया है। ऊपर के ग्रन्थों के रचयिता नागानन्द से ये भिन्न हैं या अभिन्न, इसके विषय में अभी निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु इतना निश्चित है कि त्रिपुरासारसमुच्चय के कर्ता नाग भट्ट (कवि हस्तिमल्ल) अवश्य ही इनसे भिन्न हैं।

सोमानन्द की परात्रीशिकाविवृति का उल्लेख अभिनवगुप्त की इस ग्रन्थ की व्याख्या (पृ. ६२-६३, ९५, ९९, ११७, २६८) में मिलता है। अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक (१३. १४९-१५०) के अनुसार परात्रीशिका पर सोमानन्द के अतिरिक्त कल्याण और भवभूति ने भी व्याख्या लिखी थी। चिद्विमर्शिनी के प्रसंग में ऊपर भवभूति की चर्चा आ चुकी है। क्या उत्तररामचरित आदि नाटकों के रचयिता भवभूति परात्रीशिका व्याख्याता और चिद्विमर्शिनीकार से अभिन्न हैं?

उदयाकरपद्धति

इस ग्रन्थ के अनेक वचन ज्ञानदीपविमर्शिनी में उद्धृत हैं। विद्यानन्द-विरचित ज्ञानदीपविमर्शिनी का योगतन्त्र ग्रन्थमाला के २६वें पुष्प के रूप में सं. सं. वि. वि. वाराणसी से अब प्रकाशन हो चुका है। ये सभी उद्धरण यहाँ देखे जा सकते हैं। उनको देखने से प्रतीत होता है कि ज्ञानदीपविमर्शिनी के समान ही इस ग्रन्थ में भी भगवती त्रिपुरा की बाह्य और आन्तर, उभयविध उपासनाविधि वर्णित है। यहाँ उद्धृत वचनों से

---

१. परमार्चनत्रिंशिका महार्थमंजरीपरिमल (पृ. १०८) में अर्चनात्रिंशिका के नाम से उद्धृत है।
२. नाग विपश्चित् के ये दोनों ग्रन्थ श्रीनगर, कश्मीर से सन् १९६० में शारदा पीठ की शोधपत्रिका (भा. १, अं. ३, पृ. २७-३५) में छपे हैं।
३. सरस्वतीभवन ग्रन्थालय, शारदा लिपि, मातृका संख्या ८४०९७
४. "तथा नागानन्दाः— "विमर्शो नाम विश्वाकारेण वा, विश्वप्रकाशेन वा, विश्वोपसंहारेण वाऽकृत्रिमाऽहमिति स्फुरणम्" (पृ. ४)।

यह भी ज्ञात होता है कि योगिनीहृदयदीपिका में उद्धृत "कस्तूरीघुसृणेन्दु" (पृ. २८३) इत्यादि पंक्ति उदयाकरपद्धति की ही है।

न्यू. (भा. २, पृ. ३३१) में दिये गये विवरण के अनुसार यह ग्रन्थ नवमीसिंह (दामोदर) कृत तन्त्रचिन्तामणि और मालासंस्कार में भी उद्धृत है।

त्रिपुरसुन्दरीकल्पलता

ऋजुविमर्शिनी (पृ. १११) में यह उद्धृत है। अर्थरत्नावली (पृ. ११५) में निर्दिष्ट है कि संध्यावन्दन, न्यास, मण्डल, अर्घशुद्धि जैसे विषयों का स्वरूप महात्रिपुरसुन्दरी-कल्पलता में देखना चाहिये। ज्ञानदीपविमर्शिनी (पृ. ३९) में त्रिपुरा विद्या के तीन बीजों के उद्धारक तीन श्लोक उद्धृत हैं। वे इसी ग्रन्थ के हैं, इसकी जानकारी ऋजुविमर्शिनी के प्रमाण से मिलती है। ग्रन्थकार के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं होता। नि. षो. के उपोद्घात (पृ. ३८-३९) में अन्य भी कुछ श्लोक संगृहीत हैं। उनके विषय में निश्चयपूर्वक कहा नहीं जा सकता कि वे इसी ग्रन्थ के हैं।

(भट्ट) गंगाधर मिश्र

भट्ट गंगाधर मिश्र के किसी स्तोत्र के कुछ वचन ऋजुविमर्शिनी (पृ. ६९, ८०, १३४), योगिनीहृदयदीपिका (पृ. ८५, २४३, ३४७), महार्थमंजरीपरिमल और चिद्वल्ली (कामकला-विलासटीका) में उद्धृत मिलते हैं। इस स्तोत्र का नाम क्या था ? यह अभी ज्ञात नहीं हो सका। नि. षो. के उपोद्घात (पृ. ३४) में ऋजुविमर्शिनी में स्मृत सभी वचनों को संगृहीत कर दिया गया है। इनकी सहायता से अन्यत्र धृत वचनों को पहचाना जा सकता है। लगता है, अन्य सभी ग्रन्थकारों ने यहीं से लेकर इन वचनों को उद्धृत किया है।

शिवानन्द

नि. षो. की व्याख्या ऋजुविमर्शिनी के प्रारंभ में व्याख्याकार शिवानन्द ने १६ श्लोकों में मंगलाचरण के अतिरिक्त अपने गुरु स्वात्मानन्द का उल्लेख किया है और इस ग्रन्थ पर लिखी वृत्तियों की असमंजसता के परिहार के लिये इस नूतन व्याख्या की रचना की है। यहाँ बताया गया है कि नि. षो. वामकेश्वरतन्त्र का एक भाग है। इसमें ४०० श्लोक और पाँच पटल हैं। इनमें क्रमशः पूजा, प्रयोग, मुद्रा, विद्याव्याप्ति और जपस्तुति का विधान है। शिष्यों की प्रार्थना पर लोपामुद्रा संप्रदाय के अनुसार शिवानन्द मुनि ने इस ऋजुविमर्शिनी वृत्ति का निर्माण किया। यह वृत्ति १३५५ श्लोक-प्रमाण की है। इस वृत्ति की विशेषता यह है कि यहाँ पूरे ग्रन्थ की व्याख्या प्रत्यभिज्ञा दर्शन की पद्धति में की गई है और प्रधानतः कश्मीरी आचार्यों और विशेष कर क्षेमराज की पद्धति

का अनुसरण किया गया है। महेश्वरानन्द के परमगुरु शिवानन्द मुनि का [1]काल १३वीं शताब्दी के पूर्व किसी भी स्थिति में नहीं माना जा सकता। महेश्वरानन्द अपने को [2]दाक्षिणात्य मानते हैं। इनके परमगुरु शिवानन्द की भी स्थिति वहीं मानी जानी चाहिये। इनके ग्रन्थों की लगभग सारी मातृकाएँ दक्षिण में ही मिली हैं। पुण्यानन्द और अमृतानन्द की भी स्थिति उधर ही माननी होगी। यद्यपि इनके ग्रन्थों का सार्वत्रिक प्रचार है, तो भी अमृतानन्द ने अपनी दीपिका में शिवानन्द और विद्यानन्द को उद्धृत किया है और ये सभी आचार्य [3]हादिविद्या के उपासक हैं। शिवानन्द के [4]ऋजुविमर्शिनी, सौभाग्यहृदयस्तोत्र, सुभगोदय एवं सुभगोदयवासना नामक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। [5]शम्भ्वैक्यदीपिका और सुभगोदयप्रभा की मातृकाएँ उपलब्ध हैं। शिवानन्द ने सुभगोदय में नित्यपूजाविधि और सुभगोदयप्रभा में नैमित्तिकपूजाविधि का क्रम बताया है। इनके शाम्भवोदय नामक ग्रन्थ की भी सूचना मिलती है। महार्थमंजरीपरिमल (पृ. १२९, १९५) में इनके त्रिपुरसुन्दरीमन्दिरस्तोत्र और संवित्स्तोत्र[6] भी सूचित हैं। स्वतन्त्रानन्दनाथ-रचित मातृकाचक्रविवेक का शिवानन्द-रचित टीका के साथ प्रकाशन हुआ है। इसी तरह से जगन्निवासात्मज गोस्वामी शिवानन्द-रचित सिंहसिद्धान्तसिन्धु भी प्रकाशित हो चुका है। ये दोनों शिवानन्द ऋजुविमर्शिनीकार शिवानन्द से भिन्न हैं। इन दोनों ग्रन्थों को छोड़ देने पर स्पष्ट हो जाता है कि हमें अब तक इनके नौ ग्रन्थों की सूचना मिलती है। इनमें से ऋजुविमर्शिनी, सौभाग्यहृदयस्तोत्र, सुभगोदय और सुभगोदयवासना ये चार ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

महेश्वरानन्द के परमगुरु, महाप्रकाश के गुरु शिवानन्द स्वात्मानन्द के शिष्य और प्रतिष्ठानन्द के पुत्र थे, इसकी सूचना ऋजुविमर्शिनी और शम्भुनिर्णयदीपिका के प्रारंभिक पद्यों से मिलती है। मानवौघ गुरुओं में अन्तिम वासुदेव मुनि ही संभवतः स्वात्मानन्द

---

१. तन्त्रयात्रा, पृ. ६७-७७ द्रष्टव्य।
२. "महाराष्ट्रभुवं भाषां प्रयुञ्जाना स्मितोत्तरम्" (पृ. १९१), "किञ्च भाषा तदीयैव माधुर्यामृतवर्षिणी" (पृ. १९१) इन वचनों से यह स्पष्ट है।
३. तन्त्रयात्रा (पृ. ७३-७६) द्रष्टव्य।
४. नि. षो. का दो टीकाओं के साथ प्रकाशित काशी-संस्करण देखिये।
५. शम्भ्वैक्यदीपिका, शम्भुनिर्णयदीपिका अथवा शाम्भवदीपिका एक ही ग्रन्थ के नाम हैं। इसकी राजकीय ग्रन्थालय, मद्रास में उपलब्ध ८२०९३ संख्या की मातृका-प्रतिलिपि सरस्वती भवन पुस्तकालय में उपलब्ध है। सुभगोदयप्रभा की मातृका-प्रतिलिपि की संख्या ८२०९४ है।
६. संविस्तोत्र को महार्थमंजरीपरिमल में एक स्थान पर (पृ. ६८) अपने गुरु की और अन्यत्र (पृ. १२४) परमगुरु की कृति बताया गया है।

हैं। वासुदेव मुनि ने इनको अपने पुत्र के रूप में स्वीकार किया था, इसकी सूचना ऋजुविमर्शिनीकार (पृ. २२४) स्वयं देते हैं। सौभाग्यसुधोदय में मानवौघ गुरुओं में अन्तिम दो नाम परमानन्द और स्वात्मानन्द हैं। ऋजुविमर्शिनी में प्रदर्शित रत्नदेव और वासुदेव का ये स्थान लेते हैं। इससे ज्ञात होता है कि वासुदेव और स्वात्मानन्द अभिन्न व्यक्ति हैं। मद्रास राजकीय पुस्तकालय की आर. ४४४६ संख्या की मातृका में उपलब्ध श्लोक के अनुसार शिवानन्द के पौत्र, चिदानन्द के पुत्र श्रीकण्ठानन्द ने निष्कलक्रम की रचना की थी। स्वच्छन्दपद्धति के कर्ता चिदानन्द शिवानन्द के पुत्र थे। चिदानन्द की प्रार्थना पर शिवानन्द के शम्भुनिर्णयदीपिका की रचना की। शिवानन्द की वंश-परम्परा इस तरह से चली— प्रतिष्ठानन्द, शिवानन्द, चिदानन्द और श्रीकण्ठानन्द।

इनके मुद्रित चार ग्रन्थों में ऋजुविमर्शिनी, सुभगोदय और सुभगोदयवासना का परिचय अलग से दिया जा रहा है। सौभाग्यहृदयस्तोत्र में केवल १४ श्लोक हैं और इसमें भगवती त्रिपुरा की स्तुति की गई है। योगिनीहृदयदीपिका, महार्थमंजरीपरिमल और कामकलाविलास की चिद्वल्ली टीका में इसके श्लोक उद्धृत हैं।

सुभगोदय एवं सुभगोदयवासना

ऋजुविमर्शिनी (पृ. १०६-१०७) में शिवानन्द कहते हैं कि यहाँ विद्याओं का उद्धार नहीं किया गया है, क्योंकि सुभगोदय में ऐसा किया जा चुका है। अतः साधक को चाहिये कि [1]पहले वह गुरु से सौभाग्यविद्या प्राप्त कर ऋजुविमर्शिनी के साथ मूल ग्रन्थ नित्याषोडशिकार्णव का अभ्यास करे। इसके बाद ही वह सौभाग्यविद्या के सारभूत ग्रन्थ सुभगोदय को देखे। ऋजुविमर्शिनी में मात्र ग्रन्थ का विवरण दिया गया है। नित्याषोडशिकार्णव के प्रथम पटल में वर्णित सारा विषय यहाँ संक्षेप में बताया गया है और वहाँ सूचित सभी विद्याओं का उद्धार यहाँ किया गया है, अतः सुभगोदय को इस ग्रन्थ का महासार कहना उचित ही है। [2]सुभगोदय त्रिपुरसुन्दरी की नित्यपूजा का प्रतिपादक संक्षिप्ततम पद्धति-ग्रन्थ है। ऋजुविमर्शिनी में यह अनेक बार उद्धृत है। ये सभी स्थल नि. षो. के परिशिष्ट में छपे सुभगोदय में मिल जाते हैं। मूलविद्या का उद्धार सुभगोदय में भी नहीं किया गया है, क्योंकि यह अतीव गोपनीय विद्या है। नि. षो. में पन्द्रह तिथि-नित्याओं के मन्त्रों का उद्धार नहीं बताया गया, किन्तु इस ग्रन्थ (पृ. २८९-२९०) में उन सभी विद्याओं का स्वरूप बता दिया गया है।

---

१. "पूर्वं विद्यां गुरोर्लब्ध्वा मूलमृजुविमर्शिनीम्। महासारं सकृतिनः पश्यन्तु सुभगोदयम्।।" (ऋजु., पृ. १०६-१०७)।

२. सुभगोदयप्रभा में शिवानन्द ने नैमित्तिक पूजा का विधान बताया है। वहाँ कहा गया है कि इसके पहले नित्य पूजा का विधान बताया जा चुका है। वह विधान सुभगोदय में निर्दिष्ट है।

स्पष्ट है कि सुभगोदय में शिवानन्द ने श्रीचक्र की नित्यपूजाविधि का संक्षेप में वर्णन किया है। वहाँ विसर्जन की विधि का निरूपण करते हुए वे कहते हैं कि मूल स्वरूप (त्रिपुरसुन्दरी) से ही शक्तिचक्र, अर्थात् आवरण देवताओं का आविर्भाव होता है, अत: विसर्जन के समय ऐसी भावना करनी चाहिये कि वे सभी आवरण देवता मूल स्वरूप में पुन: विलीन हो गये हैं। किं बहुना, वह मूल स्वरूप भी स्वात्मचिद्रूप में लीन हो गया है। विसर्जन का यही आध्यात्मिक स्वरूप त्रिपुरा सम्प्रदाय में मान्य हैं।

सुभगोदयवासना में त्रिपुरसुन्दरी की आन्तर वरिवस्या उपदिष्ट है। सुभगोदय और सुभगोदयवासना— ये दोनों अलग-अलग ग्रन्थ हैं। महेश्वरानन्द सुभगोदय को तो इसी नाम से, किन्तु सुभगोदयवासना को क्रमवासना के नाम से उद्धृत करते हैं। त्रिवेन्द्रम् की मातृका में केवल सुभगोदय उपलब्ध है, सुभगोदयवासना नहीं। मद्रास मातृका में सुभगोदय के साथ सुभगोदयवासना को भी एक ही ग्रन्थ मानकर उनका विवरण दिया गया है। योगिनीहृदयदीपिका और कामकलाविलास की टीका चिद्वल्ली में सुभगोदय-वासना स्मृत है। इनकी सहायता से मातृका में अनुपलब्ध श्लोक का उद्धार किया जा सका है। सुभगोदय, सुभगोदयवासना और सुभगोदयप्रभा में ७० श्लोक हैं, इसकी सूचना स्वयं ग्रन्थकार देते हैं। महेश्वरानन्द की महार्थमंजरी में भी ७० गाथाएँ हैं। शिवानन्द और महेश्वरानन्द की इस निश्चित संख्या में अभिनिवेश के विषय में हम पहले (पृ. ५३६) लिख चुके हैं।

अम्बास्तव की [1]टीका में शंकराचार्य-कृत सौभाग्यविद्या और सुभगोदय उद्धृत हैं। इनकी सूचना अन्य ग्रन्थों से भी मिलती है। लक्ष्मीधर की सौन्दर्यलहरी की टीका (पृ. ४६, ७६, ८०, ८१, ९९, ११०, १४९, १५०, १७२, १७९, १८०, १८७, ३०५, ३०७) में सव्याख्यान सुभगोदय अनेक स्थलों पर उद्धृत है। उन्हींके (पृ. ८१, १८१) दो उद्धरणों से यह ज्ञात होता है कि स्वयं लक्ष्मीधर ने सुभगोदयव्याख्यान की रचना की थी। उन्हीं के अन्य वचन (पृ. १७५) से यह भी ज्ञात होता है कि स्वयं भगवत्पाद ने भी सुभगोदयव्याख्यान की रचना की। पृ. ८० पर लक्ष्मीधरा ने "परोऽपि शक्तिरहित:" इस श्लोक को सुभगोदय के नाम से उद्धृत किया है, किन्तु यह श्लोक नि. षो. (४.६) का है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे सौन्दर्यलहरी में नि. षो. प्रतिपादित कुछ विषय संनिविष्ट हैं, उसी तरह सुभगोदय में भी ये समाविष्ट होंगे। लक्ष्मीधरा (पृ. ९९) में सुभगोदय का एक गद्यांश उद्धृत है। इससे यह ग्रन्थ गद्यपद्यात्मक होगा, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। सुभगोदय पर लल्ल के द्वारा रचित टीका का उल्लेख भास्करराय

१. सरस्वती भवन ग्रन्थालय, वाराणसी की २१९२२ संख्या की मातृका का द्वितीय पत्र देखिये।

ने अपने ललितासहस्रनाम के भाष्य में किया है। वासनासुभगोदय नामक ग्रन्थ को भी भास्करराय यहाँ (पृ. ७६) उद्धृत करते हैं। यह ग्रन्थ भी शिवानन्द मुनि के सुभगोदय और सुभगोदयवासना से भिन्न ही है, क्योंकि यहाँ उद्धृत वचन उक्त दोनों ग्रन्थों में नहीं मिलते। सौन्दर्यलहरी पर सौभाग्यवर्धनी नाम की टीका के लेखक कैवल्याश्रम शिवानन्द के ग्रन्थ को ही उद्धृत करते हैं, क्योंकि उस टीका (पृ. ३६) में उद्धृत वचन शिवानन्द के ग्रन्थ (पृ. २८४) में उपलब्ध है। गौडपादाचार्य की कृति के रूप में प्रसिद्ध सुभगोदयस्तुति इन सबसे भिन्न है। यह ग्रन्थ भी किसी प्राचीन अथवा अर्वाचीन ग्रन्थ में उद्धृत हुआ नहीं मिलता।

विद्यानन्द

नि. षो. की अर्थरत्नावली टीका के रचयिता विद्यानन्द ने प्रारंभ के ११ श्लोकों में ऋजुविमर्शिनीकार शिवानन्द के समान मंगलाचरण के साथ अपनी गुरु-परम्परा का इस क्रम से नमन किया है— [1]महावन, प्रियानन्द, सदानन्द, रत्नेश। नि. षो. के उपोद्घात में, जहाँ इनका परिचय दिया गया था, सदानन्द का नाम नहीं है। सदानन्द को प्रियानन्द का विशेषण मानकर ऐसा किया गया है। कंकालतापन आदि सिद्धों के अतिरिक्त यहाँ गणेश, बटुक, योगिनीवृन्द और भैरवों को भी नमन किया गया है। मन्त्र, मण्डल, वर्ण, धाम और संवित्स्वरूपिणी त्रिपुरा भगवती की क्रमदर्शन के अनुरूप स्तुति की गई है। टीकाकार ने अपने को त्रिपुरा के सकील और निष्कील दोनों सम्प्रदायों का ज्ञाता बताया है। इन्होंने अपना नाम विमलस्वात्मशंभु और टीका का नाम अर्थरत्नावली बताया है। ग्रन्थकार ने इसको टीका न कहकर टिप्पण कहा है। इसकी विशेषता यह है कि यहाँ सकील और निष्कील दोनों संप्रदायों का यथायोग्य अनुसरण किया गया है और क्रमदर्शन के साथ कुलदर्शन भी व्याख्यात है। यहाँ यह बता देना भी आवश्यक है कि अर्थरत्नावली के दो तरह के पाठ उपलब्ध होते हैं। ऐसा प्रथम और चतुर्थ-पंचम पटल में विशेष रूप से देखने को मिलता है। इनका अर्थरत्नावली के अतिरिक्त ज्ञानदीपविमर्शिनी नाम का ग्रन्थ भी उपलब्ध है और अब ये दोनों प्रकाशित हो चुके हैं। ज्ञानदीपविमर्शिनी इनकी पहली कृति है। इसमें [2]तीन स्थलों पर अर्थरत्नावली स्मृत है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसके प्रत्येक प्रकरण में अपने प्रतिपाद्य विषय के आन्तर और बाह्य स्वरूपों का एक साथ वर्णन मिलता है। ज्ञानदीपविमर्शिनी को योगी अमृतानन्द ने अपनी योगिनीहृदय की दीपिका टीका (पृ. १८२) में उद्धृत किया है। यह

---

१. नि. षो. काशी संस्करण, पृ. १-२ द्रष्टव्य।

२. ज्ञानदीपविमर्शिनी, पृ. १०१, १३९, १७२ द्रष्टव्य।

उद्धरण वहाँ (पृ. ६९) आनुपूर्वी से मिल जाता है। शिवानन्द, अमृतानन्द आदि के देश और काल के विषय में हमने पर्याप्त विचार किया है। तदनुसार कहा जा सकता है कि शिवानन्द और विद्यानन्द का देश-काल समान है।

अमृतानन्द

अमृतानन्द-कृत दीपिका और भास्करराय-कृत सेतुबन्ध टीका के साथ योगिनीहृदय का संस्करण सरस्वती भवन ग्रन्थमाला, वाराणसी से सन् १९६३ में प्रकाशित हुआ था। उसमें हमारा "अनुप्रास्ताविकम्" भी समाविष्ट था। तन्त्रयात्रा (पृ. ३५-४०) में इसका पुनः प्रकाशन हुआ है। वहाँ हमने दीपिकाकार अमृतानन्द, उनके गुरु पुण्यानन्द और इन दोनों आचार्यों के काल एवं ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय देने का प्रयत्न किया था। वह सब अब पुराना पड़ चुका है। नि. षो. की दो टीकाओं और परिशिष्ट में छपे दीपकनाथ, शिवानन्द और अमृतानन्द के लघु-ग्रन्थों का सम्पादन करते समय जो सामग्री उपलब्ध हुई, उससे इस विषय पर नया प्रकाश पड़ा है और विभिन्न स्थानों पर हमने इसकी चर्चा की है। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के योगतन्त्र विभाग से योगतन्त्रविमर्शिनी का एक अंक निकला था। उसमें हमने अमृतानन्द के ग्रन्थ अलंकारसंग्रह का परिचय दिया था। वह निबन्ध अब "आगम और तन्त्रशास्त्र" (पृ. ७९-७८) में "योगी अमृतानन्द" शीर्षक से प्रकाशित हो चुका है। भाषा-भाष्य के साथ योगिनीहृदयदीपिका का नया संस्करण भी इधर प्रकाशित हो चुका है। इस पूरी सामग्री के आधार पर यहाँ कुछ नया लिखा जा रहा है।

तन्त्रशास्त्र में अमृतानन्द योगी योगिनीहृदय की दीपिका नाम की टीका के कर्ता के रूप में प्रसिद्ध हैं। ये कामकलाविलास के कर्ता पुण्यानन्द के शिष्य हैं। इनका समय अभी तक ठीक से निश्चित नहीं हो पाया था। अमृतानन्द की कृति अलंकारसंग्रह के तीन संस्करण हुए हैं। ये अमृतानन्द योगी अमृतानन्द से भिन्न हैं या अभिन्न, इसमें मतभेद है, किन्तु हमारी दृष्टि में ये दोनों अभिन्न हैं। इस ग्रन्थ की सहायता से न केवल अमृतानन्द की, अपितु ऋजुविमर्शिनीकार शिवानन्द और अर्थरत्नावलीकार विद्यानन्द की, नित्याषोडशिकार्णव के उपोद्घात में हमारे द्वारा पूर्वनिर्धारित, समय-सीमा में भी हम कुछ संकोच कर सकते हैं। इसके साथ ही ऋ. वि. में उद्धृत त्रिपुरासारसमुच्चय के कर्ता नाग भट्ट के समय पर भी नये सिरे से विचार हो सकता है।

नाग भट्ट के त्रिपुरासारसमुच्चय को पंचस्तवी के अन्तर्गत विद्यमान धर्माचार्य विरचित लघुस्तव के जैन टीकाकार सोमतिलक सूरि ने कवि हस्तिमल्ल की कृति के रूप में उद्धृत किया है। इस टीका का रचना काल १३९७ वि. संवत् है। स्पष्ट है कि

इससे पहले कवि हस्तिमल्ल (नाग भट्ट) हो चुके थे। अलंकारसंग्रह की रचना कवीश्वर अमृतानन्द योगी ने भक्ति भूपति के पुत्र मन्म भूपति के कहने से की थी। इस ग्रन्थ के अडय़ार संस्करण की अंग्रेजी भूमिका के लेखक डॉ. कुन्हन्राज (पृ. ३९-४३) के अनुसार १३६६ ई. के पूर्व इस ग्रन्थ की रचना हो चुकी थी।

दूसरी तरफ अमृतानन्द योगी ने योगिनीहृदयदीपिका (पृ. ७२) में शिवानन्द की सुभगोदयवासना को उद्धृत किया है और शिवानन्द (ऋजु. पृ. ११७) ने नाग भट्ट के त्रिपुरासारसमुच्चय को। लघुस्तव के व्याख्याता जैनाचार्य सोमतिलक सूरि ने त्रि. सा. स. को कवि हस्तिमल्ल की कृति माना है। इस प्रकार नाग भट्ट और कवि हस्तिमल्ल अभिन्न व्यक्ति हैं। जैन इतिहासकार श्री नाथूराम प्रेमी[1] ने बताया है कि हस्तिमल्ल कर्णाटक प्रदेश के शासक पांडयराज (१२९० ई.) के आश्रित कवि थे। स्पष्ट है कि कवि हस्तिमल्ल और शिवानन्द मुनि के बाद ही अमृतानन्द की स्थिति माननी पड़ेगी।

हमने यहीं (पृ. ६०४) बताया है कि पंचस्तवी के रचयिता धर्माचार्य हैं। इनके अम्बास्तव को भोज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में उद्धृत किया है। इस ग्रन्थ का रचना-काल म. म. पी. वी. काणे ने १०३०-१०५० ई. माना है। धर्माचार्य के बाद हादिमत में सिद्धौघ परम्परा के दो गुरु तथा मानवौघ परम्परा के सात गुरुओं के बाद शिवानन्द की स्थिति है। अमृतानन्द ने सौभाग्यसुधोदय के अन्त में हादिमत की मानवौघ गुरु-परम्परा की समाप्ति के बाद पाँचवीं पीढ़ी में अपनी स्थिति बताई है। वंश-परम्परा के समान गुरु-परम्परा में भी प्रत्येक पीढ़ी के लिये यदि २५ वर्ष का समय निर्धारित किया जाय, तो धर्माचार्य और भोजदेव के लगभग २२५ वर्ष बाद १३वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में शिवानन्द की और उसके सौ वर्ष बाद १४वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में अमृतानन्द की स्थिति मानी जायगी। यह तिथि डॉ. कुन्हन्राज के द्वारा निर्धारित तिथि के आसपास पड़ती है। इस प्रकार ई. १४वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अमृतानन्द की स्थिति मानी जानी चाहिये। इस पर पुन: विचार अपेक्षित है। हमारी दृष्टि में शिवानन्द और अमृतानन्द में सौ वर्ष का अन्तर नहीं होना चाहिये।

योगिनीहृदयदीपिका के परिष्कृत संस्करण से निश्चित हो जाता है कि इनके दूसरे ग्रन्थ का नाम सौभाग्यसुधोदय है, सौभाग्यसुभगोदय नहीं। इस नाम की पुष्टि उपलब्ध मातृकाओं और [2]भास्करराय द्वारा उद्धृत वचन से भी हो जाती है। इसी तरह से 'अस्मदुरूक्त'

१. "आगम और तन्त्रशास्त्र" (पृ. ८४-८५) में उद्धृत "जैन साहित्य और इतिहास" देखिये।

२. भास्करराय ने ललितासहस्रनाम के अपने सौभाग्यभास्कर-भाष्य (पृ. १००, १३३, १२५) वरिवस्यारहस्यप्रकाश (पृ. ६८) तथा नि. षो. सेतुबन्ध (पृ. १९१) में सौभाग्यसुधोदय के नाम से ही इसे उद्धृत किया है।

के स्थान पर 'अस्मदुक्त' पाठ सार्वत्रिक है। इससे स्पष्ट होता है कि सौभाग्यसुधोदय, चिद्विलासस्तव और तत्त्वविमर्शिनी नामक पद्धति-ग्रन्थ इन्हीं की रचनाएँ हैं। तत्त्वविमर्शिनी की मातृका अमृतानन्द की कृति के रूप में ही उपलब्ध हुई है। सौभाग्यसुधोदय और चिद्विलासस्तव का प्रकाशन नि. षो. के परिशिष्ट में हो चुका है। षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह के नाम से प्रकाशित ग्रन्थ के सभी वचन सौभाग्यसुधोदय के प्रथम प्रपंच (श्लो. २८-४८) में आनुपूर्वी से उपलब्ध हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस नाम का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है और न ही यह क्षेमराज की कृति है। इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण सन् १९६८ में हो चुका था। यह आश्चर्य का विषय है कि कश्मीर ग्रन्थमाला में सन् १९१४ में प्रकाशित श्री जगदीशचन्द्र चटर्जी के "काश्मीर शैविज्म" के तथा सन् १९१८ में प्रकाशित षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह के आधार पर कुछ विद्वान् अब भी इसको क्षेमराज की कृति मानकर स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में इसके प्रकाशन एवं अनुसन्धान में प्रवृत्त हैं।

सौन्दर्यलहरी

सौन्दर्यलहरी भगवती त्रिपुरसुन्दरी को समर्पित स्तुति-ग्रन्थ है। इसके कर्ता भगवत्पाद शंकराचार्य माने जाते हैं। विविध टीकाओं के साथ इसके अनेक संस्करण हो चुके हैं। इस पर विशाल टीका-साहित्य उपलब्ध है। गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास से सन् १९५७ में तीन टीकाओं के साथ प्रकाशित संस्करण की अंग्रेजी प्रस्तावना (पृ. १३-१५) में इसकी ३२ टीकाओं का परिचय दिया गया है। १० टीकाओं के साथ इसका एक नवीन [1]संस्करण भी इधर प्रकाशित हो चुका है। इनमें कैवल्याश्रम की सौभाग्यवर्धनी, लक्ष्मीधर की लक्ष्मीधरा और वंगीय विद्वान् गौरीकान्त की टीका विशेष रूप से चर्चित हैं। इसके पूर्व और उत्तर दो भाग हैं। दोनों में मिलाकर १०० श्लोक हैं। पूर्व भाग में त्रिपुरा-दर्शन का और उत्तर भाग में भगवती के सौन्दर्य का वर्णन है। कैवल्याश्रम ने प्रथम भाग को आनन्दलहरी और द्वितीय को सौन्दर्यलहरी नाम दिया है, किन्तु सामान्य रूप से यह पूरा ग्रन्थ सौन्दर्यलहरी के नाम से ही प्रसिद्ध है।

सौन्दर्यलहरी पर नि. षो. का स्पष्ट प्रभाव है, इसकी सूचना भास्करराय इस प्रकार देते हैं— एतामेव, कामदेवोऽपि (नि. षो. ४. ६७-६८) "एतच्छ्लोकद्वयविवरणपर एव भगवत्पादैः सौन्दर्यलहर्यां हरिस्त्वामाराध्य प्रणतजनसौभाग्यजननीमिति श्लोक उक्तः" (से. पृ. १६०)। इसी प्रसंग में हम नि. षो. के अन्य प्रसंगों (४. ६-७) को भी देख सकते हैं, जिनकी स्पष्ट छाप सौन्दर्यलहरी के प्रथम श्लोक में देखी जा सकती है। इस प्रकरण के प्रारंभ (पृ. ६०२) में भी इस ग्रन्थ की चर्चा की गई है।

---

१. दिल्ली के नाग-प्रकाशन ने सन् १९९१ में इसका नवीन संस्करण निकाला है।

विद्यानन्द

योगिनीहृदय के अनुप्रास्ताविक (पृ. घ, टि. १) में सरस्वती भवन स्थित २५९४६ संख्या की मातृका (हस्तलेख) के आधार पर हमने इसकी सूचना दी थी कि नि. षो. की व्याख्या अर्थरत्नावली, सौभाग्यरत्नाकर, शिवार्चनचन्द्रिका जैसे ग्रन्थों के निर्माता श्रीनिवास भट्ट अपर नाम विद्यानन्दनाथ ने १६३० विक्रम संवत्सर में सौभाग्यरत्नाकर की रचना की थी। वहाँ की पुष्पिका इस प्रकार है—

खवह्निरसशीतांशुसंख्ये विक्रमभूभुजः।
वत्सरे शुक्लपञ्चम्यां पुष्यमासस्थभास्करे।।
मकरस्थे सोमवारे प्रयागस्थेन धीमता।
श्रीविद्यानन्दनाथेन शिवयोः प्रियहेतवे।।
हिताय शिष्यवर्गाणां श्रीसौभाग्यपदादिकः।
रत्नाकरोऽयं रचितः साधकानां हितावहः।।

अब जो प्रमाण उपलब्ध हुए हैं, उनसे स्पष्ट होता है कि ये दो भिन्न आचार्य हैं। सौभाग्यरत्नाकर के कर्ता विद्यानन्द के गुरु सच्चिदानन्दनाथ हैं, जबकि अर्थरत्नावली के कर्ता विद्यानन्द के गुरु का नाम रत्नेश हैं। प्रथम कादिविद्या के तथा द्वितीय हादिविद्या के आचार्य हैं। अर्थरत्नावली के कर्ता यद्यपि अपने को संप्रदायद्वयज्ञ मानते हैं और नि. षो. की वे कादिमत-परक व्याख्या करते हैं, तो भी उनका हादिविद्या में विशेष अभिनिवेश है। इसीलिये भास्करराय इनके मत का खण्डन और सौभाग्यरत्नाकर के कर्ता के मत का समर्थन करते हैं। सौभाग्यरत्नाकर का सम्पादन शृंगेरी पीठ के आस्थानविद्वान् श्री रामचन्द्र शास्त्री जी ने वाराणसी में रहते हुए किया था। दुःख का विषय है कि वह छीना-छपटी में पड़ गया।

सुभगानन्दनाथ

सुभगानन्दनाथ तन्त्रराज(कादिमत)तन्त्र की मनोरमा टीका के कर्ता के रूप में प्रसिद्ध हैं। यह ग्रन्थ इनकी टीका के साथ कलकत्ता से प्रकाशित हो चुका है। भास्करराय नि. षो. की अपनी सेतुबन्ध (पृ. १७५-१७६) टीका में विमर्शिनीकार शिवानन्द को प्राचीन तथा मनोरमाकार को अतिप्राचीन मानते हैं। इस मत की आलोचना हम अनेक स्थलों पर कर चुके हैं। नि. षो. के पाँचवें पटल के सेतुबन्ध में व्याख्यात अधिक श्लोक अन्य किसी प्राचीन व्याख्या में उपलब्ध नहीं होते, इस विषय को भी स्पष्ट किया जा चुका है। परिणामतः उक्त प्रक्षिप्त श्लोकों को ग्रन्थ का अंश मानने वाला कोई भी आचार्य ऋजुविमर्शिनीकार से प्राचीन नहीं माना जा सकता।

कुछ सूचियों में मनोरमा टीका का रचनाकाल १७३० बताया गया है। वह ग्रन्थ की प्रतिलिपि का काल हो सकता है, क्योंकि इण्डिया आफिस पुस्तकालय की ग्रन्थसूची में इसका रचनाकाल वि. १६६०; ई. १६०३ दिया गया है। यह भी ग्रन्थ की लिपि का ही काल होना चाहिये। श्रीनिवास भट्ट अपर नाम विद्यानन्दनाथ ने १६३० वि. में सौभाग्यरत्नाकर को पूरा किया था। शिवार्चनचन्द्रिका उन्हीं की रचना है। यहाँ वे सौभाग्यरत्नाकर को उद्धृत करते हैं [1]और वहीं मनोरमाकार भी उद्धृत हैं (पृ. २९)। इस तरह से सौभाग्यरत्नाकर की रचना से पहले मनोरमा टीका की रचना अवश्य हो चुकी थी, यह मानना पड़ेगा। यह सही है कि इसके आधार पर भी मनोरमा का सही रचनाकाल निर्धारित नहीं किया जा सकता।

शङ्करानन्दनाथ

शंकरानन्दनाथ का सुन्दरीमहोदय नामक ग्रन्थ सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय की योगतन्त्र ग्रन्थमाला के २० वें पुष्प के रूप में सन् १९९३ में प्रकाशित हो चुका है। त्रिपुरा विद्या के कादिमत के प्रसिद्ध ज्ञानार्णवतन्त्र के अनुसार इस पद्धति-ग्रन्थ की रचना की गई है। ग्रन्थकार ने अपने गुरु का नाम रामानन्दनाथ बताया है। वे विमर्शनाथ को भी अपना गुरु बताते हैं। प्रारंभ के द्वितीय और तृतीय श्लोकों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथम इनके दीक्षा-गुरु और द्वितीय शिक्षा-गुरु थे। ग्रन्थकार के समय आदि के विषय में कोई सूचना नहीं मिलती। ग्रन्थ-सम्पादक के अनुसार इस ग्रन्थ की रचना वाराणसी में हुई (पुरोवचनिका, पृ. ३)। इस ग्रन्थ में पाँच उल्लास हैं और उनमें दीक्षा आदि विषयों का ज्ञानार्णवतन्त्र के अनुसार निरूपण किया गया है। यह एक पद्धति-ग्रन्थ है, किन्तु ज्ञानार्णवतन्त्र पर आधृत होने से स्थान-स्थान पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ उक्त तन्त्र की व्याख्या भी कर रहा है। ललितासहस्रनामभाष्य (पृ. २०५) और नि. षो. के सेतुबन्ध में भास्करराय ने इनके व्याख्यान को स्वीकार नहीं किया है।

सौभाग्यरत्नाकरकार को और तन्त्रराज (कादिमत) की टीका मनोरमा को यहाँ (पृ. ४२) उद्धृत किया गया है एवं भास्करराय इनको उद्धृत करते हैं। श्रीनिवास भट्ट अपर नाम विद्यानन्दनाथ ने १६३० विक्रम संवत्सर में सौभाग्यरत्नाकर को पूरा किया था और भास्करराय का समय निश्चित है। इसीके बीच में शंकरानन्दनाथ की स्थिति मानी जायगी।

---

१. सरस्वती भवन स्थित शिवार्चनचन्द्रिका की २४९५९ संख्या की मातृका के अन्त में विद्यमान चार श्लोकों में विद्यानन्दनाथ ने अपने भैरवार्चापारिजात, सौभाग्यरत्नाकर, सपर्याकल्पवल्ली और शिवार्चनचन्द्रिका नामक ग्रन्थों की चर्चा की है।

भास्करराय

आचार्य अभिनवगुप्त के बाद तन्त्रागमशास्त्र के महान् प्रतिभाशाली विद्वानों में प्रमुख नाम भास्करराय का है। अभिनवगुप्त के ही समान इनकी भी प्रतिभा विविध विषयों में प्रस्फुटित हुई है, यह बात इनके ग्रन्थों की नामावली और उनके प्रतिपाद्य विषयों को देखने से स्पष्ट हो जाती है। इनके अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं और काशी के सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से इनके समस्त ग्रन्थों के प्रकाशन की योजना बन चुकी है। अब तक प्रकाशित ग्रन्थों में इनकी जीवनी पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है और सं. सं. वि. वि., काशी के ही आचार्य बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते रचित "भास्करराय भारती दीक्षित : व्यक्तित्व एवं कृतित्व" शीर्षक बृहत् ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुका है। इनकी जीवनी का प्रमुख आधार इनके शिष्य विश्वामित्रगोत्रीय श्री जगन्नाथ द्वारा रचित भास्करविलास नाम का लघु काव्य है और यह ललितासहस्रनाम के सौभाग्यभास्कर-भाष्य के साथ प्रकाशित हो चुका है। इन सबके आधार पर यहाँ उनका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

भास्करराय भारती दीक्षित कर्णाटक राज्य के बीजापुर नगर के निवासी थे। इनके पिता गंभीरराय भारती दीक्षित महान् विद्वान् एवं सोमयाजी थे। राजनीति-निपुण होने से ये बीजापुर के नवाब के सचिव थे। उन्हीं के कहने से इन्होंने संपूर्ण महाभारत का फारसी भाषा में अनुवाद किया था। फलस्वरूप वे 'भारती' उपाधि से सुशोभित किये गये थे। अपने ग्रन्थ छन्दःकौस्तुभ में स्वयं भास्करराय ने इसकी सूचना दी है। गंभीरराय-कृत श्लोकात्मक विष्णुसहस्रनाम-पद्यप्रसूनांजलि से ज्ञात होता है कि इनके विश्वामित्र गोत्र के मूल पुरुष एकनाथ थे। उनके पुत्र तुकदेव, तुकदेव के पुत्र यमाजि पण्डित थे। यमाजि पण्डित के ही पुत्र थे गंभीरराय। इनकी माता का नाम चन्द्रम्माम्बा था। गंभीरराय मुख्य रूप से बीजापुर में ही रहते थे। राजकार्यवश वे जब अपनी पत्नी कोनमाम्बा के साथ भागानगर (दक्षिण हैदराबाद) गये हुए थे, उसी समय भास्करराय का जन्म हुआ। इनकी निश्चित जन्मतिथि की कोई सूचना नहीं मिलती, किन्तु इनका जीवनकाल १६७५ ई. से १७६८ ई. तक माना जाता है। तदनुसार सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चौथाई भाग से लेकर अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक इनकी स्थिति माननी चाहिये।

इनका उपनयन संस्कार काशी में हुआ और नारायणपेठ के पास लोकापल्ली गाँव के निवासी श्री नृसिंह यज्वा से इन्होंने समस्त शास्त्रों का अध्ययन किया, इसकी सूचना वे स्वयं ही अपने ग्रन्थों में देते हैं। गुजरात के सूरत नगर के निवासी श्री शिवदत्त शुक्ल से उन्होंने भगवती त्रिपुरा विद्या की दीक्षा एवं अभिषेक भी प्राप्त किया।

दीक्षा एवं अभिषेक की प्राप्ति के उपरान्त पूरे देश में इनकी विजय-यात्राओं एवं विशिष्ट घटनाओं का उल्लेख इनके प्राय: सभी प्रकाशित ग्रन्थों की प्रस्तावनाओं में एवं स्वतन्त्र ग्रन्थों में हुआ है। इनके प्रकाशित महनीय ग्रन्थों में ललितासहस्रनाम का सौभाग्यभास्कर-भाष्य, नित्याषोडशिकार्णव (अष्टपटलात्मक) की सेतुबन्ध व्याख्या, वरिवस्यारहस्यप्रकाश, दुर्गासप्तशती-गुप्तवती टीका जैसे नाम विशेष रूप से स्मरणार्ह हैं। मैसूर से इनका शिवनामकल्पलतालवाल नामक ग्रन्थ वेंकटाचल पण्डित रचित टीका के साथ प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ की संस्कृत प्रस्तावना में इनके द्वारा रचित ६३ ग्रन्थों की नामावली दी गई है। इनमें से अनेक ग्रन्थों का परिचय आचार्य खिस्ते जी के ऊपर चर्चित ग्रन्थ में भी मिलता है।

डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय जी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ अभिनवगुप्त० (पृ. ५८३-५९०) में दसवीं शताब्दी के कश्मीरी आचार्य शम्भुनाथ के बाद १८वीं शताब्दी के काशी के कौलाचार्यों का परिचय देते हुए भास्करराय की आज तक प्रवृत्त परम्परा का परिचय देते समय अन्तिम दो आचार्यों के रूप में म. म. नारायण शास्त्री खिस्ते तथा उनके आत्मज ऊपर चर्चित आचार्य श्री बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते की चर्चा की है। इस प्रसंग में दो विषयों पर ध्यान देना जरूरी है। एक तो यह कि बीच के सात सौ वर्षों का कोई इतिहास यहाँ प्रस्तुत नहीं किया गया है। दूसरे भास्करराय भगवती त्रिपुरा के उपासक हैं और सम्प्रति भगवती की कौल, मिश्र और समयी नामक त्रिविध उपासना प्रवृत्त हैं। भास्करराय की परम्परा शंकराचार्य द्वारा प्रतिष्ठापित समयी मत से जुड़ी हुई है।

हमने नित्याषोडशिकार्णव और योगिनीहृदयदीपिका के अपने संस्करणों और तन्त्रयात्रा में संगृहीत निबन्धों में इन विषयों पर पर्याप्त विचार किया है और इस ग्रन्थ में भी यत्र-तत्र इनकी चर्चा की गई है।

शाक्त वामकेश्वर दर्शन

शैव और शाक्त सम्प्रदाय के अद्वैतवादी आगमों में [1]प्रकाश शब्द शिवतत्त्व का और विमर्श शब्द शक्तितत्त्व का सूचक है। शिव की प्रधानता को मानने वाले शैव और

---

१. प्रकाश और विमर्श शब्द का अर्थ बताते हुए दीपिकाकार का कहना है कि शिव से लेकर भूमि पर्यन्त विश्व का आकार जब स्पष्ट हो उठता है, तो उसे ही प्रकाश कहते हैं। विश्व का इदन्तया भान होना ही विमर्श है। (१.५६) चिद्वल्लीकार के अनुसार मैं चाहता हूँ, मैं जानता हूँ, मैं करता हूँ, इस तरह से उत्तम पुरुष के रूप में स्फुरित हो रहा अहंपरामर्श ही प्रकाश है (पृ. ५), इदं रूप से प्रपंच का परामर्श होना ही विमर्श है, क्योंकि परमात्मा के द्वारा सृष्ट जगत् का इदं रूप से परामर्श होता है (पृ. ३), जागतिक आकारों का निरंतर विस्फुरण होते रहना

शक्ति की प्रधानता को मानने वाले शाक्त हैं, यह इनका प्रधान भेद माना जा सकता है। बाकी प्रक्रिया प्रायः एक जैसी है। शिवदृष्टि एवं उसकी वृत्ति में तृतीय आह्निक के प्रारंभ में चार खण्डों वाले शिवसूत्र के व्याख्याता भट्ट कल्लट के शिष्य भट्ट प्रद्युम्न के तत्त्वगर्भ स्तोत्र का निम्न श्लोक उद्धृत है—

यस्या निरुपधिज्योतीरूपायाः शिवसंज्ञया।
व्यपदेशः परां तां त्वामम्बां नित्यमुपास्महे।।

अर्थात् हम उस पराम्बा की नित्य उपासना करते हैं, जिसको निरुपाधिक ज्योतिःस्वरूप शिव के नाम से जाना जाता है। इस श्लोक को उद्धृत करने के बाद उत्पल भट्ट ने शक्तिपारम्यवाद का खण्डन किया है। यहाँ यह समझ लेना जरूरी है कि षडध्व के अन्तर्वर्ती छत्तीस तत्त्वों से ऊपर परब्रह्म की स्थिति है। यह तत्त्व संवित्स्वरूप है। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी (भा. २, पृ. ३३७) में अभिनवगुप्त ने [1]भट्ट प्रद्युम्न के मत के अनुसार छत्तीस तत्त्वों का प्रसार संविच्छक्ति से ही माना है। इस शाक्त मत में परब्रह्म संवित् नाम से जाना जाता है। इसीसे षडध्वात्मक जगत् का विस्तार होता है। शैव भी इसका अपलाप नहीं कर सकते। इसीलिये प्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी (भा.१, पृ. ४-६) में अभिनवगुप्त ने कहा है कि यहाँ भावों की सत्ता या असत्ता का निर्णय संवित् का

भी विमर्श का ही स्वरूप है (पृ. १५)। चिद्वल्लीकार ने ही एक दूसरी व्याख्या देते हुए कहा है कि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का हेतुभूत अकृत्रिम अहंभाव का परामर्श ही विमर्श है। यहाँ (पृ. ४) वे नागानन्द के मत को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि विश्व के आकार के रूप में अथवा विश्व के प्रकाशक के रूप में अथवा विश्व के उपसंहारक के रूप में जो अकृत्रिम अहन्ता का स्फुरण होता है, उसे विमर्श कहते हैं। पूर्व की व्याख्या से इस व्याख्या में अन्तर है। यह व्याख्या शक्तिपारम्यवाद का अनुसरण करती है। वास्तव में मैं न चाहता हूँ, न जानता हूँ, इस तरह की उत्तम पुरुष की प्रकृति के भीतर स्फुरित हो रहा ज्ञान ही प्रकाशस्वरूप ब्रह्म है। यह ब्रह्म सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व, सर्वकर्तृत्व, पूर्णत्व, व्यापकत्व आदि शक्तियों से संवलित है। इसका आनन्दमय अंश ही स्फुरण, पराहन्ता, विमर्श, परा ललिता भट्टारिका, त्रिपुरसुन्दरी आदि पदों से अभिहित होता है। विरूपाक्षपंचाशिका (श्लो. ८) में ईश्वरता, कर्तृत्व, स्वतन्त्रता, चित्स्वरूपता इन सबको अहन्ता का पर्याय बताया है। पराहन्ता के बिना इदन्ता का स्फुरण नहीं हो सकता और अहं एवं इदं का परस्पर संबन्ध कभी छूटता भी नहीं, अतः इदं पद से गम्य दृश्य की अहन्तारूप शक्ति और उस शक्ति से विशिष्ट ब्रह्म से उत्पत्ति माननी होगी। वह दृश्य उसीका परिणाम है। नि.षो. (४.५) में स्पष्ट ही कहा गया है कि यह सारा विश्व उसीका परिणाम है, उससे अतिरिक्त यहाँ किसी की भी कोई स्थिति नहीं मानी गई है।

१. शक्तिपारम्यवाद का प्रतिपादन भट्ट प्रद्युम्न ने तत्त्वगर्भस्तोत्र में किया है, इसकी सूचना भट्ट उत्पल की शिवदृष्टिवृत्ति से मिलती है।

सहारा लिये बिना असंभव है। संवित् में अन्तर्लीन भाव ही प्रकाशित हो सकते हैं। भावों की प्रकाशमानता और संवित् एक ही तत्त्व है, क्योंकि प्रकाश ही संवित् है।.... इस तरह से ये सब भाव प्रकाश में विश्राम-लाभ करते हैं और यह प्रकाश विमर्श के बिना नहीं रह सकता। इस प्रकार संवित् का व्यापार विमर्श पर्यन्त चलता है।

यहाँ अभिनवगुप्त अपने दर्शन की पद्धति से संवित् की प्रकाशविमर्शात्मकता सिद्ध करते हैं। शाक्त दर्शन में तो संवित् षट्त्रिंशत् तत्त्वों से ऊपर है। अतः प्रकाशविमर्शात्मक शिवशक्तिस्वरूप प्रथम दो तत्त्व भी संवित्-स्वरूप परब्रह्म के प्रसार-मात्र हैं। इसीलिये योगिनीहृदय, ऋजुविमर्शिनी आदि ग्रन्थों में मन्त्र, मातृका, मुद्रा, चक्र आदि को संवित् का ही प्रसार बताया गया है। देश, काल, आकार आदि से अनियन्त्रित स्वभाव वाली, महतो महीयसी, तीन संख्या वाले सभी धर्मों को स्वरूप देने वाली, परमार्थतः चिदानन्दघन स्वरूप वाली, अत्यन्त स्पृहणीय, मन को मोहित कर देने वाली यह संवित् महात्रिपुरसुन्दरी के नाम से शास्त्रों में वर्णित है। शाक्त दर्शन का सार यही है कि भगवती [1]संवित् ही अपने भीतर विश्राम-लाभ कर रहे जगत् को बाहर प्रकाशित करती है। इस प्रकार तत्त्वों के विकास-क्रम में अन्तर्भूत शिव-शक्ति तत्त्वों के सहारे शक्तिपारम्यवाद का खण्डन सही नहीं माना जा सकता। इसी शक्तिपारम्यपक्ष को नि. षो. के चतुर्थ पटल (४.४. १८) में विस्तार से भलीभाँति समझाया गया है। "शिवः शक्त्या युक्तः" सौन्दर्यलहरी के इस प्रथम श्लोक का भी यही अभिप्राय है।

इस प्रकार शाक्त वामकेश्वर दर्शन में त्रिपुरा नाम वाली परा संवित् ही परब्रह्मस्थानीय है। **त्रिपुरा**[2] पद का निर्वचन करने वाले दो श्लोक शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। वे इस प्रकार हैं—

---

१. भगवती संवित् ही वस्तु की उपलब्धि में हमारी एकमात्र सहायक है, ऐसा कहते हुए प्राभाकर मीमांसक, भासर्वज्ञ एवं वाचस्पति मिश्र जैसे नैयायिक संवित् शब्द का प्रयोग ज्ञान के पर्याय के रूप में करते हैं, तो भी पंचदशी के अनुसार यह स्वयंप्रभा संवित् उदयभाव एवं अस्तभाव से भी रहित है, अर्थात् यह सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म से अभिन्न है। उस ब्रह्म में संवित् की जो सत्ता है, उसके कारण ही लौकिक ज्ञान में भी संवित् शब्द का औपचारिक प्रयोग होने लग जाता है। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी (भा. २, पृ. १९७ एवं १९९) में अभिनवगुप्त ने भट्ट नारायण और भट्ट शंकरनन्दन को संवित्सार मीमांसक कहा है। इस तरह से स्पष्ट है कि परवर्ती काल के ये सभी दार्शनिक शाक्तदर्शन मूलक संविदभ्युपगमवाद के ही अनुयायी थे।

२. त्रिपुरा पद की अनेक प्रकार की निरुक्तियाँ शास्त्रों में मिलती हैं। जैसे कि अर्थरत्नावली में— तीन से पहले, तीन बिन्दु और तीन तत्त्वों से पहले जो स्थित है, वह त्रिपुरा है (पृ. १९३), तीनों वर्णों की कारणस्वरूप यह त्रिपुरा अकार, हकार और कामकलामय स्वरूप को अपने

त्रिमूर्तिसर्गाच्च पुराभवत्वात् त्रयीमयत्वाच्च पुरैव देव्याः।
लये त्रिलोक्या अपि पूरकत्वात् प्रायोऽम्बिकायास्त्रिपुरेति नाम।।

शिवशक्त्यात्मसंज्ञेयं तत्त्वत्रितयपूरणात्।।
त्रिलोकजननी चाथ तेन सा त्रिपुरा स्मृता।।

प्रकाश-विमर्शमय स्वरूप में छिपाये रहती है (पृ. १९३), यह परमा शक्ति अकेली ही है, तो भी बीज के अंकुरित होने की स्थिति में यह ज्ञान, क्रिया और इच्छा रूप तीन बिन्दुओं का स्वरूप धारण कर त्रिपुरा कहलाती है (पृ. २०६), इस तरह से तीन शक्ति, तीन चक्र, तीन धाम, तीन बीज, तीन तत्त्व, तीन गुण, तीन कोण आदि के भेदों को आकार देने वाली, त्रिवृत्करण की विचित्र प्रक्रिया को स्वरूप देने में चतुर, इस तरह की त्रिविधताओं के कारण समस्त अध्वाओं को व्याप्त करने वाली यह त्रिपुरा है (पृ. २०७)। इस प्रकार अर्थरत्नावलीकार ने त्रिपुरा पद की चार व्युत्पत्तियाँ बताई हैं। योगिनीहृदय और दीपिका में धाम, तत्त्व, पीठ, लिंग, मातृका आदि तीन संख्या के पदार्थों से पहले स्थितिवाली प्रकाश-विमर्श-सामरस्य स्वरूपिणी देवी को त्रिपुरा बताया है (पृ. १२)। माता, मान और मेय रूप तीन पुरों की (पृ. ३०३) और वामा आदि तीन शक्तियों की जननी को भी त्रिपुराम्बिका (पृ. ३०५) कहा गया है। यह भगवती वामा, ज्येष्ठा और रौद्री नामक तीन पुरों की जननी है (पृ. ३०७)। चिद्वल्ली में तेज, जल और अन्न नामक तीन तत्त्वों से पहले इसकी स्थिति बताई गई है (पृ. ९), त्रिवृत्कृत प्रपंच का पूरण करने से भी यह त्रिपुरा भगवती परब्रह्मस्थानीया है (पृ. १०) त्रिपुरा ही सच्चिदानन्दस्वरूपिणी है (पृ. ११) और तीन रूपों में स्थित समस्त जागतिक वस्तुओं को पूरा करने वाली एवं समस्त योगी जनों की उपास्य होने के कारण अत्यन्त स्पृहणीय है (पृ. ३७)। सेतुबन्ध में पुर शब्द का अर्थ शरीर किया है और त्रिपुरा पद का अर्थ तीन शरीर वाली बताया है। श्लोक की एक पंक्ति का प्रमाण देते हुए वहाँ बताया गया है कि इन तीन शरीरों, मूर्तियों से पहले विद्यमान होने से अम्बिका का त्रिपुरा नाम है (पृ. १४०)। गौडपादीय सूत्र में भी बताया है कि एक ही ब्रह्म तीन स्वरूप धारण कर लेता है। यहाँ भाष्य में तत्त्व पद की गुण, मूर्ति, बीज, जगत्, पीठ, खण्ड परक व्याख्या की गई है। अभिप्राय यह है कि गुण आदि से पहले भगवती विद्यमान है। त्रिपुरार्णव में बताया गया है कि सुषुम्ना, पिंगला और इडा नामक नाडियाँ त्रिपुरा कहलाती हैं एवं मन, बुद्धि और चित्त पुरत्रय कहे गये हैं। इन सभी स्थानों में निवास होने से ये त्रिपुरा कहलाती हैं। कालिकापुराण में भी इनके त्रिकोण मंडल का उल्लेख कर अन्त में बताया गया है कि इनके पास सभी कुछ तीन संख्या वाले पदार्थ हैं, अतः इनको त्रिपुरा कहा जाता है। लघुस्तव का १६वाँ श्लोक तो प्रसिद्ध ही है, जिसमें देवत्रय, अग्नित्रय, शक्तित्रय, स्वरत्रय, त्रिलोकी, त्रिपुटी, त्रिपुष्कर, त्रिब्रह्म तथा तीन वर्ण की चर्चा कर बताया गया है कि हे भगवति! इस जगत् में जो भी त्रिधा विभक्त है अथवा त्रिवर्गात्मक है, वह सब आपके त्रिपुरा नाम के कारण ही सार्थक है। भास्करराय ने सौभाग्यभास्करभाष्य (पृ. १३२) में बताया है कि नि. षो. के चतुर्थ पटल (४.४-१६) में हम इनके अन्य नामों का भी निर्वचन करेंगे।

अर्थात् त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र) की सृष्टि से भी पहले यह विद्यमान है, सनातन काल से यह वेदस्वरूप है, लयावस्था में भी यह त्रिलोकी का पालन करती रहती है, अतः यह अम्बिका त्रिपुरा के नाम से जानी जाती है। शिव, शक्ति (विद्या) और आत्मा नामक तीन तत्त्वों का पूरण करने वाली, अर्थात् सृष्टि-काल में उनमें आने वाली क्षति की पूर्ति करने वाली, यह त्रिलोकी की माता त्रिपुरा के नाम से जानी जाती है।

यह त्रिपुरा नामधेय परब्रह्म प्रकाश एवं विमर्श की समरस[1] अवस्था है, बीज की सी इसकी स्थिति है। अंकुरित बीज से जैसे विशाल वट वृक्ष की सृष्टि होती है, उसी तरह से इसकी उच्छूनावस्था में स्थूल कला, तत्त्व और भुवन रूप अर्थात्मक तथा सूक्ष्म वर्ण, पद, मन्त्र रूप शब्दात्मक सृष्टि के साथ कर्ता, कर्म और करण के रूप में ; लोक, लोकन और लोक्य के रूप में छत्तीस तत्त्वों की समष्टि रूप इस त्रिलोकी की उत्पत्ति में कारणभूत [2]**स्पन्द** शक्ति का उन्मेष होता है। बीजावस्था में जैसे अंकुर, काण्ड, पत्र, पुष्प, फल आदि अवस्थाएं छिपी रहती हैं, उसी तरह से स्पन्दावस्था में छत्तीस तत्त्वों का समूह रूप यह कार्यात्मक प्रपंच अन्तर्लीन रहता है, अर्थात् यह स्पन्द शक्ति छत्तीस तत्त्वों को अपने गर्भ में स्थापित कर उसमें अपनी महाहन्ता को ही देखती है, अपनी महाविभूति से भविष्य में उत्पन्न होने वाले प्रपंच को अपना ही महाविकास समझती

---

१. सौभाग्यभास्करभाष्य (पृ. १९५) में भास्करराय ने सामरस्य पद का समरसता, परमसाम्य, अत्यंत अभेद अर्थ किया है।

२. भट्ट रामकण्ठ ने स्पन्दकारिकाविवृति (पृ. १३-१४) में स्पन्द शब्द की अन्वर्थक व्युत्पत्ति बताते हुए कहा है कि नित्य स्वस्वभाव परामर्शमात्र अथ च शून्यता से भिन्न अपने संरम्भात्मक स्वरूप में परमेश्वर के शाक्त स्फार के कारण निरन्तर किंचिच्चलनशील तत्त्व ही **स्पन्द** शब्द का वाचक है। तन्त्रालोक (४.१८२-१८३) मे बताया गया है कि हृदय में समस्त विश्व को द्रवित कर देने वाला जो स्वविमर्श सामान्य रूप से समस्त भावों को आवृत कर लेता है, उसीको स्पन्द कहते हैं। यह अपने आप अपने में ही उछलता रहता है। स्पन्दनिर्णय (पृ. ५) में इसका लक्षण बताते हुए क्षेमराज कहते हैं कि वास्तव में न किसी का उदय होता है और न कोई अस्तमित ही होता है, केवल भगवती स्पन्दशक्ति ही किसी क्रम के बिना भी इस तरह से आभासित होती हुई स्फुरणशील होती है कि वह उदित होती हुई सी, अस्तमित होती हुई सी प्रतीत होती है। योगिनीहृदयदीपिका (पृ. २८२) के अनुसार परा भगवती का तत्त्वरूप में प्रसार ही स्पन्द है। वरिवस्यारहस्यप्रकाश (पृ. ४४) में बताया गया है कि छत्तीस तत्त्वों के रूप में भगवती का विश्वमय परिणाम ही स्पन्द है। इस तरह से अव्याकृत नाम-रूप वाले जगत् के लिये ही तन्त्रशास्त्र में स्पन्द शब्द का प्रयोग किया जाता है। हम कह सकते हैं कि भगवती परा संवित् का ३६ तत्त्वों से अतीत, किंचिच्चलनशील, ३६ तत्त्वों का स्वरूप धारण करने के लिये उद्यत, परिणमनशील धर्म ही **स्पन्द** कहलाता है।

है। ऐसी स्थिति में स्पन्द शक्ति से अतिरिक्त अभी किसी की भी पृथक् सत्ता नहीं मानी जाती, क्योंकि प्रकाशमय परमशिव का विमर्श अपना स्वभाव है। इस स्थिति को प्रत्यभिज्ञाकारिका के निम्न वचन में स्पष्ट किया गया है—

स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा।
प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः।। (१.५.११)

अर्थात् शास्त्रज्ञ विमर्श को अवभास (प्रकाश) का स्वभाव ही मानते हैं। इस विमर्श के बिना प्रकाश का अर्थ के साथ संपर्क रहने पर भी वैसी ही स्थिति रह जायगी, जैसी जड स्फटिक की रहती है। अतः स्पष्ट है कि इस स्पन्द शक्ति की सहायता से ही शिव जगत् की सृष्टि करने में समर्थ हो सकता है, अन्यथा वह हिलने-डुलने में भी समर्थ नहीं हो सकेगा। देवीभागवत में स्पष्ट रूप से बताया गया है कि कुण्डलिनी शक्ति से रहित शिव शव (मुर्दा) के समान हो जाता है। सौन्दर्यलहरी के "शिवः शक्त्या युक्तः" इस श्लोक का भी यही अभिप्राय है। विद्वानों का कहना है कि बिना शक्ति के कोई भी व्यक्ति कुछ भी करने में समर्थ नहीं हो सकता।

इससे भी आगे बढ़कर यदि हम देखें तो शक्तिशून्य शिव में शिव, महेश्वर, शंकर, परमेश्वर, महादेव, मृड, महेशान, ईश आदि नामों की तथा स्थान, प्रकाश, अनुभव, उन्मेष, उद्यन्तृता आदि धामों की स्थिति भी नहीं होने पावेगी। इनके अभाव में शिव को जानने का क्या उपाय हो सकता है? जिस किसी तरह से उसका ज्ञान हो जाने पर भी उससे शिव-शक्ति के सामरस्य से उद्भूत, परिपूर्ण अहंप्रकाश परामर्श-स्वरूप मोक्ष नामक अकृत्रिम आनन्द की और [1]सृष्टि-स्थिति-संहार-तिरोधान-अनुग्रह स्वरूप अथवा प्रत्यभिज्ञाहृदय के ११वें सूत्र में प्रतिपादित आभासन-रक्ति-विमर्शन-बीजावस्थापन-विलापन

---

१. क्रमदर्शन में सृष्टि, स्थिति, संहार, अनाख्या और भासा नामक कृत्यपंचक अभिमत हैं। इनका परिचय महार्थमंजरी की ३९-४० कारिकाओं तथा उनकी परिमल व्याख्या में विस्तार से दिया गया है। वहाँ **अनाख्या** का अर्थ आख्याशून्य है। आख्या पश्यन्ती आदि त्रिविध वाणियों के अधीन है। भासा उस पारमेश्वरी चिच्छक्ति का नाम है, जो सब पर अनुग्रह करती है, सबसे ऊपर है और सृष्टि आदि विविध कार्यों के कारण विश्व के वैचित्र्य को अपने गर्भ में समेटे हुए है। अनाख्या तत्त्व का विश्लेषण योगिनीहृदय, संकेतपद्धति जैसे ग्रन्थों में भी मिलता है। "अनाख्या तत्त्व में तिरोधान और अनुग्रह दोनों की समान स्थिति मानी जा सकती है अथवा कृत्यपंचक के प्रति उदासीनता धारण कर चुपचाप बैठ जाना भी इसका अर्थ हो सकता है" (पृ. २३), ऐसा वरिवस्यारहस्य में भास्करराय का कहना है। इस मत के अनुसार भासातत्त्व का अन्तर्भाव अनाख्या में ही हो जाता है। इस मत में सृष्टि, स्थिति, संहार और अनाख्या नामक चार ही चक्र मान्य होंगे। योगिनीहृदयदीपिका इसी पक्ष का अनुवर्तन करती है। हिन्दी भाषा में **'अकथ कहानी'** जैसे प्रयोग इसी अर्थ में हुए लगते हैं।

नामक पंचकृत्यों की स्थिति नहीं बन पावेगी। फिर, इस तरह के असमर्थ शिव को स्वीकार कर लेने पर ध्यान और समाधि की स्थिति में महान् आनन्दसागर में निमग्न महायोगियों को सारे विश्व के साथ एकात्मता का और शिव-शक्ति के सामरस्य-रूपी महाह्रद में निमज्जन का एवं इन स्थितियों में चित्त की एकाकारता का सामर्थ्य कहाँ से आवेगा? शक्ति की तो स्थिति धर्म और धर्मी दोनों में समान रूप से विद्यमान है, अत: उसके आधार पर नाम, धाम, कर्म, रति और स्थिति इत्यादि सभी धर्मों की स्थिति संभव हो सकती है।

स्पन्दशक्ति की परिस्फुरत्ता (स्पन्दन) से सम्पन्न होने से स्वयं भी शक्तिसम्पन्न बना यह प्रकाशात्मक शिव अपने सूक्ष्म आकार में समस्त तत्त्वसमूह को निगल कर इस जगत् के बीज के रूप में और उगल कर अंकुर के रूप में विराजमान रहता है। जगत् को उगलने और निगलने में समर्थ यह महाशक्ति जब नाना रूपों में इस विश्व को प्रकट करना चाहती है, तो वामा, ज्येष्ठा और रौद्री शक्ति के रूप में सृष्टि, स्थिति और संहार कार्य के लिये शृंगाट (त्रिकोण) का आकार धारण कर लेती है। इसी तरह यह पारमेश्वरी पराशक्ति ब्रह्मा, विष्णु और ईश का तथा ज्ञान, क्रिया और इच्छा शक्ति का स्वरूप धारण कर इस त्रिलोकी की सृष्टि करते समय त्रिपुरा नाम धारण करती है। इस तरह से इदन्ता का प्रसार करने के लिये वह स्वाभाविक रूप से सृष्टि मार्ग का सहारा लेती है।

गुरु के द्वारा उपदिष्ट युक्ति से मध्यचार मार्ग से जब यह संहार की तरफ बढ़ती है, अर्थात् मूलाधारगत चतुर्दल पद्म के मध्य में स्थित त्रिकोणाकार कुलस्थान से जब ऊपर उठती है, तब मूलाधार आदि उन-उन आधारों (चक्रों) में विद्यमान कमलों के उदरों का निर्भेदन कर क्रमश: ब्रह्मरन्ध्र में विद्यमान हंसात्मक शिवाधिष्ठित सूर्यमण्डल से प्रकाशित स्थान में प्रविष्ट हो जाती है। वह यहाँ से भी आगे बढ़ती हुई महाप्रकाशमय शिव के साथ सामरस्य-लाभ से उच्छलित महानन्दस्वरूप चन्द्रमण्डल को द्रवित करती हुई, महासामरस्य से उद्भूत महानन्द का अनुभव करती हुई, चन्द्रमण्डल से द्रवित अमृतरस का पान करने से परमानन्द सागर में निमग्न यह कुलेश्वरी संवित्, जिसका देहाभिमान अभी छूटा नहीं है, यहाँ आकर छत्तीस तत्त्वों के समुदाय-रूप कुल को अपना शरीर समझने के अभिमान का, अर्थात् इस देह को ही प्रमाता समझने की गलती का परित्याग कर अकुल स्थान में विद्यमान निर्गुण, निर्लक्षण, कुल और रूप से रहित परम पुरुष को प्राप्त कर लेती है।

इस तरह से संहार मार्ग के सहारे परम पुरुष के पास पहुँचकर, उसके साथ सामरस्य स्थिति का अनुभव कर, उससे संतुष्टि मिल जाने पर वह पुन: अपनी इच्छा

से सृष्टि मार्ग में प्रविष्ट हो कुलपुरुष को मोहजाल में डाल देती है। अपनी इच्छा से ही इतना सब कर लेने के बाद वह इससे अलग हो अकेली रह जाती है। इस स्थिति में वह महास्फुरत्ता-स्वरूप अद्वयानन्दमय एवं महाहन्तात्मक स्वसंवित्ति का साक्षात्कार कर लेती है। इस प्रकार स्वेच्छा से ऊर्ध्व आरोहण एवं अधः अवतरण करने वाली, जगत्-रूपी चित्र को बनाने और बिगाड़ने वाली इस संवित् शक्ति के लिये अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी उपादान अथवा सहकारी कारण की अपेक्षा नहीं रहती। प्रत्यभिज्ञाहृदय के "चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः" और "स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति" (सू. १-२) इन दो सूत्रों में यही विषय वर्णित है कि चितिशक्ति विश्व के निर्माण में स्वतन्त्र है। वह बिना किसी का सहारा लिये अपनी इच्छा से स्वात्मभित्ति में विश्व का उन्मीलन करती है। योगिनीहृदय की दीपिका टीका में उद्धृत निम्न श्लोक में भी यही बात कही गई है—

जगच्चित्रं समालिख्य स्वेच्छातूलिकयाऽऽत्मनि।
स्वयमेव समालोक्य प्रीणाति भगवान् शिवः।। (पृ. ६५)

निम्न श्लोक का भी यही अभिप्राय है—

[1]निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने।।

विश्वोत्तीर्ण, केवल विज्ञानस्वरूप यह भगवती त्रिपुरा जब विश्वमय रूप में प्रकाशित होना चाहती है, तो वह आत्मा, विद्या और शिव नामक तीन तत्त्वों के रूप में अभिव्यक्त होती है, वह वर्णत्रयात्मक और शक्तित्रयात्मक स्वरूप धारण करती है। वाग्भव बीज की अधिष्ठात्री ज्ञानशक्ति वाग्भव बीज में विद्या के रूप में अमृतत्व को प्रकाशित करती है, कामकलात्मिका क्रियाशक्ति कामराज बीज में आत्मतत्त्व के रूप में महाचमत्कार का सम्पादन करती है और शिवस्वरूपिणी इच्छाशक्ति शक्ति बीज में परमशिव के साथ सामरस्य का आपादन करती है। इस तरह तीन वर्णों (बीजों) वाली यह महात्रिपुरसुन्दरी देवी **श्रीविद्या** के रूप में प्रसिद्ध होती है। नि. षो. के व्याख्याकार शिवानन्द आदि ने दो स्थलों पर (१. १८७, ५. १) कुछ पाठभेद के साथ कामतत्त्व, विषतत्त्व और मोक्षतत्त्व का स्वरूप बताया है। यहाँ शिवानन्द ने कामराज, शक्ति और वाग्भव बीज के अर्थ में इनकी स्थिति मानी है। कामराज बीज कामकलास्वरूप, शक्ति बीज सर्वविध विष का नाश करने वाला और वाग्भव बीज मोक्ष का प्रदाता माना गया है।

---

१. यह श्लोक काव्यप्रकाश में उद्धृत है। इसे उत्पल की स्तोत्रावली का बताया जाता है। किन्तु वहाँ यह उपलब्ध नहीं है।

तन्त्रालोक में कुलगुह्वर के प्रमाण से इन तत्त्वों की भिन्न प्रकार से व्याख्या की गई है। वहाँ (३.१४६) कामतत्त्व को अव्यक्त ह-कलात्मक विसर्ग, विषतत्त्व को काक-चंचुपुट के आकार का ध्यान-धारणा से वर्जित अनच्क सकार (३.१६९) और मोक्षतत्त्व को निरंजन परम धाम बताया गया है। सांजन स्थिति में यह क्रियाशक्ति की सहायता से विश्वमय रूप में स्फुरित होता है। वहीं (३..१७१-१७३) इच्छाशक्ति को काम, ज्ञानशक्ति को विष और क्रियाशक्ति निरंजन तत्त्व बताया गया है और कहा गया है कि ये तीनों तत्त्व जब समरस हो जाते हैं तो उस स्थिति में साक्षात् भैरव-स्वरूप शिवभाव प्रकट हो जाता है। नि. षो. में वाग्भव को ज्ञानशक्तिमय, कामराज को क्रियाशक्तिमय और शक्तिबीज को इच्छाशक्तिमय माना गया है। मन्त्रप्रकरण में नेत्रतन्त्र के प्रमाण से मन्त्रों को शिव, शक्ति और आत्मस्वरूप बताया गया है। उसी तरह से त्रिपुरा विद्या भी आत्म, विद्या और शिव नामक तीन तत्त्वों के रूप में अभिव्यक्त तीन बीजों का स्वरूप धारण कर लेती है। श्रीविद्या के अर्थ का अनुसंधान करने वाले साधक में वह उत्तरषट्क में प्रतिपादित पद्धति के अनुसार मन्त्रचैतन्य के रूप में स्वयं आविष्ट हो जाती है। उस स्थिति में समाराधक स्वयं महात्रिपुरसुन्दरी-स्वरूप हो जाता है।

नि. षो. (४.५-१६) में शक्तिपारम्यवाद का और शक्तिपरिणामवाद का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रसंग की व्याख्या करते हुए शिवानन्द (पृ. १९५-१९६) सत्कार्यवाद का समर्थन करते हुए कहते हैं कि बीजावस्था में जैसे अंकुर, काण्ड, पत्र, पुष्प, फल आदि छिपे रहते हैं, उसी तरह से शक्ति की स्तिमितावस्था में यह सारा कार्य-जगत् उसमें विद्यमान रहता है। भास्करराय इस प्रसंग में वेदान्तियों और तान्त्रिकों की विशेषता को स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि वेदान्तियों की दृष्टि में चिद्रूप परब्रह्म की शक्ति माया जड़रूप है। इसीके परिणाम से जगत् की उत्पत्ति होती है। इसमें माया उपादान कारण है और यह परब्रह्म का वैवर्तिक रूप है। जगत् का उपादान जड़ माया है, अत: यह भी जड़ और मिथ्या है।..... तान्त्रिकों के पक्ष में तो परसंविन्निष्ठ चिच्छक्ति ही जगत् का उपादान है। अपनी अनन्त शक्तियों के कारण इसको माया भी कहते हैं।..... प्रपंच इसीका परिणाम है, अत: यह भी चित्स्वरूप है। ज्ञानवासिष्ठ में प्रपंच को चिद्विलास माना गया है। इसीलिये यह सत्य है। इस तरह से भास्करराय की दृष्टि में नि. षो. में अविकृत परिणामवाद[१] प्रतिपादित है, यह स्पष्ट हो जाता है।

"विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतम्" इस दक्षिणामूर्तिस्तोत्र के वचन के अनुसार अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति से उच्छलित यह सारा जगत् आभासमात्रसार है। इस

१. ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार भास्कराचार्य आदि आचार्यों ने अविकृत परिणामवाद को स्वीकार किया है। वही यहाँ प्रतिपादित है, काश्मीर दर्शन का आभासवाद नहीं। क्या इससे हम यह कल्पना कर सकते हैं कि नि.षो. के आविर्भाव के समय आभासवाद स्थिति में नहीं आया था।

आभासवाद पर ही सारा काश्मीराद्वयवाद प्रतिष्ठित है, ऐसा शैव और शाक्त आगमों में प्रतिपादित है। इसी पक्ष का अनुसरण करते हुए शिवानन्द और विद्यानन्द ने आभासवाद की पद्धति से ही प्रस्तुत ग्रन्थ की भी व्याख्या की है। महार्थमंजरी की परिमल टीका में महेश्वरानन्द ने प्रतिबिम्बवाद की पृष्ठभूमि में आभासवाद का सुस्पष्ट स्वरूप प्रस्तुत किया है। इस विषय को यहाँ (पृ. ५५९-५६०) प्रस्तुत किया जा चुका है।

आभास का अर्थ अन्यथाभाव नहीं है। उन्मेष के नाम से जानी जाने वाली अन्तः स्थित वस्तु का बाहर प्रकाशित हो उठना ही आभास है। यह उन्मेष सांख्यों के विकृत परिणामवाद से और वेदान्तियों के अन्यथाप्रथा रूप विवर्तवाद से सर्वथा भिन्न है। इस मत में बहिः प्रकाशन स्वतन्त्र चिच्छक्ति का माना गया है, अचेतन माया या प्रकृति का नहीं। प्रकृति-परिणामवाद में गुणों की साम्यावस्था में विकृति आ जाती है। इसके विपरीत आभासवाद में तो स्वतन्त्र चितिशक्ति ही बिना किसी विकार का स्पर्श किये नाना रूपों में भासित होती रहती है। अतः यहाँ वैषम्य का कोई अवकाश ही नहीं है, क्योंकि अन्तः स्थित विश्व उसी रूप में बाहर प्रकाशित हो उठता है। वेदान्तियों का ब्रह्म भी यद्यपि चेतन ही है, किन्तु वह अपनी इच्छा से जगत् के रूप में अपने को भासित नहीं करता, क्योंकि स्वातन्त्र्य के अभाव में उसमें कर्तृत्व नहीं आने पाता। चितिशक्ति तो, जैसा कि अभी ऊपर बताया गया, विश्व के निर्माण में स्वतन्त्र है। उसका प्रकाश भी अन्यथारूप अथवा भ्रमरूप नहीं है, किन्तु चेतन का चेतन के रूप में ही सर्वदा सर्वात्मना भान होता रहता है। इस तरह से शाक्त मत में प्रपंच का सर्वदा संवित्-रूप में ही भान होते रहने से आभासवाद में कोई दोष नहीं आने पाता, अतः परिणामवाद और विवर्तवाद से यह श्रेष्ठ है। प्रतिबिम्बवाद के नाम से यह आभासवाद तन्त्रालोक के तृतीयाह्निक में (पृ. १-७३) विस्तार से वर्णित है।

भास्करराय ने यद्यपि शक्तिपरिणामवाद को स्वीकार किया है, तथापि वे शक्तिपारम्यवादी नहीं है। योगिनीहृदय की व्याख्या करते समय वे कहते हैं कि परमशिव पक्ष का निरास केवल जल्पकथा मात्र है (पृ. २३)। वरिवस्यारहस्यप्रकाश (पृ. ४६) में वे स्पष्ट रूप से शिवपारम्यपक्ष का समर्थन करते हैं, क्योंकि वे कहते हैं कि जनन-मरण की क्लेश-परम्परा रूप संसार की सृष्टि करने के कारण शक्ति विष और इससे मुक्त कर देने के कारण शिव अमृत हैं। शिवानन्द और विद्यानन्द ने भी शक्ति शब्द का प्रयोग सर्वत्र विमर्श के रूप में किया है। परवर्ती काल में शैव और शाक्त दर्शन को मिलाकर [1]शांभव दर्शन की प्रवृत्ति हुई। यहाँ शिव और शक्ति की समान सत्ता मानी गई। इसी आधार पर भास्करराय वहीं (पृ. २२-२३) कहते हैं कि केवल शिव के समान केवल शक्ति भी सृष्टि करने में असमर्थ है। शिवानन्द और विद्यानन्द भी कहते हैं कि प्रकाश और विमर्श दोनों मिलकर ही सृष्टि करते हैं।

१. देखिये— गारलैण्ड आफ लेटर्स, पृ. २५०

यद्यपि प्रकाश और विमर्श मिलकर ही शब्दार्थमय सृष्टि करते हैं, तो भी प्रकाशांश से अर्थसृष्टि और विमर्शांश से शब्दसृष्टि मानी जाती है। वामकेश्वर दर्शन में तो प्रकाशविमर्शात्मक श्रीचक्र से सर्वविध सृष्टि होती है, योगिनीहृदय के प्रमाण से अब इसी चक्रमयी [1]सृष्टि का परिचय दिया जा रहा है।

चक्रमयी सृष्टि

योगिनीहृदय (१.३५) में ह्रींकार के हकार से लेकर महाबिन्दु पर्यन्त कलाओं में स्थित सकल, सकल-निष्कल और निष्कल नामक तीनों स्वरूपों के ऊपर विद्यमान, तीन-तीन रूप वाली समस्त वस्तुओं से पुरातन, देश-काल-आकार आदि से रहित, महतो महीयसी, स्वभावसुन्दरी परप्रकाशात्मक परशिव के सामरस्य से उत्पन्न परिपूर्ण परमानन्द में निमग्न विमर्श शक्ति को यहाँ महात्रिपुरसुन्दरी बताया गया है। वामकेश्वर दर्शन में भगवती त्रिपुरा को ही परब्रह्म माना गया है। यह परा शक्ति स्वेच्छा से जब अपने भीतर विश्व की सृष्टि के लिये स्पन्द शक्ति को जगाती है, तो छत्तीस तत्त्वमय विश्व की सृष्टि करते समय सर्वप्रथम उससे विश्वमय श्रीचक्र की निष्पत्ति होती है (१. ९-१०)।

१-२. बैन्दव और मध्यत्र्यश्र चक्र

सर्वप्रथम वाक्चतुष्टयात्मक बिन्दु एवं त्रिकोण की निष्पत्ति का प्रकार वहाँ (१. ३६-४०) इस प्रकार बताया गया है— यह परमा कला जब अपने भीतर [2]**स्फुरत्ता** का

---

१. भास्करराय ने वरिवस्यारहस्यप्रकाश (पृ. ४७) में अर्थमयी और शब्दमयी सृष्टि की चर्चा कर बाद में कहा है कि चक्रमयी और देहमयी नामक दो सृष्टियाँ बच्चों के खेलने के घर के समान है, अतः इनका अन्तर्भाव अर्थसृष्टि में ही कर दिया गया है। उनकी यह उक्ति दर्शनान्तर के संस्कार के कारण है, क्योंकि यहाँ तो चक्रमयी सृष्टि को ही प्रधानता दी गई है।

२. "वामा ज्येष्ठा रौद्री" (श्लो. २३) कामकलाविलास के इस श्लोक की व्याख्या करते समय चिद्वल्लीकार नटनानन्द इस प्रकरण की अन्यथा व्याख्या करते हैं। उनका कहना है कि पराभट्टारिका स्वरूप यह बिन्दुतत्त्व ही ऊर्ध्व और अधोमुख होकर नवयोन्यात्मक श्रीचक्र का स्वरूप धारण कर लेता है। वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, अम्बिका और परा शक्ति– ये पाँच शक्तियाँ अनुत्तर की अंश मानी जाती हैं। श्रीचक्र के अन्तर्गत अधोमुख पाँच त्रिकोण भी अनुत्तर के ही अंश माने जाते हैं।···· इच्छा, ज्ञाना, क्रिया और शान्ता नामक चार शक्तियाँ उसीके अवयव हैं, अर्थात् ऊर्ध्व मुख चार त्रिकोण स्वरूप हैं। इसका अभिप्राय यह है कि परा शक्ति की विलासस्वरूप ये वामा आदि पाँच शक्तियाँ और इच्छा आदि चार शक्तियाँ····· ये सब मिलकर नवत्रिकोण चक्र का स्वरूप धारण करती हैं। चतुःशती (पृ. ४५) में "आत्मनः स्फुरणं" से लेकर "ईश्वरी विश्वविग्रहा" पर्यन्त इसी का निरूपण किया गया है। इस व्याख्या के आधार पर नटनानन्द पंचशक्ति-चतुर्वह्नि स्वरूप श्रीचक्र की पश्यन्तीमयता सिद्ध करना चाहते हैं। यह व्याख्यान प्रकरण-विरुद्ध और व्याख्यानान्तर-विरुद्ध भी लगता है। मातृका-प्रकरण में यहाँ पश्यन्ती वाक् के ११ भेद बताये गये हैं। उन्हीं का ग्रहण यहाँ प्रकृत माना जायगा।

अनुभव करती है, तो उस समय यह बैन्दव चक्र के रूप में अम्बिका शक्ति का स्वरूप धारण करती है। यही परा वाक् भी कहलाती है। बीज के रूप में अपने भीतर स्थित विश्व को जब यह बाहर निकालती है, तो यह वामा शक्ति कहलाती है। यह वामा शक्ति अंकुश का सा आकार बना लेती है। यह इच्छा शक्ति और पश्यन्ती वाणी के रूप में अभिव्यक्त होती है। आगे ज्येष्ठा शक्ति ही ज्ञान शक्ति एवं मध्यमा वाक् बन जाती है। विश्व की स्थिति के लिये यह सीधी रेखा के रूप में अपना आकार बनाती है और संहार दशा में पुन: बैन्दव रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार यह शक्ति परिपूर्ण शृंगाट (त्रिकोण) का स्वरूप धारण करती है। क्रिया शक्ति का यह व्यापार है। इसीको रौद्री शक्ति भी कहते हैं और यही वैखरी वाणी सारे विश्व को व्याप्त कर लेती है।

नि. षो. (४. ९-११) में भी इसी रूप में वामा, ज्येष्ठा और रौद्री का तथा इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्ति का स्वरूप वर्णित है। दीपकाचार्य ने अपने त्रिपुरसुन्दरीदण्डक में इस अर्थ को अधिक स्पष्ट किया है— "हे जननि! सर्वशून्यता रूप अपनी अन्तर्भूमि से जब आपकी एकाएक बाहर निकलने की इच्छा होती है, तो उस समय आप केश के अग्रभाग से करोड़ों अंश सूक्ष्म रूप में उच्छूनावस्था को प्राप्त बीज के समान कन्द स्थान में प्रविष्ट हो जाती हैं। आपकी यह अवस्था अम्बिका के नाम से जानी जाती है। इसके बाद अंकुरित बीज के समान आपका आकार कुटिल हो जाता है, तो वामा कहलाती हैं। आपकी ज्योति जब स्पष्ट रेखा का रूप धारण कर लेती है, तो आपका वह रूप ज्येष्ठा के नाम से जाना जाता है। अन्तत: आप परिपूर्ण शृंगाट का रूप धारण कर लेती है। आपका यह स्वरूप रौद्री नाम से जाना जाता है (२४ क.)।

अर्थरत्नावली (पृ. २०४-२०५) में इसकी विस्पष्ट व्याख्या देखी जा सकती है। बैन्दव और त्रिकोण चक्र के इस स्वरूप का वर्णन सौभाग्यसुधोदय (३. १-३) में भी किया गया है— "भगवती की अंशभूत अम्बिका शक्ति तब अपनी ही शान्ता शक्ति के साथ समरसभाव को प्राप्त करती है, तो उससे ज्योतिर्मय महाबिन्दु का आविर्भाव होता है। वही शक्ति अपनी इच्छाशक्ति का उद्रेक होने पर इस विश्व का वमन करती है, तब वह वामा कहलाती है। उस समय वह अपने स्वरूप को तिरछा कर लेती है। त्रिकोण की यह वाम रेखा सृष्टि-स्वरूप मानी गई है। ज्येष्ठा शक्ति ज्ञानशक्ति से आविष्ट होकर अग्र रेखा के रूप में सीधी हो जाती है। यह स्थिति-स्वरूप है। क्रियाशक्ति से उपरक्त होने पर यह रौद्री शक्ति कहलाती है। शृंगाट की यह दक्षिण रेखा संहार-स्वरूप है। इस प्रकार परिपूर्ण त्रिकोण का स्वरूप धारण कर यह देवी [1]पश्यन्ती वाणी कहलाती है।

१. "इत्थमियं पश्यन्ती माता जाता त्रिकोणरूपेण" (३. ३)।

इसी विषय को सिद्धनाथपाद ने अपने कुलरत्नशास्त्र में कुलशास्त्र की दृष्टि से इस प्रकार प्रस्तुत किया है— सभी प्राणियों के हृदय में जो [1]अनच्क परम ज्योति विद्यमान है, कुण्डलिनी उसकी इच्छाशक्ति है और ज्ञानशक्ति से नाद की उत्पत्ति होती है। इच्छा और नाद का सहयोग होने पर रौद्री शक्ति प्रकट होती है। अर्धचन्द्र के समान आधार वाली अम्बिका शक्ति से उक्त तीनों शक्तियाँ प्रकट होती हैं। कुलशास्त्र में ये [2]कुलोदय, कुलव्याप्ति और कुलौघ के रूप में वर्णित हैं।

इस प्रकार विभिन्न ग्रन्थों के आधार पर नवचक्र-समष्टिमय श्रीचक्र के नवम बैन्दव चक्र और अष्टम मध्यत्र्यश्र की निष्पत्ति का प्रकार यहाँ बताया गया है। इनमें बैन्दव चक्र परावाक्-स्वरूप तथा मध्यत्र्यश्र पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी रूप माना गया है। योगिनीहृदय (१. १०-११) में भी यह विषय वर्णित है। योगिनीहृदय की अपनी हिन्दी व्याख्या में हमने इसको विस्तार से समझाया है।

इस प्रकरण का **कामकला** से सीधा संबन्ध है, क्योंकि शास्त्रों में बैन्दव और मध्यत्र्यश्र की समष्टि को ही कामकला के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

कामकला का स्वरूप

हम सभी जानते हैं कि बिन्दु का आकार शून्य जैसा है। शून्य से ही बिन्दु की पहिचान होती है। परा शक्ति के प्रतीक इस बिन्दु में अनुत्तर लिपि अकार विसर्ग लिपि हकार (विसर्ग) अत्यन्त सूक्ष्म रूप में समरस अवस्था में स्थित हैं। [3]संकेतपद्धति में बताया गया है कि अकार प्रकाशात्मक शिव और हकार विमर्शात्मक शक्ति का प्रतीक है। इन दोनों के मिलन से **'अहम्'** की सृष्टि होती है। पाणिनि व्याकरण के अच् प्रत्याहार में जैसे अकार से लेकर चकार के मध्यवर्ती सभी वर्णों का ग्रहण होता है, उसी तरह से 'अहम्' पद भी अकार से लेकर हकार पर्यन्त सभी वर्णों का द्योतक है। हकार को विसर्ग भी कहा जाता है और विसर्ग से ही समस्त विश्व की सृष्टि होती है। इसका अभिप्राय यह है कि बिन्दु की प्रकाश-विमर्शात्मक समरस अवस्था में यह सारा विश्व छिपा हुआ है। "स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति" (सू. २) इस प्रत्यभिज्ञासूत्र में तथा यो. हृ. दीपिका (१.५०) में उद्धत वचन (जगच्चित्रं) में यह बताया गया है कि

१. अनच्क पद का विवरण तन्त्रागमीय ज्ञानकोश में देखिये।

२. "क्रमात् कुलोदयो व्याप्तिः कुलौघश्चायमुच्यते" (अर्थ., पृ. २०५)। सिद्धनाथपाद के अतिरिक्त यहाँ कुब्जिकामत भी स्मृत है।

३. "अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः। हकारोऽन्त्यः कलारूपो विमर्शाख्यः प्रकीर्तितः।।" संकेतपद्धति का यह वचन अनेक स्थलों पर उद्धृत है।

चितिशक्ति अथवा परमशिव स्वात्मभित्ति में स्वेच्छा से विश्व का उन्मीलन करते हैं। सूर्य की तरफ दर्पण का मुँह करने पर सूर्य की किरणें स्वच्छ दर्पण पर पड़ कर जैसे दीवाल पर तेजोबिन्दु के रूप में भासित होने लगती हैं, उसी तरह से प्रकाशात्मक परमशिव की किरणें जब विमर्शरूपी स्वच्छ दर्पण पर पड़ती हैं, तो स्वात्मभित्ति में सबसे पहले महाबिन्दु भासित होता है। यही नवचक्रात्मक श्रीचक्र का बिन्दु नामक प्रथम चक्र है। इसीको **कामबिन्दु** भी कहते हैं, क्योंकि कामेश्वर और कामेश्वरी यहाँ समरस अवस्था में स्थित हैं।

इस कामबिन्दु में स्पन्द या स्राव के उठने पर श्वेत और रक्त अग्नीषोमात्मक बिन्दुयुगल के रूप में विसर्ग की सृष्टि होती है। यह बिन्दुयुगल कामबिन्दु की **कला** है। इस तरह से बिन्दु और विसर्ग के मिलन से **कामकला** नामक बीजाक्षर की निष्पत्ति होती है। प्रकाश शक्ति की प्रधानता वाली, विमर्श शक्ति की स्फुरत्ता **(हार्धकला)** से युक्त कामकला से ही विश्वलहरीस्थान मातृत्रयात्मक बैन्दव (त्रिकोण) चक्र का प्रसार होता है। इस हार्धकला से युक्त कामकला नामक बीजाक्षर का स्थूल स्वरूप शारदा लिपि के ईकार का जैसा होता है। वस्तुतः देखा जाय तो सम्पूर्ण श्रीचक्र इस कामकला का ही विस्तार है। इसका सांगोपांग वर्णन पुण्यानन्द ने कामकलाविलास (श्लो. ३-८) में किया है। चिद्वल्ली टीका की सहायता से इसको समझा जा सकता है। यो. हृ. भाषाभाष्य (पृ. ५४ एवं ५६) की टिप्पणियों में एवं वहीं भावार्थप्रकरण (२. २०-२५) में भी इसकी चर्चा है।

भास्करराय ने वरिवस्यारहस्यप्रकाश में कामकलाविलास के इस प्रकरण को इस तरह से प्रस्तुत किया है— "जैसे सूर्य की तरफ दर्पण को करने से उसमें प्रतिफलित सूर्य की किरणें दीवाल पर तेजोबिन्दु के रूप में प्रतिफलित हो जाती हैं, उसी तरह से प्राणी के अदृष्ट के कारण सारे विश्व को अपने में समेटे हुए प्रकाशात्मक ब्रह्म विमर्शात्मक शक्ति में प्रतिबिम्बित होकर शुक्ल बिन्दु का आकार ग्रहण कर लेता है। उस शुक्ल बिन्दु में रक्त बिन्दु प्रविष्ट हो जाता है। इससे मिश्र बिन्दु प्रस्फुटित हो उठता है। यह समष्टिबिन्दु शिवशक्ति-सामरस्य स्वरूप है। अग्नीषोम के रूप में यह एकात्मक और व्यष्टि-रूप में द्व्यात्मक होता है। यहाँ शुक्ल बिन्दु सोम और रक्त अग्नि का स्वरूप है। ये दोनों बिन्दु मिलकर विसर्ग का स्वरूप धारण कर लेते हैं। कामाख्य बिन्दु, विसर्ग और हार्धकला ये तीनों मिलकर प्रत्याहार न्याय से कामकला का स्वरूप धारण कर लेते हैं। यह कामकला ही समस्त सृष्टि का मूल है। प्रकाशात्मक अकार और विमर्शात्मक हकार से निष्पन्न अहं-पदार्थ में जैसे सारे वर्ण प्रत्याहार न्याय से संनिविष्ट हैं, उसी प्रकार शिवशक्ति-सामरस्यात्मक त्रिविध बिन्दुरूप कामकला में

समस्त विश्व समाविष्ट है। स्पष्ट है कि इस कामकला से ही समस्त विश्व की सृष्टि होती है। तुरीय बिन्दुस्वरूप ब्रह्म ही इस प्रकार अहंपद-वाच्य होकर विश्व का स्वरूप धारण कर लेता है। (पृ. ५०-५१)।

त्रिपुरा सम्प्रदाय का यह अपना विशिष्ट सिद्धान्त है। विभिन्न ग्रन्थों में इसकी अनेकविध व्याख्या की गई है। महाकालसंहिता के एक खण्ड का नाम ही कामकला खण्ड है। हम जानते हैं कि अपने पति महान् मीमांसक मण्डन मिश्र को शास्त्रार्थ में हारता हुआ देख उनकी विदुषी पत्नी भारती ने शंकराचार्य से कामकला विषयक प्रश्न किया था। इस कामकला के स्वरूप की ही पुण्यानन्द ने अपने कामकलाविलास में चर्चा की है। श्रद्धेय कविराज जी ने भी अपने ग्रन्थ "तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि" में संगृहीत "शक्ति साधना" और "सृष्टि का उन्मेष" (शाक्त मत) शीर्षक निबन्धों में तथा "भारतीय संस्कृति और साधना" के प्रथम भाग में संकलित "शक्ति का जागरण" शीर्षक निबन्ध में इस विषय को स्पष्ट किया है। हालैण्ड के लीडेन नगर स्थित कर्न इंस्टीटयूट में सम्पन्न हुए (२३-२९ अगस्त, सन् १९८७) विश्व संस्कृत परिषद् के सातवें अधिवेशन की आगम और तन्त्रशास्त्र विषयक गोष्ठी (२८ अगस्त, प्रातःकाल) में कामकला पर एक सचित्र लेख पढ़ा गया था।

३. नवयोनि चक्र

बैन्दव और मध्यत्र्यश्र से नवयोनि चक्र की प्रवृत्ति होती है, अर्थात् प्रथम त्रिकोण के ऊपर सृष्टि और संहार के क्रम से शक्ति और वह्नि (शिव) त्रिकोण की स्थापना की जाती है, तो उससे नवयोन्यात्मक वसु(अष्ट)कोण चक्र की निष्पत्ति होती है। इस नवयोनि चक्र में धर्म, अधर्म, आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा, ज्ञानात्मा, माता, मेय और प्रमा की स्थिति मानी जाती है। मध्यत्र्यश्र में प्रमा की तथा उसके चारों तरफ फैले अन्य आठ कोणों में धर्म आदि की स्थिति रहती है। यह नवयोनि चक्र[1] बिन्दु, त्रिकोण और वसुकोण की समष्टि अम्बिका शक्ति का विलास है और यह सोलह स्वरों से आवृत है। नवयोनि चक्र का यह स्वरूप यो. हृ. (१. १२-१४) में वर्णित है। सौभाग्यसुधोदय (३.५) के अनुसार अष्टकोण चक्र वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, अम्बिका, इच्छा, ज्ञाना, क्रिया और शान्ता नामक आठ शक्तियों का प्रतिबिम्ब है। सुभगोदयवासना (श्लो. १७.) के अनुसार यह भगवती का सूक्ष्म पुर्यष्टक है। कामकलाविलास (२९ श्लो.) के अनुसार इस चक्र में श ष स एवं पवर्ग की स्थिति मानी गई है।

---

१. नवयोनि चक्र, अर्थात् तीन त्रिकोणों के संयोग से बने वसुकोण चक्र का नि.षो. (१. २९-४१) में वर्णित पद्धति से विस्तार होने पर अन्ततः नवचक्रात्मक श्रीचक्र परिपूर्ण हो जाता है।

४-५ दशारद्वय

नौ त्रिकोण और बैन्दव चक्र की चारों तरफ फैल रही दशविध प्रभा से अन्तर्दशार चक्र की निष्पत्ति होती है। प्रथम दशार से ही द्वितीय दशार का स्फुरण होता है। शिवानन्द के अनुसार प्रथम दशार से बुद्धीन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का आविर्भाव होता है (पृ. २९८) और अमृतानन्द के अनुसार ५ भूतों एवं ५ तन्मात्राओं का। आगे चतुर्दशार चक्र में ४ अन्तःकरणों के साथ बुद्धीन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का आविर्भाव बताया गया है, अतः यहाँ अमृतानन्द का व्याख्यान ही ठीक लगता है। भास्करराय ने अमृतानन्द का खण्डन तो किया है, किन्तु प्रथम दशार से जिन पदार्थों का स्फुरण हुआ, यह उन्होंने नहीं बताया। द्वितीय दशार से बुद्धीन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों के शब्द आदि, वचन आदि दस विषयों का स्फुरण होता है। अन्तर्दशार में अमृतानन्द के अनुसार [1]यकार से लेकर ळ क्ष पर्यन्त दस वर्ण स्थित हैं और भास्करराय के अनुसार म से क्ष पर्यन्त। इनके मत में ळ की स्थिति नहीं है। द्वितीय दशार में ककार आदि दस वर्ण स्थित हैं। कामकलाविलास में प्रथम दशार में तवर्ग-टवर्ग की और द्वितीय दशार में कवर्ग-चवर्ग की स्थिति मानी गई है। संप्रदाय के अनुसार इनकी व्यवस्था होगी।

६. चतुर्दशार

बैन्दव, त्रिकोण, वसुकोण और अन्तर्दशार चक्रों की चार किरणें तथा बहिर्दशार चक्र की दस किरणों के मिलने से चतुर्दशार चक्र निष्पन्न होता है। यहाँ टकार से ञकार पर्यन्त वर्णों की तथा दस बाह्य करण और चार अन्तःकरण— इस प्रकार १४ इन्द्रियों की निष्पत्ति होती है। यहाँ यह स्मरण रखना है कि पृथ्वी आदि तत्त्वों की रचना शिव के अंश से और वर्णों की रचना शक्ति के अंश से होती है। कामकलाविलास में (श्लो. ३१) यहाँ चतुर्दश स्वरों की योजना की गई है। दशारद्वय और चतुर्दशार ये तीन चक्र रौद्री शक्ति की प्रभा से संयुक्त हैं। दीपिका के अनुसार बिन्दु और त्रिकोण चक्र अम्बिकामय तथा अष्टकोण, दशारद्वय और चतुर्दशार ये चार चक्र रौद्री रूप हैं।

---

१. भास्करराय ने यहाँ 'शक्त्यादि' शब्द से मकार का ग्रहण किया है। उनके मत से इन दस वर्णों में ळकार की गणना नहीं की जाती और इस तरह से त्रिकोण से चतुर्दशार पर्यन्त चक्रों में सभी (पचास) वैखरी वर्णों का विन्यास पूर्ण हो जाता है। अमृतानन्द ५१ वैखरी वर्णों के पक्षधर लगते हैं। वहाँ आगे मूल ग्रन्थ (३. १००-१०१) में भी इसी पद्धति से वैखरी वर्णों का विन्यास बताया गया है, किन्तु इस क्रम में मकार का विन्यास कहीं नहीं होने पाता। बीजाक्षरों का बिन्दु अनिवार्य तत्त्व है। मकार को बिन्दु का प्रतीक मानकर और इस तरह से प्रत्येक वर्ण में इसकी सत्ता समझ कर मूल ग्रन्थ और अमृतानन्द की व्याख्या की संगति बैठाई जा सकती है।

श्रीचक्र में भूतलिपि का विन्यास

अष्टकोण से लेकर चतुर्दशकोण पर्यन्त चार चक्रों में वर्णों का विन्यास-क्रम योगिनीहृदय और कामकलाविलास में दो प्रकार का बताया गया है। योगिनीहृदय में अष्टकोण में षोडश स्वर, प्रथम दशार में यकार से लेकर क्षकार पर्यन्त दस वर्ण, द्वितीय दशार में ककार से ञकार पर्यन्त दस वर्ण और चतुर्दशार में टकार से भकार पर्यन्त चौदह वर्ण समाविष्ट हैं। इस प्रकार योगिनीहृदय में यहाँ पचीस वर्ण माने गये हैं। कामकलाविलास में अष्टकोण में श ष स और पवर्ग का, प्रथमदशार में तवर्ग और टवर्ग का, द्वितीय दशार में चवर्ग और कवर्ग का और चतुर्दशार में चौदह वर्णों का विन्यास प्रदर्शित है। सब मिलकर ये ४२ वर्ण बनते हैं। यह क्रम शारदातिलक (७. १-५) में वर्णित ४२ अक्षर और नौ वर्ग वाले भूतलिपि के क्रम का अनुसरण करता है। सौभाग्यसुधोदय (३.७) में इसको नवनादमय मध्यमा वाणी का प्रतिनिधि माना गया है। योगिनीहृदयदीपिका (पृ. ३२५-३४५) में भी इसका विन्यास-क्रम निर्दिष्ट है।

श्रीचक्र का समग्र स्वरूप

पाँच शक्ति-चक्रों और चार वह्नि-चक्रों के संयोग से श्रीचक्र की निष्पत्ति मानी जाती है। अपने अभिमुख त्रिकोण-परम्परा की शक्ति और विपरीत-परम्परा की वह्नि संज्ञा शास्त्रों में मानी गई है। इस समय के अनुसार नवत्रिकोणात्मक त्रिपुरा चक्र का प्रसार चतुर्दश-कोण पर्यन्त होता है। इसके बाहर अष्टपत्र, षोडशदल एवं चार द्वारों से सुशोभित वृत्तत्रयात्मक भूपुर का श्रीचक्र के बहिरंग में समावेश माना जाता है। नित्याषोडशिकार्णव, योगिनीहृदय आदि का यही मत है। नि. षो. की प्राचीन मातृकाओं, वामकेश्वरीमतविवरण और अर्थरत्नावली में "एतद्बाह्यगतम्" (१.४०) यह श्लोक श्रीचक्र के बहिरंग का निरूपण करता है। इसीलिये पंचशक्ति-चतुर्वह्नि स्वरूप नवत्रिकोणात्मक अन्तरंग स्वरूप के विवेचक और उसकी महिमा के प्रतिपादक श्लोकों के अन्त में इसको रखा गया है। इसी तरह से योगिनीहृदय में भी इस प्रकरण को यहीं समाप्त कर दिया गया है और बचे हुए बहिरंग अंश का वहाँ प्रकारान्तर से निरूपण किया गया है।

ऋजुविमर्शिनी में श्रीचक्र का स्वरूप और महिमा इस तरह से वर्णित है— "इसके त्रिविध स्वरूप हैं। यह सृष्टि-स्थिति-संहार स्वरूप है, सोम-सूर्य-वह्नि का इसमें निवास है, शक्ति-काम-वाग्भव बीज से इसकी उपासना की जाती है, यह ब्रह्म-विष्णु- रुद्र स्वरूप और जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति स्वरूप है, पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्युलोक से उपलक्षित, अकार-उकार-मकार विग्रह, ऋक्-यजुः-साम रूप शब्दराशि से उज्ज्वल, क्रिया-ज्ञान-इच्छा एवं सत्त्व-रज-तम स्वभाव यह श्रीचक्र सभी देवताओं का सार तथा विश्वात्मक है। इसीलिये यह त्रैपुर महाचक्र के रूप में जाना जाता है (पृ. ६४)।

वाक्चतुष्टयात्मक श्रीचक्र

विश्वोत्तीर्ण तत्त्व जब विश्वमय बनना चाहता है, तो उसमें अनोखी स्फुरत्ता का उद्भव होता है। वह्नि के सम्पर्क से जैसे घी पिघलने लगता है, उसी तरह प्रकाश के सम्पर्क से विमर्श शक्ति स्पन्दित हो उठती है और इसीसे विश्वलहरीस्थान, मातृत्रयात्मक बैन्दव (त्रिकोण) चक्र का प्राकट्य होता है। उस समय विमर्शमयी परमा कला सर्वप्रथम शान्ता और अम्बिका शक्ति का रूप धारण कर लेती है। इसीको वाक् भी कहा जाता है। यह परा वाणी अपने में बीजरूप से स्थित विश्व को जब प्रकट करना चाहती है, तब विश्व का वमन करने के कारण अंकुशसदृश वामा शक्ति का रूप धारण कर लेती है। यह वामा शक्ति ही इच्छा शक्ति के साथ मिलकर पश्यन्ती वाक् के रूप में परिणत हो जाती है। इसी तरह से ज्येष्ठा शक्ति और ज्ञान शक्ति के मिलन से मध्यमा वाक् अभिव्यक्त होती है। शृंगाट (त्रिकोण) की सीधी रेखा इसका बोध कराती है। वामा शक्ति के कारण सृष्ट विश्व की स्थिति में यह कारणभूत है, उसका पालन करती है। विश्व का संहार करने की इच्छा होने पर वह शक्ति अपने बैन्दव स्वरूप में पुनः प्रविष्ट हो जाती है। तब शृंगाट की दक्षिण रेखा के निर्माण के साथ इसका स्वरूप पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है। यह रौद्री शक्ति का व्यापार है। क्रिया शक्ति के साथ मिलकर यह वाणी के विस्तार को मुखरित करने वाली वैखरी वाक् बन जाती है। इस प्रकार बैन्दव (बिन्दु और त्रिकोण) चक्र में अम्बिका आदि तथा शान्ता आदि चार-चार शक्तियों की तथा परा आदि चार वाणियों की भावना तथा पूजा की जाती है, इनको तन्मय माना जाता है।

इतना ही नहीं, सम्पूर्ण श्रीचक्र में भी इन चारों वाणियों की भावना की जाती है। योगिनीहृदय में बैन्दव चक्र को परावाक्-स्वरूप और मध्यत्र्यश्र को पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी मय बताया गया है, जैसा कि ऊपर हम देखते हैं। आगे अष्टार से चतुर्दशार पर्यन्त वैखरी वर्णों की स्थिति बताई गई है। कामकलाविलास (श्लो. ३२) में बैन्दव को परावाक्-रूप, मध्यत्र्यश्र को पश्यन्ती-रूप और अष्टार से चतुर्दशार पर्यन्त चक्रों को मध्यमावाग्-रूप माना है। इन्हींसे ५१ वर्ण वाली वैखरी वाणी स्फुट होती है। इनमें अष्टदल आठ वैखरी वर्णों से और षोडशदल सोलह स्वरों से उपचित है। रक्त-शुक्ल-मिश्र नामक तीन बिन्दु सोम-सूर्य-अग्नि के प्रतीक माने गये हैं। बिन्दुत्रयमय ये तीन तेज ही भूपुर नामक अन्तिम चक्र का स्वरूप धारण कर लेते हैं। इस तरह से पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी का विस्तार यहाँ तक हो जाता है और ये वाणियाँ समस्त श्रीचक्र को व्याप्त कर लेती है। सौभाग्यसुधोदय (३. ८-९) में भी यह प्रक्रिया वर्णित है।

श्रीचक्र की नित्यामयता

अर्थरत्नावली (पृ. ६५) में श्रीचक्र की नवनित्यामयता और षोडशनित्यामयता भी बताई गई है। सृष्टि-स्थिति-संहार चक्र में से प्रत्येक के तीन भेद करने पर नौ नित्याओं की स्थिति बनती है। इन तीन भेदों में समष्टि और व्यष्टि को मिलाने से इनकी संख्या पाँच हो जायगी। जैसे समष्टिसृष्टि, सृष्टिसृष्टि, स्थितिसृष्टि, संहारसृष्टि और अनाख्या। इस रूप में सृष्टिपंचक की पूर्व में, स्थितिपंचक की दक्षिण में तथा संहारपंचक की स्थिति पश्चिम में रहेगी। उत्तर में एक ही अनाख्या रूप रहेगा। इस तरह से नित्याओं की संख्या सोलह हो जायगी। व्यष्टि और समष्टि के रूप में त्रिपंचीकरण की प्रक्रिया को सम्पन्न करने पर सोलह स्वरूपों के बन जाने से सोलह नित्याओं की आराधना भी इसी पद्धति से की जा सकती है। संकेतपद्धति को भी यह मान्य है, इसकी सूचना अर्थरत्नावली के ही इस वचन से मिल जाती है–

> तुर्यात्मकं पञ्चयुतं योगिनीचक्रमण्डलम्।
> यो जानाति स मुक्तात्मा सोऽन्वयी देशिकाग्रणी:।। (पृ. ६६)

श्रीचक्र की त्रिधा भावना

इस श्रीचक्र की त्रिविध भावनाओं का उपदेश योगिनीहृदय (१. २५-२८) में दिया गया है। श्रीचक्र में विद्यमान नौ चक्रों की क्रमश: अकुल, [1]विषु, शाक्त, वह्नि, नाभि, अनाहत, शुद्ध, लम्बिकाग्र और भ्रूमध्य में ; बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना और उन्मना में तथा महाबिन्दु में त्रिविध भावना की जाती है। इनमें से प्रथम भावना सकल, दूसरी भावना सकल-निष्कल तथा तीसरी भावना निष्कल कही गई है। महाबिन्दु में निष्कल भावना में प्रविष्ट योगी जब ऊपर उठता है, तो उसको देश, काल, आकार आदि से रहित उस परम महान् स्वभाव-सुन्दर तत्त्व का साक्षात्कार होता हैं, जो सदा परमानन्द से परिपूर्ण है। श्रीचक्र की इसी विशेषता के कारण उसे नवाधार-स्वरूप एवं नवनादमय माना गया है। यह त्रिविध भावना ही श्रीचक्र की आन्तर पूजा है।

---

१. विषु के स्थान पर विष पाठ मिलता है। जैसे कि– "मेढ्रस्याध: कुलो ज्ञेयो मध्ये तु विषसंज्ञित:। मूले तु शाक्त: कथितो बोधनादप्रवर्तक:।। अग्निसंज्ञस्ततश्चोर्ध्वमङ्गुलानां चतुष्टये।" नेत्रतन्त्रोद्योत (७. १-५) धृत वचन में और "वह्निविषानुयोगात्" (तन्त्रा. वि. ३.६७, पृ. ७९) इस वचन में विष शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। तन्त्रा., नि. षो., वि. भै. आदि में भी वह्नि और विष शब्द ही प्रयुक्त मिलते हैं। यो. हृ. के समान ही ऊपर के उद्धरण में शाक्त के बाद ही वह्नि पठित है, किन्तु दीपिकाकार का कहना है कि "वह्नौ शाक्ते" (पृ. ३९) इस तरह से व्यत्यय करना चाहिये। इसी क्रम से उन्होंने स्वच्छन्दसंग्रह को भी उद्धृत किया है। यह विचारणीय स्थल है।

चार आन्तर पीठ

शिव (प्रकाशांश) से आविर्भूत अम्बिका आदि तथा शक्ति (विमर्शांश) से आविर्भूत शान्ता आदि शक्तियों में यह सारा विश्व बीज में वृक्ष की भाँति छिपा रहता है। इन्हीं शक्तियों से कामरूप, पूर्णगिरि, जालन्धर और ओड्याण नामक पीठों की सृष्टि होती है। ये पीठ [1]कन्द, पद, रूप और रूपातीत नामक आन्तर स्थानों में स्थित हैं। कन्द या पिण्ड को मूलाधार, पद या हंस को हृदय, रूप या बिन्दु को भ्रूमध्य तथा रूपातीत को ब्रह्मरन्ध्र कहा जाता है। यह चिन्मय स्थान है। इन पीठों का आकार क्रमशः चतुरस्र, षड्बिन्दुमय, अर्धचन्द्र और त्रिकोण जैसा होता है, क्योंकि ये क्रमशः पृथिवी, वायु, जल और तेजस्तत्त्व के प्रतीक हैं। इनका वर्ण क्रमशः पीत, धूम्र श्वेत और रक्त है।

सुभगोदय (पृ. २९५) में कामरूप पीठ को अग्निचक्रात्मक, जालन्धर पीठ को सूर्यचक्रात्मक, पूर्णगिरि पीठ को सोमचक्रात्मक और ओड्याण पीठ को ब्रह्मचक्रात्मक मानकर उसकी उपासनाविधि बताई गई है। नि.षो., ऋजुविमर्शिनी और अर्थरत्नावली में तो सम्पूर्ण श्रीचक्र को चतुश्चक्रात्मक माना गया है (१.४२)।

चार आन्तर लिंग

इन चार पीठों में क्रमशः स्वयंभू, बाण, इतर और परलिंग स्थित हैं। स्वयंभू लिंग का वर्ण पीत है। यह त्रिकूटाकार है तथा अकार से विसर्ग पर्यन्त सोलह स्वरों से आवृत है। बाण लिंग का वर्ण बन्धूक पुष्प के जैसा है। यह त्रिकोणाकार है और ककार से टकार पर्यन्त सोलह व्यंजनों से आवृत है। इतर लिंग का वर्ण श्वेत है। इसका आकार कदम्ब फल के समान गोल है और यह थकार से सकार पर्यन्त सोलह व्यंजनों से आवृत है। परतेजोमय परलिंग का कोई आकार नहीं होता। इन्द्रियों से इसे देखा नहीं जा सकता, अतः बिन्दु से इसका बोध कराया जाता है। यह अकार से क्षकार पर्यन्त समस्त वर्णों से आवृत है। यह परमानन्द का सार तथा नित्योदित स्वरूप वाला है। योगिनीहृदय (१.४४-४७) के अतिरिक्त ऋजुविमर्शिनी (पृ. ७१), अर्थरत्नावली (पृ. १७१), सुभगोदय (पृ. २८७) और सौभाग्यसुधोदय (४.१, ५.२, ५.४, ५-६) में भी यह विषय वर्णित है। वर्णों की अकथ-क्रम की विन्यास-पद्धति भी यहाँ देखी जा सकती है।

---

१. कन्द शब्द का प्रयोग यहाँ पिण्ड के अर्थ में किया गया है। पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत शब्दों का अर्थ मालिनीविजय, तन्त्रालोक, कौलज्ञाननिर्णय, योगिनीहृदयदीपिका आदि ग्रन्थों की सहायता से तन्त्रागमीय ज्ञानकोश में दिया गया है।

श्रीचक्रनिवासिनी शक्तियाँ

त्रैलोक्यमोहन आदि नौ चक्रों में क्रमशः नाद, बिन्दु, कला, ज्येष्ठा, रौद्री, वामा, विषघ्नी, दूतरी और सर्वानन्दा नामक नौ शक्तियाँ निवास करती हैं। सृष्टिक्रम में त्रिकोण से लेकर चतुरस्र पर्यन्त चक्रों की प्रकाश की अंशभूत अम्बिका, रौद्री, ज्येष्ठा और वामा नामक शक्तियाँ मानी गई हैं और संहार क्रम में चतुरस्र से बैन्दव पर्यन्त चक्रों की विमर्श की अंशभूत शान्ता, इच्छा, ज्ञाना और क्रिया शक्तियाँ। इनमें नाद और बिन्दु रूप चतुरस्र और षोडशदल नामक दो चक्र शान्तास्वरूप, कला रूप अष्टदल पद्म इच्छास्वरूप, ज्येष्ठा रूप चतुर्दशार ज्ञानशक्तिस्वरूप है। रौद्री, वामा, विषघ्नी, दूतरी और सर्वानन्दा नामक पाँच शक्तियाँ क्रमशः द्विदशार, अष्टकोण, त्रिकोण और बैन्दव चक्रों में निवास करती हैं। ये सब क्रियाशक्ति-स्वरूपिणी हैं। इस तरह से सृष्टिक्रम और संहारक्रम में चतुष्कलामय श्रीचक्र की कामकलारूपता स्पष्ट हो जाती है। बिन्दुगर्भित मध्यत्र्यश्र की कामकलारूपता पहले ही बताई जा चुकी है। इस तरह से कामकला के प्रसार से फैला सृष्ट्यात्मक और संहारात्मक परिपूर्ण श्रीचक्र चार कलाओं से सम्पन्न है, अतः यह सम्पूर्ण चक्र भी कामकलामय है।

द्विविध क्रमोदय

योगिनीहृदय (१.१०) में बताया गया है कि परा शक्ति में जब स्पन्दशक्ति उन्मीलित होती है, तो सर्वप्रथम श्रीचक्र की निष्पत्ति होती है। कामकलाविलास (श्लो. ३५) में बताया गया है कि आवरण-चक्रों में विद्यमान शक्तियाँ और उन्हींके निकट में स्थित गुरुमण्डल भी परा शक्ति का ही विलास है। वहाँ कहा गया है कि परा देवी दो पगले भरती है। उनमें एक है पदविक्षेप और दूसरा है क्रमोदय। इनमें **पदविक्षेप** का अर्थ है— भगवती की अनन्तकोटि किरणों की सहायता से अनन्त प्रकार की शक्तियों को उत्पन्न करने की सामर्थ्य और **क्रमोदय** से दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ रूप अनन्त प्रकाशात्मक गुरुमण्डल का प्रसरण अभिप्रेत है। यहाँ प्रथमतः पदविक्षेप का स्वरूप बताया जा रहा है।

१. पदविक्षेप (श्रीचक्रस्थित आवरण देवता)

कामकलाविलास (श्लो. ३६) में बताया गया है कि जब परा भगवती श्रीचक्र का स्वरूप धारण करती है, तो उसके अवयवों से रश्मियों के रूप में सभी आवरण देवता भी प्रकाशित हो उठते हैं। यहाँ सृष्टिक्रम से आवरण देवताओं का वर्णन किया गया है और नित्याषोडशिकार्णव, सुभगोदयवासना आदि में संहारक्रम से। प्रायः संहारक्रम से ही पूजा की जाती है, अतः उसी क्रम से यहाँ आवरण-देवताओं का परिचय दिया जा रहा है।

इनमें से त्रैलोक्यमोहन नामक चतुरस्र चक्र में अणिमा आदि दस और ब्रह्माणी आदि आठ आवरण देवताओं की **प्रकटा** नामक योगिनियों के रूप में पूजा की जाती है। सर्वाशापूरक नामक षोडशार चक्र में कामाकर्षिणी आदि सोलह देवियाँ पूजित होती हैं। ये **गुप्ता** नाम वाली योगिनियाँ ५ भूतों, १० इन्द्रियों और मन नामक सोलह तत्त्वों का, जिनको सांख्यदर्शन में षोडश विकार कहा जाता है, प्रतिनिधित्व करती हैं। सर्वसंक्षोभण नाम के अष्टार चक्र में **गुप्ततरा** नाम वाली अनंगकुसुमा आदि आठ देवियाँ पूजित होती हैं। ये अव्यक्त, महान्, अहंकार और तन्मात्रा नामक आठ तत्त्वों की अधिष्ठात्री देवियाँ हैं। सर्वसौभाग्य नामक चतुर्दशार चक्र में सर्वसंक्षोभिणी आदि चौदह **सम्प्रदाय** योगिनियाँ पूजित होती हैं। चतुर्दश करण के रूप में इनका ध्यान किया जाता है। सर्वार्थसाधक नामक द्वितीय (बाह्य) दशार में **कुलोत्तीर्णा** नाम वाली, बुद्धीन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के विषयों का प्रतिनिधित्व करने वाली सर्वसिद्धिप्रदा आदि दस योगिनियाँ पूजित होती हैं। सर्वरक्षाकर नामक प्रथम (अन्तः) दशार में ५ महाभूत और ५ तन्मात्राओं की अधिष्ठात्री सर्वज्ञा आदि दस **निगर्भ** योगिनियाँ अधिष्ठित हैं। सर्वरोगहर अष्टार चक्र में पुर्यष्टक का प्रतिनिधित्व करने वाली **रहस्या** नामक वशिनी आदि आठ योगिनियाँ पूजित होती हैं। सर्वसिद्धिप्रद त्रिकोण चक्र में **परापररहस्या** नामक कामेश्वरी, वज्रेश्वरी और भगमालिनी नामक तीन देवियाँ और सर्वानन्दमय बैन्दव चक्र में **अतिरहस्या** नाम की महात्रिपुरसुन्दरी पूजित होती है।

यहाँ सर्वानन्दमय महायोनि स्थान में विराजमान महादेवता के षडंगावरण के बाह्य प्रदेश की पश्चिम, उत्तर, पौरस्त्य और दक्षिण दिशाओं में जंभ, मोह, वश्य और स्तंभ नामक चार पदों के साथ बाण, धनुष, पाश और अंकुश नामक चार आयुधों की पूजा की जाती है। सुभगोदयवासना (श्लो. ५४) में इनको भी परापररहस्या नामक योगिनियाँ माना गया है। अणिमा आदि इन सभी आवरण देवताओं के नाम नि.षो., सुभगोदय आदि ग्रन्थों में मिलते हैं। सुभगोदयवासना (श्लो. ४७) में प्रकटा आदि देवियों को चक्रेश्वरी कहा गया है। योगिनीहृदय के पूजा पटल में भी इनका विस्तार से वर्णन है (श्लो. ९३, ११६-१६८)। वहाँ की एक विशेषता यह है कि श्रीचक्र के बाह्य द्वारों की शाखाओं में गणेश और दूतरी की तथा क्षेत्रेश और बटुक की पूजा विहित है (३.११२)। इनकी स्तुति संकेतपद्धति में इस प्रकार की गई है—

द्वैताद्वैतमहामोहशर्वरीक्षपणक्षमः ।
भास्वानिव जयत्येको गणेशो दूतरीयुतः।।
प्रतिभायाः परोल्लासो निशाकर इवापरः।
दूतीयुक्तः स जयति बटुकस्ताण्डवान्वितः।।

अर्थात् दूती के साथ विद्यमान भगवान् गणेश द्वैत-अद्वैत आदि सिद्धान्तों के रूप में फैले महामोह का नाश करने में उसी प्रकार समर्थ हैं, जैसे रात्रि के अन्धकार को भगवान् भास्कर नष्ट कर देते हैं। ताण्डव नृत्य में निरत दूती के साथ विद्यमान बटुक भैरव साधक के अज्ञान को नष्ट कर उसमें प्रतिभा के उल्लास को उसी प्रकार भर देते हैं, जैसे चन्द्रदेव रात्रि के अन्धकार को दूर कर सर्वत्र अपनी चाँदनी छिटका देते हैं। हम उनका नमन करते हैं।

नि. षो. में षोडश नित्याओं के नाम उपलब्ध हैं। इनमें कामेश्वरी और भगमालिनी की गणना वहाँ आवरण देवताओं में भी की गई है, किन्तु अवशिष्ट देवियों की पूजा का विधान नहीं बताया गया। योगिनीहृदय (३.१६९) का कहना है कि इन नित्याओं की पूजा त्रिकोण अथवा चतुरस्र में करनी चाहिये। नि. षो. में करशुद्धिकरी आदि आठ विद्याएँ उद्धृत हैं। इनके नाम अर्थरत्नावली में संकेतपद्धति के प्रमाण से इस प्रकार बताये गये हैं— त्रिपुरा, त्रिपुरेशी, सुन्दरी, पुरवासिनी, श्री, मालिनी, सिद्धाम्बा और त्रिपुराम्बिका (पृ. १०७)। सुभगोदय में चतुर्थ चरण का पाठ 'महात्रिपुरसुन्दरी' है। योगिनीहृदय (२. ९-१२) में नौ चक्रेश्वरियाँ अंगीकृत हैं। नि.षो. में योगिनीहृदय (२.४) में उद्धृत सप्तमी मूर्तिविद्या का उद्धार नहीं मिलता। तदनुसार अर्थरत्नावली व्याख्या में आठ ही देवियों के नाम दिये गये हैं। हमें ऐसा लगता है कि त्रिपुरा आदि नौ चक्रेश्वरियों का करशुद्धिकरी आदि विद्याओं से संबन्ध बाद में स्थापित हुआ। करशुद्धिकरी आदि विद्याओं का विनियोग आवाहन आदि में किया जाता है।

२. गुरुपंक्ति समाराधन

इस प्रकार पदविक्षेप के रूप में श्रीचक्र स्थित आवरण देवताओं का परिचय ऊपर दिया गया है। अब क्रमोदय के रूप में गुरुपंक्ति (मण्डल) की समाराधनविधि और उसका स्थान प्रदर्शित किया जा रहा है। योगिनीहृदय (३. ११३) में बताया गया है कि दिव्य, सिद्ध और मानवौघ के नाम से तीन भेद वाली गुरुपंक्ति की, जो [1]गुरुमण्डल के नाम से प्रसिद्ध है, पूजा आवरण देवताओं की पूजा करते समय त्रिकोण के भीतर करनी चाहिये। ऋजुविमर्शिनी (पृ. २२५) में भी प्रपंचसार (९. १४) के प्रमाण से गुरुपंक्ति की आराधना का यही स्थान बताया गया है। चिदानन्दघन स्वरूप से सम्पन्न प्रकाशविमर्शात्मा परम कारुणिक परमेश्वर स्वयं कामकलारूप बैन्दव चक्र में कामेश्वर और कामेश्वरी के दिव्य मिथुन के रूप में अवतीर्ण होकर दिव्य, सिद्ध और मानवौघ के क्रम से गुरुमण्डल में प्रतिष्ठित हो भक्तिभावभरित साधकों की रक्षा करते हैं। नि. षो. (४. १९) में पारम्पर्य पद से यह सूचित है। शिवानन्द और विद्यानन्द ने विस्तार से इसको बताया है।

---

१. गुरुगीता के ५२वें श्लोक के हिन्दी भाष्य में (पृ.४० -४२) हमने गुरुमण्डल का विशद परिचय दिया है।

यह परम्परा दिव्य, सिद्ध और मानव क्रम से तीन प्रकार की है। शिवानन्द का कहना है कि श्रीविद्या की दो तरह की परम्परा है। कामराजसन्तान[१] और लोपामुद्रा-सन्तान के नाम से ये प्रसिद्ध हैं। विद्या की सकीलता और निष्कीलता के आधार पर ये भेद हुए हैं। इनमें कामराजसन्तान सकील विद्या का अनुसरण करता है और इसकी परम्परा विच्छिन्न हो चुकी है। विच्छेद का अर्थ है— परम्परा का टूट जाना। [२]निष्कील विद्या का अनुसरण करने से और लोपामुद्रा, अगस्त्य आदि के द्वारा परिगृहीत होने से लोपामुद्रासन्तान की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चल रही है (पृ. २१८)।

कामकलाविलास पर चिद्वल्ली टीका के रचयिता नटनानन्द का कहना है कि श्रीविद्यारत्न की प्राप्ति के दो साधन हैं— कामराजसन्तान और लोपामुद्रासन्तान। इनमें से कामराजसन्तान का क्रम समस्त विद्याओं का अनुसन्धान करता है और यह अब तक अविच्छिन्न क्रम से चल रहा है, ऐसा प्राचीन आचार्यों का कहना है। वे ही कहते हैं कि लोपामुद्रासन्तान विच्छिन्न रूप में प्रवृत्त है (पृ. ७१)। चिद्विलासकार के कथन से ही ज्ञात होता है कि कामकलाविलास हादिविद्या का ग्रन्थ है। चिद्वल्लीकार कादिविद्या के पक्षपाती लगते हैं, क्योंकि वे हादिविद्या के क्रम को विच्छिन्न मानते हैं। शिवानन्द आदि आचार्य कादिविद्या के क्रम को ही विच्छिन्न मानते हैं।

प्रपंचसार और शारदातिलक में हादिविद्या ही उद्धृत है। सौन्दर्यलहरी में भी कादिविद्या से पहले हादिविद्या उद्धृत है। अतः हादिविद्या प्राचीन है, ऐसा हम कह सकते हैं। तो भी नि. षो. में [३]कादिविद्या उद्धृत है। हमें बताया गया है कि शांकर मठों

---

१. कामराजसन्तान को कादि तथा लोपामुद्रासन्तान को हादि कहा जाता है। इनमें हादि कामेश्वरप्रधान और कादि कामेश्वरीप्रधान है, सौन्दर्यलहरी के व्याख्याता अरुणामोदिनीकार का यह कथन है (पृ. १६५)।

२. निष्कीलीकरण मन्त्र का पाठ यद्यपि हादिविद्या के अधिकार में हुआ है, तो भी गुणोपसंहार-न्याय से सभी के साथ उसका संबन्ध मानना उचित है, ऐसा सेतुबन्धकार का कहना है (पृ. ६३-६४)। इस प्रसंग में उनकी यह उक्ति पूरी तरह से घटित होती है।

३. नि. षो. में कादिविद्या और यो. हृ. में हादिविद्या उद्धृत है, किन्तु टीकाकारों में मतवैभिन्त्र्य है। शिवानन्द ने नि. षो. की कादिपरक और विद्यानन्द ने उभयपरक व्याख्या की है। भास्करराय नि.षो. के साथ यो. हृ. की भी कादिपरक व्याख्या करते हैं। अमृतानन्द यहाँ हादिविद्या का उद्धार मानते हैं। नि. षो. (१.१११) में मादन और शक्ति पदों से ककार और ऐकार का ही ग्रहण जैसे उचित है, उसी तरह से यो. हृ. में सम्पूर्ण संप्रदायार्थ प्रकरण का (२. २६-४८) हादिविद्या में ही स्वारस्य है। "विद्यास्थैश्चन्द्रबीजैः (२.४१) यहाँ बहुवचन से तीन सकार गृहीत होंगे। तीन सकार हादिविद्या में ही उपलब्ध हैं। भास्करराय द्विवचनपरक व्याख्या करते हैं। यही स्थिति शिवानन्द (पृ. १०९) की भी है।

की परम्परा में प्रधानतः कादिविद्या की ही उपासना होती है। इस तरह से हादि और कादि विद्या की प्राचीनता और अर्वाचीनता के विषय में कुछ कह पाना कठिन है। हादिविद्या की दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ परम्परा ऋजुविमर्शिनी, अर्थरत्नावली, ज्ञानदीपविमर्शिनी और सौभाग्यसुधोदय[1] में वर्णित है। इस तरह का कादिमत का क्रम अभी अन्वेषणीय है। [2]अर्थरत्नावलीकार विद्यानन्द का कहना है कि जैसे दीपकसन्तान में अगस्त्य की पत्नी श्रीमती लोपामुद्रा प्रधान है, वह विनष्ट हुई इस परम्परा का उद्धार कर इसकी पुनः स्थापना करती हैं, उसी तरह से कादिपरम्परा में भी रति के भर्ता कामदेव क्लीमानन्द के नाम से इस परम्परा को पुनः उज्जीवित करते हैं। इस प्रकार आजकल लोपामुद्रा और क्लीमानन्द ही इन दोनों परम्पराओं के प्रधान पुरुष हैं (पृ. २२४-२२५)। हादिविद्या की परम्परा के समान क्लीमानन्द के बाद की कादिमत की सिद्धौघ और मानवौघ परम्परा की खोज अपेक्षित है।

दिव्यौघ परम्परा

[3]दिव्यौघ परम्परा का अवतार-क्रम ऋजुविमर्शिनी के अनुसार इस प्रकार है— मध्यत्र्यश्र के मध्य स्थान में स्थित ओड्याण पीठ में समस्त विद्याओं की अधिष्ठात्री महादेवी त्रिपुरसुन्दरी का निवास है। इसके द्वारा अनुगृहीत महाप्रकाश परमानन्दलक्षण परमशिव ही दिव्यौघ परम्परा के प्रथम गुरु हैं। इनका नाम चर्यानाथ है। यह कामेश्वर अपने से अभिन्न विमर्श नाम की अपनी शक्ति कामेश्वरी को सत्ययुग के आरंभ में इसका उपदेश करते हैं। मध्यत्र्यश्र के अग्र कोण गत कामरूप पीठ में स्थित वाग्भव बीज की अधिष्ठात्री कामेश्वरी देवी त्रेतायुग के आरंभ में ओड्डनाथ को उपदेश देती हैं। मध्यत्र्यश्र के दक्षिण कोण गत जालन्धर पीठ में स्थित कामराज बीज की अधिष्ठात्री वज्रेश्वरी देवी द्वापर युग के प्रारंभ में षष्ठनाथ को उपदेश देती हैं। मध्यत्र्यश्र के उत्तर कोण में स्थित पूर्णगिरि पीठ में स्थित शक्तिबीज की अधिष्ठात्री भगमालिनी देवी कलियुग के प्रारंभ में मित्रेशनाथ को उसका उपदेश देती है।

अर्थरत्नावली में त्रेता, द्वापर और कलियुग के गुरुओं का नाम ज्येष्ठ, मध्यम और बाल बताया गया है और कहा गया है कि ये क्रमशः मन्त्र, विद्या और मुद्रा के गुरु हैं

---

१. इन सभी ग्रन्थों के आधार पर हादिविद्या का पारम्पर्य-क्रम तन्त्रयात्रा (पृ. ७३) में प्रदर्शित है।

२. प्रस्तुत स्थल पर भास्करराय विद्यानन्द के मत का खण्डन करते हैं (पृ. १७)। यह उचित नहीं है, क्योंकि शिवानन्द ही नि. षो. की हादिपरक व्याख्या करते है, विद्यानन्द नहीं। इसी तरह से विद्यान्तर्गत वर्ण की स्तुति विद्यानन्द करते है, शिवानन्द नहीं।

३. यहाँ दिया गया क्रम ऋजुविमर्शिनी (पृ. २१८-२२१) का है। सुभगोदय (पृ. २९५) और सौभाग्यसुधोदय (पृ. ३१८-३१९) का क्रम भिन्न है। उस क्रम को वहीं देखना चाहिये।

(पृ. २२०)। दिव्यौघ परम्परा के पंचम गुरु का नाम अर्थरत्नावली में क्रोधमुनि भट्टारक है। इस तरह दिव्यौघ परम्परा के पाँच गुरुओं के नाम यहाँ प्रदर्शित हैं। ये नाम हादिविद्या और कादिविद्या में समान रूप से स्थित हैं। ऋजुविमर्शिनी में पंचम दिव्यौघ गुरु का नाम नहीं है और लोपामुद्रा एवं अगस्त्य का नाम यहाँ परिगणित है। इस तरह यहाँ और चिद्वल्ली (पृ. ७१-७२) में भी दिव्यौघ परम्परा के छः नाम उपदिष्ट हैं। प्रारंभ में सात दिव्यौघ गुरुओं की चर्चा की गई है। क्रोधमुनि भट्टारक के नाम का समावेश होने पर ही यह पूरी होती है, किन्तु ऋजुविमर्शिनी में यह नाम नहीं मिलता।

त्रिपुरोपासना

बहिर्याग और अन्तर्याग के भेद से त्रिपुरा की उपासना के दो प्रकार शास्त्रों में वर्णित हैं। पात्रासादन से लेकर शान्तिस्तव के पाठ-पर्यन्त कर्मसमूह **बहिर्याग** कहलाता है। आधार से लेकर राजदन्त (द्वारशान्त) पर्यन्त तेजोमय तन्तु की भावना अथवा मानस देवपूजा **अन्तर्याग** कहलाती है। भास्करराय ने अपने ग्रन्थ सौभाग्यभास्कर (पृ. ५) में यह परिभाषा दी है। उन्होंने ही सेतुबन्ध (पृ. ५) में बताया है कि सकल, सकलनिष्कल और निष्कल के भेद से अन्तर्याग त्रिविध है। इसी पद्धति से श्रीचक्र की त्रिविध भावना की जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि उपास्या भगवती के उपासना के योग्य तीन रूप है– स्थूल, सूक्ष्म और पर। इनमें से स्थूल रूप कर-चरण आदि अंगों से युक्त, मन्त्रसिद्धि से सम्पन्न साधकों के चक्षुओं और हाथों से दर्शन-स्पर्शन योग्य है। "ततः पद्मनिभां देवीम्" (१. १३०) इत्यादि नि. षो. के श्लोकों के द्वारा यह स्वरूप प्रतिपादित है। दूसरा सूक्ष्म स्वरूप मन्त्रात्मक है। पुण्यवान् व्यक्तियों को श्रवणेन्द्रिय और वागिन्द्रिय से इसका साक्षात्कार होता है। तृतीय पर रूप भावनात्मक है। पुण्यवान् व्यक्ति मन से इसका साक्षात्कार करते हैं।

तीन रूपों के रहते हुए भी देवी की भावना के सरूप और अरूप नामक दो ही विभाग हैं। स्थूल रूप का अनुसन्धान करने वाली भावना प्रथम और पर रूप का अनुसन्धान करने वाली द्वितीय है। सूक्ष्म रूप का अनुसन्धान करने वाली भावना का संबन्ध स्थूल और पर दोनों रूपों से रहने के कारण इसकी अलग से गणना नहीं की जाती। इनमें पहली पद्धति बहिर्याग और दूसरी पद्धति अन्तर्याग कहलाती है। भास्करराय इन दोनों विधाओं की मानसिक व्यापार के रूप में व्याख्या करते हैं। वे कहते हैं— यह उपासना मानसिक क्रिया का ही विशेष व्यापार है। "जीवमुख्य" (१. १. ३१) इत्यादि बादरायण सूत्र में इसी पद्धति से इसकी व्याख्या की गई है। अन्य आचार्यों का कहना है कि देवता के प्रति अनुरक्ति ही उपासना है, किन्तु यह कथन

उचित नहीं है। "भक्तिमानुपासीत" इस विधिवाक्य में भक्ति और उपासना की एकता प्रदर्शित है और "अथातो भक्तिजिज्ञासा, सा परानुरक्तिरीश्वरे" शाण्डिल्य के इन दो भक्तिसूत्रों में अनुराग को ही भक्ति बताया गया है। इस तरह से अनुराग रूपा भक्ति और उपासना में भेद ही मानना पड़ेगा। यह उपासना दो तरह की है— एक तो मन्त्रजप रूप और दूसरी यन्त्र की पूजा। धातुपाठ में जप को मानस व्यापार माना गया है। पूजा को 'न मंम' कहकर जब हम इष्टदेव को समर्पित करते हैं, उस समय यह पूजा भी मानस व्यापार के अन्तर्गत आ जाती है। ध्यानरूप पूजा तो स्पष्ट ही मानसव्यापार है" (से. पृ. ६८)। भास्करराय की इस पद्धति से यद्यपि उपासना मानस व्यापार मात्र है, तो भी बहिर्याग में बाह्य पदार्थों का उपादान होता ही है। पंचोपचार, षोडशोपचार, चतुष्षष्टि- उपचार आदि के भेद से और [1]केवल, यामल, मिश्र, चक्रयुक्, वीरसंकर आदि के भेद से प्रदर्शित बाह्ययाग में अनेक प्रकार के बाह्य उपादानों का उपयोग होता है।

भगवती त्रिपुरसुन्दरी की उपासना में लगे हुए साधकों को भोग और मोक्ष की प्राप्ति अनायास हो जाती है, ऐसा शास्त्रों का कहना है। अन्तर्याग की तरफ बढ़ रहे बहिर्याग से भी मोक्ष की प्राप्ति होती है और केवल बहिर्याग से भोग की भी प्राप्ति होती है। इसके निगूढ़ अभिप्राय को हम इस तरह से व्यक्त कर सकते हैं— [2]सूर्य और चन्द्र का देवयान और पितृयाण नाम से प्रसिद्ध इडा और पिंगला के मार्ग से निरन्तर दिन-रात संचरण होता रहता है। इनमें चन्द्र वाम नाडी मार्ग से संचरण करता हुआ ७२ हजार नाडियों के मार्ग को अमृत रस से सिंचित करता रहता है और सूर्य दक्षिण नाडी मार्ग का सहारा लेकर चन्द्रमार्ग से समागत अमृतबिन्दु का संग्रह करता रहता है। चन्द्र और सूर्य का जब आधारचक्र में प्रवेश होता है, तो अमावास्या तिथि कहलाती है। इससे कृष्ण पक्ष की तिथियाँ उत्पन्न होती हैं। इसीलिये कुण्डलिनी शक्ति आधारकुण्ड में, जो सूर्यकिरण के स्पर्श से विगलित चन्द्रमण्डल के मध्य से बह रहे अमृतस्राव से भरा हुआ है, सो जाती है। यह [3]स्वापावस्था ही कृष्ण पक्ष है। योगी जब समाहित चित्त से चन्द्र को चन्द्रस्थान में और सूर्य को सूर्यस्थान में पवन की सहायता से रोक रखने में समर्थ हो जाता है, तब चन्द्र और सूर्य निरुद्ध होने के कारण अमृत के सेवन और संग्रह में

---

१. तन्त्रालोक (२८. ७९-८२) में इनके लक्षण बताये गये हैं। वहीं (९. ११०-१११) अन्य प्रकार से इनकी चर्चा है।

२. सौन्दर्यलहरी टीका लक्ष्मीधरा द्रष्टव्य, पृ. १४६-१४७

३. इस उक्ति से स्पष्ट हो जाता है कि कुण्डलिनी शक्ति के प्रबोध की प्रक्रिया शुक्ल पक्ष में ही संभव हो सकती है। कृष्ण पक्ष की स्वापावस्था में योगी जन इसके प्रबोध के लिये प्रयत्न नहीं करते।

अशक्त हो जाते हैं। उस समय पवन से प्रेरित स्वाधिष्ठान रूपी अग्नि से [1]अमृतकुण्ड के सूख जाने पर आहार के न मिलने पर वह शक्ति जाग उठती है और सर्प की तरह फुफकार छोड़ती हुई [2]तीनों ग्रन्थियों का भेदन कर सहस्रदल कमल के मध्य में स्थित चन्द्रमण्डल को डस लेती है। तब उससे बहती हुई अमृतधारा आज्ञाचक्र के ऊपर विद्यमान चन्द्रमण्डल को आप्यायित कर देती है। बाद में वहाँ से बहती हुई यह अमृतधारा सारे देह को आप्लावित कर देती है। आज्ञाचक्र के ऊपर विद्यमान चन्द्रमण्डल की कलाएँ ही पन्द्रह तिथिनित्याएँ हैं। ये पन्द्रह कलाएँ आज्ञाचक्र के नीचे स्थित विशुद्धिचक्र के सहारे बदलती रहती हैं।

सहस्रदल कमल के मध्य में स्थित चन्द्रमण्डल **बैन्दव-स्थान** कहलाता है। उसकी चिन्मयी कला ही आनन्दमयी आत्मा है। वही **त्रिपुरसुन्दरी** है। चन्द्र की पहली कला प्रतिपत् कहलाती है। यह कला सूर्यमण्डल से निकलती है और कृष्ण पक्ष में सूर्यमण्डल में प्रविष्ट हो जाती है। इसी तरह से शुक्ल पक्ष में सूर्यमण्डल से निकली दूसरी कला द्वितीया तिथि तथा कृष्ण पक्ष में सूर्यमण्डल में प्रविष्ट दूसरी कला द्वितीया तिथि कहलाती है। इस तरह से तृतीया तिथि आदि का भी व्यवहार समझ लेना चाहिये। चन्द्र और सूर्य में जब पन्द्रह कलाओं का व्यवधान हो जाता है, तो वह तिथि पौर्णमासी और पंचदशी कला में जब चन्द्र एवं सूर्य का अत्यन्त संयोग हो जाता है, तो वह अमावास्या कहलाती है।

कौल मत में चन्द्रकला-स्वरूप षोडश नित्याओं में से किसी एक नित्या की ही प्रतिदिन पूजा की जाती है और समयी मत में सबकी एक साथ पूजा होती है। षोडशी कला की सभी तिथियों में पूजा आवश्यक है, क्योंकि सभी नित्याएँ उसमें अन्तर्लीन हैं। इसीलिये नि. षो. के षोडश नित्याओं के उपदेश के प्रकरण (१. २५-२८) में सभी

---

१. "चण्डाली ज्वलिता नाभौ दहति पञ्चतथागतान्। दहति च लोचनादीन् दग्धेऽहं स्रवते शशी।।" (हेवज्रतन्त्र, १.१.३१) बौद्ध तन्त्र के इस वचन में भी यही विषय प्रतिपादित है।

२. लक्ष्मीधर (पृ. ९८) के अनुसार आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा स्वरूप यह श्रीचक्र सोम, सूर्य और अग्नि नामक तीन खण्ड वाला है। मूलाधार और स्वाधिष्ठान से पहला, मणिपूर और अनाहत से दूसरा, विशुद्धि और आज्ञा से तीसरा खण्ड बनता है। यहाँ प्रथम खण्ड के ऊपर अग्नि-स्थान है। इसी को रुद्र-ग्रन्थि कहते हैं। द्वितीय खण्ड के ऊपर सूर्य-स्थान है। यही विष्णु-ग्रन्थि कहलाती है। तीसरे खण्ड के ऊपर चन्द्र-स्थान है। यहीं ब्रह्म-ग्रन्थि स्थित है। ये ही तीन ग्रन्थियाँ हैं। इन तीन ग्रन्थियों के भेदन के बाद ही सुषुम्ना की ऊर्ध्व-गति संभव हो पाती है। नेत्रतन्त्र (७. २२-२५) में तथा हठयोग के ग्रन्थों में बारह ग्रन्थियों का वर्णन मिलता है।

व्याख्याकारों ने पन्द्रह तिथि-नित्याओं को अंग नित्या और षोडशी को सर्वत्र व्यापक अंगी नित्या बताया है। इस मत के अनुसार प्रतिपदा के दिन त्रिपुरसुन्दरी कला का, द्वितीया में कामेश्वरी कला का, तृतीया में भगमालिनी का, चतुर्थी में नित्यक्लिन्ना, पंचमी में भेरुण्डा, षष्ठी में वह्निवासिनी, सप्तमी में महाविद्येश्वरी, अष्टमी में रौद्री, नवमी में त्वरिता, दशमी में कुलसुन्दरी, एकादशी में नीलपताका, द्वादशी में विजया, त्रयोदशी में सर्वमंगला, चतुर्दशी में ज्वाला और पंचदशी तिथि में मालिनी नित्या कला का आराधन करना चाहिये। चिद्रूपा षोडशी कला की आराधना सभी तिथियों में समान रूप से की जाती है। प्रतिपदा के दिन जिस त्रिपुरसुन्दरी की पूजा विहित है, वह चिद्रूपा नहीं है, क्योंकि उस दिन भी चिद्रूपा मूलविद्या की आराधना साथ में अलग से करनी पड़ती है। अपनी सौन्दर्यलहरी की टीका में लक्ष्मीधर ने इस मत का प्रतिपादन किया है (पृ. १४६)। नि. षो. में पठित एकादशी नित्या नीलपताका का उल्लेख लक्ष्मीधर ने नहीं किया है। दूती नित्या के नाम से पठित अष्टमी कला का नाम यहाँ रौद्री बताया गया है। प्रथम महात्रिपुरसुन्दरी नित्या अंगी (प्रधान) नित्या मानी जाती है। यही चिद्रूपा षोडशी कला है। इसकी प्रतिदिन आराधना की जाती है। शेष पन्द्रह तिथिनित्याएँ अंग नित्याएँ हैं, अतः इनकी क्रमशः प्रतिपदा आदि तिथियों में पूजा की जाय, यही उचित पक्ष प्रतीत होता है। लक्ष्मीधर ने [1]शकार-रेफ-ईकार-बिन्दु पर्यन्त श्रींबीज को ही षोडशी कला बताया है। इसी बीज का नाम श्रीविद्या है। इस बीज से युक्त विद्या भी श्रीविद्या कहलाती है।

त्रिविध त्रिपुरोपासना

सौन्दर्यलहरी के व्याख्याता लक्ष्मीधर त्रिपुरोपासना के तीन प्रकार बताते हैं। तदनुसार कौलमत, मिश्रमत और समयिमत[2] की पद्धति से यह उपासना की जा सकती है। लक्ष्मीधर का कहना है कि ६४ [3]कौलागमों की नामावली नि. षो. (१. १४-२१) में दी गई है। मिश्रमत के अनुयायियों के आठ आगम [4]चन्द्रकला, ज्योत्स्नावती आदि हैं।

---

१. "षोडशी कलानाम शकार-रेफ-ईकार-बिन्द्वन्तो मन्त्रः। एतस्यैव बीजस्य नाम श्रीविद्येति। श्रीबीजात्मिका विद्या श्रीविद्येति रहस्यम्" (पृ. १४६)।

२. लक्ष्मीधरा टीका, पृ. १३७-१४१ देखिये। "चतुष्षष्टिस्तन्त्राण्यपि कुलमतं निन्दितमभूद् यदेतन्मिश्राख्यं मतमपि भवेन्निन्दितमिह। शुभाख्याः पञ्चैताः श्रुतिसरणिसिद्धाः प्रकृतयो महाविद्यास्तासां भवति परमार्थो भगवती।।" (श्लो. १८) गौडपाद-कृत सुभगोदयस्तुति के इस श्लोक में संक्षेप में इन तीनों मतों की चर्चा हुई है।

३. लक्ष्मीधर के अनुसार नि. षो. (१.१४-२१) में प्रदर्शित सूची ६४ कौलागमों की है।

४. चन्द्रकला, ज्योत्स्नावती, कुलार्णव, कुलेश्वरी, भुवनेश्वरी, बार्हस्पत्य और दूर्वासमत ये सात ही नाम वहाँ (पृ. १४०) दिये गये हैं।

समयिमत वालों के पाँच शुभागम हैं। इन तीनों प्रकार के आगमों का परिचय उन्होंने सौन्दर्यलहरी (१. ३१) की व्याख्या करते समय दिया है। वसिष्ठ, सनक, शुक, सनन्दन और सनत्कुमार नाम के पाँच मुनियों ने शुभागमपंचक के नाम से प्रसिद्ध पाँच संहिताओं में जिस मार्ग का उपदेश किया, वह समयाचार के नाम से व्यवहृत है। ये संहिताएँ आजकल उपलब्ध नहीं हैं। समयाचारी आन्तर पूजा में विशेष विश्वास रखते हैं, जबकि कुलाचारी बाह्य पूजा में (पृ. ६४, १२९)।

समयिमत में मन्त्र के पुरश्चरण की, जपविधि की, बाह्य होम की जैसी बाह्य पूजाविधियों का कोई महत्त्व नहीं है। हृदयरूपी कमल में ही भावना के रूप में सब कुछ किया जाता है। इस मत में समय[1] अर्थात् **सादाख्य** तत्त्व की सपर्या (पूजा) सहस्रदल कमल में की जाती है, बाह्य पीठ आदि में नहीं। समय मत के अनुयायी जीवन्मुक्त योगीश्वर संसारयात्रा का निर्वाह करते हुए सादाख्य तत्त्व का अनुचिन्तन करते हुए आत्मलीन हो जाते हैं। उनके लिये सौन्दर्यलहरी के "जपो जल्पः शिल्पम्" (१.२७) इत्यादि वचनों में सपर्या का प्रकार बताया गया है। जो समयी योगी एकान्त गुहा आदि स्थलों में पद्मासन बाँधकर, इन्द्रियों को निगृहीत कर केवल सादाख्य तत्त्व के ध्यान में निमग्न रहते हैं, उनके लिये तो चतुर्विध अथवा षड्विध ऐक्य के अनुसन्धान से ही भगवती की आराधना मानी गई है।

---

१. शंभु के साथ पंचविध साम्य के कारण भगवती **समया** कहलाती है। शंभु भी देवी के साथ पंचविध साम्य को प्राप्त करते हैं, अतः इनको **समय** कहा जाता है। दोनों के मिलन से **सादाख्य** २६वाँ तत्त्व बनता है। इनका पंचविध साम्य अधिष्ठानसाम्य, अवस्थानसाम्य, अनुष्ठानसाम्य, रूपसाम्य और नामसाम्य के कारण होता है। "तवाधारे" (१.४१) यहाँ अधिष्ठानसाम्य बताया गया है, क्योंकि दोनों की आधार चक्र में समान रूप से स्थिति मानी जाती है। "जनकजननीमज्जगदिदम्" (१.४१) यहाँ अनुष्ठानसाम्य वर्णित है, क्योंकि सृष्टि-प्रक्रिया में दोनों की समानभागिता है। "तवाधारे" इसी श्लोक में लास्य और ताण्डव शब्दों से अवस्थानसाम्य दिखाया गया है, नृत्य के रूप में दोनों की समान अवस्थिति है। अरुण वर्ण के रूप में दोनों का रूपसाम्य तो प्रसिद्ध ही है। अथवा "नवात्मानं" (१.४१) इस श्लोक में रूपसाम्य और नामसाम्य, दोनों ही बताये गये हैं। इस पंचविध ऐक्य सम्पन्न समय के पूजक **समयी** कहलाते हैं। इनके लिये षट्चक्र की पूजा नियत नहीं है, केवल सहस्रदल कमल में ही ये उपासना करते हैं। यह इसीलिये की जाती है कि बैन्दव स्थान की स्थिति यहीं मानी जाती है। इसके मध्य में स्थित चन्द्रमण्डल की चतुरस्र के रूप में और उसके मध्य में स्थित बिन्दु की पचीस तत्त्वों से अतीत शिवशक्तिमिलन रूप २६वें सादाख्य तत्त्व के रूप में भावना की जाती है। इसीलिये समयी मत में बाह्य आराधना नहीं की जाती। षोडशोपचार पूजा के संभारों की तब आवश्यकता ही कहाँ रह जायगी। सिद्धान्तसारावलि (१.२) के सादाख्य तत्त्व का लक्षण भी देखिये।

ऐक्यानुसन्धान

आधार आदि छ: चक्रों का श्रीचक्र के बिन्दु, त्रिकोण आदि छ: चक्रों से तादात्म्य माना जाता है। बिन्दुस्थान चतुरस्र का सहस्रार से जो तादात्म्य है, वह बिन्दु-शिव का तादात्म्य है। इसी तरह से देह और शिव में भी तादात्म्य भावना की जाती है। इन तीनों तादात्म्यों एवं चक्र और मन्त्र की एकता के साथ चतुर्विध ऐक्य (तादात्म्य) सम्पन्न होता है। इस चतुर्विध ऐक्य का अनुसन्धान ही भगवती की सपर्या है। यह सर्वसंमत पक्ष है।

अन्य आचार्य षड्विध ऐक्य को मान्यता देते हैं। उनके अनुसार [1]बिन्दु, नाद और कला से अतीत भागवत तत्त्व ही सारे आगमों का रहस्य है। **नाद** परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के भेद से चतुर्विध है। परा वाणी त्रिकोणात्मक, पश्यन्ती अष्टकोण-चक्ररूपिणी, मध्यमा द्विदशारस्वरूपा और वैखरी चतुर्दशारस्वरूपिणी है। शिव-चक्रों का इनमें अन्तर्भाव हो जाता है। इस तरह से यहाँ तक का श्रीचक्र नादमय है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा नामक छ: चक्र **बिन्दु** नाम से जाने जाते हैं। **कला**ओं की संख्या पचास अथवा [2]तीन सौ साठ हैं। भगवती इन नाद, बिन्दु और कलाओं से अतीत हैं। सहस्रदल कमल बिन्दु से अतीत बैन्दव-स्थान स्वरूप है। इसीका दूसरा नाम [3]**सुधासिन्धु** अथवा **सरघा** है। नाद से अतीत तत्त्व त्रिपुरसुन्दरी नाम की चित्कला है। इसी का दूसरा नाम **ब्रह्मविद्या** है। इस तरह से भागवत तत्त्व नाद, बिन्दु और कला से अतीत है। यहाँ नाद, बिन्दु और कला का परस्पर ऐक्यानुसन्धान छ: प्रकार से सम्पन्न होता है। तदनुसार ही षड्विध ऐक्य की भावना की जाती है।

इस तरह से भगवती की षड्विध ऐक्य की भावना के द्वारा पूजा करके साधक सादाख्य तत्त्व में विलीन हो जाता है। इसके बाद षड्विध ऐक्य के अनुसन्धान के

---

१. **बिन्दु** शब्द से यहाँ मूलाधार आदि छ: चक्रों का ग्रहण किया जाता है। जगत् की उत्पत्ति और लय की कारणभूत शिव की शक्ति ही बिन्दु कहलाती है। वह शक्ति सहस्रदल कमल के अन्तर्गत चार द्वारों से घिरी कर्णिका के मध्य में चतुष्कोण रूप में स्थित है। चतुष्कोण के मध्य में स्थित शिवतत्त्व **नाद** कहलाता है। शिव और शक्ति दोनों शब्दार्थ-स्वरूप है, अत: **कला** की स्थिति दोनों में मानी जायगी। इनकी सामरस्यमय स्थिति बिन्दुनादकलात्मक स्वरूप से ऊपर उठ जाती है। यह अनेक स्थानों पर बताया जा चुका है कि बिन्दु, नाद और कला शब्दों का विविध अर्थों में प्रयोग हुआ है।

२. "क्षितौ षट्पञ्चाशत्" (१.१४) इत्यादि श्लोक की व्याख्या, विशेष कर कैवल्याश्रम की व्याख्या में सौभाग्यवर्धनी में इसका विशेष परिचय दिया गया है।

३. नवचक्रात्मक श्रीचक्र के अध:स्थित शिवात्मक चार योनियों के ऊपर तथा ऊर्ध्वस्थित शक्त्यात्मक पाँच योनियों के नीचे विद्यमान बैन्दव स्थान का ही नाम **सुधासिन्धु** है।

फलस्वरूप और गुरु के कृपाकटाक्ष से प्राप्त महावेध की सहायता से साधक मूलाधार और स्वाधिष्ठान नामक दो चक्रों का भेदन कर मणिपूर चक्र में भगवती का साक्षात्कार करता है। **महावेध** की विधि इस प्रकार है— प्रथमतः अभ्यास करते समय शिष्य गुरुमुख से महाविद्या को प्राप्त कर ऋषि-छन्द-देवता के साथ मूल मन्त्र को विनियुक्त कर गुरु के द्वारा उपदिष्ट मार्ग से शुष्क जप करता रहे। आश्विन शुक्ल पक्ष की महानवमी के नाम से प्रसिद्ध अष्टमी की मध्यरात्रि में गुरु के पादोदक का ग्रहण करे। इसकी महिमा से गुरु के हस्तमस्तकसंयोग, पुनः मन्त्रोपदेश, षट्चक्रपूजा का प्रकार, षड्विध ऐक्य के अनुसन्धान जैसी विधियों की सहायता से शैव महावेध की अभिव्यक्ति हो जाने से शिष्य को प्रकाशस्वरूप **सादाख्य** तत्त्व का साक्षात्कार हो उठता है।

इस क्रिया के सम्पन्न हो जाने पर मणिपूर स्थान में भगवती का साक्षात्कार होता है। वहाँ उसकी आराधना करनी चाहिये। अर्घ्य, पाद्य आदि से लेकर भूषण-प्रदान पर्यन्त पूजा को सम्पन्न कर अनाहत मन्दिर (चक्र) में भगवती को ले जाकर धूप से नैवेद्य एवं हस्तप्रक्षालन पर्यन्त पूजा को पूरा कर भगवती को विशुद्धिचक्र में ले जाना चाहिये। वहाँ सिंहासन पर आसीन, अपनी सखियों के साथ संभाषण कर रही देवी को शुद्ध स्फटिकसदृश मणियों का हार पहनाना चाहिये। ये मणियाँ मुक्ता आदि की न होकर षोडशदल कमल में विद्यमान सोलह चन्द्र-कलाएँ हैं। इस तरह विशुद्धिचक्र में पूजा के सम्पन्न हो जाने के उपरान्त देवी को आज्ञाचक्र में ले जाना चाहिये। वहाँ भगवती कामेश्वरी की नीराजन आदि से पूजा करनी चाहिये। ऐसा करने से भगवती तत्काल बिजली के समान कौंध कर सहस्रदल कमल में प्रविष्ट हो अमृतसागर में पाँच कल्पवृक्षों की छाया में मणिद्वीप में **सरघा** के मध्य सदाशिव के साथ विहार करने लगती है। उस समय साधक परदा फैलाकर स्वयं समीप के मन्दिर में बैठ जाय। जब तक भगवती यहाँ से उतर कर पुनः मूलाधार कुण्ड में प्रविष्ट नहीं होती, तब तक साधक को वहीं ठहरना चाहिये। समयी मत की पूजा का यही रहस्यमय तत्त्व (स्वरूप) है।

मूलाधार आदि छः चक्र क्रमशः पृथिवी, जल, तेज, पवन, आकाश और मनस्तत्त्वात्मक हैं। ये तत्त्व चक्रों में तन्मात्रा के रूप में विद्यमान हैं। तन्मात्रा गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्दात्मक हैं। आज्ञाचक्र में स्थित मनस्तत्त्व से एकादश इन्द्रियाँ गृहीत हैं। इस तरह इनमें इक्कीस तत्त्वों की स्थिति मानी जाती है। "पत्या सह रहसि सहस्रपत्रे विहरसे" इस वाक्य से चार तत्त्वों की सूचना मिलती है। ये चार तत्त्व माया, शुद्धविद्या, महेश्वर और सदाशिव हैं। ये चार तत्त्व ब्रह्मग्रन्थि के बाद स्थित चतुर्द्वारात्मक एवं भूपुरत्रितयात्मक श्रीचक्र के चार द्वारों पर विराजमान रहते हैं। प्राची आदि द्वार देशों में ये माया आदि चार तत्त्व स्थित हैं। ये ही मंच के चार पाद हैं। माया महेश्वर से संयुक्त

होकर उसको जीवभाव में परिणत कर देती है। यह प्रकृति से संयुक्त रहता है। शुद्धविद्या सदाशिव से संयुक्त होकर **सादाख्या** कला कहलाती है। यह भगवती चौबीस तत्त्वों से ऊपर पचीसवें सदाशिव तत्त्व के साथ विहार करती हुई छब्बीसवें तत्त्व के रूप में परमात्मा कहलाती है। अर्थात् यह **सादाख्या** कला पचीसवें सदाशिव तत्त्व के साथ मिलकर छब्बीसवाँ तत्त्व बन जाती है। तत्त्वान्तर के रूप में ही इनको मान्यता मिली है।

द्विविध भजन

परानन्दस्वरूपा इस सादाख्या भगवती का साक्षात्कार, भजन करने वाला साधक ही कर सकता है। यह भजन दो प्रकार का है— षट्चक्र-सेवात्मक और धारणात्मक। षट्चक्र-सेवा का स्वरूप यह है— आधार और स्वाधिष्ठान चक्र तामस हैं, अतः इनकी उपासना नहीं करनी चाहिये। मणिपूर से लेकर सहस्त्रार पर्यन्त पाँच चक्रों की उपासना की जाती है। इनमें मणिपूर के उपासक को **सार्ष्टि** नामक मुक्ति मिलती है। **सार्ष्टि** का अर्थ है कि देवी के पुर के समीप दूसरा पुर बनाकर वहाँ रहते हुए देवी की उपासना करना। वियत्कमल की पूजा में लगे साधक को **सालोक्य** मुक्ति मिलती है। **सालोक्य** का अर्थ है देवी के पुर में निवास। विशुद्धिचक्र का उपासक **सामीप्य** मुक्ति पाता है। **सामीप्य** का अर्थ है भगवती के पाददिवन्दन की योग्यता। आज्ञाचक्र का उपासक **सारूप्य** मुक्ति पाता है। **सारूप्य** का अर्थ है समानरूपता। सायुज्य से इसका भेद पृथक् देह के कारण होता है, अर्थात् सारूप्य मुक्ति में आराधक को सादाख्या भगवती का सा रूप प्राप्त होता है। मुक्ति के ये चारों प्रकार गौण हैं। यहाँ साधक बाह्य दुःख से मुक्त हो जाता है, इसके लिये इसे मुक्ति कह देते हैं। वस्तुतः मुक्ति **सायुज्य** नाम की ही है। यह शाश्वत मुक्ति सहस्त्रदल कमल के उपासकों को ही मिलती है। यह मुक्ति सुखस्वरूपा है। दुःख का अत्यन्त उच्छेद हो जाने के बाद सायुज्य मुक्ति में साधक का शिव-शक्ति सम्पुट में अन्तर्भाव हो जाता है।

धारणात्मक भजन में शरीरस्थ कमलों में नाद और कला की सहायता से वायु का निरोध किया जाता है। यह निरोध छः कमलों में छः प्रकार से सम्पन्न होता है। सातवें कमल में समया के साथ इसका निरोध सातवाँ है। एक-एक कमल में पचास प्रकार की धारणाएँ सम्पन्न होती हैं। ये सब मिलकर ३६० हो जाती हैं। इनको नाद, बिन्दु और कला के साथ मिलाने से अनन्त प्रकार हो जाते हैं। इन धारणाओं का फल क्रमानुसार मति, स्मृति, बुद्धि, प्रज्ञा, मेधा, प्रतिभा और संवित् की प्राप्ति है।

इस प्रकरण का निष्कर्ष यह है— छः कमलों में क्रमशः पाँच महाभूतों और मन की तादात्म्य रूप में स्थिति मानी गई है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकात्मता के

अनुसन्धान से, छः कमलों के और षड्विध ऐक्य के अनुसन्धान से साधक को यह पिण्डाण्ड ब्रह्माण्ड के सदृश भासित होने लगता है। इस परिज्ञान से वह शिव- शक्ति की सामरस्य पदवी को प्राप्त कर लेता है।

शिवशक्ति-सामरस्यात्मक, अत एव नवयोन्यात्मक प्रकाश-विमर्श स्वरूप श्रीचक्र से परा, पश्यन्ती आदि के क्रम से अष्टवर्गात्मिका एवं पंचाशद्वर्णात्मिका **मातृका** का विकास होता है और उसीसे सारे चराचरात्मक जगत् के सृष्टि-संहार आदि कार्य सम्पन्न होते हैं। इसका विवरण परापंचाशिका, सौभाग्यसुधोदय आदि में दिया गया है।

श्रीचक्र का लेखन

पाँच शक्ति-चक्रों और चार वह्नि-चक्रों के संयोग से श्रीचक्र की रचना होती है। अपने अभिमुख स्थित त्रिकोण-परम्परा की शक्ति संज्ञा और विपरीत त्रिकोण-परम्परा की वह्नि संज्ञा शास्त्रों में विहित है (ऋजु., पृ. ५०)। इसके विपरीत कौल परम्परा में अधोमुख चार त्रिकोण शिवात्मक तथा ऊर्ध्वमुख पाँच चक्र शक्त्यात्मक माने गये हैं (लक्ष्मी, पृ. ७२)। कौल मत में संहार-क्रम से और समयी मत में सृष्टि-क्रम से श्रीचक्र का लेखन विहित है (लक्ष्मी, पृ. ७२, ७९, ८१-८३)।

श्रीचक्र की बाह्य और आन्तर उपासना

"चतुर्भिः श्रीकण्ठैः" (सौ. ल. १. ११) यहाँ "पञ्चशक्तिचतुर्वह्निसंयोगाच्चक्रसंभवः" (१. १८) योगिनीहृदय के इस वचन में सूचित अर्थ ही प्रदर्शित है। श्रीचक्र का आधा भाग चार योनियों से बनता है। इसका नाम शिव या वह्नि चक्र है। बचा पाँच योनियों वाला आधा भाग शक्ति नाम से जाना जाता है। इन दोनों को मिलाकर नौ योनियों वाला श्रीचक्र बनता है। नि. षो. और यो. हृ. के आधार पर इसका परिचय पहले (पृ. ६३१-६४९) दिया जा चुका है।

लक्ष्मीधर का कहना है कि श्रीचक्र का ही दूसरा नाम वियच्चक्र है। वियत् में इसकी पूजा की जाती है, इसलिये इसको **वियच्चक्र** कहते हैं। यह पूजा दो तरह से की जाती है— दहराकाश में और बाह्य आकाश में। बाह्य आकाश में विद्यमान [1]पीठ आदि में, भूर्जपत्र, शुद्ध वस्त्र अथवा सुवर्ण, रजत आदि पर अंकित कर की गई श्रीचक्र की आराधना बाह्य पूजा कहलाती है। इसीको कौल पूजा कहते हैं। हृदयस्थित

---

१. तन्त्रालोक में भूमि, वस्त्र, काय और पीठ को पूजा के लिये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ स्थान माना गया है— "भूवस्त्रकायपीठाख्यं धाम चोत्कर्षभाक् क्रमात्" (२९. १५)। वहीं (६. २-४) बाह्य पूजा के एकादश स्थान वर्णित हैं।

आकाश-स्थान में की गई श्रीचक्र की उपासना दहराकाश(आन्तर)पूजा कही जाती है। इसीको समयपूजा भी कहते हैं (पृ. ६४)।

द्विविध कौल उपासना

पूर्वकौल और उत्तरकौल के भेद से कौल मत दो प्रकार का है। सौन्दर्यलहरी का "शरीरं त्वं" (१.३४) इत्यादि श्लोक पूर्वकौल मत का प्रतिपादक है। यहाँ भैरवी और भैरव का [1]नवविध ऐक्य प्रतिपादित है। "मनस्त्वं" (१.३५) इत्यादि श्लोक में उत्तर-कौल मत का प्रतिपादन हुआ है। "त्वया हत्वा" (१.२३) इस श्लोक में भी यही सिद्धान्त वर्णित है। उत्तरकौल मत के अनुसार शिवतत्त्व की शक्तितत्त्व से पृथक् कोई सत्ता नहीं है। अत: शिवतत्त्व का शक्तितत्त्व में ही अन्तर्भाव हो जाने से मात्र शक्तितत्त्व की ही उपासना की जाती है (पृ. १२२)। "तवाज्ञाचक्र" (१.३६) इत्यादि छ: श्लोकों में समयिमत निरूपित है। इसी तरह से "कदा काले" (२.४९) इस श्लोक में "चरणनिर्णेजनजल" इस पद से भी समयिमत ही सूचित होता है, क्योंकि कौल मत में सर्पाकार में ही देवी की स्थिति मानी गई है, अत: वहाँ चरणनिर्णेजनजल उपलब्ध नहीं हो सकता, क्योंकि इस जल की उपलब्धि तो सहस्रदल कमल में ही होती है। इसीलिये "सुधाधारासारै:" (१.१०) यहाँ आधे श्लोक में समयिमत का और "अवाप्य स्वां भूमिं" (१.१०) इस आधे श्लोक में कौल मत का निरूपण मिलता है (पृ. २८२)।

शिरोभाग में चन्द्रमण्डल की स्थिति का वर्णन योगशास्त्र के सभी ग्रन्थों में मिलता है। समयिमत के अनुसार यह चन्द्रमण्डल श्रीचक्र-स्वरूप ही है, क्योंकि यह षोडशकलात्मक है। श्रीविद्या में प्रतिपदा आदि षोडश तिथियों के आधार पर कलाओं का वृद्धि एवं क्षय का क्रम चलता रहता है, अत: यही चन्द्रमण्डल है। इसीलिये शिरोभाग में स्थित सहस्रदल कमल में श्रीचक्र के रूप में विद्यमान चन्द्रमण्डल के मध्य में विराजमान भगवती के चरणकमल से प्रसाद के रूप में निकल रहे अमृतमय जल से साधक का सारा शरीर आप्लावित हो उठता है। इसके बाद वह भगवती पुन: आधारकुण्ड में सर्पाकार धारण कर सुषुम्ना मार्ग को रोक कर सो जाती है, यही इस श्लोक का अभिप्राय है (पृ. ७६)। इस तरह से ऊपर उद्धृत श्लोकों की और "सरस्वत्या लक्ष्म्या" (२.५८) इस श्लोक की व्याख्या में लक्ष्मीधर ने समयिमत और कौलमत के रहस्यों को सुस्पष्ट रूप से उद्घाटित किया है।

चन्द्रकला-विद्याष्टक में कुलमत और समयिमत का समान रूप से अनुसरण किया गया है, अत: यह मिश्रमार्ग कहलाता है। चौसठ तन्त्रों में कुलमार्ग प्रतिपादित है।

---

१. "अतो नवविधैक्यं भैरवीभैरवयोर्ज्ञातव्यमित्ति कौलमतरहस्यम्। अत एव कौला: परमेश्वरं नवात्मेति व्यवहरन्ति।···· अवशिष्टं "तवाधारे मूले" (१.४१) इत्यादौ निरूप्यते" (लक्ष्मी., पृ. १६५)।

"मिश्रकं कौलमार्गं च परित्याज्यं हि शाङ्करि" इस शास्त्रवचन के अनुसार इन दोनों मार्गों का परित्याग करना चाहिये। वैदिकों को पाँच शुभागमों का ही अनुसरण करना चाहिये, क्योंकि इनमें केवल समयिमत का निरूपण है (लक्ष्मी., पृ. १४०-१४१)।

इस तरह से लक्ष्मीधर के द्वारा प्रतिपादित समयिमत का अनुसरण करने वाली त्रिपुरोपासना में तान्त्रिक पद्धति के साथ वैदिक प्रक्रिया का भी समावेश हो गया। हम विचार कर सकते हैं कि हिंसाप्रधान वैदिक कर्मकाण्ड की जब बुद्ध, महावीर आदि ने समालोचना की, तो आज जैसे उसका विरल प्रचार हो गया है, उसी तरह से सौन्दर्यलहरीकार लक्ष्मीधर आदि ने मत्स्येन्द्रनाथ, अभिनवगुप्त आदि के द्वारा प्रदर्शित रहस्यात्मक कौलिक बाह्य पूजा का निषेध कर योगप्रधान आन्तर पूजा का समयिमत के नाम से वैदिक प्रक्रिया में समावेश कर लिया गया।

अर्थरत्नावली (पृ. ७४) में अकुल, कुल, कुलाकुल, कौल और शुद्धकौल नामक पंचविध कुलशास्त्रों की चर्चा है, इसकी सूचना कौल प्रकरण में दी जा चुकी है। सरस्वती भवन की २१९२२ संख्या की अम्बास्तवटीका की मातृका के २१३ पृष्ठ पर [1]सुभगोदय के प्रमाण से कौलों के सात भेद प्रदर्शित हैं। तदनुसार पूर्वकौल और उत्तरकौल नामक द्विविध कौलों में से प्रथम के तीन और द्वितीय के चार भेद हैं। मूलाधारनिष्ठ, स्वाधिष्ठाननिष्ठ और उभयनिष्ठ— ये प्रथम के तीन भेद और मातंगी, वाराही, कौलामुखी और तन्त्रनिष्ठा— ये द्वितीय के चार भेद हैं। इनसे भिन्न पदोत्तिष्ठ. महा. मूल. योगिनी. वह्नि. वृषणोत्थ. और सिद्धकौल नामक सप्तविध कौल [2]कौलज्ञाननिर्णय में वर्णित हैं। इनमें से योगिनीकौल और सिद्धकौल की चर्चा मृगेन्द्रागम के चर्या पाद (१.३६-३७) में वर्णित अनुस्रोतोविभाग में भी मिलती है। लक्ष्मीधर ६४ तन्त्रों को कौलिक शास्त्र कहते हैं। उसकी समालोचना उसी प्रकरण (पृ. २३-३२) में की जा चुकी है। लक्ष्मीधर के द्वारा प्रदर्शित श्रीचक्र की द्विविध उपासना ऋजुविमर्शिनी और अर्थरत्नावली में भी अन्तर्याग और बहिर्याग के रूप में वर्णित है। शाक्तागमों में शक्तिपारम्यपक्ष को स्वीकार किया गया है। कुलार्णव आदि ग्रन्थों में कौल सिद्धान्त को सर्वोत्कृष्ट बताया गया है। अभिनवगुप्त, भास्करराय जैसे तन्त्रशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् कौल सिद्धान्त का श्रद्धापूर्वक प्रतिपादन करते हैं और लक्ष्मीधर इस दृष्टि को स्वीकार नहीं करते। इसकी संगति हम विभिन्न गुरु-परम्पराओं के आधार पर बैठा सकते हैं।

---

१. शिवानन्द मुनि के मुद्रित सुभगोदय में यह विषय उपलब्ध नहीं है।
२. वहाँ पारिभाषिक शब्दसूची की सहायता से इनका विवरण देखिये।

वामकेश्वर दर्शन से संबद्ध कुछ विषयों की हमने ऊपर चर्चा की है। योगिनीहृदयदीपिका के हिन्दी उपोद्घात (पृ. १६-४२) में मन्त्रसंकेत (षड्विध मन्त्रार्थ), पूजासंकेत (त्रिविध पूजा, जप, ५० या ५१ पीठ), नौ आधार, वर्णों और तत्त्वों की उत्पत्ति, कामकला, छः अथवा आठ धातु, व्याकुलाक्षर जैसे विषयों का परिचय दिया जा चुका है, अतः इन विषयों की यहाँ पुनः चर्चा न कर मातृका, मन्त्र, मुद्रा और पीठ के स्वरूप पर दार्शनिक पद्धति से विचार किया जा रहा है।

मातृका स्वरूप

परावागात्मिका, अनाहतभट्टारक-परमशिव-स्वरूपा, छत्तीस तत्त्वों का प्रसार करने वाली संवित् को ही मातृका कहा जाता है। शब्दराशि, मातृका, मालिनी, कालिका इत्यादि शब्दों के द्वारा विभिन्न शास्त्रों में वर्णित परभैरव-स्वरूपा परावागात्मिका मातृका ज्येष्ठा, रौद्री और अम्बिका नामक शक्तियों के रूप में विचित्र रूप धारण कर सभी वर्णों की उत्पत्ति में कारण बनती है और नाना वर्णों के नाना प्रकार के संयोजन से बने मन्त्रों की भी यही जननी है। तन्त्रसद्भाव में बताया गया है कि सभी मन्त्र वर्णात्मक हैं। ये वर्ण शक्तिस्वरूप हैं। यह शक्ति ही मातृका है और यह शिव से अभिन्न है।

सौभाग्यसुधोदय में माति, कायति और तरति— इन तीन धातुओं से मातृका पद की निष्पत्ति बताई गई है। अनाहतमूर्ति शिव ही इस जगत् में दिखाई पड़ते हैं और अन्ततः इससे ऊपर उठ जाते हैं, अर्थात् मातृका शक्ति की सहायता से ही विश्वोत्तीर्ण शिव विश्वमय बन जाते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि शिव, शक्ति आदि निश्चित नामों से जिसको पुकारा नहीं जा सकता, वह अनाख्य परमतत्त्व, अनुत्तर प्रकाश ही शाक्त मत में परमतत्त्व है। वही परमतत्त्व अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के सहारे जब इस विश्व को प्रकट करना चाहता है, तो वह सर्वप्रथम अपने भीतर शिव-शक्ति के यामल भाव को प्रकट करता है, अर्थात् अकार से लेकर हकार पर्यन्त मातृका का स्वरूप धारण कर लेता है। यहाँ अनुत्तर प्रकाश (शिव) अकार और विमर्श (शक्ति) हकार लिपि के रूप में प्रकट होते हैं। संकेतपद्धति में बताया गया है कि सभी वर्णों में प्रथम अकार प्रकाशमय परमशिव का तथा अन्तिम वर्ण हकार शिवकला-स्वरूप विमर्श शक्ति का वाचक है। तन्त्रालोक (३.६७) के अनुसार अकुल शिव को कुल में प्रतिष्ठित करने वाली कौलिकी परा शक्ति है। इस शक्ति से भगवान् शिव कभी अलग नहीं होते।

वाक्चतुष्टयात्मिका मातृका

यह अनुत्तरनाथ ही चार अवस्थाओं वाले [1]नाद का रूप धारण कर लेता है। ये चार अवस्थाएँ विलय क्रम से हत, अनाहत, अनाहतहत और अनाहतहतोत्तीर्ण नाम से जानी जाती हैं। इनमें अनाहतहतोत्तीर्ण अवस्था परा वाक्, अनाहतहता पश्यन्ती, अनाहता मध्यमा और हता अवस्था वैखरी कहलाती है। वातूलनाथसूत्र[2] और उसकी वृत्ति में इस

१. तन्त्रालोक (५.९७-१००) में ब्रह्मयामल के प्रमाण से नाद का राव के नाम से वर्णन मिलता है। परावाक्स्वरूप अहंविमर्शात्मक राव प्रथमत: नाभि, हृदय और कण्ठ में प्रविष्ट पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के रूप में और इन तीनों की स्थूल, सूक्ष्म और पर अवस्था में विभक्त हो नवधा रूप धारण कर लेता है। नवधा विभक्त इस नाद का मूल आधार परावागात्मक दशम नाद है। यह परावागात्मिका राविणी इसी स्थल पर जयरथ द्वारा उद्धृत आगम– वचनों में दस प्रकार से नदन करती हुई दिव्य आनन्द की दात्री मानी गई है। इनमें चिनी प्रथम शब्द, चिंचिनी दूसरा, चीरवाकी तीसरा, शंखध्वनि चौथा, वीणा की झंकार पंचम, वंशध्वनि षष्ठ, कांस्य ताल सप्तम, मेघध्वनि अष्टम, दावानल का घोष नवम और दुन्दुभि की ध्वनि इसका दसवाँ भेद माना गया है। इनमें से प्रथम नौ ध्वनियों का त्याग कर देने पर दशम नाद मोक्ष प्रदान करने में समर्थ हो जाता है। नेत्रतन्त्रोद्योत (२१.३९) और चिद्वल्ली-धृत परमहंसोपनिषत् (पृ. ४९) में भी दशविध नाद वर्णित है। मालिनीविजय (१२. १२) में चिंचिनी, चीरवाकी आदि दशविध ध्वनि के रूप में इसका वर्णन किया गया है। तन्त्रालोकविवेक (भा. २, पृ. ७६) में धृत एक आगमवचन में राव की स्तुति करते हुए बताया गया है कि अनाहत और हत अवस्था से उत्तीर्ण, महान् विषम परिस्थितियों में भी चितिशक्ति की ओर साधक को गति प्रदान करने वाला, वीरपुरुष को सामरस्य दिलाने वाला यह देवी का राव (नाद) इस पूरे विश्व में गूँज रहा है। शिवपुराण तथा हठयोग के ग्रन्थों में भी नादानुसन्धान की महिमा गाई गई है।

२. वातूलनाथसूत्र और उसकी वृत्ति में वाक्चतुष्टय की उदय एवं विराम स्थितियों का सुन्दर विश्लेषण किया गया है। वहाँ के १३वें सूत्र की वृत्ति के अंशों को हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं– "अकार के हत, अनाहत, अनाहतहत और अनाहतहतोत्तीर्ण नामक चार रूप हैं। इनमें से प्रथम **हत** हृदय, कण्ठ, तालु आदि स्थानों, करणों एवं प्रयत्नों से गतिशील होकर हकार पर्यन्त वर्णों और उनसे अभिव्यक्त होने वाले नाना पदार्थों का अवभासक है। दूसरा **अनाहत** अकार से, मूल स्वर से उल्लसित परनाद के विस्फार स्वरूप मध्यमा वाणी के रूप में कण्ठकूप पर्यन्त विश्राम की स्थिति में रहता है। **अनाहतहत** उसे कहते हैं, जो दोनों को अपना आश्रय बनाता है। अपनी उन्मिषितावस्था में वह अहत स्थिति में रहता है और कर्णशष्कुली में जाकर जब वह दोनों कानों के मध्यवर्ती आकाश के और आकाशतत्त्व के प्रतिबिम्बस्वरूप श्रवणेन्द्रिय के माध्यम से शरीर से भी टकराता है, तो वह हत हो जाता है। इस तरह से अनाहत और हत दोनों स्थितियों में रहने से यह अनाहतहत कहलाता है। **अनाहतहतोत्तीर्ण** वह अकार है, जो पूरी तरह से सभी आवरणों से मुक्त धाम में उल्लसित होकर निर्विकल्प स्थिति में ईषच्चलनरूप महास्पन्दावस्था की प्रथम कोटि में विद्यमान है और संकोच एवं विकास के अभाव में परम विकासावस्था में प्रतिष्ठित है तथा अस्पर्शयोग की कोटि में प्रविष्ट हो अनुच्चार्य महामन्त्र के रूप में योगियों के साक्षात्कार का विषय होता है। इनमें अकार का अनाहतहतोत्तीर्ण स्वरूप शृंगाट के सदृश है। यह इसका चतुर्थ स्वरूप रौद्री के नाम से प्रसिद्ध है। इसका अनाहतहत स्वरूप, अनच्कला के रूप में मुँह में रहता है। यह वामारूप सुषुप्त्यात्मक है। इसका अनाहत स्वरूप, स्वप्नात्मक है। इसको आगम में बाहुरूप अम्बिकाशक्ति नाम दिया गया है। हत रूप आयुधाकार है। यह ज्येष्ठास्वभाव जाग्रदवस्थात्मक है (पृ. १६-१७)। निम्न श्लोक में यही विषय प्रतिपादित है— अकार का शिर रौद्री शक्ति, मुख वामा शक्ति, बाहु अम्बिका शक्ति और ज्येष्ठा आयुध के रूप में प्रतिष्ठित है।

विषय को स्पष्ट किया गया है। ऋजुविमर्शिनी में परा वाक् को अनाहत बताया गया है। वहाँ इस शब्द से अनाहतहतोत्तीर्ण अवस्था ही सूचित होती है।

यह एक ही परा वाक् अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के उल्लास से जब स्पन्दित हो उठती है, तो अनेक रूप धारण कर लेती है और इसीसे वर्णाम्बिका की पश्यन्ती अवस्था अभिव्यक्त हो उठती है। इसके ग्यारह स्वरूप इस प्रकार से बनते हैं— शिवस्वरूप अकार की वामा, ज्येष्ठा, रौद्री और अम्बिका नामक चार कलाएँ और इनका समष्टि अकार तथा शक्तिरूप हकार की इच्छा, ज्ञान, क्रिया और शान्ता नामक चार कलाएँ और इनका समष्टि रूप हकार। इस प्रकार शिव और शक्ति स्वरूप अकार और हकार की पाँच-पाँच कलाओं को मिलाकर इनके दस भेद हो जाते हैं। बीजांकुर-न्याय से इनमें भी परस्पर एकरसता स्थापित हो जाती है और इस प्रकार यह पश्यन्ती वाणी ग्यारह स्वरूप धारण करती है। [1]संकेतपद्धति के योगिनीहृदयदीपिका (पृ. १९२-१९३) में उद्धृत "आदावस्य शिरो रौद्री" इत्यादि वचनों में यही विषय प्रतिपादित है और [2]विद्यानन्द [3]पुण्यानन्द एवं [4]अमृतानन्द आदि ने इसके स्वरूप को स्पष्ट किया है। सौभाग्यसुधोदय में यह पश्यन्ती वाणी इस रूप में वर्णित है—

> एकाऽप्येकादशधा जाता माता परैव पश्यन्ती।
> पश्यति सर्वं स्वात्मनि करणानां सरणिमपि यदुत्तीर्णा।
> तेनेयं पश्यन्तीत्युत्तीर्णेत्यप्युदीर्यते माता।।

अर्थात् एक ही परा मातृका पश्यन्ती वाणी में उतर कर ग्यारह स्वरूप धारण कर लेती है। यह अपने भीतर सारे विश्व को देखती है, किन्तु यह स्वयं इन्द्रियों के मार्ग से अतीत है, इन्द्रियाँ इसका ग्रहण नहीं कर पाती। इसीलिये इसको पश्यन्ती और उत्तीर्णा नाम दिया गया है। मातृका का यह द्वितीय स्वरूप है।

पश्यन्ती से अनाहत नामवाली नवविध नाद से सम्पन्न मध्यमा वाक् प्रसृत होती है। शून्य, स्पर्श, नाद, ध्वनि, बिन्दु, शक्ति, बीज और अक्षर— ये आठ विकृत नाद हैं।

---

१. योगिनीहृदयदीपिका (पृ. १७० -१७१) द्रष्टव्य।

२. अर्थरत्नावली, पृ. ३५ देखिये।

३. कामकलाविलास, पृ. ४३, श्लो. २३-२४ द्रष्टव्य।

४. योगिनीहृदयदीपिका, पृ. १७० देखिये।

इन सबकी समष्टि ही नवम नाद है। इस प्रकार ये नौ नाद[1] मध्यमा-वाणीमय हैं। यह मध्यमा पश्यन्ती के समान केवल उत्तीर्ण ही नहीं है और न वैखरी के समान अपने समस्त अवयवों को बाहर बिखेरती है, किन्तु इन दोनों अवस्थाओं के बीच में इसकी स्थिति है। इसीलिये इसको मध्यमा कहते हैं। इस नवनादमयी मध्यमा से नौ वर्ग वाली वैखरी वाणी अभिव्यक्त होती है। सौभाग्यसुधोदय में इस प्रकार यह वर्णित है—

स्थानकरणप्रयत्नैरभिहतपवनप्रवर्तितार्णत्वात् ।
हतनामधेयमस्या विहितं वर्णोदयाभिज्ञैः।। (१.१४)

अर्थात् स्थान और करण के प्रयत्न से प्रेरित पवन से नाना वर्णों का उदय होता है। इसीलिये वर्णोदय के क्रम की प्रक्रिया को जानने वाले विद्वान् इस वैखरी वाणी को हत नाम देते हैं।

वै निश्चित ही अत्यन्त स्पष्ट रूप से **ख** कर्ण के विवर (छिद्र) में स्थित आकाश-रूपी श्रोत्रेन्द्रिय में, **राति** पहुँचती है, इसलिये इसको वैखरी[2] कहते हैं। इस वैखरी वाणी में अकार से लेकर सकार पर्यन्त ४७ वर्ण स्थित हैं, ऐसा संकेतपद्धति का कहना है। विद्यानन्द और अमृतानन्द ने इसी पद्धति के अनुसार इसकी व्याख्या की है। ककार और षकार के संयोग से क्षकार बनता है, अतः उसकी गणना यहाँ नहीं की जाती। इसी तरह से ळकार का अन्तर्भाव लकार में मान लिया जाता है। अकार और हकार की गणना ऊपर पश्यन्ती वाणी में बताई जा चुकी है। इस प्रकार यहाँ वैखरी वाणी में ४७ वर्णों

---

१. संकेतपद्धति के वचन के अनुसार शून्य, स्पर्श, नाद, ध्वनि, बिन्दु, शक्ति, बीज और अक्षर नामक आठ एवं नवम निर्विशेष को लेकर नौ नाद अर्थरत्नावली में वर्णित हैं। भास्करराय (व. र., पृ. १७) के अनुरूप इनकी स्थिति मूलाधार आदि छः चक्रों तथा नाद, नादान्त और ब्रह्मरन्ध्र नामक नौ आधारों में है। अर्थरत्नावलीकार विद्यानन्द ने हंसनिर्णय के प्रमाण से घोष, कांस्य, घंटा, वीणा, वेणु, वंश, दुन्दुभि, शंखघोष के साथ निर्विशेष नामक नौ नादों का वर्णन किया है। क्षेमराज ने नेत्रतन्त्रोद्योत (२१.३९) में स्वच्छन्द (११.६-७) के प्रमाण से घोष, राव, स्वन, शब्द, स्फोट, ध्वनि, झंकार और ध्वंकृत नामक अष्टविध शब्दों को गिनाया है। स्वच्छन्दोद्योत में धर्मशिवाचार्य की पद्धति के प्रमाण से वर्णित अष्टविध शब्दों की तुलना तन्त्रालोक एवं चिद्वल्ली के प्रमाण के ऊपर (पृ. ६५८) की टिप्पणी में वर्णित दशविध राव (ध्वनि) से तुलनीय है। भास्करराय (व. र., १.१२-१३) ने बिन्दु, अर्धचन्द्र आदि की समष्टि को नाद कहा है। तत्त्वप्रकाश की व्याख्या (पृ. ११-१२) में बताया गया है कि मन्त्रशास्त्र में बिन्दु को छोड़कर आठ पदों की ही नाद संज्ञा है, तो भी विषय को सरलता से समझने के लिये सभी को नाद कह दिया है।

२. यह सारा विषय वरिवस्यारहस्यप्रकाश (पृ. १७) के शब्दसृष्टि प्रकरण में भी प्रदर्शित है।

की ही स्थिति मानी गई है। इनमें मध्यमा के नौ नादों को और पश्यन्ती के एकादश भेदों को मिला देने से [1]मातृकापीठ में ६७ वर्णों की स्थिति बनती है। यहाँ स्पष्ट ही १५ स्वर, २५ स्पर्श वर्ण और य, र, ल, व, श, ष, स को मिलाकर यह संख्या बनती है। अर्थरत्नावली की मद्रास मातृका में २२ स्वर, २५ स्पर्श वर्ण, १० व्यापक वर्ण, ४ यम, जिह्वामूलीय उपध्मानीय दो, अनुस्वार विसर्ग दो और इनके साथ कला और नाद को मिलाकर वर्णों की संख्या ६७ बताई है। इस विषय में कोई प्रमाणवचन उपलब्ध नहीं है।

संकेतपद्धति के अनुसार वैखरी वाणी को हत, मध्यमा को अनाहत और पश्यन्ती को उत्तीर्णा कहा गया है। वहाँ त्रिविध न्याय से इन तीनों वाणियों के स्वरूप को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

शिखण्डच्चण्डरसन्याय: शिम्बिकाख्यो द्वितीयक:।
अय:शलाकासंज्ञोऽन्यस्त्रिविधो न्यायवैभव:।।
त्रिविधं न्यायमुत्सृज्य वर्णानामुदयक्रमम्।
ये वदन्ति न ते योग्या वामकेश्वरदर्शने।।

अर्थात् मयूराण्डरस-न्याय से, शिम्बिका(फली)-न्याय से और अय:शलाका (लोहे का जंगला)-न्याय से क्रमश: पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी के स्वरूप को समझना चाहिये। इन तीन न्यायों को छोड़कर जो व्यक्ति वर्णों के उदय-क्रम को समझना चाहता है, वह वामकेश्वरतन्त्र के दर्शन को नहीं समझ सकता।

वातूलनाथसूत्र और उसकी वृत्ति में वर्णित चारों प्रकार की वाणियों के नाम प्रारंभ में ही बता दिये गये हैं। वहाँ की यह भी विशेषता है कि परा वाणी में मयूराण्डरस,

१. इस मातृकापीठ का परिचय यो. हृ. दी. (पृ. १७०-१७१) में संकेतपद्धति के प्रमाण से इस तरह से दिया गया है— अकार सभी वर्णों में प्रथम प्रकाशात्मक परमशिव का स्वरूप है। हकार इसकी अन्तिम कला है। यह विमर्श शक्ति का प्रतीक है। इस प्रकाशविमर्शात्मक अकार-हकार का सामरस्यमय स्वरूप उस अहमात्मक परमतत्त्व में स्पष्ट प्रतीत होता है। यह ईश्वरतत्त्व वामा आदि पाँच शक्तियों से सम्पन्न है। रौद्री शक्ति इसका सिर, मुख वामा, बाहु अम्बिका और ज्येष्ठा आयुध रूप है। ये सब हकार की कलाएँ पाँच रूपों में स्थित हैं। अकार सभी वर्णों में विद्यमान है। इसकी अलग से बाह्य स्थिति प्रतीत नहीं होती। इच्छाशक्ति इसका सिर, ज्ञाना अधोभाग, क्रिया पादतल तथा शान्ता हृदय में स्थित है। यहाँ शून्य, स्पर्श, नाद, ध्वनि, बिन्दु, शक्ति, बीज और अक्षर नामक अष्टधा विभक्त अनाहत नाद की स्थिति मानी गई है। हत नाद के ४७ भेद माने गये हैं। संयुक्ताक्षर होने से क्षकार की अलग से गणना नहीं की गई। इस प्रकार यहाँ मातृकापीठ में ६७ वर्णों की स्थिति मानी गई है। यह मातृकापीठ अनाहत, हत और उत्तीर्ण नामक तीन भेदों के रूप में समस्त मातृकापीठ को व्याप्त कर विद्यमान है।

पश्यन्ती में वटधानिका और मध्यमा में शिम्बिकाफल-न्याय की प्रवृत्ति मानी गई है। इस तरह से इस शास्त्र में केवल वैखरी वाणी को ही नहीं, चारों प्रकार की वाणियों को मातृका नाम दिया गया है। इतना ही नहीं, भगवती संवित् ही परा वाक्-स्वरूप अनाहत भट्टारक परमशिव का स्वरूप धारण कर छत्तीस तत्त्वों का प्रसार करती है। मातृका पद से प्रधान रूप से इसीका बोध होता है।

वर्णों की अभिव्यक्ति

शिवसूत्रविमर्शिनी, ऋजुविमर्शिनी और तन्त्रालोकविवेक में उद्धृत तन्त्रसद्भाव के वचनों में वर्णों के विकास का क्रम प्रदर्शित है। तन्त्रालोकविवेक में उसको संक्षेप में इस प्रकार बताया गया है— परा भगवती ही सूक्ष्म कुण्डलिनी शक्ति है। यह शिव के साथ परस्पर समरस होकर दही के मथने से उत्पन्न नवनीत (मक्खन) के समान इच्छा-ज्ञान-क्रिया स्वरूप रौद्री शक्ति के रूप में, त्रिकोण की प्रथम रेखा का स्वरूप धारण कर अम्बिका शक्ति के रूप में, उकारात्मक चन्द्रकला का आकार धारण कर ज्येष्ठा शक्ति के रूप में और चन्द्रबिन्दु से उत्थित कालाग्निरुद्र बिन्दु में प्रविष्ट होकर स्पष्ट रेखा के आकार को आभासित कर अपने आद्य वर्ण अकार के शरीर को उन्मीलित करती है। संकेतपद्धति के निम्न वचन में इसको स्पष्ट किया गया है—

[१]अकारस्य शिरो रौद्री वक्त्रं वामा प्रकीर्तिता।
अम्बिका बाहुरित्युक्ता ज्येष्ठा चैवायुधं स्मृता।।

अर्थात् रौद्री शक्ति अकार का शिर, वामा शक्ति मुख और अम्बिका बाहुस्थानीय है। ज्येष्ठा शक्ति आयुध के रूप में मान्य है। इस तरह से शक्ति के उदर में छिपे हुए चार कला वाले बिन्दु से अनुत्तर (अकार) आदि के क्रम से नौ वर्ग वाली मातृका (वर्णराशि) का उदय होता है।

योगिनीहृदय (१.३६-४०) में परा वाणी अम्बिका और शान्ता स्वरूप, पश्यन्ती वामा और इच्छा स्वरूप, मध्यमा ज्येष्ठा और ज्ञाना स्वरूप तथा वैखरी रौद्री एवं क्रिया शक्ति स्वरूप मानी गई है। यहाँ तन्त्रसद्भाव और योगिनीहृदय में प्रदत्त नामों में कुछ भिन्नता लगती है, तो भी योगिनीहृदय के वर्णन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि तन्त्रसद्भाव में चारों वाणियों की विकास की प्रक्रिया के आधार पर ही वर्णों की उत्पत्ति की प्रक्रिया को समझाया गया है। यह प्रक्रिया परापंचाशिका और सौभाग्यसुधोदय में

१. यह श्लोक अनेक स्थानों पर उद्धृत मिलता है। यहाँ 'अकारस्य' और 'आदावस्य' दोनों तरह के पाठ मिलते हैं। अकार और हकार की यहाँ चर्चा चल रही है, अतः 'अकारस्य' यही पाठ उचित लगता है।

संक्षेप से तथा तन्त्रालोक के तृतीयाह्निक में विस्तार से दिखाई गई है। योगिनीहृदयदीपिका भाषानुवाद (पृ. ३६-४०) देखिये।

मातृका के वर्ग

इस मातृका का शरीर वर्णों के समुदाय से बना है। [1]बीज और योनि के रूप में विभक्त वर्णों के सात, आठ या नौ वर्गों के रूप में विभिन्न शास्त्रों में इसका वर्णन किया गया है। प्रपंचसार के "अकचटतपयाद्यैः सप्तभिर्वर्णवर्गैः" इस प्रथम मंगलाचरण पद्य में सात वर्ग वाली मातृका सूचित है। शैव सिद्धान्तागम और नित्याषोडशिकार्णव में आठ वर्ग वाली और मालिनीविजय (३.११) में नौ वर्ग वाली मातृका का निरूपण है। संकेत-पद्धति का अनुसरण करने वाले शिवानन्द, विद्यानन्द, अमृतानन्द आदि आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में अष्टवर्ग अथवा नववर्ग वाली मातृका का निरूपण किया है। इस विषय को हम इस तरह से समझ सकते हैं कि नि. षो. आदि तन्त्र-ग्रन्थों में प्रधानतः ब्राह्मी लिपि का अनुसरण कर वर्णों का परिचय दिया गया है। अतः यह प्रतिपादन प्राचीन माना जायगा। अमरकोश की जब रचना हुई, उस समय ब्राह्मी आदि सात मातृकाएँ प्रसिद्धि को प्राप्त हो चुकी थी। इन सात मातृकाओं की मूर्तियाँ द्वादश ज्योतिर्लिंगों में अन्यतम घुष्मेश्वर महादेव के मंदिर के पास विद्यमान एलापुर (एलोरा) में स्थित गुहामंदिरों में मिलती है। सिद्धान्तशिखामणि में मातृतन्त्रों की चर्चा है। इनके आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रपंचसार आदि प्राचीन तन्त्रों में सात वर्ग वाली वर्णमातृका स्वीकार की गई। इन सात मातृकाओं के साथ महालक्ष्मी का समावेश कर नि. षो. में अष्टवर्गात्मिका मातृका वर्णित है।

मातृका के वर्ण

मातृका के वर्गों की तरह ही वर्णों की संख्या के विषय में तन्त्रों में मतभेद है। संकेतपद्धति के अनुसार ४७ वर्ण वाली वैखरी वाणी का ऊपर अभी वर्णन हुआ है। शैव तन्त्रों में इनकी संख्या पचास मानी गई है और शाक्त तन्त्रों में प्रधानतः ५१ वर्ण माने जाते हैं। संकेतपद्धति में ६७ वर्ण वाली मातृका वर्णित है और अर्थरत्नावली में इनके स्वरूप को स्पष्ट किया गया है, यह विषय अभी ऊपर चर्चित हो चुका है। नि. षो. के चतुर्थ पटल में षडध्वशोधन के प्रकरण (पृ. २०९) में अर्थरत्नावलीकार ने भी शैवागमों की पद्धति से ५० वर्ण काली मातृका को ही स्वीकृति दी है। लक्ष्मीधर भी इसी पक्ष को स्वीकार करते हैं। सौन्दर्यलहरी की अपनी व्याख्या में वे कहते हैं—

---

१. मालिनीविजयोत्तर (३. १०-११) में मातृका को बीज और योनि के रूप में द्विधा विभक्त कर बीज को स्वर तथा योनि को व्यंजन बताया गया हैं।

पचास वर्ण वाली मातृका ही भगवती का स्वरूप है। ·····इस मातृका में पचास वर्ण और आठ वर्ग हैं। अ क च ट प य श ये आठ वर्ग हैं। प्रथम वर्ग में अकार आदि सोलह स्वर, कादिपंचक द्वितीय, चादिपंचक तृतीय, टादिपंचक चतुर्थ, तादिपंचक पंचम, पादिपंचक षष्ठ, यादि चार सप्तम और शादि पाँच का अष्टम वर्ग है। यह आठ वर्ग वाली मातृका भगवती त्रिपुरसुन्दरी का ही स्वरूप हैं। मातृका में ५१ वर्ण मानने वालों के मत में शवर्ग में छः अक्षर हैं। सेतुबन्धटीका (पृ. ५१) में यवर्ग और षवर्ग में पाँच-पाँच वर्णों की गणना करने वाला पक्ष सूचित है।

शिवानन्द विरचित सुभगोदय में यह मत मिलता है। इस मत में 'शवर्गे' के स्थान पर 'षवर्गे' (नि. षो. ७९) पाठ मानना पड़ेगा। शवर्ग में छः अक्षरों को मानने वालों के मत में "कौलिनीपञ्चमं देवि" (नि. षो. १.९४) यहाँ पंचम वर्ण के रूप में ळकार के रहते हुए भी क्षकार का ग्रहण किया जाता है, ऐसा सेतुबन्धकार का मत है। वहीं (पृ. ५६) इसे देखना चाहिये।

मालिनी-क्रम

मातृका और मालिनी पर्यायवाची शब्द हैं, ऐसा अभी ऊपर बताया गया है। मालिनी की विशेषता यह है कि यहाँ वर्णों का क्रम नकार से प्रारंभ कर फकार में समाप्त होता है। जैसे- न ऋ ॠ ऌ ॡ थ च ध ई ण उ ऊ ब क ख ग घ ङ इ अ व भ म ड ढ ठ झ ञ ज र ट प छ ल आ स अः ह ष क्ष म श अं त ए ऐ ओ औ द फ। मालिनीविजय (३. ३७-४१) में यह क्रम प्रदर्शित है। परात्रीशिका की विवृति में अभिनवगुप्त ने मालिनी-न्यास के क्रम को विस्तार से बताया है। यह क्रम काश्मीरागमों में विशेष रूप से मान्य है, ऐसा कहा जा सकता है।

भूतलिपि

भूतलिपि[१] तो कोई लिपि नहीं है, इसकी चर्चा "सम्पादन के सिद्धान्त और उपादान" (पृ. ३०६) में आ चुकी है। इस विषय में विशेष रूप से इतना ही कहना है कि पाणिनि व्याकरण के १४ प्रत्याहार-सूत्रों में जिन ४२ वर्णों का परिगणन हुआ है, ठीक वे ही वर्ण भूतलिपि में भी विन्यस्त हैं। कामकलाविलास (श्लो. २७) में इनको मध्यमा वाणी का प्रतिनिधि माना है। इस विषय में अभी विशेष अनुसन्धान अपेक्षित है (विहगावलोकन, पृ. १६५)।

---

१. चिद्वल्लीकार (पृ. ५०) ने भूतलिपि पद की व्याख्या करते हुए कहा है कि इसकी अभिव्यक्ति विशेष चेष्टा के अनुसार अक्षरों का विन्यास करने से होती है। इसका आधार शास्त्रीय कल्पना ही है।

शारदातिलक (७.१-४) में ४२ अक्षर और नौ वर्ग वाली भूतलिपि (मातृका) का वर्णन मिलता है। वहाँ वर्गों और वर्णों का क्रम इस प्रकार है—

अ इ उ ऋ लृ	प्रथम वर्ग
ए ऐ ओ औ	द्वितीय वर्ग
ह य र ल व	तृतीय वर्ग
ङ क ख घ ग	चतुर्थ वर्ग
ञ च छ झ ज	पंचम वर्ग
ण ट ठ ढ ड	षष्ठ वर्ग
न त थ ध द	सप्तम वर्ग
म प फ भ ब	अष्टम वर्ग
श ष स	नवम वर्ग।

कामकलाविलास (श्लो. २७) में सूक्ष्म और स्थूल के नाम से मध्यमा वाणी के दो भेद बताये गये हैं। नौ नाद वाली मध्यमा सूक्ष्म तथा भूतलिपिमयी स्थूल कहलाती है। भूतलिपि का श्रीचक्र में विन्यास का क्रम यथाप्रसंग (पृ. ६३७) बताया जा चुका है।

मन्त्र स्वरूप

वर्णों के संघट्ट (समूह) से बनी यह मातृका सात करोड़ मन्त्रों की जननी है। अतः अब मन्त्रों के स्वरूप का निरूपण किया जा रहा है। तन्त्रशास्त्र में मन्त्र के पर्याय के रूप में मनु शब्द भी प्रयुक्त है। पुरुष-देवता के वाचक मनु मन्त्र तथा स्त्री-देवता वाचक मनु विद्या के नाम से प्रसिद्ध हैं। नि. षो. में मूल विद्या के नाम से त्रिपुरा विद्या का उद्धार प्रदर्शित है। इसी प्रसंग में करशुद्धिकरी आदि विद्याओं का, वशिनी आदि देवियों के [1]बीजाक्षरों का तथा कामकला के उद्धार का क्रम प्रथम पटल में तथा चतुर्थ पटल में मूल विद्या के त्रिविध व्यस्त-क्रम और समस्त-क्रम के निरूपण के साथ इनकी

१. तन्त्रराजतन्त्र (३५. २८-२९) में एकाक्षर मन्त्र को पिण्ड, द्व्यक्षर को कर्तरी, तीन से लेकर नौ अक्षर तक के मन्त्रों को बीज और इससे ऊपर दस से लेकर बीस वर्ण तक के मन्त्रों को मन्त्र संज्ञा दी गई है। इससे ऊपर माला मन्त्रों की स्थिति मानी गई है। बौद्ध तन्त्रों में ये 'धारिणी' कहलाते हैं। अर्थरत्नावली (पृ. ९३-९५) में चतुष्पिण्डात्मक, पंचपिण्डात्मक , षट्पिण्डात्मक– इस तरह पिण्ड पद का प्रयोग एकाक्षर मन्त्र के लिये किया गया है। नेत्रतन्त्र (१६.७) की व्याख्या में क्षेमराज ने इसका अर्थ दूसरा किया है। उनके अनुसार बीज का अर्थ स्वर, कूट का पिण्ड-पदात्मक, पिण्ड का नवात्मा आदि मन्त्र तथा माला का पदसमुदाय अर्थ किया है। बीज मन्त्र में परा वाक् की, पिण्ड में पश्यन्ती की, माला मन्त्रों में मध्यमा की तथा कूट मन्त्रों में पश्यन्ती एवं मध्यमा वाक् की प्रधानता बताई गई है।

उपासना से प्राप्त होने वाले फल का भी वर्णन किया गया है। वहीं बताया गया है कि करशुद्धिकरी आदि विद्याओं के प्रयोग रुद्रयामल में वर्णित हैं। देवी के आयुधों के बीजाक्षरों की सूचना के साथ उनके उद्धार का क्रम भी यहाँ प्रदर्शित है। तृतीय पटल के अन्त में अर्थरत्नावली में मुद्राओं के बीजाक्षर नि. षो. के प्रमाण से उद्धृत हैं, किन्तु मूल ग्रन्थ में यह विषय देखने को नहीं मिलता।

मन्त्रों के विषय में शिवानन्द का कहना है कि ये मनन (जप) करने वाले साधक की रक्षा करते हैं। इनकी सहायता से वह चितिशक्ति के माहात्म्य को समझ सकता है। व्यक्ति गुरु की सहायता से ही इनके अर्थ को समझ पाता है। ये पिण्ड, बीज आदि भेदों में विभक्त हैं और पुरुष देवताओं के वाचक हैं। ये ही मन्त्र जब स्पष्ट अर्थ का बोध कराते हैं, तो उनको माला मन्त्र कहते हैं और स्त्री-देवताओं के वाचक होने पर विद्या पद से जाने जाते हैं। विद्यानन्द का कहना है कि आणव, शाक्त और शांभव उपायों से ये संबद्ध हैं। नेत्रतन्त्र (२१. ७५-७६) में बताया गया है कि मन्त्र साधक को संसार से मुक्त करा देते हैं और शिव के साथ उसका संयोजन करा देते हैं। इस प्रकार मनन करने वालों की रक्षा करने में समर्थ होने से इनको मन्त्र कहते हैं। यह विषय नेत्रतन्त्र (मृत्युंजयभट्टारक) के २१वें अधिकार में विस्तार से वर्णित है। मन्त्रों का आविर्भाव कहाँ से होता है? इसका स्वरूप कैसा है, इनका प्रभाव कैसा है? ये किस तरह से सिद्धि प्रदान करने में समर्थ होते हैं? और ये किसके द्वारा प्रेरित हैं? इन सभी प्रश्नों का समाधान वहाँ किया गया है। डॉ. शिवशंकर अवस्थी ने अपने ग्रन्थ "मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य" में नेत्रतन्त्र, शिवसूत्र, परात्रीशिका, विज्ञानभैरव, स्पन्दकारिका, शिवसूत्रविमर्शिनी, प्रत्यभिज्ञाहृदय, शारदातिलक, सौभाग्यभास्कर आदि ग्रन्थों की सहायता से मन्त्र-संबन्धी अनेक विषयों, उनके भेदों तथा उनके दोषों और संस्कारों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। उक्त ग्रन्थ में अविचारित कुछ विषयों पर यहाँ नेत्रतन्त्र के आधार पर विचार किया जा रहा है।

अभिनवगुप्त आदि आचार्यों के द्वारा उद्धृत होने से नेत्रतन्त्र की प्राचीनता में कोई विवाद नहीं है। नेत्रतन्त्र की अपनी उद्योत व्याख्या में क्षेमराज ने उच्छुष्मतन्त्र को भी उद्धृत किया है। बौद्ध तन्त्रों में भी इस तन्त्र को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। शारदातिलक आदि ग्रन्थों की रचना परवर्ती काल में हुई है। अतः नेत्रतन्त्र आदि में वर्णित मन्त्रविषयक विचारों को भी जान लेना जरूरी है।

नेत्रतन्त्र (८. ५९-६२) में बताया गया है कि भावहीन, शक्तिहीन, कीलित, वर्ण और मात्रा से च्युत, गुरु-परम्परा से अप्राप्त, भ्रष्ट, आम्नाय-परम्परा से रहित, आगमों के

द्वारा परित्यक्त और विघ्नित मन्त्र सिद्धि प्रदान करने में कभी समर्थ नहीं हो सकते। असिद्ध अथवा शत्रुस्थानीय, सभी अंशकों से रहित, आदि और अन्त में किसी अन्य वर्ण से रोधित मन्त्र भी फल देने में असमर्थ रहते हैं। षड्विध अंशकों का विवरण स्वच्छन्दतन्त्र (८. १-२५) में दिया गया है।

मन्त्र की साधना में लगे साधक से द्वेष करने वाले व्यक्ति मन्त्रों का उच्चारण करते समय उनको कीलित कर देते हैं। अत: साधक को चाहिये कि वह सुगोपित स्थान पर ही जप, होम आदि करे। जैसा कि नेत्रतन्त्र (६.३३-६६) में बताया गया है— दुष्ट स्वभाव का हिंसक मन्त्रज्ञ मन्त्रों में कीलन, भेदन, मोहन, संत्रास, ताडन, जंभन, स्तंभन, रिपुत्वकरण, कृत्योत्पादन और सभी तरह से हानिप्रदता नामक दस दोषों की उद्भावना कर देते हैं। अत: साधक को चाहिये कि वह सभी प्रकार से सुगुप्त अपने घर पर ही सावधानी के साथ याग, होम, जप का अनुष्ठान करे। क्षेमराज ने [1]कीलन का अर्थ मन्त्र के स्वरूप को विकृत कर देना, भेदन का अर्थ साध्य मन्त्र की संमुखता का त्याग कर देना, मोहन का अर्थ मन्त्र को निर्वीर्य बना देना, जंभन का अर्थ मन्त्र की कार्य करने की शक्ति को रोक देना, स्तंभन का अर्थ उसको निश्चेष्ट बना देना और प्रत्यंगिरत्व का अर्थ भूत-प्रेत आदि के दमन के लिये प्रयुक्त मन्त्र का प्रयोक्ता के ही अपकार में लग जाना किया है।

इन दोषों के परिहार[2] के लिये साधक को मन्त्रों की दीपन आदि विधियों को जानना चाहिये। नेत्रतन्त्र (१८. ६-८) में ही बताया गया है कि दीपन, बोधन, ताडन, अभिषेचन, विमलीकरण, इन्धननिवेशन, संतर्पण, गुप्तिभाव और आप्यायन— मन्त्रशास्त्र में बताई गई इन नौ विधियों को जो साधक पूरी तरह से जानता है, वही उत्तम प्रकार

---

१. यहाँ निर्दिष्ट कीलन आदि का स्वरूप शारदातिलक के "छिन्नो रुद्धः" (२.६४) इत्यादि प्रकरण में अधिक विस्तार से वर्णित है।

२. शारदातिलक (२. १११) में बताया गया है कि विभिन्न दोषों से ग्रस्त मन्त्रों को योनिमुद्रा की सहायता से पवन की गति को ऊर्ध्वोन्मुख कर निर्दुष्ट बना ले। तब उनका उपयोग करे। जो योगी नहीं है, योनिमुद्रा से जो परिचित नहीं है और पवन को धारण करने में भी जो असमर्थ हैं, उनके लिये मन्त्रों के दशविध संस्कार बताये गये हैं। अर्थरत्नावली (पृ. ७०) धृत उत्तरषट्क में बताया गया है कि मन्त्री जो कुछ भी शुभ या अशुभ मन्त्रवर्ण का उच्चारण करता है, सबकी शुद्धि योनिमुद्रा की सहायता से हो जाती है। योनिमुद्रा का परिचय मुद्रा प्रकरण में आगे दिया गया है (पृ. ६७५)। उत्तरषट्क का अब प्रकाशन हो चुका है। वहाँ भी इस प्रसंग में मन्त्रदोषों की चर्चा की गई है।

से मन्त्रों की साधना कर सकता है। यहाँ क्षेमराज ने बताया है कि मन्त्रों का दीपन[१] प्रणव से, बोधन नमः शब्द से, ताडन फट्कार से, अभिषेचन वौषट्कार से, विमलीकरण स्वाहा शब्द से, इन्धननिवेशन, दाह्य पाश, विष आदि के दहन में मन्त्र का विनियोग करके हुँकार से उसको संपुटित करने से सम्पन्न होता है। तर्पण का अर्थ है मन्त्र में बलवत्ता का आधान। यह मन्त्र के प्रत्येक वर्ण को लांकार से संपुटित करने से होता है। गुप्तिभाव का अर्थ है रक्षण। यह नेत्रनाथ, अर्थात् मृत्युंजय मन्त्र से संपुटित कर मन्त्र के दस हजार बार जप करने से होता है। आप्यायन का अर्थ है मन्त्र में शक्ति (बल) के उत्पन्न हो जाने के बाद उस शक्ति को परिपुष्ट करना। यह मन्त्र के प्रत्येक वर्ण को वांकार से संपुटित कर जप करने से होता है। शारदातिलक (२. ११२) में यही विषय मन्त्रों के दशविध संस्कार के रूप में वर्णित है।

इस तरह से सुगुप्त स्थल में मन्त्रों के दोषों को दूर कर और उनमें गुणों का आधान कर उनको जप करने योग्य बनाया जाता है। विभिन्न प्रयोजनों की सिद्धि के लिये ये मन्त्र ११ प्रकार से विनियुक्त होते हैं। उनका वर्णन भी नेत्रतन्त्र (१८. १०-१२) में मिलता है। तदनुसार संपुट, ग्रथित, ग्रस्त, समस्त, विदर्भित, आक्रान्त, आद्यन्त, गर्भस्थ, सर्वतोवृत, युक्तिविदर्भ और विदर्भग्रथित ये उनके नाम हैं। इस प्रकार से विनियुक्त मन्त्र सभी प्रकार की सिद्धियों को देने वाले हैं। क्षेमराज ने ही इन पदों का अर्थ इस प्रकार किया है— आदि और अन्त में मन्त्र का न्यास [२]संपुट, प्रत्येक वर्ण को मन्त्र से संपुटित करना ग्रथन, मध्य में स्थित नाम की चारों दिशाओं में मन्त्र का संनिवेश ग्रस्त, मन्त्र का उच्चारण कर नाम का योजन और पुनः मन्त्र का उच्चारण समस्त, नाम के अनन्तर एक बार मन्त्र का उच्चारण विदर्भण, मध्य में स्थित नाम को मन्त्र से वेष्टित करने को आक्रान्त, मन्त्र के बाद नाम का उच्चारण कर तीन बार मन्त्र का पाठ आद्यन्त, मध्य में स्थित मन्त्र की चारों दिशाओं में साध्य के नाम का न्यास गर्भस्थ, मन्त्र के आदि और अन्त में साध्य के नाम का निवेश सर्वतोवृत, मन्त्र का न्यास करने के बाद साध्य के नाम का चार बार उच्चारण युक्तिविदर्भण और साध्य के नाम के बाद मन्त्र का तीन बार न्यास विदर्भग्रथन कहलाता है। इन पारिभाषिक पदों का अर्थ क्षेमराज ने उच्छुष्मतन्त्र के आधार पर दिया है।

---

१. नेत्रतन्त्रोद्योत (१८. ६-८) में प्रमाण के रूप में उच्छुष्मतन्त्र की चर्चा आई है। इस प्रकरण में उद्धृत सभी वचन उसी तन्त्र के प्रतीत होते हैं। परीक्षा अपेक्षित है।

२. प्रस्तुत प्रकरण में भी स्वच्छन्दोद्योत (१८. १०-१२) में उद्धृत प्रमाण-वचन उच्छुष्मतन्त्र के ही होने चाहिये।

शारदातिलक (२३. १३६) में शान्ति, वश्य, स्तंभन, विद्वेषण, उच्चाटन और मारण नामक [1]छः कर्मों भी सिद्धि के लिये क्रमशः ग्रथन, विदर्भ, संपुट, रोधन, योग और पल्लव के विन्यास का क्रम बताया है। इनके लक्षणों को वहीं देखना चाहिये।

नेत्रतन्त्र (१८.१२-१३) में मन्त्रों के सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध और अरि (शत्रु) नामक चार भेद भी वर्णित हैं। इस विषय की पूरी जानकारी प्राप्त कर लेने के उपरान्त ही मन्त्र की आराधना करनी चाहिये। मन्त्रों के सिद्ध आदि स्वरूपों के जानने का उपाय स्वच्छन्दतन्त्र (८.२४) में इस प्रकार बताया गया है— मात्रा और बिन्दु के साथ मन्त्र के सभी अक्षरों को अलग कर लिख ले। इसी तरह से साधक अपने नाम के अक्षरों को भी विश्लेषित कर मन्त्र के अक्षरों के नीचे उनको लिख ले। अपने नाम के वर्ण से प्रारंभ कर मन्त्र के वर्णों की जहाँ तक व्याप्ति चलती है, वहाँ तक यह गणना भी चलती रहेगी। किसी एक स्थान पर जाकर दोनों में से किसी एक के भी वर्णों के समाप्त हो जाने पर इस गणना को रोक दिया जाता है। मन्त्रशास्त्र में इसको आय नाम दिया गया है। अंगुलि की रेखाओं के आधार पर इनका निर्णय किया जाता है। प्रथम पर्व में इस गणना के समाप्त होने पर मन्त्र सिद्ध, द्वितीय पर साध्य, तृतीय पर सुसिद्ध और चतुर्थ पर शत्रु होता है। गुरु को चाहिये कि वह शिष्य को अरि और साध्य मन्त्र

---

१. शान्ति, वश्य, स्तंभन, विद्वेषण, उच्चाटन और मारण नामक षट् कर्मों की चर्चा तन्त्रशास्त्र में सर्वत्र मिलती है। यहाँ **शान्ति** का अर्थ उपद्रव की निवृत्ति है। राजा आदि को भी वश में कर लेना **वश्य,** वस्तु के स्वभाव को निरुद्ध कर देना **स्तंभन,** आपस में कलह करा देना **विद्वेषण,** स्थान में परिवर्तन करा देना **उच्चाटन** है। मारण का अर्थ स्पष्ट है। अन्यत्र रक्षा, शान्ति, जय, लाभ, निधन और निग्रह नामक षट्कर्म वर्णित हैं। आने वाले उपद्रवों से पहले सचेत हो जाना **रक्षा,** आये हुए उपद्रवों को दूर करना **शान्ति,** युद्ध, द्यूत आदि में विजय प्राप्त करना **जय,** व्यापार आदि से धन की प्राप्ति **लाभ,** व्याधि आदि पैदा कर देना **निग्रह** है। **निधन** का अर्थ मृत्यु है। यहाँ स्तंभन का रक्षा में, वश्य एवं आकर्षण का जय में और विद्वेष एवं उच्चाटन का निग्रह में अन्तर्भाव माना जाता है। सेतुबन्धकार भास्करराय का यह कथन है (पृ. १०८)। यहाँ का द्वितीय पक्ष कादिमत में वर्णित है— "रक्षा शान्तिर्जयो लाभो निग्रहो निधनं तथा। षट् कर्माणि" (६. ३५)। मनुस्मृति (१०.७५) में इन तान्त्रिक षट् कर्मों से भिन्न अध्यापन, अध्ययन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह नामक छः कर्म उपदिष्ट हैं। बृहत्पराशरस्मृति (२.७) में सन्ध्या, स्नान, जप, देवतार्चन, वैश्वदेव और आतिथ्य नामक छः कर्म उपदिष्ट हैं। पराशर और मार्कण्डेय स्मृति में यहाँ होम और स्वाध्याय का भी अन्तर्भाव किया गया है। इस स्मार्त अर्थ में ही आजकल खट्कर्म शब्द प्रचलित है। हठयोग के ग्रन्थों में नेति, धौति, बस्ति, त्राटक, नौलिक और कपालभाति नामक छः कर्म वर्णित हैं। इनके लक्षण हठयोगप्रदीपिका (२. २२-३५) में देखे जा सकते हैं।

को छोड़कर सिद्ध और सुसिद्ध मन्त्र प्रदान करे, जिसकी सहायता से वह भुक्ति और मुक्ति दोनों को प्राप्त कर सके। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि साधक सिद्ध और सुसिद्ध मन्त्र की ही आराधना करे।

इस तरह मन्त्र की आराधना करने वाला साधक यदि मन्त्रों के उदय और अस्तभाव को, उनकी व्याप्ति आदि को जान लेता है, तो उसमें सर्वज्ञता का आविर्भाव हो उठता है। इसका भी वर्णन नेत्रतन्त्र (१८. १३-१४) में ही मिलता है— मन्त्रों के उदय और अस्त होने के स्थान को, उनकी व्याप्ति को, उनके ध्यान और मुद्रा के स्वरूप को जो जानता है, वही श्रेष्ठ साधक सब कुछ जानने और करने में समर्थ हो जाता है। उदय और अस्तमय शब्दों का अर्थ है— हृदय में मन्त्र का उन्मेष और द्वादशान्त में विश्रान्ति। व्याप्ति का अर्थ वीर्य है। मन्त्रों का ध्यान उनके विषय के अनुसार किया जाता है तथा उस मन्त्र के अनुरूप ही मुद्रा का विधान शास्त्रों में मिलता है। स्वरूप का अर्थ है— मन्त्र के वीर्यात्मक स्वरूप का साक्षात्कार।

तन्त्रालोक (२९.८३) में जप के प्रसंग में मन्त्र की उदय, संगम और शान्ति नामक तीन अवस्थाओं की बात कही गई है। टीकाकार जयरथ ने उदय का अर्थ प्राणशक्ति का उदयस्थान जन्माधार, संगम का नाना प्रकार की नाड़ियों से जुड़ा हुआ हृदय और शान्ति का प्राण के निरोध के लिये पूरी सावधानी से किया जाने वाला प्रयत्न किया है। उत्तरषट्क (५.१८) में आधार स्थान में उदय की, हृदय में लय की और ब्रह्मरन्ध्र में विश्राम की स्थिति बताई गई है। नि.षो. की अर्थरत्नावली की टीका में मूल विद्या के वाग्भव बीज का उदय मूलाधार में, व्याप्ति ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त और विश्रान्ति जिह्वा के अग्र भाग में (पृ. २३१), कामराज बीज का उदय मूलाधार में, व्याप्ति भ्रूमध्य पर्यन्त और विश्रान्ति ब्रह्मरन्ध्र में (पृ. २४७) बताई गई है।

विद्यानन्द ने मन्त्रों को आणव, शाक्त और शांभव उपायों से संबद्ध बताया है (पृ. ४२, ७०)। नेत्रतन्त्र (२१. ७८-८०) में इनकी [1]शिव, शक्ति और आत्मरूपता प्रतिपादित है। जैसे कि मन्त्रों में सब कुछ जान लेने की और सभी प्रकार की जो सामर्थ्य है, उसीको शिवत्व तथा सब कुछ कर सकने की और सब पर अनुग्रह करने की सामर्थ्य शक्तित्व तथा सब प्रकार के फलदान की सामर्थ्य आत्मत्व है। मन्त्रों में आत्मतत्त्व की उत्पत्ति के मन्त्र, ध्यान तथा मुद्रा ये तीन साधन हैं। प्राण, बुद्धि और देह का सहारा लेकर साधक क्रमशः मन्त्रोच्चार, ध्यान और मुद्रा की सहायता से तीन प्रकार से मन्त्रों में आत्मत्व की अभिव्यक्ति करता है। दीक्षा, मण्डल, अधिवास आदि संस्कारों

---

१. मन्त्रों की आणव-शाक्त-शांभवता का निरूपण ऋजुविमर्शिनी (पृ. ५) में देखिये।

की सहायता से वह याग, जप, होम, यन्त्रलेखन आदि क्रियाओं को सम्पन्न करता है। यह सब मन्त्रों का ही प्रपंच है। इस तरह से दीक्षा से लेकर यन्त्रलेखन पर्यन्त क्रियाकलापों के सहारे आणव, शाक्त और शांभव उपायों के रूप में उनकी उन्मिषत्ता, विश्रान्ति और व्याप्ति के स्थानों को भलीभाँति जानकर धारणा और योगाभ्यास के सहारे मन्त्रों में आत्मत्व, शक्तित्व और शिवत्व का आधान करने वाले योगी में सर्वज्ञता अभिव्यक्त हो उठे, इसमें विवाद का अवसर ही कहाँ है।

ऐसे साधक के सामने मन्त्र अपने पाँच रूपों में अभिव्यक्त हो उठते हैं। उत्तरषट्क (६.६) में बताया गया है कि स्पर्शन, अवलोकन, संभाषा, बिन्दुदर्शन और स्वयमावेशन— ये मन्त्रों के पाँच लक्षण हैं। यहाँ **स्पर्शन** का अर्थ साधक के साथ मन्त्र का संबद्ध होना है। हृदय में कम्पन से इसकी अनुभूति होती है। मन्त्र जब साधक का **अवलोकन** करता है, तो साधक को धूनन (घूर्णि) की अनुभूति कण्ठ में होती है। मन्त्र जब साधक से साक्षात् **संभाषण** करता है, तो उसमें स्तोभ का संचार होता है, जिसकी सहायता से साधक सबको अपने वश में कर लेता है। **बिन्दुदर्शन** की स्थिति में साधक के भ्रूमध्य में मन्त्र अपने स्वरूप को दिखाता है। अन्तिम **स्वयमावेशन** दशा में साधक स्वयं मन्त्रमय, अर्थात् देवस्वरूप बन जाता है। इस प्रकार आणव, शाक्त और शांभव नामक उपायों से संबद्ध ये मन्त्र अन्ततः स्वयं आत्मा, शक्ति एवं शिवस्वरूप में साधक में आविष्ट हो जाते हैं। इस स्थिति में नेत्रतन्त्र (२०. ६३-६४) में यह जो कहा गया है कि यदि साधक उत्तम सिद्धि चाहता है, तो उसको मन्त्रवाद का सहारा नहीं लेना चाहिये, उसका अभिप्राय इतना ही है कि मोक्ष की आकांक्षा वाले को काम्य प्रयोगों के लिये मन्त्रशास्त्र का उपयोग नहीं करना चाहिये।

अन्ततः मन्त्रों के अर्थ को जानना और मन्त्रों में चैतन्य का आधान करना शास्त्रों में परमावश्यक माना गया है। शास्त्रों में एक श्लोक उपलब्ध होता है—

मन्त्रार्थं मन्त्रचैतन्यं योनिमुद्रां न वेत्ति यः।
न सिद्ध्यति वरारोहे कल्पकोटिशतैरपि।।

योनिमुद्रा का स्वरूप शास्त्रों में यथास्थान वर्णित है। मन्त्र की अधिष्ठात्री देवता का साक्षात्कार ही मन्त्रचैतन्य है। शिवानन्द ने इस विषय को स्पष्ट किया है। वे प्रश्न करते हैं कि देवता का निवास कहाँ है? फिर स्वयं ही उत्तर भी देते हैं कि मन्त्रों में। श्रुति का प्रमाण देकर वे कहते हैं कि मन्त्र मणि के समान हैं और मन्त्रदेवता मणि की प्रभा के समान— "ननु देवताः कुत्र निवसन्ति? मन्त्रेष्विति ब्रूमः।····· आह च मणिवन्मन्त्रमालम्ब्य प्रभावन्मन्त्रदेवताः" (पृ. १७१)। पाठभेद के साथ यह पूरा श्लोक

स्वच्छन्दोद्योत (२. १३९) में उपलब्ध है। इस प्रकार मन्त्रदेवता का साक्षात्कार कर लेने के बाद ही जप, ध्यान आदि में साधक को लगना चाहिये। मन्त्रदेवता का साक्षात्कार होना ही मन्त्रचैतन्य कहलाता है। प्राणतोषिणीतन्त्र (पृ. ४१८) में इसको विस्तार से समझाया गया है। निरुक्त (१. ५-२) में बताया गया है कि जो व्यक्ति वेदों को पढ़ लेने के उपरान्त भी उनके अर्थ को जानने की इच्छा नहीं करता, उसे मूढ़बुद्धि कहा जाता है। स्पष्ट है कि मन्त्र में चैतन्य की अभिव्यक्ति के लिये उनके अर्थ को जानना भी आवश्यक है। इसीलिये योगिनीहृदय के मन्त्रसंकेत पटल में श्रीविद्या के षड्विध अर्थों का और भास्करराय के वरिवस्यारहस्य नामक ग्रन्थ में उसका पन्द्रह प्रकार का अर्थ बताया गया है। श्रीविद्या में वर्तमान प्रत्येक वर्ण का अर्थ सौभाग्यसुधोदय के द्वितीय प्रपंच में देखना चाहिये। यह पूरा प्रकरण योगिनीहृदय की दीपिका टीका में भी उद्धृत है।

मुद्रा स्वरूप

ऋजुविमर्शिनी (पृ. ४६) और सुभगोदयवासना (श्लो. ३५) में शिवानन्द मन्त्र और मुद्रा को क्रमशः ज्ञान और क्रियाशक्ति का प्रतिनिधि मानते हैं। स्वच्छन्दतन्त्र (४. ३७५) में भी मन्त्र को ज्ञानशक्ति और मुद्रा को क्रियाशक्ति कहा है। नेत्रतन्त्र (२१.८०) में अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति के तीन साधनों में मन्त्र, ध्यान और मुद्रा की गणना की गई है। अतः मन्त्र के प्रसंग में मुद्रा के स्वरूप पर भी विचार किया जाना जरूरी है।

नि. षो. के तृतीय पटल में दशविध मुद्राएँ वर्णित हैं। यहाँ (पृ. १७४) शिवानन्द का कहना है कि मुद्रा विशेष प्रकार की शक्ति का नाम है। यह शक्ति ग्रह आदि के दोषों से साधक को मुक्त रखती है और इसके पाशों को काट डालती है। इस प्रकार अपने मोचन और द्रावण गुण के आधार पर इस शक्ति को मुद्रा कहा जाता है। शिवानन्द को केवल अंगुलियों के विशेष प्रकार के संघटन से बनने वाली मुद्रा ही अभिप्रेत नहीं है, उन्होंने इसके तीन प्रकार बताये हैं, तो भी प्रधानतः **मुद्रा** पद का प्रयोग इसी अर्थ में होता है। इन मुद्राओं के प्रदर्शन से विभिन्न शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है। तन्त्रालोक (३२. १-२) में देवीयामल के प्रमाण से बताया गया है कि इनमें परस्वरूप प्रतिबिम्बित होता है। वहीं (३२. ३) मुद्रा पद की निरुक्ति बताते हुए वे कहते हैं कि स्वरूपलाभ रूप मोद (आनन्द) को देने के कारण इसको मुद्रा कहा गया है। योगिनीहृदय (१. ५७) में बताया गया है कि भगवती संवित् ही क्रियाशक्ति के रूप में विश्व को मोद से भर देती है और पाशों का नाश कर देती है, अतः **मुद्रा** कहलाती है। योगिनीहृदय (१. ५८-७१) में इन मुद्राओं का आन्तर स्वरूप वर्णित है।

विद्यानन्द ने बाह्य और आन्तर के भेद से दो प्रकार की मुद्राएँ बताई हैं (पृ. १८८)। इनमें बाह्य मुद्रा हाथ की अंगुलियों से बनाई जाती है और आन्तर मुद्रा को ही बन्ध कहा जाता है (पृ. १८२)। खेचरी मुद्रा के प्रसंग मे शिवानन्द ने, जैसा कि ऊपर बताया गया, मुद्रा के तीन प्रकार बताये हैं— १. अंगुलियों से बनाई जाने वाली, २. बोधगगन में विचरण कराने वाली और ३. संस्थान-विशेष का अनुसरण करने वाली (पृ. १८४-१८५)। स्वच्छन्दतन्त्र (२. १०२) में मुद्रा की त्रिविधता भिन्न प्रकार से वर्णित है। क्षेमराज ने शास्त्रवचन को उद्धृत कर बताया है कि गुरुमुख में स्थित मुद्रा मनोजा, मन्त्र से उत्पन्न वाग्भवा और शारीरिक अंगों के विविध विक्षेपों से देहोद्भवा मुद्रा बनती है। तन्त्रालोक (३२-९) में चार प्रकार की मुद्राएँ सूचित हैं। टीकाकार जयरथ ने उनका वर्णन इस प्रकार किया है— १. करजा मुद्रा के अंगुलियों के विन्यास के भेद से अनेक प्रकार हैं, २. सभी अवस्थाओं में एकरस रहने वाली मुद्रा कायिकी, ३. मन्त्र के साथ एकतानता विलापा तथा ध्येय के साथ तन्मयता को देने वाली मुद्रा मानसी कहलाती है।

इन सब मुद्राओं में अंगुलियों के विशेष प्रकार के संयोजन से बनाई जाने वाली मुद्रा प्रायः सभी तन्त्रों में विविध रूपों में वर्णित है। बन्धरूप अथवा संस्थान-विशेष का अनुसरण करने वाली मुद्रा [1]हठयोग के ग्रन्थों में बन्ध अथवा मुद्रा के नाम से वर्णित है। इस तरह की खेचरी आदि मुद्राओं का वर्णन मालिनीविजय, तन्त्रालोक जैसे त्रिकशास्त्र के ग्रन्थों में भी उपलब्ध है। तन्त्रालोक के मुद्राह्निक (३२. ५-६) में करंकिणी, क्रोधना, भैरवी, लेलिहाना नाम की मुद्राओं को खेचरी का ही विस्तार बताया है। इन पाँच मुद्राओं का वर्णन विज्ञानभैरव में चिद्गगनचन्द्रिका, महार्थमंजरी जैसे क्रमशास्त्र के ग्रन्थों में मिलता है। इनमें करंकिणी ज्ञानसिद्धों की, क्रोधिनी मन्त्रसिद्धों की, भैरवी मेलापसिद्धों की, लेलिहाना शाक्तसिद्धों की और खेचरी शांभवसिद्धों की मुद्रा बताई गई है। इन सबका क्षेमराज के द्वारा प्रदर्शित देहोद्भव विभाग में समावेश किया जा सकता है। जयरथ ने सभी अवस्थाओं में एकरस रहने वाली मुद्रा को कायिकी बताया है। यह गीता में निर्दिष्ट स्थितप्रज्ञ के लक्षण का अनुसरण करती है।

जयरथ ने सिद्धनिषेवित पंचमुद्राधर व्रत का उल्लेख किया है (आ. २३, पृ. ३०८)। पाशुपत शास्त्र और बौद्ध तन्त्रों में छः प्रकार की तथा पाँच प्रकार की मुद्राओं का विवरण मिलता है। इनका भी कायिकी मुद्रा में ही समावेश माना जायगा। महार्थमंजरी की परिमल टीका में बताया गया है कि साधक अपने में पारमेश्वर भाव के

---

१. "महामुद्रा महाबन्धः" (३. १६-१२८) इत्यादि ग्रन्थ से दशविध मुद्रा (बन्ध) का परिचय हठयोगप्रदीपिका में दिया गया है।

आपादन के लिये अपने शरीर के हाथ-पैर आदि अंगों को जो विशेष प्रकार की स्थिति में रखता है अथवा विशेष प्रकार का वेष धारण करता है, उसीको **मुद्रा** कहते हैं। क्षेमराज के देहोद्भव विभाग में हम इसका समावेश सकते हैं। ऊपर अभी पाँच अथवा छः प्रकार की मुद्राओं की चर्चा आई है। यामुनाचार्य के आगमप्रामाण्य (पृ. ४७) में कर्णिका, रुचक, कुण्डल, शिखामणि, भस्म और यज्ञोपवीत— ये छः मुद्राओं के नाम बताये गये हैं। कपाल और खट्वांग को वहाँ उपमुद्रा कहा गया है। यज्ञोपवीत को छोड़कर पंचमुद्रा पक्ष बौद्ध तन्त्रों में मिलता है। इन सबका भी देहोद्भव विभाग में ही अन्तर्भाव हो सकता है। पांचरात्र आदि वैष्णवागमों में शंख, चक्र आदि से शरीर के तापन को भी मुद्रा कहा गया है। यहाँ तप्तमुद्रा से बाहु आदि को अंकित किया जाता है और पाशुपत आगमों में वर्णित मुद्राओं को शरीर पर धारण किया जाता है। इन सबका अंगुलिसंनिवेश-विशेष अथवा संस्थान-विशेष का अनुसरण करने वाली मुद्राओं से भेद स्पष्ट है, तो भी इन सबका देहोद्भव विभाग में अन्तर्भाव हो जायगा।

तन्त्रालोक के रहस्याह्निक (आ. २९, पृ. २९-३०) में कुलसन्तति का परिचय देने के लिये मुद्राओं (छुम्मा) का उपयोग बताया गया है। इनमें से पांचरात्र, पाशुपत आदि आगमों में इसके लिये बाह्य मुद्राएँ ही उपदिष्ट हैं, किन्तु रहस्यप्रधान कौलिक तन्त्रों में मुद्रा भी रहस्य से आवृत है। केवल अपनी कुलसन्तति के परिचय के लिये ही नहीं, अपने से अभिन्न संविच्छक्ति की अभिव्यक्ति के लिये भी बाह्य एवं आन्तर पूजा में इनका विनियोग विहित है। नेत्रतन्त्र (२१.८०) में अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति के मन्त्र, ध्यान और मुद्रा नामक तीन साधन वर्णित हैं। अद्वयप्रधान तन्त्रों में सब कुछ स्वात्मस्वरूप है। इसलिये यहाँ मुद्रा भी परसंवित् स्वरूप ही है। शिवानन्द (पृ. १८४) का कहना है कि इसको समझाया नहीं जा सकता। क्षेमराज ने शिवसूत्रविमर्शिनी (पृ. ५७-५८) में तन्त्रसद्भाव के प्रमाण से इसे समझाने का स्वल्प प्रयत्न किया है। बोधगगन में विचरणशील मुद्रा का यह स्वरूप क्षेमराज और जयरथ के द्वारा प्रदर्शित मानस विभाग में समाविष्ट होगा। बोधगगन में विचरण की सामर्थ्य गुरु के उपदेश से ही मिल सकती है। मन्त्रसंभवा अथवा मन्त्रतन्मयतारूपा, वाचिकी अथवा विलापा मुद्रा के रूप में मुद्रा का जो चतुर्थ प्रकार वर्णित है, उसके विषय में अभी विशेष जानकारी अपेक्षित है।

नि. षो. में वर्णित प्रथम त्रिखण्डा मुद्रा देवता के आवाहन के लिये प्रदर्शित की जाती है। बची नौ मुद्राओं का प्रदर्शन त्रैलोक्यमोहन से लेकर सर्वानन्दमय तक के नौ चक्रों में क्रमशः उनके बीजों के उच्चारण के साथ किया जाता है। इन नौ मुद्राओं के बीज अर्थरत्नावली (पृ. १८८-१८९) में बताये गये हैं। दर्शनीय नौ मुद्राओं में प्रथम सर्वसंक्षोभिणी मुद्रा है, किन्तु नि. षो. (३. २७) में अन्तिम योनिमुद्रा को भी 'प्रथमा' कहा

गया है। इसका शिवानन्द समाधान देते हैं कि नवम स्थान में होने पर भी इसको प्रथमा (उत्कृष्टा) इसलिये कहा जाता है कि बाकी सभी मुद्राएँ इसीसे उत्पन्न होती हैं। इसमें वे किसी प्रामाणिक आचार्य का वचन भी उद्धृत करते हैं कि एक ही महामुद्रा प्रथमतः योनिमुद्रा का स्वरूप धारण करती है और बाद में यह योनिमुद्रा ही संक्षोभिणी आदि मुद्राओं का स्वरूप धारण कर लेती है (पृ. १८८)। विद्यानन्द इसका दूसरा समाधान देते हैं कि परमेश्वर को बाह्य पूजा में सर्वसंक्षोभिणी मुद्रा का और अन्तर्यजन के समय योनिमुद्रा का प्रथम स्थान अभिप्रेत है। उत्तरषट्क में योनिमुद्रा का स्वरूप बताया गया है—

"गुदमेढ्रान्तरे योनिस्तामाकुञ्च्य प्रबन्धयेत्" (१.१२)।

अर्थात् गुदा और लिंग के बीच के स्थान को योनि कहा जाता है। इसको भीतर सिकोड़ने से योनिमुद्रा (बन्ध) बनती है। योनिमुद्रा को बांधने से मन्त्रगत समस्त दोष दूर हो जाते हैं, ऐसा शास्त्रों में बताया गया है। उत्तरषट्क का भी कहना है—

यद्यदुच्चरते मन्त्री मन्त्रवर्णं शुभाशुभम्।
तत्तत् सिद्ध्यति देवेशि योनिमुद्रानिबन्धनात्।। (१.२७)

अर्थात् साधक मन्त्रों के वर्णों का शुभ अथवा अशुभ (सही या गलत) उच्चारण करता है, तो योनिमुद्रा के बन्धन से वे सब सिद्ध हो जाते हैं, अर्थात् उनके सारे दोष दूर हो जाते हैं। योनिमुद्रा के समान ही खेचरी मुद्रा की भी अपनी विशेषता है। खेचरी मुद्रा कुण्डलिनी शक्ति का ही स्वरूप है। इसकी चन्द्र और सूर्य रूप दो अंगुलियाँ हैं। इनको मध्यनाडी में परिवर्तित कर, अर्थात् पार्थिव स्थान के प्रतिरूप शिरःस्थान (ब्रह्मरन्ध्र) में विलीन कर योगी खेचरी सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। खेचरी मुद्रा का लक्षण और उसके भेदों का परिचय (नि. षो., पृ. १८०-१८६) पर दिया गया है।

शैव, शाक्त और बौद्ध तन्त्रों में मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन नामक पाँच मकारों की उपासना विभिन्न परिभाषाओं के रूप में आन्तर और बाह्य पूजा के अवसर पर वर्णित हैं। यहाँ बाह्य अर्चन में मुद्रा पद से प्रायः शक्ति का ग्रहण किया जाता है। आन्तरी मुद्रा का वर्णन मालिनीविजयवार्त्तिक में इस प्रकार किया गया है—

कुलयोगिन उद्रिक्तभैरवीयरसासवात्।
घूर्णमानस्य यः कश्चित् कोऽप्युदेति यथा तथा।।
शरीरगः समावेशो मोदनद्रावणात्मकः।
सा स्वीकृतजगन्मुद्रा मुद्रा नैरुत्तरे मते।। (११७)

अर्थात् भैरवभाव में समाविष्ट कुलयोगी में आसवरूपी आनन्द रस के उद्रेक के कारण उसके घूर्णावस्था में प्रविष्ट होने पर शरीर में जो मोदन एवं द्रावण रूप स्वभाव का समावेश हो जाता है, नैरुत्तर मत में उसी को मुद्रा कहते हैं। ऐसे कुलयोगी के लिये यह सारा जगत् ही मुद्रास्वरूप हो जाता है। यही शास्त्रों में महामुद्रा के नाम से वर्णित है। बौद्ध तन्त्रों में चतुर्थ महामुद्रा का विस्तार से वर्णन मिलता है।

तन्त्रशास्त्र में इस प्रकार नाना अर्थों में मुद्रा पद का प्रयोग होने पर भी प्रधानत: हाथ की अंगुलियों के विविध प्रकार के संयोजन से बनाई जाने वाली मुद्राओं के अर्थ में होता है। नि. षो. में यही प्रकार प्रदर्शित है। आज कल सन्ध्यावन्दन आदि के अवसर पर भी २४ प्रकार की हस्तमुद्राएँ प्रदर्शित होती हैं। इसको हम तान्त्रिक प्रभाव मान सकते हैं।

पीठ स्वरूप

महासंवित् (परमश्रेष्ठ ज्ञान) की जहाँ अनायास प्राप्ति होती है, योगियों के द्वारा निषेवित उस श्रेष्ठ स्थान को **पीठ** कहा जाता है। डॉ. दिनेशचन्द्र सरकार के ग्रन्थ "दी शाक्त पीठाज्" में इनका विस्तार से परिचय दिया गया है। यहाँ विद्वान् लेखक ने 'महापीठनिरूपण' नाम से प्रसिद्ध 'पीठनिर्णय' नामक एक छोटे आकार के ग्रन्थ का सम्पादन करते समय अन्य अनेक ग्रन्थों की सहायता से पीठों की संख्या, स्थान आदि का स्पष्ट परिचय दिया है। इसमें अनिर्दिष्ट कुछ विशेष विषयों की चर्चा हम यहाँ करेंगे।

तन्त्रालोक (१५. ८२-९६) और उसकी विवेक टीका में नैशसंचार नामक शास्त्र के प्रमाण से पीठ, उपपीठ, सन्दोह, उपसन्दोह, क्षेत्र और उपक्षेत्रों का वर्णन किया गया है। शास्त्रों में याग-योग्य स्थान को **पीठ** कहा गया है। यह बाह्य और आन्तर के भेद से द्विविध है। बाह्य जगत् और आन्तर देह के विभिन्न स्थानों में इनकी स्थिति मानी गई है। भगवान् शिव की इच्छाशक्ति ही **पीठ** का स्वरूप धारण कर लेती है। शिव समस्त चराचरात्मक जगत् के आधार-स्वरूप हैं, अत: उनकी इस शक्ति का नैमित्तिक नाम पीठ है। इस शक्तिपीठ से बिन्दु और नाद नामक दो पीठ प्रादुर्भूत होते हैं। बिन्दुपीठ वाम भाग में और नादपीठ दक्षिण भाग में स्थित है। इस तरह पीठों की संख्या तीन हो जाती है। पहला शक्तिपीठ **कामरूप,** दक्षिण का नादपीठ **पूर्णगिरि** और उत्तर का बिन्दुपीठ **उड्डियान** कहलाता है। इस तरह ये तीन पीठ मुख्य हैं। इनमें से शक्तिपीठ से कुण्डलिनी शक्ति के मध्य में शाक्तपीठ, बिन्दुपीठ से चतुष्कल गोलाकार बैन्दवपीठ और नादपीठ से व्याप्तिस्थान के नीचे स्थित दो रन्ध्रों के ऊपर नादजपीठ की स्थिति मानी

जाती है। ये तीन उपपीठ कहलाते हैं। इनमें देवीकोट्ट शाक्त, उज्जयिनी बैन्दव और कुलगिरि नादज उपपीठ हैं। ललना के गर्त में शाक्त सन्दोह की, पुट के मध्य में बैन्दव और व्याप्ति के मध्य में नादज सन्दोह की स्थिति है। ललना में पुण्ड्रवर्धन, पुट के मध्य में वारेन्द्र और व्याप्ति के मध्य में एकाम्र नामक सन्दोह स्थित हैं। हृदय-कमल के दलाष्टक में क्षेत्राष्टक स्थित हैं। प्रयाग, वरणा, अट्टहास, जयन्तिका, वाराणसी, कालिंग, कुलूता और लाहुला– ये इनके नाम हैं। हृदय-कमल के दलाग्रों में उपक्षेत्राष्टक स्थित हैं। विरजा, ऐरुडिका, हाला, एलापुर, क्षीरिका, राजपुरी, मायापुरी और मरुदेश— ये इनके नाम हैं। हृदय-कमल के दलों की आठ सन्धियों में उपसन्दोहाष्टक स्थित हैं। जालन्धर, नेपाल, कश्मीर, गर्गिका, हर, म्लेच्छ, कुरुक्षेत्र और खेटक उनके नाम हैं।

शरीर में द्विपथ, त्रिपथ और चतुष्पथ की भी स्थिति मानी गई है। वाम और दक्षिण नाडियों का प्रवाह द्विपथ, इसके साथ परा कुण्डलिनी के प्रवाह से त्रिपथ और चतुष्पथ की स्थिति शक्तिमान् में इनके लय से बनती है। इस चतुष्पथ की चार स्थानों में स्थिति मानी गई है— १. व्याप्ति की नीचे पिण्डस्थान में प्रथम, तालु के मध्य में द्वितीय, चूलिका के अग्रभाग में तृतीय और भ्रू के मध्य में चतुर्थ चतुष्पथ की स्थिति मानी गई है। नासान्त, तालु और चूलिका नामक तीन स्थान शांभव धाम ; नाभि, कन्द और महानन्दा शाक्त धाम और भ्रूमध्य, कण्ठ एवं हृदय आणव धाम माने जाते हैं। इन्हीं को पर्वताग्र, नदीतीर और एकलिंग कहा जाता है। अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है, संवित्ति में सब कुछ विद्यमान है। यह संवित् ही प्रथमतः प्राण के रूप में परिणत होती है और यह प्राण देह में विद्यमान है, अतः देह में सारे जगत् की भावना करनी चाहिये। योगमार्ग में निष्णात संवित्-स्वरूप देवियाँ प्राणियों पर अनुग्रह करने के लिये बाहर उन-उन स्थानों में प्रकट हो उठती हैं, तो इन्हींको बाह्य पीठ कहा जाता है।

इस तरह से पीठ, उपपीठ और सन्दोह के तीन-तीन भेद और क्षेत्र, उपक्षेत्र एवं उपसन्दोह के आठ-आठ भेदों को मिलाने से ३३ पवित्र स्थानों के नाम यहाँ परिगणित हैं। तन्त्रालोक (१५.८६) में अर्धपीठ की भी चर्चा मिलती है। शिव में जब मैं सभी जागतिक पदार्थों की रचना करूँ, ऐसा संकल्प उठता है, तो उस समय अर्बुद पीठ बनता है। [1]विवेककार जयरथ इसको नहीं मानते, किन्तु वह है शास्त्रसंमत ही। तन्त्रालोक में

---

१. जयरथ ने इस प्रसंग में उपसंहारविरुद्धत्व, अनागमिकत्व और अनार्षत्व नामक तीन दोष दिये हैं (१५.८६)। ये तीनों ही सही नहीं है। उपसंहार में नवधा पद पीठों का परामर्श करता है, अर्धपीठ अर्बुद का नहीं। अर्बुद को अर्धपीठ के रूप में मान्यता कौलज्ञाननिर्णय नामक आगम-ग्रन्थ से प्राप्त है। इसी कारण अनार्षत्व दोष का निराकरण भी अपने आप हो जाता है।

उसका नाम नहीं मिलता, किन्तु कौलज्ञाननिर्णय में इसका नाम [1]अर्बुद दिया गया है। इस ग्रन्थ में पीठ, उपपीठ, सन्दोह, क्षेत्र और उपक्षेत्र पद भी मिलते हैं। ऊपर निर्दिष्ट सभी नाम वहाँ नहीं मिलते। कामाख्या (कामरूप), पूर्णगिरि और ओडियान पीठों के (पृ. २४), अर्धपीठ अर्बुद का (पृ. २४) और करवीर, महाकाल, देवीकोट्ट, वाराणसी, प्रयाग, चरित्र, एकाम्रक, अट्टहास एवं जयंती नामक क्षेत्रों के नाम ही वहाँ (पृ. २३) मिलते हैं। लिपिदोष से वहाँ क्षेत्र के स्थान में [2]क्षत्र पाठ हो गया है।

तन्त्रालोक (२९.५९-६३) में पीठों के न्यास के प्रसंग में भी इनके नाम मिलते हैं। तदनुसार अट्टहास का शिखास्थान में, चरित्र का [3]ब्रह्मबिल में, कौलगिरि का दोनों कर्णों में, जयन्तिका का नासारन्ध्रों में, उज्जयिनी का भ्रूमध्य में, प्रयाग का मुख में, वाराणसी का हृदय में, श्रीपीठ का स्कन्धयुगल में, विरज का कण्ठ में, एडाभी का उदर में, हाला का नाभि में, गोश्रुति का कन्द में, मरुदेश का उपस्थ में ; नगर, पौण्ड्रवर्धन, एलापुर और पुरस्तीर का क्रमशः दक्षिण की सक्थि और ऊरु तथा वाम भाग की सक्थि और ऊरु में ; कुडच्याकेशी, सोपार, मायापुरी और क्षीरसागर का ऊपर बताये क्रम से क्रमशः जानु, जंघा और गुल्फ-युग्म में, आम्रातक और नृपसद्म का पैरों में एवं वैरिंची का पादांगुष्ठ में न्यास किया जाता है। यहाँ जयरथ ने शिखास्थान का अर्थ द्वादशान्त, हाला का अलिपुर, गोश्रुति का गोकर्ण, नृपसद्म का राजगृह और वैरिंची का अर्थ ब्रह्माणी किया है। ब्रह्माणी का स्थान (पीठ) श्रीशैल है, यह भी उन्हीं का कहना है।

नवयाग के प्रसंग में जयरथ के द्वारा उद्धृत माधवकुल में इनकी भिन्न प्रकार से व्याख्या की गई है। जैसे— मातंगी का घर प्रयाग, कज्जली का वरुणा, सौनी का कुलगिरि, कार्मुकी का अट्टहास, चर्मकारी का जयन्ती, ध्वजिनी का चरित्र, अस्थिविदारणी का एकाम्र, धीवरी का देवीकोट्ट और चक्रिणी का घर हिरण्यपुर कहलाता है। ये नाम [4]कौलज्ञाननिर्णय में वर्णित नौ क्षेत्रों के नामों से प्रायः अभिन्न हैं। इनमें करवीर को कुलगिरि और वाराणसी को वरुणा पद से कहा गया लगता है। महाकाल और हिरण्यपुर दो भिन्न नाम हैं। अन्य नाम दोनों स्थलों के समान हैं।

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (८.२२) में अर्बुद को अर्धपीठ स्पष्ट रूप से माना है।

२. कौलज्ञाननिर्णय की मातृका लिपिदोष के कारण अत्यन्त भ्रष्ट रूप में उपलब्ध हुई थी। इसमें सन्देह नहीं है कि यह एक प्राचीन ग्रन्थ है और तदानीन्तन कौलिक सिद्धान्तों की जानकारी प्राप्त करने के लिये अत्यन्त ही उपादेय है। तन्त्रालोक आदि ग्रन्थों की सहायता से इसमें स्थान-स्थान पर संशोधन किया जा सकता है।

३. तन्त्रालोकविवेक (आ. २९, पृ. ५९) में करन्ध्र का अर्थ ब्रह्मबिल किया गया है।

४. देखिये— (८. १६-१७, पृ. २३)

तन्त्रालोक के इसी आह्निक में छः राजपुत्रों की मुद्राओं और छुम्माओं का निरूपण करते समय जयरथ ने कुलक्रीडावतार को उद्धृत किया है। वहाँ इन छः राजपुत्रों के स्थानों की नामावली इस प्रकार दी गई है— अमर का निवासस्थान सभी सिद्धियों को देने वाला त्रिपुरोत्तर है। वरदेव का कामरूप, चित्र का अट्टहास, अलि का देवीकोट्ट, विन्ध्य का दक्षिण और गुडिका का कौलगिरि स्थान है। इस प्रकार छः राजपुत्रों के निवास-स्थान के रूप में भी छः पीठ-स्थानों का यहाँ उल्लेख मिलता है।

बौद्ध मत के ग्रन्थ हेवज्रतन्त्र (१. ७. १२-१८) में पीठ, उपपीठ, क्षेत्र, उपक्षेत्र, [1]सन्दोह, उपसन्दोह, मेलापक, उपमेलापक, पीलव, उपपीलव, श्मशान और उपश्मशान के भेद से द्वादश भूमियों का वर्णन इस प्रकार किया गया है— जालन्धर, ओड्डियान, पौर्णगिरि और कामरूप— ये चार पीठ हैं। मालव, सिन्धु, नगर ये उपपीठ हैं। मुन्मुनि, कारुण्यपाटक, देवीकोट और कर्मारपाटक ये क्षेत्र हैं। उपक्षेत्र में कुलटा (कुलूता), अर्बुद, गोदावरी और हिमालय समाविष्ट हैं। हरिकेल, लवणसागरमध्य, लम्पाक, कांचिक, सौराष्ट्र इन सबका सन्दोह में ; कलिंग, चामीकरद्वीप और कोंकण का उपसन्दोह में ; ग्रामान्त, नगर, चरित्र, कोशल, विन्ध्य और कौमारपौरिका का पीलव में, संनिवेशविशेष का उपपीलव में, प्रेतसंघात और उदधितट का श्मशान में तथा उद्यान और वापिकातीर का उपश्मशान में समावेश है।

[2]यहाँ का पीठ, उपपीठ, क्षेत्र, उपक्षेत्र, सन्दोह और उपसन्दोह विभाग तन्त्रालोक में भी वर्णित है, जैसा कि अभी ऊपर बताया गया है। क्षेत्र का अर्थ जयरथ ने मेलाप-स्थान का किया है (आ. ४, पृ. २९०)। हेवज्र में मेलापक और उपमेलापक की

---

१. मुद्रित पुस्तक में छन्दोह, उपछन्दोह— यह लिपिदुष्ट या सम्प्रदायदुष्ट पाठ है (हे.त. १.७.१५-१६)।

२. हेवज्रतन्त्र के सम्पादक ने ग्रन्थ के आंग्लानुवाद के खण्ड की टिप्पणी (पृ. ११३) में बताया है कि पीठ संबन्धी विचार प्रो. टुच्ची ने "इण्डो-तिबैटिका" (३. २, पृ. ३८-४५) में तथा डॉ. बागची ने दोहाकोश (पृ. ११३) में किया है। इन दोनों पुस्तकों को हमने कलकत्ता के राष्ट्रीय पुस्तकालय और एशियाटिक सोसाइटी के ग्रन्थालय में देखा है। दोहाकोश (पृ. ११३) में क्षेत्र-उपक्षेत्र आदि २४ स्थानों की तथा वहीं टीका (पृ. ११०) में २४ पीठों की चर्चा है। प्रो. टुच्ची ने चित्तमण्डल, वाङ्मण्डल और कायमण्डल स्थित क्रमशः मलय, जालन्धर, उड्डियान, अर्बुद, गोदावरी, रामेश्वर, देवीकोट्ट और मालव नामक आठ ; कामरूप, चम्पा (उट्र), तिस्कुन, कोशल, कलिंग, लम्पाक, कांची और हिमालय नामक आठ तथा प्रेतपुरी, गृहदेवता, सौराष्ट्र, सुवर्णद्वीप, नागर, सिन्धु, मेरु और कुलूता नामक आठ— कुल २४ स्थानों के नाम बताये हैं। बौद्ध तन्त्रों में इस विषय की अब पर्याप्त जानकारी मिल चुकी है।

गणना अलग से की गई है, किन्तु उनके भेद यहाँ नहीं बताये गये। परिज्ञात संस्कृत कोशों में पीलव-उपपीलव शब्द कहीं नहीं मिलते। स्वच्छन्दतन्त्र और उसकी उद्योत टीका (२.१७७-१८०) में कामरूप, उज्जयिनी, काश्मीर, कांची, करवीर, देवीकोट्ट, ओड्डियान और हिरण्यपुर के निवासी आमर्दक, अग्निक, काल, एकपाद, त्रिपुरान्तक, अग्निजिह्व, कराली और भीमवक्त्र नामक आठ श्मशानेशों का वर्णन मिलता है। इसके आधार पर आठ श्मशानों की सत्ता मान्य होती है।

तन्त्रालोक और कौलज्ञाननिर्णय में पीठों की संख्या तीन ही है। जालन्धर की गणना पीठ में न होकर तन्त्रालोक में वर्णित उपसन्दोहाष्टक में है। हेवज्रतन्त्र में चार पीठों में इसको पहला स्थान दिया गया है। इससे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि परवर्ती काल में पीठों में इसका समावेश हुआ। साधनमाला नामक बौद्ध तन्त्र में उड्डियान, जालन्धर, कामरूप और श्रीहट्ट को पीठों की मान्यता मिली है। यहाँ पूर्णगिरि के स्थान पर श्रीहट्ट नाम मिलता है। यह विभाग सार्वत्रिक न हो सका। चार पीठों में आजकल कामरूप, पूर्णगिरि, जालन्धर और ओड्डियान की ही गणना की जाती है। नि. षो. और [1]योगिनीहृदय में यही विभाग मान्य है। सभी व्याख्याकार भी इस विषय में एकमत हैं। अर्थरत्नावली (पृ. ११) में ओ जा पू का और स्पर्श नामक पाँच पीठों का और उत्तरषट्क (२. ८-९) में कामरूप, कोल्लगिरि, सोपार, उड्डियान, मलयगिरि, कुलान्तक, जालन्धर और देवीकोट्ट नामक आठ पीठों का उल्लेख मिलता है। ईशानशिवगुरुदेवपद्धति के मन्त्रपाद (१५.४१, १७.६) तथा ज्ञानार्णवतन्त्र (४.६६-६७) में भी ये नाम दिये गये हैं।

कुब्जिकामत और बौद्ध तन्त्रों में २४ पीठ वर्णित हैं। योगिनीहृदय (३. ३७-४३) में पीठ-न्यास के प्रकरण में और प्रपंचसारप्रयोगक्रमदीपिका (पृ. ५७९) में योगिनीन्यास के प्रसंग में ५१ पीठों के नाम परिगणित हैं। ये ही नाम ज्ञानार्णव (१४. ११४-१३३) में भी मिलते हैं। यहाँ इनकी संख्या ५० ही है। योगिनीहृदय के इस प्रकरण पर सेतुबन्ध टीका लिखते समय भास्करराय का कहना है कि ज्ञानार्णव का पंचाशत् शब्द ५१ संख्या को ही लक्षित करता है। उनका यह कहना उचित ही है, क्योंकि ज्ञानार्णव की तुलना में योगिनीहृदय की प्राचीनता मान्य हो चुकी है। थोड़े से पाठभेद के साथ योगिनीहृदय की नामावली ही ज्ञानार्णव में मिलती है। हम कह सकते हैं कि ५१ पीठों की इस नामावली में तन्त्रालोक आदि में उद्धृत पीठ, उपपीठ आदि की नामावली का भी प्राय: समावेश हुआ है।

---

१. यहाँ के आन्तर पीठों का परिचय दर्शन प्रकरण में दिया गया है (पृ. ६४०)।

शारदातिलक के— "अष्टपीठं महादेव्या अष्टाष्टकसमन्वितम्" (१. ८५) इस वचन की व्याख्या में राघव भट्ट ने ६४ पीठों की नामावली को प्रस्तुत करने वाले निम्न श्लोक उद्धृत किये हैं—

मायामङ्गलनागवामनमहालक्ष्मीचरित्रा भृगुच्छाया-
छत्रहिरण्यहस्तिनमहेन्द्रोड्डीशाश्च चम्पापुरम्।
षष्ठक्षीरकमञ्जनेश्वरपुरैलाश्चन्द्रपू: श्रीगिरि:
कोलाकुल्लकपूर्वपर्वतकुरुक्षेत्रैकलिङ्गार्बुदा: ।।

काश्मीरैकाम्रकाञ्चीमलयगिरिवरैकारकन्धूतदेवी-
कोट्टाम्रातेशजालन्धरसुरभिमनीषाद्रिकाशीप्रयागा: ।
त्रिस्रोत: कामकोट्टोज्जयिनिसमधुरं कोशला: कान्यकुब्जो-
ड्यानौङ्काराट्टहासा विरज इह तत: कुण्डिनं राजगेहम्।।

नेपालपुण्ड्रवर्धनसालवपरसीरकामरूपकेदारा:।
विन्ध्यमहापथगोश्रुतिकाम्पिल्यश्रीपीठमरुदीशा:।।

(पृ. ५२-५३)

अर्थरत्नावली (पृ. ७४) में पीठ, उपपीठ, क्षेत्र, उपक्षेत्र, सन्दोह और उपसन्दोह शब्द मिलते हैं; किन्तु परवर्ती काल में यह विभाग अस्वीकृत हो गया और इनके अन्तर्गत सभी नाम पीठ पद के पेट में समा गये।

सिद्धान्तागमों में २२४ भुवन वर्णित हैं। अट्टहास, गोकर्ण, कुरुक्षेत्र, आम्रातकेश्वर, श्रीशैल जैसे पीठों के नाम भी वहाँ मिलते हैं। हमारा ऐसा सोचना है कि प्रथमत: उन-उन शाक्त सम्प्रदायों में वर्णित पूजास्थानों, उन-उन आचार्यों के जन्मस्थानों अथवा उपासनास्थानों का अपनी विशिष्टता के आधार पर पीठ, उपपीठ आदि नामों से समावेश होता गया। बाद में उनकी यह विशेषता विस्मृत हो गई और इनमें वैष्णव एवं शैव तीर्थों का भी समावेश हो गया। आजकल विभिन्न ग्रन्थों में पठित इनकी नामावली पाँच सौ से ऊपर पहुँच जाती है। अक्षर-क्रम से इनकी नामावली ऊपर चर्चित "दी शाक्त पीठाज्" नामक ग्रन्थ में दी गई है। वहाँ इनका संक्षिप्त परिचय भी दिया गया है। इस विस्तृत सूची में तन्त्रालोक आदि में पठित कुलूता, लाहुला, एडाभी, ऐरुडिका, कुडयाकेशी, खेटक, गर्गिका जैसे नाम उपलब्ध नहीं होते। लिपिदोष, पाठभेद आदि के कारण लम्बी हुई यह सूची उन-उन प्राचीन एवं नवीन नामों की भौगोलिक दृष्टि से तुलना कर छोटी की जा सकती है। दु:ख की बात यह है कि अनेक प्राचीन नामों की

भौगोलिक स्थिति को हम भूल चुके हैं। जो कुछ बाहर है, उसकी इस देह में भी भावना करनी चाहिये, इस सिद्धान्त का हमारे ऊपर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि चार प्रधान पीठों में पूर्णगिरि पीठ की और द्वादश ज्योतिर्लिंगो में कुछ की स्थिति निर्विवाद नहीं है। इस स्थिति में इक्यावन, चौसठ अथवा [1]एक सौ आठ पीठों की भौगोलिक स्थिति का ज्ञान होना एक कठिन कार्य है। इस विषय पर धर्म-भीरु, [2]सम्प्रदायज्ञ विद्वानों का ध्यान हम आकृष्ट करना चाहते हैं।।



१. पुराण-वर्णित १०८ पीठों की नामावली बृहदितिहास, तन्त्रागम खण्ड (पृ. ५४१-५४४) में देखिये।

२. बौद्ध "महामायूरी" ग्रन्थ में यक्षों की एवं उनके निवास-स्थानों की नामावली मिलती है। "सिनो-इण्डियन स्टडीज" (भा. ३, सं. १-२, पृ. १३-८७ ; अप्रैल-जुलाई, सन् १९४७) में यह मुद्रित हुआ है। ग्रन्थ के सम्पादक डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची ने स्थानों का परिचय बड़े परिश्रम के साथ दिया है। विभिन्न पीठों के नामों और उनके स्थानों का परिचय प्राप्त करने में इससे बड़ी सहायता मिल सकती है।

बौद्धाधिकार

- पृष्ठभूमि
- बौद्ध तन्त्र (ग्रन्थ-ग्रन्थकार)
- वज्रयान की मान्यताएँ
- बौद्ध योग
- बौद्ध तान्त्रिक दर्शन

बौद्धाधिकार

पृष्ठभूमि

शक्तिसंगमतन्त्र में षड्दर्शनों के अन्तर्गत सर्वत्र बौद्ध दर्शन परिगणित है। पर्यायसप्तक प्रकरण में भी बौद्ध तन्त्रों का उल्लेख है। यहाँ (१. ६. १३९ ; २. १. ३२ ; ३. १. १५१) बौद्धों के सौ भेद बताये गये हैं, किन्तु उनके नाम कहीं भी परिगणित नहीं हैं। केवल तृतीय खण्ड (१.१९३-१९४) में केशच्छेदी, वृक्षच्छेदी, मद्याशी, कल्मष और इच्छाभेदी– ये पाँच नाम मिलते हैं और कहा है कि इसी तरह के इनके अनेक भेद हैं। आगम सन्दोह प्रकरण (२.१.३०) में वीरागम के साथ बौद्धागम भी पठित हैं। जैन और बौद्ध मत में अर्घ्यविधि तारामत का अनुसरण करती है (१.४.१६८)। नाना प्रकार के आसनों के प्रकरण (२.४७.७३) में शून्यवादी का आसन भी वर्णित है। दशमहाविद्या प्रकरण (१.४. १८६) में तारा (तारिणी), चीनमार्ग और मंजुघोष का बौद्ध संप्रदाय से अधिक घनिष्ठ संबन्ध बताया गया है। इस तन्त्र में षड्दर्शनों में परस्पर समन्वय स्थापित किया गया है। पूजा के बौद्ध उपादानों की यहाँ विशेष रूप से चर्चा मिलती है। मंजुघोष संप्रदाय की यहाँ (१.४, १८६-१८७; २.३८.२, ११) इत्यादि स्थलों पर तथा चतुर्थ खण्ड के प्रथम पटल में विशेष रूप से चर्चा हुई है।

त्रिविध धर्मचक्र-प्रवर्तन

वैशाख पूर्णिमा के दिन बोधगया में बोधिवृक्ष के नीचे बैठकर दुःख के कारणों को पहचाना और उन्हें बोधि प्राप्त हुई। कुमार सिद्धार्थ बुद्ध कहलाये। उन्होंने बोधि-प्राप्ति के अनन्तर वाराणसी के समीप ऋषिपत्तन मृगदाव वन में सर्वप्रथम अपने पाँच साथियों के समक्ष अपना अनुभव सुनाया। इसे ही प्रथम धर्मचक्र-प्रवर्तन कहा जाता है। विद्वान् इसे स्थविरवादी मत का धर्मचक्र-प्रवर्तन मानते हैं। द्वितीय धर्मचक्र-प्रवर्तन राजगृह में गृध्रकूट पर्वत पर हुआ, जिसमें महायानी सिद्धान्तों का प्रवर्तन किया गया। तृतीय धर्मचक्र प्रवर्तन धान्यकटक या श्रीपर्वत पर हुआ, जिसमें मन्त्रयानी सिद्धान्तों का प्रवर्तन हुआ। भोट परम्परा में मान्यता है कि बोधि-प्राप्ति के प्रथम वर्ष में ऋषिपत्तन मृगदाव (सारनाथ) में स्थविरवाद का, तेरहवें वर्ष में गृध्रकूट पर्वत पर महायान का तथा सोलहवें वर्ष में मन्त्रयान का धान्यकटक में प्रवर्तन किया गया। कालचक्र तन्त्र के संबन्ध में ऐसी मान्यता है कि इसका प्रवर्तन निर्वाण के एक वर्ष पूर्व हुआ था। इस प्रकार हम बुद्ध के उपदेशों को तीन श्रेणियों में बाँट सकते हैं-प्रथम पालिसाहित्य, द्वितीय महायानी साहित्य तथा तृतीय मन्त्रयान।

सामान्यतः यह स्वीकार किया जाता है कि बौद्ध तन्त्रों का उद्भव बहुत परवर्ती काल में हुआ। स्थविरवादी परम्परा के विद्वान् तो यह भी स्वीकार नहीं करते कि बुद्ध ने तन्त्र-संबन्धी कोई उपदेश किया था और मन्त्रयान का धर्मचक्र-प्रवर्तन किया था, क्योंकि तन्त्र-साहित्य में जो सिद्धान्त प्रतिपादित हैं, वे बुद्ध के मूल वचनों (पालि-साहित्य) से सर्वथा विपरीत हैं। उनका मानना है कि परवर्ती काल के आचार्यों ने इसे बौद्ध धर्म में प्रविष्ट करा दिया, जिसके फलस्वरूप बौद्ध धर्म का पतन हुआ। यहाँ तक कि कुछ स्थविरवादी विद्वान् महायान को भी बुद्धवचन नहीं मानते। इस प्रकार बुद्ध के उपदेशों का प्रचार दो धाराओं में हुआ— एक स्थविरवादी परम्परा और दूसरी महायानी परम्परा, जिसमें मन्त्रयान भी संमिलित है। प्रथम धारा का प्रचार-प्रसार दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों में और दूसरी का पूर्वोत्तर एशियाई देशों में हुआ।

वज्रयान की प्रवृत्ति

भारतीय परम्परा और तिब्बती परम्परा के अनुसार पारमितानय (महायान) और मन्त्रनय (वज्रयान) की भी देशना भगवान् बुद्ध ने ही की है। गुह्यसिद्धिकार (३. ५'७-५८) का कहना है कि धर्मचक्र का जब प्रवर्तन हुआ, तब उसी से असंख्य कोटि मन्त्र और प्रामाणिक आगम-ग्रन्थ निकले, जो प्राणियों को मुक्ति के मार्ग का उपदेश करते हैं। [1]कुद्दालपाद (श्लो. ३८-४१) का कहना है कि सूत्रान्त, विनय, पारमितानय, मन्त्रवाद, समस्त दर्शन, शैव, सौर, आर्हत, वैष्णव मत और वेद— इन सभी शास्त्रों का उपदेश अद्वय सुखनाथ ही करते हैं। वे[2] पुनः (श्लो. ९०-९२) कहते हैं कि मन्त्रवाद, पारमितानय, सूत्रान्त आदि पिटक, आर्हत, सौर, शैव, सोमसिद्धान्त, वैष्णवमत, मानवधर्म— इन सबके भी उपदेष्टा अद्वय सुखनाथ ही हैं। विभिन्न भारतीय सम्प्रदायों के सभी आचार्य इस विषय में एकमत हैं कि शास्त्रों की देशना उन-उन सम्प्रदायों के आद्य प्रवर्तकों ने की। वे इस विषय में भी एकमत है कि नागार्जुन, भर्तृहरि जैसे अनेक सिद्ध पुरुष आवश्यकता के अनुसार प्रकट होकर धर्म का उपदेश करते हैं। वे जन्म-मरण की परम्परा से अलग हो चुके हैं। इस दृष्टि के अनुसार गुह्यसमाज, हेवज्र आदि तन्त्रों की भी देशना भगवान् बुद्ध ने ही की है।

---

१. "सूत्रान्तं विनयोपेतं तथा पारमितानयम्।।...दर्शनं शैवं सौरं च अर्हन्तं वैष्णवं तथा।।... वेदप्रमाणवाक्यं च स्वयमुत्पद्यते परम्।" (गुह्यादि., पृ. १९९)।

२. "मन्त्रवादमशेषं च तथा पारमितानयम्।। सूत्रान्तपिटकादिभ्योऽत्रैकाद्वयमहासुखम्। अर्हन्तशैवसौराद्याः सोमसिद्धान्त एव च।। वैष्णवो मानवो धर्मः" (गुह्यादि. २०४)। इन दोनों उद्धरणों में कुद्दालपाद ने वेद और मानवधर्म का भी समावेश किया है।

तिब्बती इतिहासकार लामा [1]तारनाथ ने भी इतना ही कहा है कि अधिकतर अनुत्तर योगतन्त्र सिद्धाचार्यों के द्वारा क्रमशः लाये गये हैं।

वज्रयान के उद्भव, विकास और उत्पत्तिस्थल आदि के विषय में आधुनिक ऐतिहासिक पद्धति से भी पर्याप्त लिखा गया है। उसके अनुसार छठी-सातवीं शताब्दी से बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी तक इसका विकास हुआ। सर्वप्रथम इसका उद्भव हिमालय की उपत्यका में (कामरूप से लेकर कश्मीर तक) हुआ। बाद में बिहार, बंगाल, उड़ीसा और आंध्रप्रदेश ([2]धान्यकटक) में इस शास्त्र का विस्तार हुआ और वहीं से यह नेपाल, तिब्बत, चीन आदि देशों में भी फैला। तन्त्रशास्त्र की वैदेशिक उत्पत्ति का सिद्धान्त हमें मान्य नहीं है। इस ग्रन्थ के उपक्रम (पृ. ५-६) में ही हम इसकी परीक्षा कर चुके हैं।

वज्रयान, सहजयान और कालचक्रयान के तन्त्रों की तथा कौल तन्त्रों की प्रकृति एक सरीखी नजर आती है। 'धीः' के प्रथम और तृतीय अंकों में प्रकाशित "बौद्ध-शैव-शाक्त तन्त्रों में तुलनात्मक सामग्री" शीर्षक दो निबन्धों में इससे सम्बद्ध कुछ सामग्री संकलित की गई है। इसका कुछ कारण होना चाहिये।

८४ सिद्धों की नामावली में पहला नाम लुइपा का है। [3]डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची मत्स्येन्द्रनाथ को लुइपा से अभिन्न मानते हैं। कश्मीरी प्रत्यभिज्ञादर्शन के प्रमुख आचार्य अभिनवगुप्त मच्छन्द (मत्स्येन्द्र) की समस्त कुलशास्त्रों के अवतारक के रूप में स्तुति[4] करते हैं। द्वैतवादी शैवसिद्धान्त दर्शन के आचार्य अघोरशिव[5] हिरण्यगर्भ, कपिल और

---

१. लामा तारनाथ रचित इतिहास ग्रन्थ के "भारत में बौद्धधर्म का इतिहास" नामक हिन्दी अनुवाद के पृ. १४५-१४६ देखिये।

२. महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने पुरातत्त्व निबन्धावली (पृ. ११३) में मन्त्रयान के तृतीय धर्मचक्र-प्रवर्तन के स्थल का नाम धान्यकटक दिया है। यह उनके द्वारा प्रदर्शित (पृ. ११२) नरम मन्त्रयान के लिये हो सकता है। वे इसका आरम्भ द्वितीय शताब्दी में मानते हैं। वे श्रीपर्वत को वज्रयान की उत्पत्ति का स्थल भी मानते हैं और उसका दूसरा नाम वज्रपर्वत बताते हैं। श्रीपर्वत और धान्यकटक दोनों ही स्थल आन्ध्रप्रदेश के गुण्टूर जिले में स्थित हैं। धान्यकटक आजकल अमरावती के नाम से प्रसिद्ध है। कृष्णा नदी के तट पर यह स्थित है। अमरावती स्तूप के सारे अवशेष संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इसमें कोई विवाद नहीं रहना चाहिये कि मन्त्रनय की देशना इसी स्थान पर हुई। बाण के हर्षचरित और भवभूति के मालतीमाधव में श्रीपर्वत की मन्त्रशास्त्र के सिद्धिस्थल के रूप में चर्चा है।

३. कौलज्ञाननिर्णय की भूमिका, पृ. २२-२४ देखिये।

४. तन्त्रालोक (१.७) तथा उसकी विवेक नाम की टीका (पृ. २५) देखिये।

५. "हिरण्यगर्भ-कपिल-मत्स्येन्द्रादयो वेद-सांख्य-कौलादितन्त्राणाम्" (पृ. ७४) मृगेन्द्रवृत्तिदीपिका (देवकोट्टै संस्करण)।

मत्स्येन्द्र को क्रमशः वेद, सांख्य और कौल शास्त्रों का प्रवर्तक मानते हैं। अभिनवगुप्त का कहना है मत्स्येन्द्र ने अपने ६ शिष्यों को इस ज्ञान का उपदेश किया और इन सबकी अलग-अलग परम्परा ओवल्ली (ओघ-प्रवाह) के नाम से प्रवाहित हुई —

"आनन्दावलिबोधिप्रभुपादान्ताश्च योगिशब्दान्ताः।
एता ओवल्ल्यः स्युः.."

(तन्त्रा. २९.३६)

गुरु-शिष्य सम्प्रदाय द्वारा प्रवाहित हो रहे इस ज्ञान की परम्परा में गुरु जब अपने शिष्य को अभिषिक्त करता था, तो इसके साथ वह अपनी परम्परा के अनुरूप शिष्य को नया नाम भी देता था। गुरु शिष्य को जो नाम देता था, उस नाम के अन्त में अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार आनन्द, आवलि, बोधि, प्रभु, पाद अथवा योगी शब्द जोड़ा जाता था। इन ६ नामों में से बोधि और पाद की परम्परा वज्रयानी आचार्यों के नामों से जुड़ी हुई मिलती है और आनन्द एवं योगी शब्द कौल शास्त्र के आचार्यों के नामों से जुड़े हुए हैं। वज्रयानी तन्त्रों और कौल तन्त्रों की समता के मूल में इस परम्परा के अवशेषों की हमें खोज करनी होगी।

वज्रयानी तन्त्र और कौल तन्त्र दोनों ही घृणा, शंका, लज्जा, जातिग्रह आदि को हेय मानते हैं। विधिनिषेध, भक्ष्याभक्ष्य, पेयापेय, गम्यागम्य आदि को दुराग्रहमात्र मानते हैं। वे इस शरीर की ही पूजा करने का उपदेश देते हैं और इस पूजा में आन्तर द्रव्यों का उपयोग करते हैं। पीठ, उपपीठ आदि की स्थिति साधक के शरीर में ही मानकर वे बाह्य तीर्थाटन को अनावश्यक बताते हैं और पाषाण, पट आदि की बनी मूर्तियों, चित्रों आदि की पूजा की अपेक्षा इस शरीर में स्थित स्वात्मचैतन्य या अद्वय महामुख की उपासना को वरीयता देते हैं। इस पूजा में वे [1]पंचरत्न अथवा द्वादशरत्न का उपादान करते हैं। शब्दों का भेद होने पर भी युगनद्ध-क्रम अथवा यामल-साधना का क्रम एक ही जैसा है। अन्त्यजा-साधन अथवा दूतीयाग की

---

१. चर्विति रत्नपञ्चाद्यात्मकम्। यदुक्तम् —
देहस्थं तु चरुं वक्ष्ये यत् सुरैरपि दुर्लभम्।
शिवाम्बु रेतो रक्तं च नालाज्यं विश्वनिर्गमः।। (तन्त्रा. वि. २९.२००)
द्रव्याणीति रत्नपञ्चाद्यानि। तदुक्तम् —
रेतो हराम्बु पुष्पं च क्षारं नालाज्यकं तथा।
पौरुषं क्ष्माभवं छागं मीनजं शाकुनीयकम्।।
पलाण्डुं लशुनं चैव द्रव्यद्वादशकं शुभम्। (तन्त्रा. वि. २९.१७)

पद्धति में कोई अन्तर नहीं है। सामरस्य, समरसता, आनन्द आदि शब्दों का प्रयोग उभयविध साहित्य में मिलता है।

स्वयंभू-कुसुम शब्द दोनों जगह एक ही अर्थ में प्रयुक्त है। बोल-कक्कोल के अर्थ में कौल तान्त्रिक कुण्डगोलक शब्द का प्रयोग करते हैं। "बोधिचित्तं न चोत्सृजेत्" (गु. सि. ८.३५) "पतिते बोधिचित्तेऽस्मिन् कुतः सिद्धिरनिन्दिता" (गु. सि. ८.३८-३९), "मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्"[१] इन सभी वाक्यों का कथ्य एक ही है। नाम-भेद के होते हुए भी यौगिक प्रक्रिया की एकरूपता के विषय में श्रद्धेय श्री गोपीनाथ कविराज जी[२] ने सप्रमाण प्रकाश डाला है।

वज्रयान और कौल सम्प्रदाय में रहस्यवाद के प्रवेश के विषय में भी विद्वानों ने पर्याप्त विचार किया है। सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में हमें ऊर्ध्वलिंगी मुद्राएँ मिलती हैं। "एनल्स आफ भाण्डारकर इंस्टीटयूट, पूना" (भा. ३९, अं. ३-४, पृ. २८९-३६४, सन् १९५८) में इनका सचित्र विवरण प्रकाशित हुआ है। नेत्रतन्त्र (मृत्युंजयभट्टारक) के ९-१२ अधिकारों में वाम, दक्षिण, कौल आदि तन्त्रों की पूजाविधि के प्रतिपादन के बाद १३ वें अधिकार में वैष्णव, सौर और बौद्ध तन्त्रों की पूजाविधि के साथ पाशुपत मत के अनुसार ऊर्ध्वलिंगी[३] विश्वरूप की पूजाविधि बताई गई है। पाशुपत मत की नई शाखा के प्रवर्तक लकुटधारी लकुलीश की मूर्तियों में उनको ऊर्ध्वलिंगी अंकित किया गया है। अभिनवगुप्त[४] के अनुसार लकुलीश के मत से मनुष्य के शरीर में सभी देवता निवास करते हैं। लकुलीश का आविर्भाव-काल डॉ. [५]कान्तिचन्द्र पाण्डेय ई. दूसरी शताब्दी तथा डॉ. डेविड एन. लोरेंजन[६] चौथी शताब्दी मानते हैं। कौल सम्प्रदाय के प्रवर्तक मत्स्येन्द्रनाथ का समय डॉ. [७]कान्तिचन्द्र पाण्डेय के अनुसार पाँचवीं-छठी शताब्दी है। हम मान सकते हैं कि कौल सम्प्रदाय में काय-पूजा का सिद्धान्त लकुलीश सम्प्रदाय से प्राप्त हुआ है।

---

१. हठयोगप्रदीपिका, ३. ८८ द्रष्टव्य।

२. आचार्य नरेन्द्रदेव कृत बौद्ध धर्म-दर्शन की भूमिका देखिये।

३. "दिग्वस्त्रं चोर्ध्वलिङ्गिनम्।.... विश्वरूपं यजेन्नित्यं क्रीडन्तं योषितां गणैः।।" (१३. १०-११)

४. सर्वदेवमयः कायः सर्वप्राणिष्विति स्फुटम्।
श्रीमद्भिर्लकुलेशाद्यैरप्येतत् सुनिरूपितम्।। (तन्त्रा. १५. ६०४)

५. शैवदर्शनबिन्दु, पृ. २७-२९, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

६. दी कापालिक्स एण्ड कालामुखस्, पृ. १७५-१८१

७. अभिनवगुप्त : एन हिस्टोरिकल एण्ड फिलासफिकल स्टडी, द्वितीय संस्करण, पृ. ५४६

कौल सम्प्रदाय के आचार्य अपने सिद्धान्तों की पुष्टि में हिंसाप्रधान वैदिक यज्ञों, सौत्रामणी याग आदि का उदाहरण देते हैं। [1]भास्करराय "न काञ्चन परिहरेत्, तद्व्रतम्" (२.१३.२) छान्दोग्य उपनिषद् के इस वाक्य को उद्धृत करते हैं। [2]अभिनवगुप्त कौलिक विधियों की पुष्टि के लिये "यदेतत् स्त्रियां लोहितं भवत्यग्नेस्तद्रूपम्। तस्मात् तस्मान्न बीभत्सेत। अथ यदेतत् पुरुषे रेतो भवत्यादित्यस्य तद्रूपम्। तस्मात् तस्मान्न बीभत्सेत" (२.३७) इस ऐतरेयारण्यक को उद्धृत करते हैं। बौद्ध तन्त्रों और कौल तन्त्रों में अकार की महिमा सविशेष वर्णित है। ऐतरेयारण्यक में भी "अकारो वै सर्वा वाक्" (२.३६), "अ इति ब्रह्म" (२.३.८) ऐसे वाक्य मिलते हैं। हम जानते हैं कि आरण्यकों में वानप्रस्थ के कर्तव्य वर्णित हैं। वानप्रस्थ आश्रम में व्यक्ति अकेला अथवा अपनी पत्नी के साथ प्रवेश कर सकता है। इस वानप्रस्थ को श्रुति स्त्री के रज और पुरुष के वीर्य से जुगुप्सा न करने का उपदेश करती है। बौद्ध और कौल दोनों तन्त्र बोल-कक्कोल अथवा कुण्डगोलक के रूप में इस दृष्टि को अंगीकार करते हैं।

कापालिकों का उल्लेख दूसरी शताब्दी के राजा सातवाहन की गाथासप्तशती (गा. ४०८) में मिलता है। कापालिकों को [3]महाव्रती भी कहा जाता है। रामानुजाचार्य

---

१. (बाह्य)वरिवस्याविधि, उपोद्घात प्रकरण, पत्र २, सरस्वती भवन पुस्तकालय, वाराणसी का ६०९८४ संख्या का हस्तलेख। इस श्रुति को डॉ. शान्तिभिक्षु शास्त्री ने भी उद्धृत किया है और लिखा है कि शंकराचार्य यहाँ 'कामयमानाम्' विशेषण जोड़ते है। देखिये— बोधिचर्यावतारभूमिका (पृ. १५)। यहाँ (पृ. १४-२६) शास्त्री जी ने भी बौद्ध धर्म में तान्त्रिक प्रवृत्तियों के प्रवेश और विकास पर विचार किया है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने भी पुरातत्त्व निबन्धावली स्थित "वज्रयान और चौरासी सिद्ध" (पृ. १०९-१३०) शीर्षक निबन्ध में वज्रयान की उत्पत्ति के प्रसंग में नीलपट दर्शन की चर्चा की है (पृ. ११८)। यशस्तिलकचम्पू के कर्ता सोमदेव नीलपट के एक श्लोक को उद्धृत करते हैं (भा. २, पृ. २५२)। डॉ. कृष्णकान्त हाँडीकी "यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर" (पृ. ४४१)। में सदुक्तिकर्णामृत में संगृहीत नीलपट के दूसरे श्लोक का उदाहरण देते हैं। वहीं वे भर्तृहरि के एक श्लोक को भी उद्धृत करते हैं। इन सबका अभिप्राय एक सरीखा है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के दिये गये कथानक का घटना-काल वहाँ ५१५-५२४ ई. बताया गया है।

२. तन्त्रालोक (३.२२६-२२७) तथा उसकी विवेक टीका द्रष्टव्य।

३. डॉ. डेविड एन. लोरेंजन के ग्रन्थ "दी कापालिक्स एण्ड कालामुख्स" के पृ. ८-१०, १७ देखिये। गुह्यसिद्धि (४.५२) में भी महाव्रत मत का उल्लेख है। ज्ञानसिद्धि (१.७६) में वज्रयानी उपासक को महाव्रती कहा गया है। वामनपुराण (६.९१) में धनद (कुबेर) के लिये महाव्रती विशेषण दिया गया है। वहाँ इसको कापालिक मत का प्रथम प्रवर्तक माना गया है।

के परमगुरु यामुनाचार्य ने [1]आगमप्रामाण्य में इनका निरूपण किया है। इस कापालिक मत की तुलना हम आजकल के अघोरी सम्प्रदाय से कर सकते हैं। हम बौद्ध और कौल दोनों तन्त्रों में [2]पंचरत्न, द्वादशरत्न आदि के रूप में अघोरी सम्प्रदाय के उन उपादानों को पाते हैं, जो आज भी इस सम्प्रदाय में परिगृहीत हैं। हमारी समझ में वज्रयान और कौल तन्त्रों की प्रवृत्ति के मूल की खोज में हमें सिन्धु-सभ्यता, वैदिक वानप्रस्थ आश्रम, लकुलीश-पाशुपत तथा कापालिक मत के साथ बौद्ध धर्म की महायान शाखा की तत्कालीन परिस्थितियों तक पहुँचना होगा।

यान, नय एवं दर्शन

अग्रयान, पारमितायान, प्रत्येकयान, मन्त्रयान, वज्रयान और श्रावकयान जैसे शब्दों का प्रयोग बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थों में मिलता है। इनमें भगवान् बुद्ध की त्रिविध देशनाओं का समावेश हो जाता है। प्रदीपोद्योतनकार ने अग्रयान शब्द का प्रयोग वज्रयान के लिये किया है। पारमितायान का अन्तर्भाव महायान में किया जाता है। इन यानों का उल्लेख दर्शन अथवा नय शब्दों के द्वारा भी किया जाता है। जैसे कि पारमितानय पारमितायान को, मन्त्रनय अथवा मन्त्रदर्शन मन्त्रयान को और श्रावकदर्शन श्रावकयान को कहा गया है। मन्त्रनय के ही यहाँ क्रिया, चर्या, योग, योगोत्तर और योगनिरुत्तर नामक पाँच विभाग किये गये है। मन्त्रनय को भी वज्रयान के अन्तर्गत माना जाता है। हम यह भी कह सकते हैं कि मन्त्रयान महायान और वज्रयान को जोड़ने वाली कड़ी है। मन्त्रयान का तन्त्रशास्त्र में अन्तर्भाव कर उसको प्रायः चतुर्धा विभक्त किया जाता है। इस स्थिति में योगोत्तर और योगनिरुत्तर का निरुत्तर में अन्तर्भाव कर लिया जाता है।

तन्त्रों का विभाजन

हम जानते हैं कि बौद्ध तन्त्र अथवा मन्त्रनय के ग्रन्थ क्रिया, चर्या, योग और अनुत्तर[3] अथवा निरुत्तर विभागों में बाँटे गये हैं। क्रिया, चर्या, योग और विद्या (ज्ञान)

---

१. ...कापालं मतमेवं प्रचक्षते। मुद्रिकाषट्कविज्ञानात् पुनस्तस्यैव धारणात्। अपवर्गफलप्राप्तिर्न ब्रह्मावगमादिति।। मुद्रिकाषट्कतत्त्वज्ञः परमुद्राविशारदः। भगासनस्थमात्मानं ध्यायन् निर्वाणमृच्छति।। कर्णिका रुचकं चैव कुण्डलं च शिखामणिम्। भस्म यज्ञोपवीतं च मुद्राषट्कं प्रचक्षते।।" (पृ. ९२-९३)। गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, बड़ोदा। यहाँ यह अवधेय है कि ये ही छः अथवा पाँच मुद्राएँ बौद्ध तन्त्रों में भी वर्णित हैं।

२. पृष्ठ ६८६ की टिप्पणी देखिये।

३. इस विषय का विशेष परिचय 'धी:' के ५वें अंक में प्रकाशित "बौद्ध तन्त्र-साहित्य का वर्गीकरण" (पृ. ६३-८२) तथा "तन्त्र का स्वरूप एवं आभ्यन्तर भेद" (पृ. १५२-१६९) शीर्षक निबन्धों से प्राप्त कीजिये।

नामक चार पादों में शैव तथा कुछ वैष्णव तन्त्र भी विभक्त हैं, किन्तु बौद्ध तन्त्रों की यह विशेषता है कि यहाँ इन विभागों के अलग-अलग तन्त्र भी हैं। चतुर्थ विभाग को योगोत्तर अथवा योगनिरुत्तर भी कहा जाता है। मातृतन्त्र, पितृतन्त्र तथा अद्वयतन्त्र के रूप में भी बौद्ध तन्त्र विभक्त हैं। ये निरुत्तर तन्त्र के विभाग माने जाते हैं। हेवज्रतन्त्र को योगिनीतन्त्र अथवा मातृतन्त्र भी कहा जाता है। योगतन्त्र को निरन्वय तन्त्र भी बताया गया है। गुह्यसमाज की गणना योगतन्त्र अथवा पितृतन्त्र के अन्तर्गत की जाती है। कालचक्रतन्त्र की अद्वयतन्त्रों में गणना की जाती है।

त्रिविध तन्त्र

गुह्यसमाज(समाजोत्तर)तन्त्र (१८. ३३-३४) में तन्त्र का अर्थ प्रबन्ध किया गया है और उसके हेतुतन्त्र, फलतन्त्र और उपायतन्त्र नामक तीन विभाग किये गये हैं। सत्त्व का चित्त ही मलिनता और निर्मलता का आधार (आश्रय) है। अत: इसीको यहाँ आश्रय या हेतुतन्त्र कहा जाता है। चित्त को परिपक्व और परिष्कृत करने वाले प्रयत्नों को उपाय कहा जाता है। चित्त की हेतु अवस्था में छिपी हुई निर्मल वृत्तियों को प्रकट करना फलतन्त्र है। उपायतन्त्र के सहारे चित्त बोधि के रूप में परिष्कृत होकर फलतन्त्र कहलाता है। स्पष्ट है कि तन्त्रों का यह त्रिविध विभाग चित्त की मलिनता को दूर कर उसमें निर्मलता का आधान करने में विनियुक्त है। इस त्रिविध विभाग का विस्तृत परिचय 'धी:' के चतुर्थ अंक में प्रकाशित "तन्त्र का स्वरूप एवं आभ्यन्तर भेद" (पृ. ९८-१००) शीर्षक निबन्ध से प्राप्त किया जा सकता है।

"सम्पादन के सिद्धान्त और उपादान" (पृ. ४७२-४७६) शीर्षक ग्रन्थ में मूलतन्त्र, उद्देशतन्त्र, भाष्यतन्त्र और उत्तरतन्त्र नामक विभागों की चर्चा हुई है और उनका स्वरूप भी बताया गया है। सेकोद्देशटीका (पृ. ४-५) में वर्णित त्रिविध उद्देश एवं त्रिविध निर्देश तन्त्रों की चर्चा हो चुकी है। यहाँ प्रथम उद्देश्य विभाग के अन्तर्गत समस्त लघुतन्त्रों का तथा प्रथम निर्देश विभाग में समस्त मूल तन्त्रराजों का समावेश किया गया है। अन्य दो विभागों में इनकी पंजिकाओं और टीकाओं की गणना की गई है। समाजोत्तर की गणना उत्तरतन्त्र में की जाती है। अभिधानोत्तर जैसे अन्य उत्तर तन्त्रों के भी नाम मिलते हैं, किन्तु हम देखते हैं कि समाजोत्तर की गणना गुह्यसमाज के व्याख्या-तन्त्रों में भी की गई है। समाजोत्तर के अतिरिक्त सन्ध्याव्याकरण, चतुर्देवीपरिपृच्छा, वज्रमाला और वज्रज्ञानसमुच्चय को भी मिलाकर गुह्यसमाज के व्याख्यातन्त्रों की संख्या पाँच मानी गई है। समाजोत्तर को यदि हम उत्तरतन्त्र ही मानें, तो व्याख्यातन्त्र चार ही रह जायँगे। तन्त्रभाष्य और भाष्यतन्त्र की भिन्नता पर भी यहाँ

प्रकाश डाला गया है (पृ. १७४-१७५)। इस विषय पर अभी और गहरे विचार की अपेक्षा है। इस विभाग की पुष्टि में शास्त्रीय प्रमाण भी अपेक्षित हैं।

चतुर्विध तन्त्र

कामिक से वातुल पर्यन्त २८ द्वैतवादी सिद्धान्त शैवागमों में से आजकल सभी उपलब्ध नहीं होते, किन्तु जो उपलब्ध हैं, वे सभी क्रिया, चर्या, योग और विद्या (ज्ञान) नाम के चार पादों में विभक्त हैं। यहाँ ये चारों पाद एक ही ग्रन्थ के अंग है। विद्या अथवा ज्ञान पाद में उस उस आगम के दर्शन का प्रतिपादन किया गया है।

इसके विपरीत बौद्ध तन्त्रों में क्रिया, चर्या, योग और अनुत्तर विभाग के स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। अनुत्तर तन्त्र के भी पुनः पितृ[1] मातृ और अद्वय नामक विभाग किये गये हैं। गुह्यसमाज में हेतु, उपाय और फल नामक तन्त्रों का विभाग वर्णित है। यहाँ तन्त्रों का तथागत, पद्म आदि कुलों का विभाग भी मिलता है। इन सब विभागों और उपविभागों का परिचय 'धीः' पत्रिका में प्रकाशित "बौद्ध तन्त्र-साहित्य का वर्गीकरण" (अं. ५, पृ. ६३-८२) एवं "तन्त्र का स्वरूप एवं आभ्यन्तर भेद"[2] शीर्षक निबन्धों से मिल सकता है।

इस पूरी सामग्री को सामने रखकर ज्ञानोदयतन्त्र जैसे तन्त्रों के विषय में विचार करना पड़ेगा कि इनका समावेश योगतन्त्र में किया जाय अथवा अनुत्तरतन्त्र में। अनुत्तरतन्त्र के मातृ, पितृ अथवा अद्वय नामक किसी उपविभाग में इसकी गणना नहीं हो सकती। इसके अन्तिम दो पृष्ठों में कायपूजा का विधान अवश्य है, किन्तु मात्र इतने से पूरे ग्रन्थ को क्या अनुत्तर विभाग में रखा जा सकता है? क्रिया, चर्या आदि विभागों में विभक्त तन्त्रों में एक बात और भी देखने की है कि क्या इनमें शुद्ध रूप से एक ही विषय का वर्णन है? अथवा अन्य विभागों के विषय भी आवश्यकता के अनुसार समाविष्ट हैं?

उद्देश और निर्देश तन्त्र

उद्देश शब्द का प्रयोग भारतीय दर्शन की अन्य शाखाओं में भी हुआ है। जैसा कि— "नाममात्रेण वस्तुसंकीर्तनमुद्देशः"[3]। अर्थात् केवल वस्तुओं के नामों को गिना

---

१. मृगेन्द्रागम के चर्यापाद (१. ३७, ४०-४१) में वर्णित सिद्धकौल और योगिनीकौल तन्त्रों की तुलना पितृतन्त्र और मातृतन्त्र से की जा सकती है।

२. डॉ. वङ्छुग् दोर्जे नेगी का यह निबन्ध 'धीः' के विभिन्न सात अंकों में प्रकाशित हुआ है।

३. "तत्र नामधेयेन पदार्थमात्रस्याभिधानमुद्देशः" (न्यायभाष्य, १.१.३)।

देना **उद्देश** कहलाता है। बौद्ध तन्त्रों में उद्देशं के साथ निर्देश शब्द भी मिलता है। संक्षेप में किसी बात को कहकर फिर उसका विस्तार से वर्णन करना प्राय: सभी शास्त्रों की परिपाटी है। [1]इस विस्तार के लिये ही बौद्ध शास्त्रों में **निर्देश** शब्द प्रयुक्त हुआ है। संक्षेप और विस्तार के आधार पर यहाँ तन्त्रों का भी विभाजन हुआ है। जिन तन्त्रों में संक्षेप में सारे विषय वर्णित हैं, उनको उद्देशतन्त्र और अधिक विस्तार वाले तन्त्रों को निर्देशतन्त्र कहते हैं। सेकोद्देशटीका (पृ. ४-५) में सकल योगि-योगिनी तन्त्रों को त्रिविध उद्देश और त्रिविध निर्देश तन्त्रों में विभक्त किया गया है। उनके अनुसार समस्त लघुतन्त्र उद्देश एवं समस्त मूलतन्त्रराज निर्देश तन्त्र हैं। यहाँ १८०० श्लोक वाले श्रीसमाज को लघुतन्त्र और २५ हजार श्लोक प्रमाण श्रीसमाज को मूलतन्त्रराज बताया गया है। इस प्रकार यहाँ ये शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हैं— एक ही ग्रन्थ में पहले उसके प्रतिपाद्य विषय का संक्षेप में उल्लेख कर बाद में उसका विस्तार करना और लघु-तन्त्रों में संक्षेप में वर्णित विषयों का मूलतन्त्रराज में विस्तार से विवरण देना।

ग्रन्थ-ग्रन्थकार

बौद्ध तन्त्रों की प्रवृत्ति के विषय में साम्प्रदायिक दृष्टि को हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं। संस्कृत वाङ्मय में गुरु-शिष्य परम्परा से प्राप्त ज्ञान को सम्प्रदाय कहा जाता है। यह एक पवित्र शब्द है। आधुनिक बुद्धिजीवियों और राजनीतिज्ञों ने इस शब्द की दुर्गति कर दी है। तन्त्रों की प्रवृत्ति के विषय में भी इनकी अपनी दृष्टि है। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर इनको स्थिर किया जाता है और नये प्रमाणों की उपलब्धि के साथ ही इसमें परिवर्तन भी हो जाता है। यहाँ हम प्रो. एन. एन. भट्टाचार्य, डॉ. एस. सी. बनर्जी के ग्रन्थों और डॉ. बनारसी लाल के निबन्ध के आधार कुछ तन्त्रों की जानकारी प्रस्तुत कर रहे हैं। डॉ. बनारसी लाल का यह निबन्ध बृहदितिहास के तन्त्रागमखण्ड (पृ. ४०६-४४९) में प्रकाशित हुआ है।

बौद्ध तन्त्रों के इतिहास-ग्रन्थों में सर्वत्र आर्यमंजुश्रीमूलकल्प का पहला नाम आता है। प्रो. एन. एन. भट्टाचार्य ने गुह्यसमाज को पहले स्थान पर रखकर इसको द्वितीय स्थान दिया है। साथ ही इन्होंने साधनमाला, निष्पन्नयोगावली, प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि

---

१. "उद्देशो हि संक्षेपेण प्रतिपादनम्। निर्देशो विस्तरेणेति शेष:" (व.ति.टी., पृ. २८)। उद्देश और निर्देश शब्दों का एक साथ प्रयोग इन्हीं अर्थों में असंग के महायानसूत्रालंकार (दरभंगा संस्क., पृ. ७७) में तथा मध्यान्तविभागशास्त्र (मोतीलाल बनारसीदास, पृ. १४८) में भी मिलता है। अर्थविनिश्चयसूत्र (पटना संस्करण, पृ. ७३) में भी इन शब्दों का विवरण देखा जा सकता है।

और हेवज्रतन्त्र का भी परिचय दिया है। यहाँ प्रारंभ में इन्होंने बौद्ध तन्त्रसाहित्य पर एक सामान्य दृष्टि भी डाली है (पृ. ५७-६६)। डॉ. बनर्जी ने आर्यमंजुश्रीमूलकल्प को प्रथम स्थान देकर बाद में गुह्यसमाज, हेवज्रतन्त्र, ज्ञानसिद्धि, निष्पन्नयोगावली, प्रज्ञोपायविनिश्चय-सिद्धि, साधनमाला और सर्वदुर्गतिपरिशोधन का विवरण प्रस्तुत किया है (पृ. ३५३-३६६)। डॉ. बनारसी लाल ने इनके अतिरिक्त सर्वतथागततत्त्वसंग्रह, आर्यमंजुश्रीनामसंगीति, चण्डमहारोषणतन्त्र, खसमतन्त्र, महामायातन्त्र, कृष्णयमारितन्त्र, सम्पुटतन्त्र, डाकार्णवतन्त्र, अभिधानोत्तरतन्त्र, चक्रसंवरतन्त्र, सर्वरोदयतन्त्र और कालचक्रतन्त्र का भी विमलप्रभा टीका के साथ परिचय प्रस्तुत किया है (पृ. ४२४-४३५)।

यहाँ इन्होंने बताया है कि भोट भाषा में अनूदित भारतीय बौद्ध साहित्य के दो विशाल संग्रह कन्ग्युर एवं तन्ग्युर के नाम से प्रसिद्ध हैं। कन्ग्युर में मूल आगम-ग्रन्थ तथा तन्ग्युर में भारतीय आचार्यों की टीका-टिप्पणियाँ संगृहीत हैं। इस विशाल साहित्य का इसीसे अनुमान किया जा सकता है कि कन्ग्युर खण्ड में ४६८ आगम-तन्त्र ग्रन्थ तथा २६२ के लगभग धारणी-ग्रन्थ हैं। वहीं तन्ग्युर खण्ड में तन्त्र वर्ग के २६०५ से अधिक ग्रन्थ हैं, जिनमें बौद्ध तान्त्रिक आचार्यों एवं सिद्धों की टीकाएँ, व्याख्याएँ, वृत्तियाँ, साधन, मण्डलविधियाँ इत्यादि संगृहीत हैं। मूल संस्कृत भाषा में अब इनमें से बहुत कम ग्रन्थ बच पाये हैं। जो बचे हैं, उनमें से भी बहुत कम छप पाये हैं।

इधर बचे हुए तन्त्र-ग्रन्थों की मातृकाओं के संग्रह और प्रकाशन में अनेक संस्थाएँ और व्यक्तियाँ लगी हुई हैं। उनमें केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ में कार्यरत दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना का अपना स्थान है। आजकल यह बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थों के प्रकाशन में ही प्रधानतः लगी हुई है और अब तक अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन कर चुकी है। साथ ही यहाँ से 'धीः' नाम की एक षाण्मासिक पत्रिका भी प्रकाशित हो रही है, जिसमें शोध-निबन्धों के अतिरिक्त नाना प्रकार की शोधसामग्री का भी संकलन किया जा रहा है, जिससे इस विषय में शोधरत सभी व्यक्ति लाभान्वित हो सकें।

बौद्ध तन्त्रों के साथ भारतीय तन्त्रशास्त्र की सभी शाखाओं की मातृकाओं का प्रधान स्रोत नेपाल है और नेपाल में उपलब्ध मातृकाएँ इतनी विकृत हो गई हैं कि दशाधिक मातृकाओं के उपलब्ध हो जाने पर भी ग्रन्थ का परिशुद्ध स्वरूप सामने नहीं आ पाता। ऐसी स्थिति में भोट अनुवादों के उक्त संग्रह ही हमारे सहायक बन पाते हैं। इन्हींकी सहायता से हम ग्रन्थ के परिशुद्ध स्वरूप को स्थिर कर सकते हैं। कन्ग्युर-तन्ग्युर के चार विभिन्न संस्करण आज मुद्रित रूप में उपलब्ध हैं और ये ग्रन्थ

को परिशुद्ध करने में अतीव सहायक सिद्ध हुए हैं। उक्त संस्थान से इसी पद्धति से परिष्कृत रूप में प्रकाशित हुए ग्रन्थों का परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जायगा।

पंचक्रम (नागार्जुन)

डॉ. बनारसी लाल ने अपने पूर्वसूचित निबन्ध (पृ. ४१३-४१६) में तन्त्राचार्यों के रूप में नागार्जुन, आर्यदेव, असंग और सिद्धाचार्यों को जो प्रस्तुत किया है, पहले उस पर विचार कर लेना जरूरी है। यहाँ सिद्धाचार्य-विषयक उनका वक्तव्य पूरी तरह से सही है और गुह्यादि-अष्टसिद्धियों के प्रसंग में यहाँ उनके विषय में कुछ कहा भी जायगा, किन्तु नागार्जुन के रूप में पंचक्रम आदि तन्त्र-ग्रन्थों के लेखक का तथा चित्तविशुद्धिप्रकरण के लेखक आर्यदेव का ही हम यहाँ समावेश कर सकते हैं। आश्रय-परावृत्ति शब्द के आधार पर असंग का नाम यहाँ घसीटा जाता है। "भारतीय तन्त्रशास्त्र" (पृ. २१९-२२७) में इस पर पर्याप्त विचार हो चुका है। उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि बौद्ध तन्त्राचार्यों में इनका समावेश किसी भी रूप में नहीं किया जा सकता। हम अन्यत्र (पृ. २१२) बता चुके हैं कि कौल स्वभाव के तन्त्रों की प्रवृत्ति पाँचवीं-छठी शताब्दी के बाद ही मानी जा सकती है। इसी पृष्ठभूमि में नागार्जुन, आर्यदेव आदि की तान्त्रिक रचनाओं का परिचय दिया जा रहा है।

सन् १८९६ में फ्रेंच विद्वान् डॉ. पूसें द्वारा प्रकाशित नागार्जुन का पंचक्रम वज्रयान का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यहाँ पिण्डीक्रम के साथ वज्रजापक्रम, स्वाधिष्ठानक्रम, अभिसंबोधिक्रम और युगनद्धक्रम नामक पाँच क्रम समाविष्ट हैं। इसीलिये इसे पंचक्रम नाम दिया गया है। डॉ. पूसें ने अपने संस्करण में शाक्यमित्र की अनुत्तरसन्धि का भी समावेश किया है। इसमें भी स्वाधिष्ठानक्रम की ही चर्चा है। पंचक्रम के टिप्पणीकार ने कहा है कि कायविवेक के लिये पिण्डीक्रम का, वाग्विवेक के लिये वज्रजापक्रम का, चित्तविवेक के लिये स्वाधिष्ठानक्रम का, प्रभास्वरता के लिये अभिसंबोधिक्रम का और स्वाधिष्ठान एवं प्रभास्वरता की एकता के लिये युगनद्धक्रम का उपदेश किया गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अनुत्तरसन्धि इनका ग्रन्थ नहीं है। इसके विषय में यहाँ अलग से लिखा जा रहा है। नागार्जुन के पंचक्रम का विशेष परिचय 'धीः' के छठे अंक (पृ. ७४-७५ एवं ८९-९०) में तथा अन्य ग्रन्थों का परिचय "लुप्त बौद्ध वचन संग्रह" के उपोद्घात (भा. १, पृ. १९-२०) में देखा जा सकता है।

अद्वयवज्रसंग्रह में **चतुर्मुद्रा** के नाम से प्रकाशित ग्रन्थ का वास्तविक नाम **मुद्राबन्ध** है और इसके रचयिता नागार्जुन हैं, अद्वयवज्र नहीं। इस विषय की चर्चा गुह्यादि-अष्टसिद्धिसंग्रह के उपोद्घात (पृ. १, टि. ३) में की जा चुकी है। यहाँ

कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, महामुद्रा और समयमुद्रा नामक चार मुद्राओं का स्वरूप स्पष्ट रूप में प्रदर्शित है।

अनुत्तरसन्धि (शाक्यमित्र)

नागार्जुन के पंचक्रम में सर्वशुद्धिविशुद्धिक्रम का दूसरा नाम अनुत्तरसन्धिा बताया गया है और कहा गया है कि यह शाक्यमित्र की रचना है। टिप्पणीकार का कहना है कि शाक्यमित्र ने अपनी बहुश्रुतता को जताने के लिये अपने ग्रन्थ अनुत्तरसन्धि को पंचक्रम के बीच में जोड़ दिया। चर्यागीतिकोशव्याख्या (पृ. ५३) में अनुत्तरसन्धि का एक श्लोक उद्धृत है और सुभाषितसंग्रह (पृ. १२-१४) में अनुत्तरसन्धि को शाक्यमित्र की रचना बताते हुए कुछ श्लोक दिये हैं। ये सभी वचन यहाँ मिल जाते हैं। अत: सर्वशुद्धिविशुद्धिक्रम के अनुत्तरसन्धि से अभिन्न होने से इसे शाक्यमित्र की ही रचना माना जायगा। वस्तुत: पंचक्रम में सर्वशुद्धिविशुद्धिक्रम को मिलाकर क्रमों की संख्या छ: हो जाती है। सहजसिद्धि की संपादिका डॉ. मालती ने पहले पिण्डीक्रम की गणना यहाँ नहीं की। सर्वशुद्धिक्रम को हटाने के बाद पिण्डीक्रम की यहाँ गणना करने पर ही नागार्जुन के पंचक्रम नाम की सार्थकता बनती है। अत: नागार्जुन रचित पाँच क्रमों के नाम ये होंगे— १. पिण्डीक्रम, २. वज्रजापक्रम , ३. स्वाधिष्ठानक्रम, ४. अभिसंबोधिक्रम और ५. युगनद्धक्रम। यहाँ यह भी स्मरण रखना है कि चर्यागीतिकोशव्याख्या (पृ. ३) पर स्मृत वज्रजाप का वचन वज्रजापक्रम में उपलब्ध है। 'धी:' के छठे अंक में प्रकाशित "ग्रन्थपंचक परिशिष्ट" शीर्षक निबन्ध (पृ. ८७-८८) भी देखिये।

चित्तविशुद्धिप्रकरण (आर्यदेव)

आयदेव का चित्तविशुद्धिप्रकरण विश्वभारती, शान्तिनिकेतन से प्रकाशित हुआ है। इसके भी अनेक वचन यत्र-तत्र उद्धृत मिलते हैं। आयदिवपाद के सूतक नाम के ग्रन्थ की चर्चा शाक्यमित्र के प्रसंग में पंचक्रम के टिप्पणीकार परहितरक्षित (पृ. ४४) ने की है। इनका चित्तविशुद्धिप्रकरण चित्तविशुद्धि का प्रतिपादक महनीय ग्रन्थ है। "सर्ववादं परित्यज्य मन्त्रवादं समाचरेत्" (श्लो. १२२) कहकर आर्यदेव मन्त्रवाद के महत्त्व को दिखाते हैं। कश्मीरी शैवतन्त्र मृत्युंजयभट्टारक (नेत्रतन्त्र) का कहना है— "मन्त्रवादो हि सर्वत्र न कार्य:" (२०.५७), "मन्त्रवादो न कर्तव्य:" (२०. ६४)। दोनों स्थलों के वचन परस्परविरोधी-से लगते हैं, किन्तु आर्यदेव ने मन्त्रवाद का प्रयोग मन्त्रयान के लिये किया है और नेत्रतन्त्र में दूसरे के अहित के लिये किये जाने वाले मन्त्रवाद का निषेध किया गया है।

लुप्त बौद्ध वचन संग्रह, प्रथम भाग के उपोद्घात (पृ. १३) में आर्यदेवपाद या आर्यपाद का परिचय दिया गया है। इन दोनों नामों से आर्यदेव ही संबोधित होते हैं। इनके स्वाधिष्ठानप्रभेद, गण्डीस्तव जैसे ग्रन्थों की भी सूचना वहाँ दी गई है।

आलोकमाला (कम्बलपाद)

कम्बलपाद-विरचित आलोकमाला का प्रकाशन सन् १९८५ में कोपेनहेगेन से हुआ है। डॉ. सी. लिंडनर ने तिब्बती अनुवाद के साथ संपादित कर इस ग्रन्थ को इंडिके स्टडीयर, भा. ५, मिसलीनिका बुद्धिका में छपवाया है। इसमें कुल २८२ श्लोक हैं। कुछ श्लोकों का मूल संस्कृत रूप उपलब्ध नहीं हुआ, किन्तु सौभाग्य से भोट अनुवाद पूरा उपलब्ध है। इसके चौथे श्लोक को योगाचार मत के प्रसंग में जयरथ ने तन्त्रालोक-विवेक (१.३३) में उद्धृत किया है। यहाँ 'मलिनम्' के स्थान पर 'कलुषम्' पाठ है। जयरथ ने दो स्थलों पर (१.२४, ४.६) इसके छठे श्लोक को उद्धृत किया है। ११० वें श्लोक में वाक्यपदीय के "ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमपूर्वकम्" (१.३०) इस श्लोक की समालोचना है। १४१-१४२ श्लोकों की तीन पंक्तियाँ उत्पल वैष्णव, क्षेमराज तथा शिवोपाध्याय जैसे कश्मीरी शैव[१] विद्वानों द्वारा स्मृत हैं। १७६, २०६, २३५, २५२, २८० संख्या के श्लोक दोहाकोश आदि की टीकाओं तथा अन्यत्र भी उद्धृत हैं। वसन्ततिलक की टीका (पृ. ९) में यहाँ के ११८ वें श्लोक के "मण्डूकोऽपि" के स्थान पर 'मञ्जुकोऽपि' पाठ है, किन्तु भोट अनुवाद में मण्डूक को ही समर्थन मिलता है।

कम्बलपाद के समय, इनकी शून्यता की परिभाषा और इनकी नवश्लोकी विषय में 'धीः' का छठा अंक (पृ. ९१-९२) और वहाँ की टिप्पणियाँ देखिये।

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थमाला

१. गुह्यादि-अष्टसिद्धिसंग्रह

सर्वप्रथम गुह्यादि-अष्टसिद्धिसंग्रह के नाम से आठ सिद्धि-ग्रन्थों का दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थमाला के प्रथम पुष्प के रूप में सन् १९८७ में यहाँ से प्रकाशन हुआ है। इनमें से ज्ञानसिद्धि और प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि का प्रकाशन "टू वज्रयान वर्क्स" नाम से बौद्ध

१. 'धीः' का प्रथम अंक (पृ. १०२) देखिये। दोहाकोश की व्याख्या (पृ. १००) में भी "तथा चोक्तम्" कहकर यह वचन उद्धृत हुआ है। इसके बाद वहाँ दो श्लोक और मिलते हैं। ये दो श्लोक और दोहाकोशव्याख्या (पृ. १२६) में ही कम्बलाचार्य के नाम से संगृहीत पाँच श्लोक भी आलोकमाला (श्लो. १४३-१४४, १५१-१५५) के ही हैं। सेकोद्देशटीका (पृ. ४८) में दो और सुभाषितसंग्रह (पृ. १७, ४०-४१) में कम्बलाम्बरपाद के नाम से संगृहीत ५ श्लोक क्रमशः यहाँ (श्लो. २३५, २५२, ६-७, २०६, ११७-११८) मिल जाते है। 'धीः' के छठे अंक (पृ. ९७-१०४) में दी गई यहाँ की श्लोकार्धानुक्रमणी की सहायता से अन्य वचनों को भी खोजा जा सकता है।

तन्त्रों के महान् उद्धारक डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य कर चुके थे। इनका विशेष परिचय देने की आवश्यकता नहीं है। इनके अवदानों से हम सभी परिचित हैं। गुह्यादि-अष्टसिद्धिसंग्रह में— १. पद्मवज्र की गुह्यसिद्धि, २. अनंगवज्र की प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि, ३. इन्द्रभूति की ज्ञानसिद्धि, ४. लक्ष्मींकरा की अद्वयसिद्धि, ५. योगिनीचिन्ता की व्यक्तभावानुगतसिद्धि (मन्त्रनीतिशास्त्र), ६. डोम्बी हेरुक की सहजसिद्धि, ७. कुद्दालपाद का अचिन्त्याद्वयक्रमोपदेश और ८. पद्मवज्र की अद्वयविवरण-प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि का समावेश है। अन्तिम सिद्धि का तिब्बती अनुवाद उपलब्ध नहीं होता। बाकी सात सिद्धियों का भोट अनुवाद जिस क्रम से उपलब्ध है, उसी क्रम से उनको यहाँ स्थान दिया गया है। इसके लिये देगे के तिब्बती तन्ग्युर-संग्रह के २२१७ संख्या के बी भाग को देखा जा सकता है। इस भोट अनुवाद को भी यहाँ प्रकाशित किया गया है। इन सिद्धियों की बाह्य और आन्तर परीक्षा प्रस्तुत संस्करण के उपोद्घात (पृ. १-५४) में की गई है। यहाँ उसी के आधार पर सिद्धिकारों के काल के विषय में कुछ कहा जा रहा है।

सिद्धिकारों का कालनिर्णय

डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य ने साधनमाला के उपोद्घात में तथा "एन इंट्रोडक्शन टू बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म" नामक ग्रन्थ (पृ. ६३-६५) में पद्मवज्र से लेकर डोम्बी हेरुक तक के आठ सिद्धिकार आचार्यों की तथा सरहपाद से लेकर नारोपा तक के बारह सिद्धाचार्यों की नामावली दी है और उनका काल उन्होंने क्रमशः ६९३ ई. से लेकर ७७७ ई. तक एवं ६३३ ई. से लेकर ९९० ई. तक माना है। दूसरी सूची में दसवें आचार्य विजयपा के बाद कुछ नाम छूट गये हैं, ऐसा उनका मानना है। इसीलिये अपने दूसरे ग्रन्थ में वे सरहपाद से विजयपा पर्यन्त सिद्धाचार्यों का काल ६३३ ई. से ७४१ ई. पर्यन्त और २३७ वर्ष के बाद ९७८ ई. में तिलोपा और ९९० ई. में नारोपा की स्थिति मानते हैं। तारनाथ के प्रमाण से वे कहते हैं कि सरहपाद ने बुद्धकपालतन्त्र, लुइपा ने [1]योगिनीसंचर्या, कम्बल और पद्मवज्र ने हेवज्रतन्त्र, कृष्णाचार्य ने सम्पुटतिलकतन्त्र,

१. लामा तारनाथ रचित इतिहास के "भारत में बौद्ध-धर्म का इतिहास" नामक हिन्दी अनुवाद के पृ. १४५-१४६ पर यह विषय मिलता है। वहाँ इन आचार्यों के द्वारा ये तन्त्र लाये गये, ऐसा लिखा गया है। वहाँ इनको तन्त्रों का रचयिता नहीं माना गया है। योगचार, योगसंचर अथवा योगसंचार नाम का ग्रन्थ तन्त्रालोक और उसकी टीका एवं तन्त्रसार में उद्धृत है। योगिनीसंचार का हस्तलेख नेपाल के वीर पुस्तकालय की तन्त्रसूची के भा. २, पृ. ११२ पर निर्दिष्ट है। योगिनीसंचर्या का प्रकाशन अब दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना से हो चुका है। योगिनीसंचार का कोई भी वचन यहाँ उपलब्ध नहीं होता, अतः इन दोनों की भिन्नता ही मानी जायगी।

ललितवज्र ने कृष्णयमारितन्त्र, गंभीरवज्र ने वज्रामृततन्त्र, कुक्कुरिपाद ने महामायातन्त्र और पिटोपा ने कालचक्रतन्त्र की रचना की। यहाँ पिटोपा के सिवाय अन्य सभी आचार्य प्रसिद्ध हैं। क्या इनका यही नाम वास्तविक है?

तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षित ने भगवान् बुद्ध का एक वचन उद्धृत किया है—

तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्।। (श्लो. ३५८७)

जब बुद्धवचन को भी सम्यक् परीक्षा के बाद ही हमें ग्रहण करना है, तब तारनाथ की उक्तियों की परीक्षा तो अनिवार्य हो जाती है। तारनाथ की उक्ति की यदि अन्य प्रमाणों से भी पुष्टि हो जाती है, तो वह अवश्य ही स्वीकार्य होनी चाहिये। भोजप्रबन्ध में पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि को भी राजा भोज के दरबार में ला उपस्थित किया गया है। यदि तारनाथ के इतिहास में भी कुछ इसी तरह की बातें कही गयी हैं, तो उनको प्रमाण नहीं माना जा सकता। अतः वज्रयान के ग्रन्थकारों का ऐतिहासिक क्रम निर्धारित करते समय बहुत सावधानी बरतनी होगी।

हमने ऊपर बताया है कि डॉ. बी. भट्टाचार्य ने आचार्यों की दूसरी सूची के विषय में कहा है कि विजयपा के बाद कुछ नाम छूट गये हैं। ऐसा उन्होंने विजयपा और तिलोपा के बीच के काल के अन्तर को देखकर कहा है, किन्तु यह भी तो कहा जा सकता है कि श्री भट्टाचार्य ने इन आचार्यों का जो तिथिक्रम निर्धारित किया है, वही ठीक नहीं है। हेवज्रतन्त्र के सम्पादक [1]डॉ. डी. एल. स्नेलग्रोव तथा अद्वयसिद्धि और सहजसिद्धि की सम्पादिका [2]डॉ. मालती को डॉ. बी. भट्टाचार्य द्वारा निर्धारित हेवज्रतन्त्र तथा इन्द्रभूति आदि की तिथियाँ स्वीकार्य नहीं हैं। डॉ. स्नेलग्रोव हेवज्रतन्त्र का रचनाकाल ८वीं शताब्दी का अन्तिम भाग मानते हैं और हेवज्रतन्त्र के रचयिता के रूप में सरोरुह और कम्पल के नाम देते हैं। डॉ. बी. भट्टाचार्य पद्मवज्रपाद और कम्बलपाद को हेवज्रतन्त्र का उद्भावक मानते हैं। उनके मत से पद्मवज्र और सरोरुह एक ही व्यक्ति हैं। डॉ. मालती ने अद्वयसिद्धि की भूमिका में कम्बल और सहजसिद्धि की भूमिका में हेवज्रतन्त्र के सम्पादक का अनुसरण करते हुए कम्पल नाम दिया है। तारनाथ आचार्य का नाम कम्बल देते हैं। आचार्य का सही नाम यही है। कम्बलपाद की आलोकमाला प्रकाशित हो चुकी है। प्रत्यभिज्ञादर्शन के ग्रन्थों में भी इसके उद्धरण मिलते हैं।

१. हेवज्रतन्त्र, प्रथम भाग, भूमिका, पृ. ११-१९
२. अद्वयसिद्धि, पृ. ११-१२ तथा सहजसिद्धि, पृ. १२७

डॉ.[1] स्नेलग्रोव सहजसिद्धि के रचयिता डोम्बी हेरुक को सरोरुह और कम्पल का पूर्ववर्ती मानते हैं और कहते हैं कि प्रथमत: इन्होंने ही हेवज्रतन्त्र का संक्षिप्त स्वरूप उपस्थापित किया। वे डोम्बी हेरुक का समय ८वीं शताब्दी का मध्य भाग मानते हैं। [2]डॉ. मालती भी इन्हीं की बात को दुहराती हैं। डॉ. स्नेलग्रोव और डॉ. मालती इन आचार्यों की तारनाथ द्वारा दी गई सूचियों को उद्धृत करते हैं, किन्तु इनमें हमें समानता नजर नहीं आती।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि उक्त आचार्यों के कालक्रम के विषय में इन विद्वानों में परस्पर मतभेद है। डॉ. बी. भट्टाचार्य ने जो कालक्रम निर्धारित किया है, उसकी एक ही कमजोरी है कि उन्होंने दूसरी सूची की दसवीं संख्या के बाद ११वीं और १२वीं संख्या के आचार्यों के बीच में २३७ वर्षों का अन्तर देखकर यह कल्पना कर ली कि यहाँ कुछ नाम छूट गये हैं। यह उनको इसलिये करना पड़ा कि तिलोपा और नारोपा का समय अन्य प्रमाणों से भी वही सिद्ध हो चुका है, जिसकी सूचना उन्होंने दी। यदि हम इन आचार्यों की परम्परा के बीच में कोई व्यवधान न मानकर अन्तिम दो आचार्यों के समय के आधार पर अन्य आचार्यों के समय को निश्चित करना चाहें, तो वह इस प्रकार होगा—

१.	सरह	८५८	७.	जालन्धरी	९३०
२.	नागार्जुन	८७०	८.	कृष्णाचार्य	९४२
३.	शबरिपा	८८२	९.	गुह्य (भद्रपाद)	९५४
४.	लुइपा	८९४	१०.	विजयपा	९६६
५.	वज्रघण्टा	९०६	११.	तिलोपा	९७८
६.	कच्छपा	९१८	१२.	नारोपा	९९०

ऐसा करने में विसंगति आवेगी। यहाँ प्रकाशित हो रही आठ सिद्धियों में से ५वीं व्यक्तभावानुगततत्त्वसिद्धि, जिसका दूसरा नाम मन्त्रनीतिशास्त्र भी है, योगिनी चिन्ता की कृति है। सुभाषितसंग्रह में इसे सरहपाद (राहुलभद्र) की कृति मानकर उसके अनेक श्लोक तथा गद्यभाग भी उद्धृत किये गये हैं। इसके [3]मंगलाचरण श्लोक को

१. हेवज्रतन्त्र, प्रथम भाग, भूमिका, पृ. १२-१४

२. सहजसिद्धि, पृ. १२७

३. जयति सुखराज एक: कारणरहित: सदोदितो जगताम्।
यस्य च निगदनसमये वचनदरिद्रो बभूव सर्वज्ञ:।। (व्य. त. सि. १)
यहाँ सुखराज को सदोदित कहा गया है। शिव अथवा विष्णु के पर अथवा निष्कल स्वरूप के लिये सदोदित अथवा नित्योदित शब्द का तथा व्यूह अथवा सकल स्वरूप के लिये शान्तोदित शब्द का प्रयोग शैव तथा वैष्णव आगमों में भी मिलता है।

सेकोद्देश-टीकाकार नारोपा भी सरहपाद के नाम से ही उद्धृत करते हैं (पृ. ६३)। डॉ. भट्टाचार्य द्वारा निर्धारित योगिनी चिन्ता के तथा ऊपर की सूची में निर्दिष्ट सरहपाद के काल में १२३ वर्ष का अन्तर पड़ जाता है। इन सब विसंगतियों को देखते हुए हमें ऐसा लगता है कि इस दूसरी सूची के आचार्यों के काल-निर्णय के लिये अभी हमें कुछ निश्चित सुदृढ़ आधार प्रस्तुत करने पड़ेंगे। तिलोपा और नारोपा के काल के विषय में विद्वानों में कोई विवाद नहीं है। अन्य आचार्यों के विषय में भी हमें ऐसे ही निर्विवाद तथ्यों की खोज करनी होगी।

यहाँ सातवें क्रम में प्रकाशित हो रही कुद्दालपाद की कृति अचिन्त्याद्वयक्रमोपदेश (श्लो. ८८-८९) में ग्रन्थकार ने अपनी गुरु-परम्परा इस प्रकार दी है— परमाश्व, वीणापाद, इन्द्रभूति, लक्ष्मी, विलासवज्र, गुण्डेरी, पद्माचार्य, धर्मपाद और भद्रपाद। अद्वयसिद्धि की भूमिका में [1]डॉ. मालती द्वारा उद्धृत तारनाथ की पहली सूची में अश्वपाद, लीलापाद, विलासवज्र और इन्द्रभूति के तथा हेवज्रतन्त्र की भूमिका में [2]डॉ. स्नेलग्रोव द्वारा उद्धृत तारनाथ की ही सूची में अश्वपाद, विलासवज्र और इन्द्रभूति द्वितीय के नाम हैं। इन्द्रभूति प्रथम को यहाँ अश्वपाद के समकक्ष रखा गया है। कुद्दालपाद द्वारा प्रदत्त परमाश्व तथा ऊपर निर्दिष्ट तारनाथ की सूची के अश्वपाद एक ही आचार्य के नाम हो सकते हैं। कुद्दालपाद ने इन्द्रभूति और लक्ष्मी को विलासवज्र से पहले रखा है। यही क्रम हमें उचित प्रतीत होता है। [3]डॉ. भट्टाचार्य लिखते हैं कि लीलावज्र लक्ष्मींकरा के साक्षात् शिष्य थे और वे विलासवज्र को भी अपना गुरु मानते थे। इससे भी यही सिद्ध होता है कि विलासवज्र लक्ष्मींकरा के समसामयिक अथवा परवर्ती थे। सम्भव है लक्ष्मींकरा की मृत्यु के बाद लीलावज्र ने विलासवज्र को गुरु के रूप में स्वीकार किया हो। [4]डॉ. स्नेलग्रोव भट्टाचार्य की दूसरी सूची के नवें आचार्य गुह्य को भद्रपाद से अभिन्न मानते हैं। वे कहते हैं कि ये हेवज्रतन्त्र के टीकाकार हैं और इनकी टीका का इन्होंने अपने संस्करण में खुलकर उपयोग किया है। हेवज्रतन्त्र के टीकाकार गुह्य अथवा भद्रपाद ही कुद्दालपाद के गुरु हैं, इस विषय की परीक्षा होनी चाहिये।

डॉ. बी. भट्टाचार्य द्वारा प्रस्तुत आचार्यों की पहली सूची और उनका कालक्रम हमें बहुत कुछ सही मालूम पड़ता है। तिब्बती तन्ग्युर में भट्टाचार्य द्वारा प्रस्तुत क्रम से ही

---

१. अद्वयसिद्धि, पृ. १२ टिप्पणी देखिये।

२. हेवज्रतन्त्र, प्रथम भाग, भूमिका, पृ. १३

३. एन इन्ट्रो., पृ. ७७-७८

४. हेवज्रतन्त्र, प्रथम भाग, भूमिका, पृ. १४, टिप्पणी १

इन आचार्यों की कृतियों का अनुवाद किया गया है। [१]डॉ. स्नेलग्रोव भी यह मानते हैं कि महापद्मवज्र (पद्मसम्भव) इन्द्रभूति के दत्तक पुत्र थे और ये आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में तिब्बत गये। दारिकपा का समय भी वे ८वीं शताब्दी का उत्तरार्ध मानते हैं। ये तिथियाँ भट्टाचार्य द्वारा निर्धारित तिथियों से मिलती हैं। मतभेद तब उठता है, जब डॉ. स्नेलग्रोव दो इन्द्रभूतियों की कल्पना करते हैं और [२]डॉ. मालती लक्ष्मींकरा का समय नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में तथा डोम्बी हेरुक का समय ८वीं शताब्दी के मध्य में मानती हैं। इस धारणा के मूल में यह स्थापना काम कर रही है कि हेवज्रतन्त्र का उपदेश पद्मवज्र और कम्बलपाद ने किया और इसका सार डोम्बी हेरुकपाद ने इन आचार्यों से पहले ही प्रस्तुत कर दिया था।

हमारी दृष्टि में सरोरुह और कम्बल ने हेवज्रतन्त्र का उपदेश किया, इस स्थापना की पुन: परीक्षा अपेक्षित है। यदि पद्मवज्र का ही दूसरा नाम सरोरुह है, यदि कम्बलपाद इनके समसामयिक हैं और यदि ये पद्मवज्र गुह्यसिद्धिकार ही हैं, तो हमारे मत से ये कथमपि हेवज्रतन्त्र के आविष्कारक नहीं हो सकते। गुह्यसिद्धि में कहीं भी इस तन्त्र की चर्चा नहीं है। गुह्यसमाज तन्त्र को यहाँ बहुत ही आदर के साथ अनेक बार स्मरण किया गया है। पद्मवज्र का यह वचन देखिये—

श्रीसमाजात् परं नास्ति रत्नभूतं त्रिधातुके।
सारात् सारतरं प्रोक्तं तन्त्राणामुत्तरोत्तरम्।। (१.६०)

गुह्यसिद्धि की समस्त चर्चाएँ गुह्यसमाज पर आधारित हैं। किसी भी विशेष बात को कहते समय वे इसको प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। हेवज्रतन्त्र का उल्लेख यहाँ कहीं भी नहीं मिलता। इतना ही नहीं, इस आचार्य-परम्परा में तीसरे आचार्य इन्द्रभूति हैं। अपनी ज्ञानसिद्धि में वे अनेक तन्त्र-ग्रन्थों को उद्धृत करते हैं, किन्तु वहाँ भी हेवज्रतन्त्र का कोई उल्लेख नहीं है। हमारे मत से डोम्बी हेरुकपाद ही हेवज्रतन्त्र के आविष्कारक होने चाहिये। यहाँ प्रकाशित की जा रही सिद्धियों में डोम्बी हेरुक की सहजसिद्धि (३.१) में ही वह हेवज्रयोगिनीतन्त्र के नाम से स्मृत है। अद्वयविवरणप्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि में भी बिना नाम के हेवज्रतन्त्र के वचन मिलते हैं और इसके भी कर्ता पद्मवज्र हैं, किन्तु वे गुह्यसिद्धिकार से अवश्य ही भिन्न हैं, क्योंकि यहाँ (पृ. २१४) अनंगवज्र की प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि (१.१६-१८, २५-२६) के पाँच श्लोक उद्धृत हैं और अनंगवज्र गुह्यसिद्धिकार के परवर्ती हैं।

---

१. वहीं, पृ. १४ एवं १५
२. अद्वयसिद्धि, पृ. ११-१२

इन सभी आचार्यों की निश्चित तिथि दे पाना एक कठिन कार्य है, किन्तु हम इतना कह सकते हैं कि डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य ने इनकी जो तिथि दी है, वह बहुत कुछ सही है। इन आठ आचार्यों में से लीलावज्र और दारिकपा को छोड़कर छः आचार्यों की एक-एक कृति यहाँ प्रकाशित की गयी है। सातवें आचार्य हैं भद्रपाद के शिष्य कुद्दालपाद। आठवें आचार्य पद्मवज्र हैं, जिनके विषय में अभी हम लिख चुके हैं।

२. ज्ञानोदय तन्त्र

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थमाला के द्वितीय पुष्प के रूप में सन् १९८८ में इसका प्रकाशन हुआ है। यहाँ चित्त, वाक् और काय चक्रों के अन्तर्गत ध्येय दस भूमियों और चौबीस पीठों का विवरण देने के बाद शरीर में स्थित नाड़ियों और चक्रों का परिचय देकर उनकी भावना का प्रकार बताया गया है। आगे सहजप्रज्ञा योग, वसन्ततिलका योग, समुत्पन्नक्रम योग और प्रज्ञोपाय योग का परिचय देकर षट्चक्रविशुद्धि योग और पंचज्ञानविशुद्धि की भावना का विस्तार से वर्णन किया गया है। इस प्रकार यह लघुतन्त्र अतिसंक्षेप में बौद्ध तन्त्रों में वर्णित योग का समग्र वर्णन प्रस्तुत करता है। इस ग्रन्थ का भोट अनुवाद प्राप्त नहीं होता। हमारी दृष्टि से इसका योग विभाग में समावेश होना चाहिये, अनुत्तर तन्त्र में नहीं।

इन विषयों की और यहाँ प्रदर्शित अन्य विषयों की भी विस्तार से चर्चा 'धी:' पत्रिका के १५वें अंक में प्रकाशित "ग्रन्थचतुष्टयी विमर्श" शीर्षक निबन्ध (पृ. २६०-२६३) में की गई है। इस तन्त्र के काल के विषय में अभी कुछ कहा नहीं जा सकता। ग्रन्थों के प्रतिपाद्य विषयों का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करने से उन-उन ग्रन्थों के साथ इस ग्रन्थ के पौर्वापर्य पर कुछ प्रकाश पड़ सकता था, किन्तु ऐसा कोई भी सूत्र हमें अभी मिल नहीं पाया है।

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ परिचय

बौद्ध तन्त्रशास्त्र के अनुशीलन के लिये मूल संस्कृत ग्रन्थों की बहुत कमी है। पूर्वाचार्यों ने जिन ग्रन्थों का भोट भाषा में अनुवाद किया था, वे भी आज भारत में उपलब्ध नहीं हैं। एकमात्र नेपाल ही ऐसा देश है, जहाँ बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ आज भी उपलब्ध है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, डॉ. रघुवीर आदि विद्वानों ने दुरूह स्थानों पर पहुँचकर जो महत्त्वपूर्ण सामग्री एकत्र की, वह भी सभी जिज्ञासुओं को उपलब्ध नहीं हो पाती। इसी प्रकार की कठिनाइयों को देखते हुए स्व. जगन्नाथ उपाध्याय जी ने भारत सरकार की सहायता से केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ वाराणसी

में दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना की स्थापना की। अनुपलब्ध सामग्री का अन्वेषण तथा उसकी सूचना जिज्ञासु पाठकों तक पहुँचाना इसका मुख्य उद्देश्य रखा गया और इसके लिये 'धी:' पत्रिका को माध्यम बनाया गया।

'धी:' पत्रिका में दुर्लभ ग्रन्थ परिचय, लुप्त बौद्ध-वचन संग्रह, बौद्ध पारिभाषिक शब्दों का अभिप्राय और दुर्लभ ग्रन्थों की आधार सामग्री नामक चार शीर्षक निर्धारित किये गये। 'धी:' के विभिन्न अंकों में संकलित यह सामग्री अब दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ परिचय, लुप्त बौद्ध-वचन संग्रह, बौद्ध तन्त्रकोश और दुर्लभ ग्रन्थों की आधार सामग्री नामक ग्रन्थों का आकार ले चुकी है। उनमें से प्रथम ग्रन्थ के प्रथम भाग में लगभग २०० ग्रन्थों का विस्तृत परिचय दिया गया है। दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थमाला के तृतीय पुष्प के रूप में सन् १९९० में इसका प्रकाशन हुआ था। ग्रन्थमाला के १७वें पुष्प के रूप में इसके द्वितीय भाग का प्रकाशन सन् १९९७ में हुआ है। इसमें १०३ ग्रन्थों का विस्तृत विवरण दिया गया है। विवृत ग्रन्थों और ग्रन्थकारों की अनुक्रमणी प्रथम भाग के समान यहाँ भी दी गई है। इस सामग्री के समुपस्थापक लिपिविशेषज्ञ तथा इस संस्थान के कार्यकारी निदेशक पं. श्री जनार्दन शास्त्री पाण्डेय हैं।

दुर्लभ ग्रन्थों की आधार सामग्री

ग्रन्थ की पृष्ठभूमि पर पूर्व ग्रन्थ में प्रकाश डाला जा चुका है। इसकी सामग्री के समुपस्थापक इस योजना के वरिष्ठ अनुसन्धाता डॉ. ठाकुरसेन नेगी हैं। इसका प्रथम भाग दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थमाला के चतुर्थ पुष्प के रूप में सन् १९९० में प्रकाशित हुआ है। देश-विदेश में प्रकाशित ग्रन्थसूचियों के आधार पर इसके प्रथम भाग में बौद्ध तन्त्र विषयक २७२ ग्रन्थों की मातृकाओं की सूचना दी गई है कि वे कहाँ-कहाँ उपलब्ध हैं। इसके द्वितीय भाग का प्रकाशन सन् १९९७ में दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थमाला के १८वें पुष्प के रूप में हुआ। यहाँ ११४८ ग्रन्थों की मातृकाओं के विषय में जानकारी दी गई है कि वे कहाँ-कहाँ उपलब्ध हैं। इतना ही नहीं, इन दोनों भागों में इस बात की भी सूचना दी गई है कि इनके चीनी और तिब्बती अनुवाद उपलब्ध हैं या नहीं।

बौद्ध तन्त्र कोश

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना, सारनाथ से इस ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ है। २२ मुद्रित ग्रन्थों के आधार पर इसके प्रथम भाग का संकलन हुआ है। इन ग्रन्थों का परिचय प्रारंभ में ही दे दिया गया है। यहाँ सात सौ से अधिक पारिभाषिक शब्दों के अर्थ संकलित हैं। इन शब्दों की व्याख्या के प्रसंग में अन्य अनेक शब्दों की भी परिभाषाएँ

आई हैं। जैसे अभिसंबोधिचतुष्टय शब्द के अन्तर्गत एकक्षण आदि चार अभिसंबोधियों की तथा इसी तरह से एकादश सेकों अथवा अभिषेकों की, आठ सिद्धियों की, चार क्षण, चार काय, चार मुद्रा और चार चक्रों की, विविध योगों, चर्याओं और सिद्धियों की व्याख्या उन उन प्रसंगों में मिलती हैं। इस तरह के प्रसंगवश व्याख्यात शब्दों तक पाठकगण सरलता से पहुँच सकें, इसके लिये ग्रन्थ के अन्त में शब्दानुक्रमणी जोड़ी गई है। इसके प्रथम भाग का प्रकाशन सन् १९९० में दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थमाला के पंचम पुष्प के रूप में हुआ है। इन पंक्तियों के लेखक एवं श्री ठिनलेराम शाशनी के संमिलित प्रयास का यह फल है। इसके द्वितीय भाग के सम्पादक श्री ठिनलेराम शाशनी हैं। इसका प्रकाशन उक्त ग्रन्थमाला के १५वें पुष्प के रूप में सन् १९९७ में हुआ है। जिन नौ ग्रन्थों के आधार पर परिभाषाओं का संकलन किया गया है, उनकी नामावली प्रारंभ में दे दी गई है। यह कार्य प्रथम भाग के लिये निर्णीत पद्धति से ही सम्पन्न हुआ है।

लुप्त बौद्ध-वचन संग्रह

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना, सारनाथ से इस ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ है। १९ ग्रन्थों के आधार पर बौद्ध तन्त्रशास्त्र के अनेक ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के वचन यहाँ संगृहीत हैं और उनमें से ११५ ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का संक्षिप्त परिचय भी दिया गया है। इनमें से अनुत्तरसन्धि, आलोकमाला जैसे ग्रन्थ अब प्रकाशित हो चुके हैं, तब भी मुद्रित ग्रन्थों के अथवा यहाँ संगृहीत वचनों के पाठों का संशोधन करने में तथा कहीं-कहीं पाठपूर्ति में भी इनसे सहायता मिल सकती है। अद्वयवज्रसंग्रह में प्रकाशित अप्रतिष्ठानप्रकाश में यहाँ संकलित वचन नहीं मिलता। स्पष्ट है कि अद्वयवज्र और नागार्जुन रचित एक ही नाम के ये दो भिन्न ग्रन्थ हैं। इनसे अन्य भी अनेक प्रकार की सूचनाएँ मिलती हैं, जिनका यथास्थान मूल अथवा टिप्पणियों में समावेश किया गया है। इसके प्रथम भाग का प्रकाशन सन् १९९० में दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थमाला के पष्ठ पुष्प के रूप में हुआ है। प्रो. व्रजवल्लभ द्विवेदी एवं डॉ. ठिनलेराम शासनी के संमिलित प्रयास का यह फल है।

वसन्ततिलक सटीक

उक्त आठ सिद्धियों के अतिरिक्त यहाँ से प्रकाशित दूसरा विशिष्ट ग्रन्थ चर्याव्रती कृष्णाचार्य का वसन्ततिलक है। वनरत्न की टीका के साथ इस ग्रन्थ का प्रकाशन उक्त ग्रन्थमाला के सप्तम पुष्प के रूप में सन् १९९० में हुआ है। मूल ग्रन्थ और टीका का भोट अनुवाद भी साथ में प्रकाशित है और परिशिष्टों में दशबल और श्रीघन रचित

वसन्ततिलका भी समविष्ट हैं। ग्रन्थकार का कहना है कि [1]योगपीठविनिर्गत इस साधनोपायिका की रचना इन्होंने चक्रसंवरतन्त्र के आधार पर की है (१.३)। टीकाकार ने योगपीठ के आत्म, पर, मन्त्र और तत्त्व नामक चार विभाग किये हैं और इनमें से प्रत्येक का स्थान क्रमशः नाभि, हृदय, कण्ठ और शीर्ष माना है (पृ. ६)। ग्रन्थकार के उक्त वचन का अभिप्राय यह है कि उसने चक्रसंवरतन्त्र की पद्धति से चार योग-पीठों की साधना पूरी करके आत्मप्रत्यय के आधार पर, अर्थात् अपने ज्ञान के सहारे इस ग्रन्थ की रचना की है।

प्रत्येक विषय का यहाँ बाह्य और आन्तर स्वरूप स्पष्ट रूप से बताया गया है, अर्थात् उत्पत्तिक्रम और निष्पन्नक्रम की प्रक्रिया का निरूपण किया गया है। अधिक स्पष्ट शब्दों में हम कह सकते हैं कि यहाँ सारी बाह्य प्रक्रिया उत्पत्तिक्रम के तथा आन्तर (आध्यात्मिक) प्रक्रिया निष्पन्नक्रम के अधीन मानी गई है। उदाहरण के लिये उत्पत्तिक्रम की पद्धति से ३७ बोधिपाक्षिक धर्मों की बाह्य मण्डलचक्र में स्थापना की जाती है और निष्पन्नक्रम की पद्धति से ३७ नाड़ीचक्रों में इनकी भावना की जाती है। इतना होने पर भी यहाँ प्रधानता निष्पन्नक्रम की ही है। इसीलिये टीकाकार इसको निष्पन्नक्रम-साधनोपायिका कहते हैं। प्रथम निर्देश में स्वयं ग्रन्थकार ने बाह्य प्रक्रिया को हेय माना है।

ग्रन्थरचना का प्रयोजन

यहाँ बताया गया है कि वज्रडाकिनी तो प्रत्येक प्राणी के देह में विद्यमान है, किन्तु उसको जानने की जिज्ञासा कुछ ही लोगों को होती है। ऐसे ही कुछ लोगों का मार्ग-दर्शन करने के लिये इस ग्रन्थ की रचना की गई है। यहाँ बताया गया है कि

---

१. चतुष्पीठ महातन्त्र में आत्म, पर, योग और गुह्य नामक चार पीठ वर्णित हैं और यहाँ टीकाकार इनको योगपीठ के चार भेदों के रूप में प्रस्तुत करते हैं। ज्ञानोदयतन्त्र (पृ. ६) में पर, आत्म, योग और तत्त्व नामक चार पीठ निर्दिष्ट हैं। यहाँ गुह्य के स्थान पर तत्त्व नामक विभाग उल्लिखित है, जो टीकाकार की नामावली में भी है। योगपीठ के ये चार भेद हैं या ये स्वतन्त्र चार पीठ हैं, इस पर अभी विशेष प्रमाणों के अभाव में कुछ नहीं कहा जा सकता। ब्रह्मयामल में विद्या, मन्त्र, मुद्रा और मण्डल नामक चार पीठों में तन्त्रों को बाँट कर विद्यापीठ और मुद्रापीठ के प्रतिपादक तन्त्रों के नाम गिनाये गये हैं। स्वच्छन्दतन्त्र अपने को चतुष्पीठ-संहिता कहता है। इसका अभिप्राय यह है कि तन्त्रों के क्रिया, चर्या आदि विभागों की तरह विद्या, मुद्रा आदि विभाग भी मान्य रहे हैं। उनके अलग-अलग तन्त्र भी उपलब्ध थे। स्वच्छन्दतन्त्र में इन सभी विषयों का समाहार किया गया था। इस विषय की चर्चा पहले हो चुकी है। हमें अनेक बौद्ध तन्त्रों में भी क्रिया, चर्या आदि सभी विषयों का वर्णन मिलता है। यह तो स्पष्ट ही है कि इस चतुर्विध पीठ विभाग का योगपीठ अथवा चतुष्पीठ विभाग से कोई सम्बन्ध नहीं है।

स्वभावत: देखा जाय तो मण्डल, होम, भावना (ध्यान), जप आदि सारे विधिविधान कृत्रिम हैं, [1]कर्मकाण्ड से भरे हुए हैं। अपने सहज स्वरूप को जानने में इन उपायों से कोई सहायता नहीं मिल सकती। हाँ, इन कृत्रिम उपायों से सहज स्वरूप को जानने की योग्यता प्राप्त हो सकती है, लेकिन इससे अपने सहज स्वरूप की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती। अत: व्यक्ति को नदी पार कर लेने के बाद जैसे नाव की आवश्यकता नहीं रह जाती, उसी तरह से इस कृत्रिम प्रक्रिया की भी स्थिति है। अभ्यास में प्रथमत: प्रवृत्त योगी इनका सहारा लेते हैं। शास्ता ने तथा अन्य आप्तजनों ने शास्त्र में नाना प्रकार के उपदेश दिये हैं। ये सब शब्दजाल मात्र हैं। इनके अनुष्ठान में क्लेश अधिक है। इतने पर भी वे अपने चित्त को स्थिर नहीं कर पाते। अत: ग्रन्थकार का कहना है कि मण्डल आदि के सारे विधिविधान व्यक्ति को मोक्ष की प्राप्ति नहीं करा सकते। बुद्धत्व की प्राप्ति तो निर्विकल्प और सविकल्प इन दोनों स्वरूपों से परे विद्यमान सुविशुद्ध तत्त्व के ज्ञान से ही हो सकती है। वस्तुत: क्रिया और कारक की कोई वास्तविक स्थिति नहीं है। परमतत्त्व का स्वरूप तो इन दोनों से अतीत है। सारी कृत्रिम प्रक्रिया को छोड़कर अपने सहज स्वरूप को समझने पर ही इस तत्त्व की प्रतीति हो सकती है।

इस सहज स्वरूप की प्रतीति कैसे हो, इसकी प्रक्रिया को बताने के लिये ही आगे के नौ निर्देशों की रचना की गई हैं। यहाँ बताया गया है कि उत्पत्तिक्रम की सारी कृत्रिम प्रक्रियाओं को छोड़कर उत्पन्न (निष्पन्न) क्रम की प्रक्रिया का वरण करना चाहिये।

इसीलिये टीकाकार ने स्पष्ट कर दिया है कि यह साधनोपायिका बाह्य अभिनिवेश का त्याग करा कर अध्यात्म में प्रवेश कराती है, क्योंकि सुविशुद्ध तत्त्व के परिज्ञान से ही बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। टीकाकार ने इस प्रसंग (पृ. ८) में रत्नपुद्गल, चन्दन आदि का उल्लेख किया है। [2]शास्त्रों में रत्न, चन्दन, पद्म, पुण्डरीक और उत्पल नामक पाँच प्रकार के पुद्गलों का निरूपण मिलता है। इन पाँच प्रकार के पुद्गलों में

१. ठीक इसी अभिप्राय के वचन कश्मीरी योगशास्त्र के ग्रन्थ विज्ञानभैरव के प्रारम्भ और अन्त में भी मिलते हैं। यहाँ भगवान् भैरव के सकल स्वरूप को नि:सार बताया गया है और कहा गया है कि साकार की उपासना मातृमोदक के समान है (श्लो. १३)। माता जैसे लड्डू देने का लोभ देकर बच्चे को कड़वी दवा खिलाती हैं, उसी तरह से निराकार स्वरूप में प्रवेश पाने के लिये साकार की उपासना का विधान है। यहाँ हम इस साकार और निराकार की उपासना को क्रमश: उत्पत्तिक्रम और निष्पन्नक्रम की प्रक्रिया से जोड़ सकते हैं।

२. गुह्यसमाज-प्रदीपोद्योतन में उद्धृत किसी व्याख्यातन्त्र में सप्तविध अलंकार, षट्कोटिव्याख्यान आदि का विवरण उपलब्ध है। 'धी:' के छठे अंक में प्रकाशित "सप्तविधालंकाराख्यायिका न्याय" शीर्षक हमारे निबन्ध से इन सब विषयों का, विशेष कर रत्न, चन्दन आदि पुद्गलों का परिचय प्राप्त किया जा सकता है (पृ. ८५)।

से रत्नपुद्गल को ही वहाँ शास्त्र का अधिकारी माना है। यहाँ (पृ. ८) टीकाकार ने भी बताया है कि रत्नपुद्गल अपने पूर्व जन्मों के संस्कार के कारण इस जन्म में अकृत्रिम स्वरूप को अधिक सरलता से समझ सकता है। इस ग्रन्थ का विस्तार से परिचय प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रस्तावना (पृ. २०-२५) में देखा जा सकता है।

कृष्णाचार्य

वसन्ततिलका के रचयिता कृष्णाचार्य को यहाँ चर्याव्रती कहा गया है। उन्मत्तव्रत, विद्याव्रत, गुह्यचर्या, कापालिकचर्या आदि शब्दों का प्रयोग सिद्ध-साहित्य में मिलता है। हम समझते हैं चर्याव्रती शब्द का प्रयोग इन्हीं अर्थों में यहाँ हुआ है। कृष्णाचार्य की दोहाकोश आदि रचनाओं में हमें इन सब चर्याओं के दर्शन होते हैं। सिद्धाचार्यों की अपभ्रंश रचनाओं का अब तक प्रायः स्वतन्त्र अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है, किन्तु हम देखते हैं कि अनेक सिद्धाचार्यों की अपभ्रंश रचनाओं के साथ संस्कृत भाषा में निबद्ध वचन या ग्रन्थ भी मिलते हैं। "लुप्त बौद्ध वचन संग्रह" (प्रथम भाग) में जिन अनेक सिद्धाचार्यों के ऐसे वचन संकलित किये गये हैं, उनमें कृष्णाचार्य भी एक हैं। कम्बलाम्बरपाद की आलोकमाला का प्रकाशन हो चुका है। सरहपाद के भी "प्रबन्ध" नामक संस्कृत ग्रन्थ की सूचना हमें मिलती है। इस उभयविध सिद्ध-साहित्य में प्रतिपादित चर्याओं का आचरण करने के कारण ही संभवतः कृष्णपाद अपने को चर्याव्रती कहते हैं।

बौद्ध वज्रयान साहित्य (अपभ्रंश और संस्कृत) में कृष्णपाद या कृष्णाचार्य आदि नाम वाले अनेक आचार्यों की सत्ता मानी गई है और इनका समय ७००-१२०० ई. के बीच निर्धारित है। जालन्धरपाद के शिष्य कृष्णपाद के अनेक ग्रन्थों का विवरण "न्यू कैटलागस् कैटलागरम्" (भा. ४, पृ. २२९-२३१) में मिलता है। अभी हाल में प्रकाशित हुए डॉ. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय के ग्रन्थ "बौद्ध अपभ्रंश कवि कृष्णपाद" में भी इस विषय पर अनेक स्थलों से सूचनाएँ एकत्र की गई हैं। वसन्ततिलका, हेवज्रतन्त्रटीका (योगरत्नमाला), दोहाकोश आदि के रचयिता एक ही कृष्णपाद हैं, इसमें भी मतभेद दृष्टिगोचर होता है।

लामा तारनाथ ने कृष्णाचार्य को सम्पुटतिलकतन्त्र का आविष्कारक माना है। सम्पुटतिलक के वचन यदि सम्पुटतन्त्र में मिल जाते हैं, जिनकी कि अधिक संभावना है, तो निश्चय ही ये एक ही ग्रन्थ के दो नाम हैं। सम्पुटतन्त्र सम्पुटोद्भव के नाम से भी प्रसिद्ध है। "दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ परिचय" (प्रथम भाग, पृ. १७५-१७८) में गुह्यसमाज-परार्ध का परिचय देते समय विशेष वक्तव्य (पृ. १७७-१७८) में बताया गया

है कि यह ग्रन्थ सम्पुटोद्भव से अभिन्न है। "एन इंट्रोडक्शन टू तान्त्रिक बुद्धिज्म" के लेखक डॉ. एस. बी. दासगुप्त ने "सम्पुटिका" अथवा "सम्पुटोद्भव-कल्पराज" कह कर इसको उद्धृत किया है। इस तरह से यह एक ही ग्रन्थ अनेक नामों से प्रसिद्ध माना जायगा। हमने देखा है कि वसन्ततिलक और सम्पुटतन्त्र में अनेक वचन आनुपूर्वी से मिलते हैं। इसी तरह से अनंगवज्र की प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि के भी अनेक वचन सम्पुटतन्त्र में आनुपूर्वी से मिलते हैं। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि काल की दृष्टि से कृष्णाचार्य अनंगवज्र के परवर्ती हैं और चार विभिन्न नामों से प्रसिद्ध सम्पुटतन्त्र के आविष्कारक तथा वसन्ततिलक के रचयिता चर्याव्रती कृष्णाचार्य ही हैं और ये ही हेवज्रतन्त्र की योगरत्नमाला टीका के भी कर्ता हैं। यह सब अनुमान मात्र है। अभी इस विषय पर पर्याप्त गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है। आलिचतुष्टय और गुह्यतत्त्वप्रकाश भी कृष्णपाद के ही ग्रन्थ माने जाते हैं।

दोहाकोशटीका (पृ. १३०) में इनको जालन्धरिपाद का शिष्य बताया गया है। इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि कृष्णाचार्य जालन्धरिपाद के साक्षात् शिष्य थे अथवा ये उनकी शिष्य-परम्परा में आते हैं। [१]डॉ. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय ने सूचना दी है कि महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बती परम्परा के आधार पर जालन्धरपाद का जन्मस्थान नगरभोग बताया है। वास्तव में यह नाम नगरकोट है। आधुनिक कांगड़ा प्राचीन काल में इस नाम से प्रसिद्ध था। जालन्धर पीठ की देवी वज्रेश्वरी मानी जाती है और वज्रेश्वरी देवी का एक मन्दिर कांगड़ा में है। इस मन्दिर में स्थित शिलालेख में वज्रेश्वरी देवी का स्तोत्र उत्कीर्ण है। जालन्धर क्षेत्र की स्थिति तो अतिविस्तृत है, किन्तु जालन्धर पीठ की स्थिति कांगड़ा में ही माननी चाहिये। ज्वालामुखी देवी का मन्दिर जालन्धर क्षेत्र के अन्तर्गत आवेगा।

का=कामरूप, पू=पूर्णगिरि, जा=जालन्धर और ओ=ओडयाण इन चार पीठों की स्थिति शैव, शाक्त और बौद्ध सभी तन्त्रों में समान रूप से मान्य है। हमारी समझ में कृष्णपाद को [२]जालन्धर पीठ की परम्परा में कहीं स्थान देना होगा। इस परम्परा के संस्थापक जालन्धरनाथ माने जा सकते हैं। सिद्धों और नाथों की परम्परा का हमारी समझ में अभी प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत नहीं हो सका है। जिन भारतीय अथवा तिब्बती साक्ष्यों के आधार पर इनका इतिहास प्रस्तुत किया गया है, उन पर पूरी तरह से भरोसा नहीं किया जा सकता। हमारी समझ में मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ की तरह

---

१. देखिये— बौद्ध अपभ्रंश कवि कृष्णपाद, पृ. ३०, ३२

२. अभिनवगुप्त के कौल सम्प्रदाय के गुरु शंभुनाथ जालन्धर पीठ के ही निवासी माने गये हैं।

जालन्धरिपाद और कृष्णपाद का भी दृढ़ प्रमाणों के अभाव में कोई साक्षात् संबन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता।

कृष्णपाद को भद्रपाद का गुरु सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है, किन्तु कुद्दालपाद ने अचिन्त्याद्वयक्रमोपदेश में भद्रपाद को अपना गुरु माना है। भद्रपादक्रम के अनुसार उन्होंने अपने ग्रन्थ की रचना की है। यहाँ इन्होंने अपनी गुरुपरम्परा दी है (श्लो. ८८-८९)। उसमें धर्मपाद को भद्रपाद का गुरु बताया गया है। कृष्णपाद का वहाँ कहीं भी नाम नहीं है। कृष्णपाद के समान भद्रपाद ने भी हेवज्रतन्त्र पर टीका लिखी है। उसको देखने पर संभवतः इस विषय में कुछ निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है।

कम्बलपाद विरचित आलोकमाला का प्रकाशन सन् १९८५ में कोपेनहेगेन से हुआ है। इसके सम्पादक डॉ. सी. लिंडनर ने अपनी प्रस्तावना में इनका समय ४५० से ५२५ ई. निर्धारित किया है। हमारी समझ में शून्यवाद के आचार्यों के बीच इनकी स्थिति न मानकर सिद्धाचार्यों के बीच ही इनकी गणना होनी चाहिये, जैसा कि अब तक माना गया है। इनके अनेक वचनों का संग्रह "लुप्त बौद्ध वचन संग्रह" में किया गया है और ये सभी वचन प्रस्तुत आलोकमाला में उपलब्ध हो जाते हैं। हम[१] यह भी बता चुके हैं कि बौद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त शैव-शाक्त तन्त्र-ग्रन्थों में भी यहाँ के वचन उद्धृत मिलते हैं। इस परिस्थिति में डॉ. लिंडनर का कम्बलपाद का उक्त काल-निर्धारण कुछ अस्तव्यस्त सा लगता है। सिद्धाचार्यों के काल और क्रम को निर्धारित करने के लिये अभी बड़े प्रयास की आवश्यकता है। सौभाग्य से इनमें से अनेकों सिद्धाचार्यों के संस्कृत ग्रन्थ अथवा वचन और उनके भोट भाषा के अनुवाद भी उपलब्ध हैं। इनकी सहायता से पहले हमें यह निश्चित करना होगा कि कौन आचार्य किसको स्मरण कर रहा है, किसके वचनों को प्रमाण रूप से अपने ग्रन्थ में उद्धृत कर रहा है? इन प्रमाणों से परिपुष्ट क्रम को ही हमें सही मानना होगा। ***जल्दबाजी में आतुर भाव से किया गया अनुशीलन हमें सही निष्कर्षों तक नहीं पहुँचा पाता।***

टीकाकार

चर्याव्रती कृष्णाचार्य रचित वसन्ततिलक का यह संस्करण वनरत्न-कृत टीका के साथ यहाँ प्रकाशित किया है। टीका के किसी भी हस्तलेख में इसके रचयिता का नाम नहीं मिलता, किन्तु इस टीका का भोट अनुवाद भी उपलब्ध है और वहाँ टीकाकार का नाम वनरत्न दिया गया है। इसके भोट अनुवादक भी स्वयं टीकाकार ही हैं। संस्कृत टीका की एक दूसरी त्रुटि हमें यह मिलती है कि इसकी सभी मातृकाओं में प्रथम निर्देश

---

१. देखिये— 'धीः' अंक ६, पृ. ८८-९२

का अन्तिम भाग तथा द्वितीय निर्देश का प्रारम्भिक भाग उपलब्ध नहीं है, जब कि भोट अनुवाद में यह अंश उपलब्ध है। स्पष्ट है कि संस्कृत की वर्तमान उपलब्ध सभी मातृकाएँ उस मूल पाठ का अनुसरण नहीं करतीं। लगता है किसी खण्डित मातृका से, जिसके कि एक दो पत्र नष्ट हो गये, वर्तमान में उपलब्ध सभी हस्तलेख तैयार हुए।

'ब्लू एनल्स' (पृ. ७९७-८०५) में इनका विस्तार से परिचय दिया गया है। वहाँ बताया है कि सन्नगर (चटगाँव, बंगलादेश) के राजवंश में १३८५ ई. में इनका जन्म हुआ। ८ वर्ष की आयु में इन्होंने बुद्धघोष नामक भिक्षु से श्रामणेर दीक्षा ली थी और २० वर्ष की आयु में अपने उपाध्याय और आचार्य से भिक्षु-दीक्षा ग्रहण की। भिक्षु के रूप में इन्होंने सिंहल द्वीप की यात्रा की थी, जहाँ वे ६ वर्ष तक रहे। इन्होंने धान्यकटक (आन्ध्रप्रदेश), उत्कल आदि की भी यात्रा की थी। यात्रा के प्रसंग में इन्होंने अनेक आचार्यों से शिक्षा प्राप्त की। इन्होंने वर्षों तक षडंगयोग का अभ्यास किया। नेपाल और तिब्बत की भी इन्होंने यात्रा की। इनकी पहली तिब्बत यात्रा १४२६ ई. में हुई। सन् १४३६ और १४५३ में भी ये तिब्बत गये थे। महापण्डित वनरत्न के रूप में ये वहाँ प्रख्यात हुए। उस समय तिब्बत की यात्रा करने वाले भारतीय विद्वानों में ये अन्तिम माने जाते हैं। उसके बाद संभवतः वर्तमान समय में तिब्बत की यात्रा करने वाले पहले भारतीय विद्वान् महापण्डित राहुल सांकृत्यायन थे। ८५ वर्ष की अवस्था में १४६८ ई. में वनरत्न ने तुषित लोक के लिये प्रस्थान किया। तिब्बती तंग्युर में इनके निम्न ११ ग्रन्थों की सूचना मिलती है—

११५४	बुद्धस्तवदश
११७४	लोकेश्वररत्नमालास्तवनाम
११७५	गणेश्वरस्तव
११७६	श्रीशबरपादस्तोत्ररत्न
१४४९	वसन्ततिलकटीका (अनुवादक भी स्वयं)
१६०४	सर्वार्थसाधकवज्रवाराहीसाधननाम
१६०५	वज्रवाराहीसाधन
१६०८	अनुज्ञाविधि
१७६९	धूमाङ्गारीसाधन
१७७०	बलिविधि
१७८३	अचलाभिसमयहृष्टाभिधान

संस्कृत साहित्य में टीका-ग्रन्थों का अपना महत्त्व है। अनेक विशिष्ट आचार्य अपने टीका-ग्रन्थों के कारण ही प्रसिद्ध हुए हैं। वनरत्न का भी इनमें अपना स्थान है।

अनेक ग्रन्थों, ग्रन्थकारों और मतमतान्तरों का इन्होंने उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त पृ. ५ पर उद्धृत चार श्लोक, पृ. २३-२४ पर के सात श्लोक, पृ. ५९ पर उद्धृत पाँच श्लोक और पृ. ६४ पर उद्धृत आठ श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषयों पर प्रौढ़-गम्भीर भाषा में प्रकाश डालते हैं। इनके रचयिता अतिविशिष्ट आचार्य होने चाहिये। किन्तु यहाँ इनमें से किसी ग्रन्थ या ग्रन्थकार का नाम लिये बिना ये वचन उद्धृत हैं। इन सब वचनों की तथा 'उक्तम्, एके' इत्यादि कह कर उद्धृत किये गये वचनों के मूल स्थानों की हमें खोज करनी होगी।

यहाँ उद्धृत ग्रन्थों में गुह्यसमाज, समाधिराजसूत्र और हेवज्रतन्त्र प्रकाशित हो चुके हैं। गुह्येन्दुतिलक गुह्येन्दुमणितिलक अथवा गुह्येन्द्रतिलक ये सब एक ही ग्रन्थ के नाम होने चाहिये। चक्रसंवर अतिविशिष्ट बौद्ध तन्त्र है। इसका मूल स्वरूप अब संस्कृत में हेरुकतन्त्र के नाम से उपलब्ध हो गया है। ज्ञानपाद, डाकिनीवज्रपंजर, मूलतन्त्र, वज्रडाक, वज्रपंजर, वज्रपाणि, सन्ध्याव्याकरण, सम्पुट, सम्पुटतिलक आदि का विवरण "लुप्त बौद्ध वचन संग्रह" के प्रथम भाग के उपोद्घात में दिया जा चुका है। वज्रपंजर डाकिनीवज्रपंजर से अभिन्न हो सकता है। डाकार्णव के कुछ संस्कृत वचन वसन्ततिलक की केवल 'ज'मातृका में मिलते हैं। स्पष्ट है कि अपभ्रंश भाषा के छपे ग्रन्थ डाकार्णव से यह भिन्न है। तथागतगुह्यसूत्र के यहाँ टीका में उद्धृत वचन के अतिरिक्त अन्य अनेक वचन शिक्षासमुच्चय की टीका में भी मिलते हैं। इन सबका 'धी:' के नवम अंक में संग्रह किया गया है। इनमें से कोई भी वचन गुह्यसमाजतन्त्र में नहीं मिलता। स्पष्ट है कि तथागतगुह्यसूत्र गुह्यसमाजतन्त्र से भिन्न है।

सीताहरण काव्य यहाँ केवल उदाहरण के रूप में चर्चित है, तन्त्र साहित्य से इसका कोई संबन्ध नहीं है। इसी प्रकार धातुपारायण शब्द पाणिनीय धातुपाठ को सूचित करता है। तन्त्रराज शब्द से शायद यहाँ चक्रसंवर अथवा सम्पुटतन्त्र का ग्रहण हुआ है। क्रियातन्त्र, क्रियाचर्यातन्त्र, चर्यातन्त्र, योगचर्योभयतन्त्र, योगतन्त्र, योगिनीतन्त्र— ये सब शब्द यहाँ तन्त्रशास्त्र के उपभेदों के सूचक हैं। परयूथ्य और स्वयूथ्य शब्द परपक्ष और स्वपक्ष के अनुवर्ती आचार्यों या शास्त्रों के लिये प्रयुक्त होते हैं।

अव्याकृतवितर्क, निराकारविज्ञानवादी और शान्तब्रह्म-सांख्यपुरुषवादी— ये तीन शब्द भारतीय दर्शन के विभिन्न मतवादों को सूचित करते हैं। यहाँ अव्याकृत-वितर्कवादी उनको बताया गया है, जो मरणोपरान्त मुक्ति की बात स्वीकार करते हैं। टीकाकार ने इस मत का खण्डन करते हुए शास्त्रों के वचनों को उद्धृत कर बताया है कि सारा जगत् ही पंचबुद्धात्मक है। ऐसा एक भी प्राणी नहीं है, जो स्वयं बुद्ध न हो।

निराकार विज्ञानवाद का प्रतिपादन विज्ञानवादी बौद्ध करते हैं। इनको यहाँ स्वयूथ्य, अर्थात् बौद्ध दर्शन का अनुसरण करने वाला कहा गया है। शान्तब्रह्मवादी वेदान्ती को और नित्यपुरुषवादी सांख्यों को यहाँ परयूथ्य, अर्थात् बौद्ध दृष्टि का अनुसरण न करने वाला कहा गया है। इस प्रकार तीनों प्रकार की दृष्टियों को टीकाकर वनरत्न स्वीकार नहीं करते। तन्त्ररत्नावली में अद्वयवज्र ने भी मन्त्रनय की सर्वोत्कृष्टता का प्रतिपादन करते समय श्रावकयान, प्रत्येकयान और महायान दर्शन की समालोचना की है। इनमें से प्रत्येक दर्शन की दृष्टि को उन्होंने समल माना है और कहा है कि चित्त की प्रभास्वरता के लिये, सभी प्रकार के मलों से चित्त को मुक्त करने के लिये, मन्त्रयान की दृष्टि अपेक्षित है।

डाकिनीजालसंवररहस्य

इस लघु-ग्रन्थ का प्रकाशन उक्त ग्रन्थमाला के अष्टम पुष्प के रूप में सन् १९९० में हुआ है। यह ग्रन्थ अनंगयोगी द्वारा प्रणीत है। प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि के कर्ता अनंगवज्र हैं। सुभाषितसंग्रह (पृ. १, ५६) में इनको नूतनानंगवज्रपाद कहा गया है। प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि के कर्ता अनंगवज्र से अनंगयोगी भिन्न हैं या अभिन्न, इसको जानने का हमारे पास कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है। इन्होंने अपने ग्रन्थ का प्रारंभ ज्ञानसिद्धि के कर्ता इन्द्रभूति की पद्धति से किया है— "प्रणिपत्य जगन्नाथम्"। इससे भी हम कोई निष्कर्ष नहीं निकाल सकते। इस ग्रन्थ की भाषा यद्यपि स्थान-स्थान पर स्पष्ट नहीं है, तो भी अन्य ग्रन्थों में आये समान विषयों के आधार पर विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। "तत्पुनस्तथेति" (पृ. ३), "अन्तर्गतेन मनसेति" (पृ. ३) जैसे वाक्यों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार किसी ग्रन्थ के प्रतीक को उद्धृत कर उसकी व्याख्या कर रहे हों। संभव है ये वचन डाकिनीजाल-संवरतन्त्र के हों। इस तन्त्र का नाम नि. षो. की ६४ तन्त्रों की नामावली में मिलता है। "चतुर्थं तत्पुनस्तथा" यह वचन समाजोत्तर (१८. ११२) में मिलता है। इस लघु-ग्रन्थ का विस्तार से परिचय 'धी:' पत्रिका के १५वें अंक में प्रकाशित "ग्रन्थ-चतुष्टयी विमर्श" शीर्षक निबन्ध (पृ. २६३-२६६) से प्राप्त किया जा सकता है।

कृष्णयमारितन्त्र सटीक

इस तन्त्र का और इससे संबद्ध सामग्री का परिचय डॉ. बनारसी लाल के निबन्ध (बृहदितिहास, ख. ११, पृ. ४३१) में देखा जा सकता है। अब इसका प्रकाशन उक्त ग्रन्थमाला के नवम पुष्प के रूप में सन् १९९२ में कुमारचन्द्र प्रणीत रत्नावलीपञ्जिका के साथ हो चुका है। यह ग्रन्थ अठारह पटलों में विभक्त है। मुख्यतः इसमें मण्डल,

कर्म, चक्र, आकर्षण आदि के प्रयोग, मंजुवज्रसाधन तथा हेरुकसाधन आदि विषय वर्णित हैं। यहाँ बीच-बीच में अपभ्रंश भाषा के वचन भी मिलते हैं। विभिन्न आचार्यों ने इसके मण्डल, होम, अभिषेक, साधन आदि विषयों को लेकर अनेक ग्रन्थों की रचना की है।

द्वितीय पटल में यमारि-मण्डल की चर्चा है और टीकाकार ने इस मण्डल की लेखनविधि को विस्तार से बताया है (पृ. १३-१६)। टीकाकार ने अभिचार कर्मों की विशेष चर्चा यहाँ (पृ. ५९-६२) की है। यहीं आगे (पृ. ९१-१०४) मण्डल आदि की प्रतिष्ठा के अवसर पर की जाने वाली पूजाविधि का, विशेष कर शिष्याधिवासन, पुष्पपातविधि, वज्रव्रतदान, व्याकरण, आश्वासदान आदि अभिषेक के अंगों का तथा वज्र एवं घण्टा के लक्षणों का विवरण दिया गया है। यहाँ (१७.८-११) योग, अनुयोग, अतियोग और महायोग नामक चार योगों का संक्षिप्त लक्षण बताया गया है और टीकाकार ने इनकी विशद व्याख्या प्रस्तुत की है (पृ. १२३-१२९)। अष्टादश पटल की व्याख्या के अन्त में घ-मातृका का विशेष पाठ यहाँ (पृ. १३९-१४३) संकलित है। इसमें पंचाकाराभिसंबोधि क्रम, आभोग-समाधि, स्वाभाविक काय, पद्माधिष्ठान काय और वज्राधिष्ठान काय का स्वरूप बताया गया है। इन दोनों ग्रन्थों का भोट अनुवाद भी यहाँ साथ में ही प्रकाशित हुआ है।

'धीः' के तेरहवें अंक में हमारा "वसुधारा एवं कृष्णयमारि साधन" (पृ. ३३-४४) शीर्षक निबन्ध प्रकाशित हुआ है। वहाँ ईशानशिवगुरुदेवपद्धति के आधार पर पंचदेवोपासना के अतिरिक्त बौद्ध तन्त्रों में वर्णित वसुधारा और कृष्णयमारि की पूजापद्धति भी बताई गई है। कृष्णयमारितन्त्र (६.१३) में निर्दिष्ट कृष्णयमारि मन्त्र आनुपूर्वी से यहाँ (पृ. ४२) भी उपलब्ध है।

महामायातन्त्र सटीक

इस महत्त्वपूर्ण तन्त्र का रत्नाकरशान्ति रचित गुणवती टीका के साथ प्रकाशन केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी की दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना के अन्तर्गत दशम पुष्प के रूप में सन् १९९२ में हुआ है। नि.षो. की ६४ तन्त्रों की नामावली में इसका पहला नाम है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह एक प्राचीन तन्त्र है। नि. षो. की ६४ तन्त्रों की सूची में इसका नाम समाविष्ट है। तदनुसार ही नि. षो. का काल निर्धारित करना पड़ेगा। भोट अनुवाद में उपलब्ध प्रथम दो श्लोकों की व्याख्या रत्नाकरशान्ति ने नहीं की। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ये श्लोक ग्रन्थ के अंश नहीं हैं। "अतिलघु महामायातन्त्रम्" (पृ. १) टीकाकार की इस उक्ति के अनुसार

यह छोटा सा तन्त्र है। इसमें केवल तीन निर्देश हैं और इन तीनों निर्देशों की श्लोक संख्या मात्र ७३ है। तारनाथ के इतिहास के अनुसार महामायातन्त्र के प्रथम उपदेष्टा कुक्कुरिपाद हैं। सुभाषितसंग्रह में उद्धृत महामायोत्तर तन्त्र इससे भिन्न ही होना चाहिये।

इस तन्त्र का प्रारंभ "अथात:" इत्यादि वाक्य से हुआ है, "एवं मया" इत्यादि निदानवाक्य से नहीं। ऐसा क्यों हुआ? इस तरह के प्रश्नों के साथ अन्य विषयों की समीक्षा तथा ग्रन्थ के तीनों निर्देशों का संक्षेप 'धी:' पत्रिका के १५वें अंक में प्रकाशित "ग्रन्थचतुष्टयी विमर्श" शीर्षक निबन्ध (पृ. २७०-२७४) में देखा जा सकता है।

टीकाकार रत्नाकरशान्ति

रत्नाकरशान्ति की गुणवती टीका के साथ महामायातन्त्र के प्रकाशन की सूचना ऊपर दी गई है। इनके समय और कृतियों के विषय में तारनाथ के इतिहास में, डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य कृत साधनमाला के उपोद्घात में और आचार्य रत्नाकरशान्ति रचित [1]खसमतन्त्रटीका के पं. जगन्नाथ उपाध्याय जी के प्राक्कथन में प्रकाश डाला जा चुका है। तारनाथ के अनुसार इनका समय ९७४-१०२६ ई. है, जब कि डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य इनका समय ९७८-१०३० ई. मानते हैं। उनका कहना है कि महीपाल प्रथम के राज्य में ये विक्रमशील विश्वविद्यालय के पूर्व द्वार के पंडित थे। आचार्य रत्नाकरशान्ति रचित प्रज्ञापारमितासूत्र की सारतमा टीका के सम्पादक डॉ. पद्मनाभ एस. जैनी ने अपने उपोद्घात में इनका समय ११वीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना है।

साधनमाला में इनके १८ ग्रन्थों की नामावली दी गई है। तोहुकु-सूची में अन्य नाम भी मिलते हैं, किन्तु साधनमाला में दी गई नामावली के संख्या २, ३, ५ के नाम वहाँ नहीं मिलते। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन जी के दोहाकोश के परिशिष्ट में इनके नौ दर्शन-ग्रन्थों तथा २३ तन्त्र-ग्रन्थों की नामावली दी गई है। इनके काल और कृतियों के संबन्ध में अभी भी अनुसन्धान अपेक्षित है।

गुणवती टीका के विशेष अवधेय अंशों एवं रत्नाकरशान्ति की साधनोपायिका आदि के विषय में 'धी:' पत्रिका के १५वें अंक में प्रकाशित "ग्रन्थचतुष्टयी विमर्श" शीर्षक निबन्ध (पृ. २७४-२७६ तथा २७७-२७८) से विशेष जानकारी मिल सकती है।

अभिसमयमंजरी

इस लघु-ग्रन्थ का प्रकाशन केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी की दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना के अन्तर्गत ११वें पुष्प के रूप में सन्

---

१. यह ग्रन्थ संकायपत्रिका, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी (अं. १, पृ. २२७-२५५, सन् १९८३) में प्रकाशित हो चुका है।

१९९३ में हुआ है। शुभाकर गुप्त इसके रचयिता हैं। ग्रन्थकार के विषय में, यहाँ उद्धृत ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के विषय में तथा **अभिसमय** शब्द के अर्थ के विषय में इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में संक्षिप्त विचार प्रस्तुत किये गये हैं। इनमें से लूयीपाद, वज्रावली, सिद्ध शबरपाद आदि का उल्लेख तो अन्यत्र भी मिलता है, किन्तु संचारतन्त्र का उल्लेख हमें अन्यत्र अभी तक नहीं मिला है। यहाँ (पृ. २३) बताया गया है कि हस्तपूजा का विधान संचारतन्त्र में प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ नाना प्रकार की सूचनाओं से भरा हुआ है। लूयीपाद के अभिसमय की भी यहाँ चर्चा है। ३७ बोधिपाक्षिक धर्मों का यहाँ अच्छा विश्लेषण किया गया है। इन सबका परिचय 'धी:' पत्रिका के १५वें अंक में प्रकाशित "ग्रन्थचतुष्टयी विमर्श" शीर्षक निबन्ध (पृ. २६७-२६९) से प्राप्त किया जा सकता है।

कालचक्रतन्त्र विमलप्रभा सहित

अनुत्तरतन्त्र के मातृतन्त्र, पितृतन्त्र एवं अद्वयतन्त्र नामक विभागों की चर्चा मिलती है। कालचक्रतन्त्र अद्वयतन्त्र का मुख्य ग्रन्थ है। कालचक्रयान की प्रवृत्ति भी इसीके आधार पर हुई मानी जाती है। मूल ग्रन्थ का एक सामान्य संस्करण डॉ. रघुवीर द्वारा दिल्ली से निकाला जा चुका था, किन्तु इसका पहला परिष्कृत संस्करण कलकत्ता की एशियाटिक सोसाइटी से सन् १९८५ में निकला। इसमें लोकधातु, अध्यात्म, अभिषेक, साधन और ज्ञान नामक पाँच पटल हैं। इस तन्त्र का परिचय हम 'धी:' के सातवें अंक (पृ. ९१-९३) में दे चुके हैं। डॉ. बनारसी लाल ने भी उक्त निबन्ध (पृ. ४३३-४३५) में मूल ग्रन्थ और टीका का संक्षिप्त परिचय दिया है।

विमलप्रभा टीका का भी अब तीन भागों में प्रकाशन हो चुका है। इसके प्रथम भाग का प्रकाशन भोट-भारतीय ग्रन्थमाला के ११वें पुष्प के रूप में केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा-संस्थान, सारनाथ से सन् १९८६ में हुआ। इसमें प्रथम दो पटल समाविष्ट हैं। इसका सम्पादन बौद्ध विद्या के समर्पित विद्वान् प्रो. जगन्नाथ उपाध्याय ने किया था। बाद में दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थमाला के १२वें और १३वें पुष्प के रूप में तृतीय-चतुर्थ पटल का द्वितीय भाग के रूप में तथा पंचम पटल का तृतीय भाग के रूप में सन् १९९४ में प्रकाशन हुआ। तृतीय भाग के परिशिष्टों में कालचक्रतन्त्र-श्लोकार्धानुक्रमणी, ग्रन्थ-ग्रन्थकार, मत-मतान्तरानुक्रमणी और विमलप्रभाधृत वचनानुक्रमणी दी गई है। विशिष्ट-पदानुक्रमणी का भी निर्माण हो चुका है, किन्तु उसका प्रकाशन समय-सापेक्ष है।

सम्पूर्ण कालचक्रतन्त्र तथा विमलप्रभा व्याख्या के प्रमुख विषयों की समालोचना देश, काल आदि की पृष्ठभूमि में हम 'धी:' के २२वें अंक में "कालचक्रतन्त्र-विमलप्रभा समीक्षा" (पृ. १०१-१२२) शीर्षक से कर चुके हैं। उसे वहीं देखना चाहिये।

बौद्ध लघुग्रन्थसंग्रह

उक्त ग्रन्थमाला के चतुर्दश पुष्प के रूप में इसका प्रकाशन सन् १९९७ में हुआ है। इसके सम्पादक श्री जनार्दन पाण्डेय हैं। यहाँ १. कम्बलाम्बरपाद की नवश्लोकी (अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमितापिण्डार्थ) का टीका एवं भोट पाठ के साथ, २. आचार्य नागार्जुन की क्रियासंग्रहकारिका का भोट पाठ के साथ, ३. महाचार्य अश्वघोष कृत गुरुपंचाशिका का भोट पाठ के साथ, ४. सिद्धाचार्य श्री शबरपाद कृत गुह्यवज्रविलासिनी-साधन (योगिनीसर्वस्व) ५. दउड़ीपाद कृत गुह्यावली का, ६. वागीश्वरकीर्ति विरचित तत्त्वरत्नावलोक स्वोपज्ञ टीका एवं भोट अनुवाद का, ७. अज्ञातकर्तृक नानासिद्धोपदेश, ८. भट्टरत्नाकर रचित पंचाकार, ९. अज्ञातकर्तृक पंचाकाराभिसंबोधि, १०. दिङ्नागपाद रचित योगावतार का भोट पाठ के साथ, ११. आर्यदेवपाद कृत स्वाधिष्ठानप्रभेद का भोट पाठ के साथ— इन ११ ग्रन्थों को यहाँ प्रकाशित किया गया है। ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय प्रारंभ में दे दिया गया है।

सूत्रतन्त्रोद्भवाः कतिपयधारणीमन्त्राः

भदन्त इन्द्र के द्वारा सूत्र एवं तन्त्र-ग्रन्थों से संकलित ८४ धारिणी-मन्त्रों का यह संकलन है। इसके सम्पादक दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना के शोध सहायक श्री ठिनलेराम शाशनी हैं। सम्पादक ने अपने प्राक्कथन में ग्रन्थ, ग्रन्थकार एवं धारिणी-मन्त्रों के विषय में अपना संक्षिप्त विचार प्रस्तुत किया है। प्राक्कथन में ग्रन्थ-सम्पादक ने मन्त्र पद की निरुक्ति आदि को लेकर बौद्ध एवं बौद्धेतर ग्रन्थों के आधार पर अच्छा विचार किया है। धारणी-मन्त्रों के ऐतिहासिक क्रम पर भी अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थमाला के १६वें पुष्प के रूप में इसका प्रकाशन सन् १९९७ में हुआ है। धारिणी-मन्त्रों का संकलन यहाँ उनके भोट अनुवाद के साथ किया गया है। इन धारणी-मन्त्रों का तिब्बत, भूटान, नेपाल, चीन, जापान, कोरिया तथा भारत के सीमान्तवर्ती बौद्ध क्षेत्रों में आज भी अत्यन्त श्रद्धा एवं विश्वास के साथ पाठ किया जाता है।

अध्यात्मसारशतक

महापण्डित प्रभाकर गुप्त विरचित अध्यात्मसारशतक का शिरोमणि कृत टीका के साथ प्रकाशन प्रस्तुत ग्रन्थमाला के १९वें पुष्प के रूप में सन् १९९७ में हुआ है। इसके सम्पादक इस योजना के कार्यकारी निदेशक श्री जर्नादन पाण्डेय हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में उत्क्रान्तियोग प्रतिपादित है। विद्वान् सम्पादक ने अपने प्राक्कथन में इस पर प्रकाश डाला है।

सिद्धैकवीरमहातन्त्र

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थमाला के २० वें पुष्प के रूप में सन् १९९८ में इसका प्रकाशन हुआ है। इसके सम्पादक इस योजना के कार्यकारी निदेशक श्री जनार्दन पाण्डेय हैं। चार पटल का यह छोटा सा तन्त्र है। यहाँ लोककल्याणकारी ५६ मन्त्र उपदिष्ट हैं। मारण आदि उग्र कर्मों के लिये यहाँ कोई भी मन्त्र उपदिष्ट नहीं है। इस तन्त्र की यह भी विशेषता है कि मन्द-बुद्धि के व्यक्ति को कुशाग्र-बुद्धि बनाने के लिये बिना किसी मन्त्र-तन्त्र के केवल औषधियों के प्रयोग बताये गये हैं, जिनका उपयोग सभी कर सकते हैं। इस तन्त्र का उपदेश मंजुवज्र ने वज्रधर आदि शिष्यों को दिया है। इस ग्रन्थ का भोट अनुवाद भी उपलब्ध है। उसे भी विभिन्न भोट संस्करणों की सहायता से परिष्कृत कर प्रकाशित किया गया है।

योगिनीसंचारतन्त्र

प्रस्तुत ग्रन्थमाला के २१वें पुष्प के रूप में सन् १९९८ में इसका प्रकाशन हुआ है। इसके सम्पादक प्रस्तुत योजना के कार्यकारी निदेशक श्री जनार्दन पाण्डेय हैं। योगसंचार अथवा योगसंचर नाम का तन्त्र तन्त्रालोक आदि शैवागम ग्रन्थों में उद्धृत मिलता है। वहाँ के वचन यहाँ उपलब्ध नहीं होते, अत: उनसे सर्वथा भिन्न यह बौद्ध तन्त्र है। नेपाल के वीर पुस्तकालय की शैव-शाक्त तन्त्रों की सूची (भा. २, पृ. ११२) में योगिनीसंचार की मातृका विवृत है। वह इसी बौद्ध तन्त्र की मातृका है, शैव तन्त्र की नहीं। १७ निर्देशों में यह ग्रन्थ विभक्त है। इन पंक्तियों के लेखक द्वारा लिखित ग्रन्थ के उपोद्घात में ग्रन्थ-ग्रन्थकार आदि का सुस्पष्ट परिचय दिया गया है। प्रत्येक निर्देश के अन्त में दिये गये पुष्पिका-वाक्यों में उस निर्देश में मुख्य रूप से प्रतिपाद्य विषय का उल्लेख कर दिया गया है। आचार्य तथागतरक्षित के संचारनिबन्ध तथा पण्डिताचार्य अलककलश की उपदेशानुसारिणी व्याख्या के साथ यह तन्त्र प्रकाशित है। ग्रन्थ और संचारनिबन्ध का भोट अनुवाद भी साथ में प्रकाशित किया गया है। द्वितीय व्याख्या अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, किन्तु दुर्भाग्य से यह अपूर्ण उपलब्ध हुई है और इसका भोट अनुवाद भी उपलब्ध नहीं हुआ।

तारनाथ अपने "बौद्ध धर्म का इतिहास" नामक ग्रन्थ में इस तन्त्र को सिद्ध लुइपा द्वारा लाया गया मानते हैं (पृ. १४५)। लुइपा का समय ७६९-८०९ माना जाता है। चौरासी बौद्ध सिद्धों में ये आदिसिद्ध माने जाते हैं। इस तन्त्र के आविर्भाव का काल भी यही माना जा सकता है। पूर्व तन्त्रों के अस्पष्ट विषयों को उत्तर तन्त्रों में स्पष्ट किया जाता है, यह तन्त्रशास्त्र की सभी शाखाओं का सामान्य नियम है। उसी पद्धति से यहाँ मूलतन्त्र और लक्षाभिधान तन्त्र में गोपित विषयों का खुलासा किया गया है। उपोद्घात

(पृ. १४) में इसकी चर्चा देखी जा सकती है। उपोद्‌घात में अन्य विषयों की भी चर्चा की गई है। उन्हें वहीं देखना चाहिये। इस तन्त्र का परिगणन परम्परानुसार प्रज्ञातन्त्रों में संवरतन्त्र के व्याख्यातन्त्र की श्रेणी में हुआ है। इस विभाग का यह एक महत्त्वपूर्ण तन्त्र है।

अन्य लघुग्रन्थ

कुछ लघु-ग्रन्थों का प्रकाशन प्रथमतः 'धीः' के विभिन्न अंकों में हुआ है और बाद में उनका दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थमाला के विभिन्न पुष्पों के रूप में समावेश किया गया है। 'धीः' के २४ से २७ संख्या के चार अंकों में प्रकाशित इस प्रकार के लघु-ग्रन्थों का उक्त ग्रन्थमाला में अभी समावेश नहीं हो पाया है। उनका विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

२४वें अंक (पृ. १२७-१७४) में महापण्डित धर्माकरशान्ति कृत कालचक्र-भगवत्साधनविधि का,

२५वें अंक (पृ. १६५-१८८) में श्रीकालचक्रपूजाविधि का,

२६वें अंक (पृ. १०७-१३७) में कुमार कलहंसपाद विरचित डाकिनीजाल-चक्रवर्ती श्रीसंवररहस्यसाधन और मण्डलपूजाविधि का और

२७वें अंक (पृ. ९५-१३८) में हेरुकाद्यवज्रवाराहीपरमरहस्यतन्त्र का प्रकाशन हुआ है। इस तन्त्र में दस निर्देश हैं। ज्ञानोदय तन्त्र से इसकी तुलना अपेक्षित है।

वज्रयान की मान्यताएँ

गुरु (आचार्य) और शिष्य

भारतीय वाङ्मय में, विशेष कर तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में गुरु की महिमा का गौरवपूर्ण वर्णन मिलता है। बौद्ध तन्त्रों में भी गुरु अथवा आचार्य तथा शिष्य के विषय में पर्याप्त उक्तियाँ मिलती हैं।

गुह्यसिद्धि (१.३१-५२) में बताया गया है कि गुरु की निन्दा करने वाले को तत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। गुरु और वज्रधर को अभिन्न मानने वाला शिष्य ही सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। असत् शिष्यों का यहाँ बड़ा स्वाभाविक वर्णन किया गया है कि ये लोग जब तक कुछ हाथ नहीं लग जाता, तब तक गुरु का बड़ा स्वागत-सत्कार करते हैं, किन्तु अभीष्ट सिद्धि हो जाने पर गुरु को वे पहचानते भी नहीं। अकेले में तो गुरु को प्रणाम करेंगे, किन्तु समाज में वे उनका स्वागत करने से भी कतराते हैं। यहीं आगे (३.८८) बताया गया है कि तन्त्र का रहस्य गुरु के मुख में ही छिपा हुआ है।

पंचम परिच्छेद (श्लो. २७-२९) में गुरु द्वारा दिये जाने वाले चार समयों (नियमों) की चर्चा कर योग्य शिष्य का गुह्याभिषेक करने का विधान बताया गया है। शिष्य के लिये इसी तरह के समयों की चर्चा (गुह्यचर्चा) पूरे षष्ठ परिच्छेद में तथा लक्ष्मींकरा की अद्वयसिद्धि (श्लो. ८-२७) में कुछ विस्तार से मिलती है। अन्तिम परिच्छेद (श्लो. ८-२६) में भी बताया गया है कि गुरु की पूजा करना सर्वोत्तम समय है। गुरु के प्रसाद से ही बोधिचित्त की प्राप्ति होती है। आचार्य की महत्ता को बताते हुए यहाँ उसकी पूजा की विधि बताई गई है और असत् शिष्य (आचार्य-निन्दक) की पुनः चर्चा की गई है।

प्र. वि. सि. (२.६.३४) में भी बताया गया है कि सद्गुरु की सेवा से तत्त्वरत्न की प्राप्ति होती है। यहाँ भी दुष्ट शिष्यों की निन्दा के उपरान्त सत् शिष्य का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि अच्छे शिष्य को ही गुरु की कृपा का लाभ मिल सकता है। दुष्ट शिष्य योगी और आचार्य बनने के लिये ही गुरु के पास जाते हैं, बुद्धत्व प्राप्ति की उनकी कोई आकांक्षा नहीं रहती। गुरु से ज्ञान मिल जाने पर वे उसका संमान नहीं करते और यदि उनके हाथ कुछ न लगा तो वे नाराज होकर गुरु को छोड़कर चले जाते हैं। यहाँ बताया गया है कि गुरु ही ईश्वर है, अतः अपना कल्याण चाहने वाले को मान, अहंकार आदि छोड़ कर सदा गुरु की सेवा करनी चाहिये। तभी उसको तत्त्वरत्न की प्राप्ति होती है। तृतीय परिच्छेद में वज्राभिषेक के प्रसंग में समय और संवर का अलग-अलग उल्लेख किया गया है (श्लो. २२-२५) यहाँ शिष्य गुरु के प्रति सारे जगत् को आनन्दित करने वाली मधुर वाणी से कृतज्ञता ज्ञापित कर उनकी पूजा करता है। पंचम परिच्छेद (श्लो. १४-४४) में यहाँ भी वज्राभिषिक्त साधक के लिये आचरणीय [1]समयों की चर्चा की गई है।

ज्ञानसिद्धि के १३वें परिच्छेद में अच्छे और बुरे गुरु का लक्षण बताया गया है तथा १४वें परिच्छेद में शिष्य का लक्षण वर्णित है। अभिषेक की विधि यहाँ १७वें परिच्छेद में बताई गई है। गुरु-दक्षिणा के प्रसंग में यहाँ निरुत्तर दक्षिणा की विधि चर्चित है। समयी के लिये संवर-पालन का उपदेश यहाँ प्रथम परिच्छेद के प्रारम्भ (श्लो. ५-२०) में किया है। यहीं (श्लो. २३-३१) गुरु की प्रसन्नता का महत्त्व बताते हुए कहा गया है

१. इस प्रसंग में आर्यदेव के चित्तविशुद्धिप्रकरण (श्लो. १२७) का यह वचन अवधेय है कि गुरु के गुणों को ही ग्रहण करना चाहिये, उसके दोषों को नहीं (गुणास्तेषां परिग्राह्या दोषा नैव कदाचन।) तन्त्रालोक (४.२४४) की टीका में जयरथ ने भी एक वचन उद्धृत किया है— "यत्ते कुर्युर्न तत्कुर्याद् यद् ब्रूयुस्तत्समाचरेत्", अर्थात् जो गुरुजन करते हों, उसका अनुकरण न कर जो वे कहें, उसे ही करना चाहिये। तैत्तिरीय उपनिषद् का भी कहना है— "यान्यस्माक सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि" (१.११.२-३)।

कि गुरु ही बुद्ध, धर्म और संघ है। इसीके प्रसाद से त्रिरत्नों की प्राप्ति होती है। गुह्यसिद्धि (९.८) के समान यहाँ भी (१.३१) गुरु की पूजा को सर्वश्रेष्ठ समय माना है। अन्य समयों का निरूपण यहाँ आगे (१.५८-८४) भी मिलता है। तत्त्वसंग्रह आदि में वर्णित समय-संवर का वर्णन ८वें परिच्छेद (श्लो. १७-२२) में है।

अद्वयसिद्धि के अन्तिम श्लोकों में भी तत्त्व की प्राप्ति गुरुमुख से ही होती है, यह बता कर कहा गया है कि इस त्रिलोकी में आचार्य से बढ़कर दूसरा कोई नहीं है। आचार्य ही सर्वश्रेष्ठ देवता है। उसीकी पूजा प्रयत्नपूर्वक करनी चाहिये।

व्यक्तभावा. (पृ. १७२-१७३) में भी सद्गुरु की उपासना के प्रकरण में बताया गया है कि इस दुस्तर भवसागर को पार करने के लिये पोतोपम (जहाज के समान) सद्गुरु ही हमारे लिये आश्रयणीय हैं, क्योंकि वे ही योग्य शिष्य को अभिषिक्त कर उसे समय और संवर का उपदेश करते हैं। जो ऐसा नहीं करते, वे भवसागर के पार नहीं उतर सकते।

अभिषेक अथवा सेक

अभिषेक अथवा सेक के लक्षण एवं भेदों के विषय में बौद्ध तन्त्रों में पर्याप्त विचार किया गया है। त्रिविध, चतुर्विध, पंचविध, सप्तविध और एकादशविध अभिषेकों के नाम और लक्षण सुस्पष्ट रूप से दिये गये हैं। त्रिविध सेक में कुंभ, गुह्य और प्रज्ञाज्ञान की तथा चतुर्विध अभिषेक में बाल, प्रौढ, वृद्ध एवं प्रजापति की गणना की जाती है। ये चारों अभिषेक क्रमश: पयोधर (कुंभ), गुह्य, प्रज्ञाज्ञान और चतुर्थ कहलाते है। सहज शब्द के विवरण में सहजाभिषेक को भी चतुर्थाभिषेक कहा गया है। इसी को लोकोत्तराभिषेक भी कहते हैं। एकादश अभिषेकों में इसका अन्तिम स्थान है। चतुर्थाभिषेक स्थित चतुर्थ शब्द के हेवज्रतन्त्र के टीकाकार ने अनेक अर्थ किये हैं और बताया है कि इस अभिषेक के बाद ही योगी को महामुद्रा की सिद्धि प्राप्त होती है। स्पष्ट है कि टीकाकार सहजाभिषेक को ही चतुर्थाभिषेक मानते हैं।

कुंभाभिषेक अथवा कलशाभिषेक के उदक, मुकुट, वज्र, घंटा, नाम और आचार्य नामक छ: भेद माने जाते हैं। इन सभी में कलश की स्थापना अनिवार्य होने से इनको यह नाम दिया गया है। इनमें से प्रथम पाँच अभिषेक आदर्श आदि पंचज्ञानात्मक एवं अक्षोभ्य आदि पंचबुद्धात्मक हैं। आचार्याभिषेक का भी इनमें परिगणन करने पर ये षट्तथागत स्वभाव हो जाते हैं। ये सभी अभिषेक अवैवर्तिक कहे गये हैं। हेवज्रतन्त्र की टीका के अनुसार क्रियातन्त्र आदि की पद्धति से किये जाने वाले अभिषेक अवैवर्तिक कहलाते हैं। वज्राभिषेक को वज्रव्रताभिषेक और घण्टाभिषेक को वज्रघण्टा नाम भी

दिया गया है। इस स्थिति में वज्र शब्द का देहलीदीप-न्याय से घण्टा से भी संबन्ध माना जायगा। घण्टाभिषेक को अधिपत्यभिषेक भी कहा जाता है। आचार्याभिषेक हो जाने पर साधक को वज्रसमय, घण्टासमय, मुद्रासमय, भव्यतानुज्ञा, व्रतव्याकरण और आश्वासप्रदान का अधिकार मिल जाता है। अद्वयवज्रसंग्रह में इन सबका विवरण दिया गया है।

विमलप्रभा में अभिषेकों के प्रथमत: लौकिक एवं लोकोत्तर नामक दो भेद किये गये हैं। इनमें लौकिक अभिषेक के उदक, मुकुट, पट्ट, वज्रघण्टा, महाव्रत, नाम और अनुज्ञा नामक सात भेद और लोकोत्तर के कलश, गुह्य, प्रज्ञाज्ञान और चतुर्थ नामक चार भेद हैं। इस प्रकार यहाँ अभिषेकों के ११ प्रकार वर्णित हैं। इनमें से लोकोत्तर के नाम से चर्चित चार अभिषेकों का उल्लेख ऊपर हो चुका है। यहाँ वर्णित लौकिक अभिषेकों में और पूर्व वर्णित अवैवर्तिक अभिषेकों के नामों में थोड़ा अन्तर है। सातवाँ अनुज्ञाभिषेक तो अलग है ही, यहाँ वज्र के स्थान पर पट्ट नाम दिया गया है। वज्र और घण्टा को मिलाकर उसको एक अभिषेक माना गया है। आचार्याभिषेक का नाम इस सूची में नहीं है। उसके स्थान पर महाव्रत नाम है। अनुज्ञा आदि अभिषेकों का स्वरूप भिन्न प्रकार का है। इन सभी एकादश अभिषेकों का उल्लेख सेकोद्देशटीका में उद्धृत डाकिनीवज्रपंजर के श्लोकों में भी मिलता है। सेकोद्देशटीका में भी ११वाँ अभिषेक ही प्रधान है और वहाँ भी चतुर्थाभिषेक के नाम से ही यह व्याख्यात है। इसको महामुद्राभिषेक भी कहा गया है। अद्वयवज्रसंग्रह में बताया गया है कि धर्ममुद्रा और महामुद्रा रूप महाज्ञान ही समाज के नाम से जाना जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि चतुर्थ मुद्रासिद्ध योगी ही (गुह्य)समाजतन्त्र का अधिकारी बन सकता है। सेकोद्देश-टीकाकार ने प्रथम सात सेकों को अधरसंवृति रूप, अर्थात् सर्वसाधारण के लिये तथा कुंभ, गुह्य और प्रज्ञाज्ञान नामक तीन सेकों को योगसंवृति रूप माना है।

समय और संवर

हम देखते हैं कि ऊपर वज्राभिषेक के बाद गुरु के द्वारा शिष्य को दिये जाने वाले समयों और संवरों का उल्लेख अनेक बार हुआ है। इन दोनों शब्दों का स्पष्ट अन्तर समझ लेना आवश्यक है। संक्षेप में समयों का सेवन किया जाता है और संवरों का पालन। वज्रयान में समय-सेवन का अभिप्राय कुछ निश्चित द्रव्यों के सेवन से है। संवर-पालन का अभिप्राय अपने-अपने सम्प्रदाय में उपदिष्ट नियमों के पालन से है। ज्ञानसिद्धि (८.१८) में समय-संवर शब्द प्रयुक्त हुआ है। वहाँ बताया गया है कि तत्त्वसंग्रह आदि तन्त्रों में वर्णित समय-संवर का पालन करे। इस शब्द का अभिप्राय

यह है कि समय-सेवन करते समय भी यहाँ बताये गये संवरों (नियमों) का पालन करना चाहिये। प्र. वि. सि. (३.२२-२५) में समय और संवर शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। उन दोनों स्थलों के संवरों में समानता है, किन्तु ज्ञानसिद्धिकार अन्यत्र (१. ११-१४) समयी के लिये जिन संवरों का उपदेश करते हैं, वे तत्त्वसंग्रह में बताये गये संवरों से एकदम विपरीत हैं। इन्हीं संवरों को गुह्यसिद्धि (५.२८-२९) में [1]समयचतुष्टय कहा गया है और बताया गया है कि इनका पालन अवश्य करना चाहिये। अद्वयसिद्धि (श्लो. १८) भी इसीका अनुसरण करती है। ज्ञानसिद्धि (१.१५) में यहाँ बताया गया है कि जिस काम को करने से सामान्य मनुष्य करोड़ों कल्पों तक नरकों का उपभोग करता रहता है, योगी उन्हींकी सहायता से मुक्त हो जाता है। गुह्यसिद्धि (६.८६) और अद्वयसिद्धि (श्लो. ७) का भी कहना है कि जिन क्रूर कर्मों को करने से सामान्य व्यक्ति बन्धनों से जकड़ जाता है, उन्हींकी सहायता से योगी युक्तिबल से मुक्त हो जाता है। हेवज्रतन्त्र (२.२.४६) का भी कहना है कि विष की जिस मात्रा से साधारण व्यक्ति मूर्च्छित हो जाता है, अपने युक्तिबल से कुशल चिकित्सक उसीसे असाध्य रोगी को रोग-मुक्त कर देता है।

वैष्णव, शैव और शाक्त तन्त्रों में समयी, पुत्रक, साधक और आचार्य के भेद से दीक्षा के चार प्रकार बताये गये हैं। समय दीक्षा में गुरु शिष्य को दीक्षित व्यक्ति के लिये पालनीय कुछ समयों (नियमों) को सुनाता है और उनमें से अपने अभीष्ट नियमों का पालन करने के लिये कहता है। दीक्षा के समय गुरु के समक्ष जिन नियमों को पालन करने की शिष्य ने प्रतिज्ञा की हो, उनका पालन उसे अवश्य करना पड़ता है। "श्रावयेत् समयान् दिव्यान्" (५.२७) गुह्यसिद्धि का यह वचन भी इसी प्रसंग की याद दिलाता है। बौद्ध साहित्य की यह विशेषता है कि यहाँ शिष्य के द्वारा आचरण के लिये अंगीकृत नियमों के लिये अलग से संवर शब्द का प्रयोग किया जाता है, जब कि इस तरह का शब्द उपर्युक्त तन्त्र-साहित्य में नहीं मिलता। समय-सेवन (६.७६, ८.३५) और समय-पालन (८.४८) शब्दों का गुह्यसिद्धि में एक ही अर्थ में प्रयोग मिलता है। यहाँ संवर शब्द का प्रयोग मिलता ही नहीं। अद्वयसिद्धि भी इसीका अनुसरण करती है।

कायपूजा (आत्मपूजा)

लक्ष्मींकरा ने स्पष्ट उद्घोषणा की है—

---

१. यहाँ वर्णित समय-चतुष्टय गुह्यसमाजतन्त्र (पृ. १२०) में भी देखे जा सकते हैं। गुह्यसमाज के अन्य अनेक वचन उसी रूप में गुह्यसिद्धि में मिलते हैं। कहा जा सकता है कि गुह्यसिद्धि में गुह्यसमाज का सार संगृहीत है।

न चापि वन्दयेद् देवान् काष्ठपाषाणमृण्मयान्।
पूजामस्यैव कायस्य कुर्यान्नित्यं समाहितः।। (श्लो. १५)
पूजयेद् देवतां तेन देहस्थां तत्त्वभावनैः। (श्लो. १७)

काष्ठ, पाषाण और मृण्मय देवताओं की पूजा करने की अपेक्षा इस मनुष्य शरीर की ही पूजा का विधान वज्रयान में इसलिये किया गया है कि मन्त्र की सामर्थ्य से जब जड़ काष्ठ, पाषाण आदि में इष्टदेवता का आवाहन किया जा सकता है, तो इस चेतन शरीर में तो इष्टदेवता का आवाहन सुतरां संभव है। स्वल्प पाठान्तर के साथ यह श्लोक गुह्यसिद्धि (६.४१-४२) में भी मिलता है। "आत्मानं पूजयेत् सदा" यह वचन गुह्यसिद्धि (६.२७), प्र. वि. सि. (५.२७) और ज्ञानसिद्धि (१.७७) में भी मिलता है। ज्ञानसिद्धि में "परात्मानं प्रपूजयेत्" (१.६९), "आत्मानं पूजयेद् योगी" (१.७०), "आत्मानं सर्वसंयुक्तं सदा पश्येद् महाव्रती" (१.७६) ऐसे पाठ भी मिलते हैं। ज्ञानसिद्धि में उद्धृत संवरतन्त्र का यह वचन—

"स्वाधिदैवतयोगेन स्वमात्मानं प्रपूजयेत्" (पृ. १४४)

भी इस अर्थ को बताता है। गुह्यसिद्धि और अद्वयसिद्धि में भी क्रमशः कहा गया है— "पूजयेत् सततं मन्त्री आत्मानं तत्त्वतत्परम्" (६.७७), "पूजयेत् सततं मन्त्री स्वात्मानं तत्त्वभावनैः" (श्लो. ४)। अनंगवज्र का तो स्पष्ट ही उद्घोष है— "तस्मादात्मैव देवता" (प्र. वि. सि. ५.३३)। इन्हीं ग्रन्थों के उपर्युक्त स्थलों में यह आत्मपूजा किस प्रकार की जाय, इसका विधान भी बता दिया गया है। इस आत्मपूजक योगी की चर्या कैसी होनी चाहिये, इस विषय में भी बौद्ध ग्रन्थों में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। उन सबका अभिप्राय यह है कि वज्रयान का अनुयायी साधक, [1]विधि-निषेध, [2]पुण्यपाप, [3]भक्ष्याभक्ष्य, गम्यागम्य, शुच्यशुचि आदि द्वन्द्वों से ऊपर उठकर, सभी प्रकार की शंकाओं से मुक्त होकर अपनी चर्या ऐसी बनावे कि जिससे सहज गति से, बिना जोर-जबर्दस्ती के उसका चित्तरत्न प्रभास्वरता की ओर अग्रसर हो। गुह्यसिद्धि जैसे ग्रन्थों में इस अभिप्राय के अनेक वचन उपलब्ध होते है। उन सबका अभिप्राय यह है कि साधक को

---

१. निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः।

२. हितार्थं यद् भवेत् कर्म सर्वं सच्चरितं भवेत्।
विपर्ययादपुण्यं तत् प्रवदन्ति जिनोत्तमाः।। (ज्ञा. सि. ९. ८)

३. ज्ञानसिद्धि के ९-११ पटलों में इनका विशेष विवरण देखा जा सकता है। बन्ध-मोक्ष आदि के विषय में भी इसी तरह के विचार कौल तन्त्रों में देखे जा सकते हैं। देखिये— लुप्तागमसंग्रह, द्वितीय भाग, उपोद्घात, पृ. १७३-१७४

अपने मनोनुकूल कार्यों को अवश्य करना चाहिये। सब कुछ इस तरह से करना चाहिये कि शरीर अथवा मन को किसी प्रकार का क्लेश न पहुँचे। उसे [1]दूसरों को क्लेश नहीं पहुँचाना चाहिये और न दूसरों के व्यवहार से दुःखी ही होना चाहिये। जब साधक की सभी वासनाएं क्षीण हो जाती हैं, तो उसकी बोधि-प्राप्ति की भी इच्छा नहीं रहती। वह यही सोचता है कि इस संसार के सभी प्राणियों को मैं इस बोधि में प्रतिष्ठित कर दूँ।[2] योगी जन निजी स्वार्थ के लिये निर्वाण पदवी में भी प्रवेश करना नहीं चाहते। वे सभी परिस्थितियों में अपनी रुचि के अनुसार चर्या बना लेते हैं। व्रत, जप, ध्यान आदि का भी आचरण उनकी इच्छा के ऊपर निर्भर है।

चर्या के स्थान और द्रव्य

वज्रयान की यह चर्या गुह्यसिद्धि (८.१७-१८) के अनुसार पर्वतों[3] के शिखर पर, समुद्र के किनारे, उपद्रव से रहित राष्ट्र में, बीहड़ जंगलों में, शहर की पुरानी गुफाओं में तथा निर्मल जल, फल वाले वृक्ष, लता-गुल्म आदि से घिरे हुए निर्जन स्थानों में की जाती है। अभिनवगुप्त ने कहीं लिखा है कि श्मशान आदि घोर स्थानों में घोर द्रव्यों से तथा सौम्य स्थानों में सौम्य उपादानों से इष्टदेवता की उपासना की जाती है। इसमें शबलता नहीं करनी चाहिये, अर्थात् सौम्य स्थानों में घोर द्रव्यों से तथा घोर स्थानों में सौम्य द्रव्यों से पूजा नहीं की जाती। बौद्ध ग्रन्थों में और अन्यत्र भी ऐसे द्रव्यों का विवरण मिलता है। पंचरत्न, पंचप्रदीप[4] आदि की चर्चा अनेक स्थलों पर आती है। [5]पंचरत्न, द्वादशरत्न आदि का उल्लेख तन्त्रालोककार अभिनवगुप्त तथा उसके टीकाकार जयरथ भी करते हैं।

---

१. इस वचन की भगवद्गीता की इस पंक्ति से तुलना कीजिये— "यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः" (१२.१५)।

२. भारतीय वाङ्मय में यह श्लोक बहुत प्रसिद्ध है—
न चाहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्।।

३. "उपह्वरे गिरीणां संगथे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत।।" (८.६.२८) ऋग्वेद का यह मन्त्र 'संगमे' पाठ के साथ शुक्ल यजुर्वेद (२६.१५) में भी है। डॉ. प्रबोधचन्द्र. बागची द्वारा सम्पादित कौलज्ञाननिर्णय में प्रकाशित ज्ञानकारिका के तृतीय पटल में एकलिंग, श्मशान, नदीसंगम, शून्यागार, गुहावास, वृक्षमूल, चत्वर, महोदधितट और त्रिपथ शब्दों का अर्थ बताया गया है।

४. पंचदीप और पंचामृत आदि नामों से भी ये द्रव्य जाने जाते हैं। मनोविकारों के मार्गीकरण में पंचामृत अंकुश का काम करते हैं, अतः इनको पंचांकुश भी कहा जाता है। पंचदीप के सेवन से चित्त को स्थिर करने में सहायता मिलती है। गुरुपूजा आदि ग्रन्थों में इनका विवरण मिलता है।

५. पृ. ६८६ की टिप्पणी देखिये।

अभिनवगुप्त ने कौलिक याग के तीन रहस्यों की चर्चा की है—

अर्घपात्रं यागधाम दीप इत्युच्यते त्रयम्।
रहस्यं कौलिके यागे .... ।। (तन्त्रालोक, २९.१४-१५)

यहाँ अभिनवगुप्त ने अर्घपात्र और यागधाम का तो विवरण दिया है, किन्तु दीप शब्द के अर्थ को उन्होंने अधिक स्पष्ट नहीं किया। वे केवल इतना कहते हैं— "दीपा घृतोत्थाः, गावो हि" (२९.१६)। यहाँ दीप शब्द का प्रयोग वज्रयान के ग्रन्थों में प्रयुक्त प्रदीप के अर्थ में हुआ लगता है। इसी तरह से वज्रयान और कौल तन्त्रों में [१]सन्धा भाषा के माध्यम से वर्णित अनेक विषयों का स्पष्टीकरण हमें इन शास्त्रों के तुलनात्मक ऐतिहासिक पद्धति से किये गये अध्ययन से मिल सकता है।

सप्तमातृका-स्थान

ब्रह्माणी, वैष्णवी, रुद्राणी, इन्द्राणी, कौबेरी, वाराही और चामुण्डा नामक सात लोकमातृकाओं का उल्लेख गुह्यसमाज की प्रदीपोद्योतन टीका में मिलता है। अमरकोश में इनके नाम ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी और चामुण्डा दिये गये हैं। इन सात मातृकाओं का उल्लेख पौराणिक एवं तान्त्रिक वाङ्मय में तो पर्याप्त मात्रा में मिलता ही है, इनकी मूर्तियाँ और मन्दिर भी भारत के विस्तृत भूभाग में फैले हुए हैं। चन्द्रकीर्ति ने ब्राह्मी के स्थान पर ब्रह्माणी और माहेश्वरी के स्थान पर रुद्राणी पाठ रखा है, इनके अर्थ में कोई भेद नहीं है। वे कौमारी के स्थान पर कौबेरी पाठ रखते हैं। हमें यह लेखन की अशुद्धि लगती है, क्योंकि इस ग्रन्थ के भोट अनुवाद से कौमारी पाठ को ही समर्थन मिलता है।

चन्द्रकीर्ति ने [२]श्मशान, शून्यागार, चतुष्पथ, एकलिंग और एकवृक्ष को मातृकाओं का गृह बताया है। इन पाँच नामों में पर्वताग्र और नदीतीर को जोड़ने पर यह संख्या

१. सन्धा अथवा सन्ध्या-भाषा शब्द का प्रयोग वज्रयानी बौद्ध साहित्य में एक ही अर्थ में हुआ है। सन्ध्या दो कालों से जुड़ी रहती है, वैसे ही यह भाषा भी दो अर्थों से जुड़ी हुई है। अथवा किसी विशेष अर्थ का अनुसंधान मन में रखकर इस भाषा में किसी विशेष शब्द का प्रयोग किया जाता है। ज्ञानसिद्धि (२.१०) में इसी अर्थ में समय-भाषा शब्द प्रयुक्त है। हेवज्रतन्त्र के छोमा पटल तथा स्वच्छन्दतन्त्र के छुम्मकाप्रकाश पटल में कुछ विशेष अर्थों में प्रयुक्त होने वाले शब्दों का विवरण मिलता है। इन सिद्धियों में भी ऐसा कहीं-कहीं देखा जा सकता है। कुलार्णवतन्त्र के अन्तिम १७वें उल्लास में भी ऐसे कुछ शब्दों की व्युत्पत्ति दी गई है।

२. ज्ञानोदयतन्त्र में सर्वप्रथम गिरिगुहा, महोदधि, नदीतीर, वृक्षमूल, मातृकागृह, शिवालय, उद्यान, श्मशान, चतुष्पथ, विहार, चैत्यालय अथवा विजन निरुपद्रव अनुकूल गृह की साधना के लिये उपयोगी स्थानों में गणना की है। 'धीः' के १५वें अंक में पृ. २७९ पर दी गई दूसरी टि. में इसका विस्तार देखा जा सकता है। कौलज्ञाननिर्णय के साथ प्रकाशित ज्ञानकारिका (पृ. ११९-१२१) में एकलिंग, श्मशान, नदीसंगम, शून्यागार, गुहावास, वृक्षमूल, चत्वर, महोदधितट और त्रिपथ शब्दों का आध्यात्मिक अर्थ भी बताया गया है।

सात हो जाती है। इन सभी मातृकाओं का इन स्थानों पर निवास है या ये अलग-अलग मातृकाओं के अलग-अलग निवास स्थान हैं, इसके विषय अभी निश्चयपूर्वक कुछ कहा नहीं जा सकता। इस प्रसंग में यह ध्यान देने की बात है इन सात मातृकाओं की पूजा प्राय: एक साथ गणदेवता के रूप में होती है। इनकी मूर्तियों और मन्दिरों की भी प्राय: यही स्थिति है। उक्त स्थानों को पूरे तान्त्रिक वाङ्मय में मान्यता प्राप्त है।

उन्मत्तव्रतलीला

पद्मवज्र गुह्यसिद्धि के अन्त में कहते हैं— "सिद्ध्यते जन्मनीहैव उन्मत्तव्रतलीलया" (९.४६)। यहाँ दो विशेष विषयों की चर्चा की गई है। एक तो इसी जन्म में मोक्ष की प्राप्ति तथा दूसरा उन्मत्तव्रत। पहले हम उन्मत्तव्रत शब्द पर विचार करते हैं। उन्मत्तचेष्टित, उन्मत्तरूप अथवा उन्मत्तव्रत शब्दों का प्रयोग कर गुह्यसिद्धिकार उन्मत्तव्रत शब्द की ही व्याख्या करते हैं। उनको देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्मत्तव्रत गुह्यचर्या का अभिन्न अंग है। यह चर्चा यहाँ छठे परिच्छेद में विशेष रूप से वर्णित है। सिद्धों की जीवनियों से हमें पता चलता है कि उनमें से अनेकों की चेष्टाएँ पागलों की सी होती थी। [1]पागलों के पीछे ताली बजाते हुए बालकों का झुण्ड अब भी देखा जा सकता है। 'धी:' के प्रथम अंक (पृ. १००-१०१) में हमने बताया है कि उन्मत्तव्रत शब्द की अद्वयवज्रसंग्रह (पृ. ३.५९) में भी चर्चा है। मार्कण्डेयपुराण (१७.१६) में दुर्वासा को उन्मत्तव्रत का पालक बताया है और [2]मृगेन्द्रागम के क्रियापाद की नारायणकण्ठ की वृत्ति में सात चर्याव्रतों में उन्मत्तव्रत भी परिगणित है। 'धी:' के तृतीय अंक (पृ. ८९) में स्मृत महाभारत के वनपर्व (२६०.११-१२) के वचन में दुर्वासा को उन्मत्तवेषधारी कहा है।

मनुस्मृतिकार (२.१६२) ने व्यक्ति को अपमान का स्वागत करने तथा संमान से दूर रहने के लिये कहा है। पाशुपतसूत्र भी इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हैं (३.१६-१९)। यह कैसे हो, इसके लिये पाशुपतसूत्रकार लकुलीश ने क्राथन, स्पन्दन, मन्दन, शृंगारण (३.११-१५) आदि विधियों की चर्चा की है। वे उन्मत्त के समान अकेले घूमने की सलाह देते हैं और कहते हैं कि ऐसा करने से लोग उसको मूढमति, पागल समझकर उनसे दूर ही रहेंगे। इस आत्मप्रचार के युग में हमारे लिये यह स्थिति अजीब

---

१. इस स्थिति का परिचय हमें गुह्यसिद्धि के इस वचन से भी मिलता है— "शिशुभिस्तालशब्दैश्च समन्तात् परिवेष्टितम्" (६.८४)।

२. मृगेन्द्रागम (चर्या. १. ३७, ४०-४१) में वर्णित योगिनीकौल और सिद्धकौल विभाग हमें बौद्ध साहित्य में वर्णित पितृतन्त्र और मातृतन्त्र की याद दिलाते हैं।

सी लगती है, किन्तु सिद्धों की जीवन-चर्या इसी प्रकार की थी। इन लोगों का सिद्धान्त था— "प्रतिष्ठा सूकरी विष्ठा।" यह प्रतिष्ठा आध्यात्मिक उन्नति में बाधक है। इस बाधा से दूर रहने के लिये सिद्धगण उन्मत्तव्रत का आचरण करते हैं और इसी जन्म में बुद्धत्व को प्राप्त कर लेते हैं।

एक ही जन्म में मुक्ति

गुह्यसिद्धिकार इस विषय में कहते हैं— "नैकजन्मान्तरे सिद्धिरस्मिन्नेकेन कीर्तिता" (४.५८)। अन्य शास्त्रों में बताया गया है कि अनेक जन्मों के बाद ही व्यक्ति को मुक्ति मिल सकती है, किन्तु हमारे मत में तो एक ही जन्म में मुक्ति मिल जाती है। इस विषय से सम्बद्ध कुछ वचनों का संग्रह "धीः" के प्रथम अंक (पृ. १०२-१०३) में किया गया है। अवधूतसिद्ध के [1]भक्तिस्तोत्र में कहा गया है कि अन्य शास्त्रकारों के मत से जो पद अनेक जन्मों के उपरान्त भी नहीं मिल सकता, वह यहाँ एक ही जन्म में मिल जाता है। गुह्यसिद्धिकार का वचन भी इसी ओर इंगित करता है। पालिसाहित्य और संस्कृत के महायान ग्रन्थों में अनेक या कुछ जन्मों की तपस्या के बाद ही निर्वाण की प्राप्ति बताई गई है। [2]भगवद्गीता में भी यह कहा गया है कि अनेक जन्मों की तपस्या के बाद ही व्यक्ति परम गति को प्राप्त कर सकता है। इसके विपरीत वज्रयान के उपासक को एक ही जन्म में बुद्धत्व की प्राप्ति हो जाती है। गुह्यसिद्धि के अतिरिक्त [3]प्र. वि. सि., ज्ञानसिद्धि और अचिन्त्या. में भी इसी सिद्धान्त को पुष्ट किया गया है।

गुह्यसिद्धि (२.११) में कहा गया है कि वज्रयान एक अत्यन्त गुह्य एवं परम श्रेष्ठ मार्ग है। वहाँ (९.२८-२९) यह भी बताया गया है वज्रयान की निन्दा करने वाले का

---

१. "यत् तीर्थिकैर्जगति जन्मभिरप्रमेयैर्नासाद्यते पदमिति स्वमतेषु गीतम्। तच्चैकजन्मिकमिति ब्रुवता निगृह्य तेषां त्वया ननु कृतश्चरणः शिरस्सु।।" (श्लो. ३०)। अवधूतसिद्ध ने यहाँ तीर्थिक शब्द का प्रयोग श्रुति, स्मृति आदि शास्त्रों का अनुसरण करने वालों के लिये किया है। यहाँ का 'गीतम्' शब्द भगवद्गीता की ओर इंगित करता है।

२. "अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्" (६.४५)। भूमिमार्गव्यवस्था के लेखक लामा लोसङ् मल्दन का कहना है कि योगाभ्यास आदि के बिना भी समयों और संवरों का तत्परतापूर्वक सम्यक् पालन करने पर साधक को अधिक से अधिक सात-आठ जन्मों में मुक्ति (निर्वाण) की प्राप्ति हो सकती है।

३. "जन्मनीहैव सिद्ध्येत तत्त्वाभ्यासकृतश्रमः" (प्र. वि. सि., ५.१६), "सिद्ध्यतीहैव धामनि" (प्र. वि. सि. ५.४५), "अशेषयोगतन्त्रोक्तं वज्रज्ञानमनुत्तरम्। ये न जानन्ति मूढास्ते भ्रमन्तीह भवार्णवे।। ये तु सत्त्वाः समारूढाः सर्वसंकल्पवर्जिताः। ते स्पृशन्ति परां बोधिं जन्मनीहैव साधकाः।।" (ज्ञा. सि. १. ३-४), "बुद्धत्वमिह जन्मनि" (अ. क्र. ६५), "बुद्धत्वं लभ्यते सद्यो जन्मनीहैव योगिना" (अ. क्र. ८६)।

कभी उद्धार नहीं होता। अनेक कल्पों तक वे इसी संसार-सागर में डूबते-उतराते रहते हैं। ज्ञानसिद्धि (११.८) का भी कहना है कि विकल्प-जाल से भरे हुए इस संसार रूपी समुद्र को व्यक्ति वज्रयान के सहारे ही पार कर सकता है।

किन्तु इस वज्रयान की उपासना में बहुत सावधानी बरतने की आवश्यकता है। [1]अनंगवज्र ने कहा है कि वज्रयान की साधना में व्यक्ति इस तरह से प्रवृत्त हो कि उसके चित्त में किसी प्रकार का विकार न आवे। चित्त में क्षोभ के उत्पन्न हो जाने पर, चित्त के चंचल हो जाने पर साधक सभी प्रकार की सिद्धियों से वंचित हो जाता है। इसलिये सिद्धि का आकांक्षी व्यक्ति सभी प्रकार के आग्रहों को छोड़कर अपने चित्त को इस साधना के अनुकूल बनाने के लिये ऐसे सहज (स्वाभाविक) उपायों का सहारा ले, जिससे कि यह चंचल चित्त उसी प्रकार अपने वश में किया जा सके, जैसे [2]चंचल पारे का शोधन करते समय उसको गोबर से सम्पुटित कर स्थिर कर लिया जाता है। इसके लिये चार प्रत्ययों का शास्त्रों में उपदेश किया गया है।

प्रत्यय-चतुष्टय

विमलप्रभा के कर्ता पुण्डरीकपाद का कहना है कि भगवान् ने मन्त्रनय में तीन प्रकार के प्रत्ययों का वर्णन किया है— १. तन्त्रप्रत्यय, २. गुरुप्रत्यय और आत्मप्रत्यय। वसन्ततिलक के टीकाकार गुह्यतत्त्वप्रकाश के वचन को उद्धृत करते हुए चार प्रत्ययों का वर्णन करते हैं। वे हैं— आगमप्रत्यय, गुरुप्रत्यय, आत्मप्रत्यय और परप्रत्यय। यहाँ बताया गया है कि सहज का ज्ञान व्यक्ति को इन्हीं की सहायता से हो पाता है। इनमें तन्त्रप्रत्यय एवं आगमप्रत्यय अभिन्न है। गुरुप्रत्यय से परप्रत्यय को यहाँ अलग किया गया है। कभी-कभी हमें सामान्य व्यक्ति से भी ज्ञान के महत्त्वपूर्ण खजाने की कुंजी मिल जाती है। उस स्थिति में परप्रत्यय की ब्राह्मणवसिष्ठ-न्याय से अलग सत्ता मानी जा सकती है।

यह विषय शैव-शाक्त तन्त्रों में अधिक स्पष्ट रूप से वर्णित है। तत्त्व की प्राप्ति में सत्तर्क और स्वानुभव को वरीयता देते हुए तन्त्रालोक[3] और उसकी टीका में

---

१. तथा तथा प्रवर्तेत यथा न क्षुभ्यते मनः।
संक्षुब्धे चित्तरत्ने तु सिद्धिर्नैव कदाचन।। (५.४०)

२. सुभाषितसंग्रह (पृ. ५६) में प्र. वि. सि. का यह (५.४२) श्लोक उद्धृत किया गया है। वहाँ 'सूत्र' के स्थान पर 'सूत' पाठ है। इसी पाठ की यहाँ संगति बैठती है। सूत शब्द यहाँ पारे के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

३. तन्त्रालोक (४. ३४, ८६) और उसकी विवेक टीका देखिये।

गुरुप्रत्यय, शास्त्रप्रत्यय और स्वात्मप्रत्यय का वर्णन किरणागम, पूर्वशास्त्र, परात्रीशिका, ब्रह्मयामल् निशाटन आदि के प्रमाण से किया गया है। यहाँ [1]गुरु से शास्त्र को और शास्त्र से स्वप्रत्यय को श्रेष्ठ माना है, किन्तु उक्त दोनों बौद्ध-ग्रन्थों में शास्त्र से श्रेष्ठ गुरु का स्थान माना गया है। [2]योगवासिष्ठ में यही क्रम प्रदर्शित है। वहाँ कहा गया है कि शास्त्र से अथवा गुरुवचन से स्वात्मस्वरूप की प्रतीति नहीं होती, उसकी प्रतीति तो स्वात्मानुभव से ही होती है। यही क्रम उचित भी लगता है। व्यक्ति शास्त्रों का अध्ययन कर उनका रहस्य जानने के लिये गुरु के पास जाता है और अन्ततः [3]सहज तत्त्व की प्राप्ति तो उसे अपने प्रयास से ही करनी पड़ती है।

तन्त्रशास्त्र का उपदेश सभी प्रकार के प्राणियों के चित्त की प्रभास्वरता के लिये हुआ है। इसके लिये हम यहाँ पहले कुछ सामान्य विषयों का उल्लेख कर क्रमशः चतुर्विध तन्त्रों में प्रदर्शित उपायों का संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं।

त्रिविध अवस्था एवं विविध निमित्त

हेत्ववस्था, फलावस्था और सत्त्वार्थक्रियावस्था नामक तीन अवस्थाओं का इनके भेदोपभेद के साथ विवरण बौद्ध तन्त्रकोश के अवस्थात्रय शब्द में देखा जा सकता है। निर्माण, संभोग, धर्म और स्वाभाविक (सहज) नामक चार कायों का स्वरूप कायचतुष्टय शब्द में तथा अन्यत्र भी अनेक प्रसंगों में दिया गया है। सेवा, उपसाधन, साधन और महासाधन नामक चार उपायों का विवरण उपाय शब्द के अन्तर्गत गुह्यसमाज की प्रदीपोद्योतनटीका के आधार पर इनके लक्षण विस्तार से दिये हैं। इस विषय पर "सप्तविधालंकाराख्यायिका न्याय" शीर्षक एक विस्तृत निबन्ध भी 'धीः' के छठे अंक (पृ. ७३-८६) में प्रकाशित हो चुका है। त्रिविध, पंचविध और दशविध निमित्तों का पर्याप्त परिचय निमित्त, निमित्तदशक और निमित्तपंचक शब्दों से मिल जाता है। कायविकुर्वण, वाग्विकुर्वण और चित्तविकुर्वणों का विवरण विकुर्वण शब्द में देखना चाहिये। इन शब्दों का प्रयोग सिद्धसाहित्य में तथा अन्यत्र भी वज्रयान के ग्रन्थों में मिलता है। संवृतिसत्य और परमार्थसत्य नामक सत्यद्वय का निरूपण तो बौद्ध

---

१. "गुरुः शास्त्रे उपायः, तदपि स्वपरामर्शे। एवमुपादायापि ये हेयास्तानुपायात् प्रचक्षत इत्याद्युक्तयुक्त्या गुरुशास्त्रयोरुपायत्वादमुख्यत्वमिति स्वपरामर्शस्यैव प्राधान्यम्" (तन्त्रा. वि., पृ. ४६)। वसन्ततिलक-टीका में उक्त श्लोकार्ध का पाठ इस प्रकार है— "उपेये सति ये हेयास्तानुपायान् प्रचक्षते" (पृ. ८)।

२. निर्वाणप्रकरण का पूर्वार्ध (४१. १५) देखिये।

३. नान्येन कथ्यते सहजं न कस्मिन्नपि लभ्यते। आत्मना ज्ञायते पुण्याद् गुरुपर्वोपसेवया।। (हे. त., १. ८. ३. ६; स. सि., १. १५)।

धर्म-दर्शन की सभी शाखाओं में उपलब्ध है। लौकिक सत्य और लोकोत्तर सत्य के नाम से भी इनकी व्याख्या मिलती है।

भाव शब्द की व्युत्पत्ति बताकर यहाँ अण्डज, जरायुज, उपपादुक, संस्वेदज और देवासुरप्रकृतिक नामक पाँच प्रकार के प्राणियों का उल्लेख किया गया है। उपपादुक शब्द का यहाँ उद्भिज्ज शब्द के अर्थ में प्रयोग हुआ लगता है। [1]योगभाष्य में औपपादिक शब्द मिलता है। वाचस्पति मिश्र ने इसकी व्याख्या करते हुए बताया है कि माता-पिता के संयोग के बिना धर्मविशेष से संस्कृत भूतों के परमाणुओं से जो दिव्य देह प्रादुर्भूत होता है, उसे ही औपपादिक कहते हैं। माहेन्द्र भुवन निवासी षड्विध देवनिकायों का व्यासभाष्य (३.२६) में उल्लेख है। उनके नाम इस प्रकार हैं— त्रिदश, अग्निष्वात्त, याम्य, तुषित, अपरिनिर्मितवशवर्ती और परिनिर्मितवशवर्ती। ये सब [2]औपपादुक देह वाले हैं। इनमें से कुछ के नाम (षड्विध) कामधातु शब्द में मिलते हैं। चातुर्महाराजकायिक, त्रायस्त्रिंश, याम, तुषित, निर्माणरति और परनिर्मितवशवर्ती— ये हैं षड्विध कामधातु। यहाँ त्रायस्त्रिंश पद त्रिदश का पर्यायवाची माना जा सकता है। याम के स्थान पर याम्य होना चाहिये। अमरकोश में गणदेवताओं में तुषित और महाराजिक परिगणित हैं। टीकाकार ने तुषित देवों की संख्या ३६ और महाराजिकों की २२० बताई है। व्यासभाष्य (३.२६) में महर्लोक, जन, तप और सत्यलोक के गणदेवताओं का भी वर्णन है। पुराणों में प्रत्येक मन्वन्तर के अधिपति गणदेवताओं की नामावली में भी ये नाम परिगणित हैं। इन सबके तुलनात्मक अध्ययन से ही हम इनके नामों की सही पहचान कर सकते हैं।

पाँच मार्ग

वसन्ततिलक के टीकाकार ने संभारमार्ग, प्रयोगमार्ग, दर्शनमार्ग, भावनामार्ग और अशैक्षमार्ग नामक पाँच मार्गों का उल्लेख कर उनके भेदों को बताया है। उसके अनुसार संभारमार्ग में चार स्मृत्युपस्थान, चार सम्यक्प्रहाण और चार ऋद्धिपाद— ये बारह धर्म है। पाँच इन्द्रिय और पाँच बल मिलाकर प्रयोगमार्ग के दस धर्म होते हैं। दर्शनमार्ग के सात बोध्यंग नामक धर्म हैं और भावनामार्ग में आर्याष्टांग धर्मों का समावेश है। अशैक्षमार्ग का कोई भेद नहीं है। ये सब मिलकर ३७ धर्म होते हैं। इनको बोधिपाक्षिक

---

१. "औपपादिकदेहाः। पित्रोः संयोगमन्तरेणाकस्मादेव दिव्यशरीरमेषां धर्मविशेषातिसंस्कृतेभ्योऽणुभ्यो भूतेभ्यो भवतीति" (३.२६)।

२. यहाँ योगभाष्य में उपपादुक के स्थान पर औपपादिक तथा परनिर्मित के स्थान पर परिनिर्मित शब्द प्रयुक्त हैं। इनकी परीक्षा अपेक्षित है।

धर्म इसलिये कहा जाता है कि इन मार्गों पर चलकर, इन धर्मों को अपने जीवन में उतार कर साधक बुद्धत्व को प्राप्त कर सकता है। इन पाँच मार्गों का लौकिक और लोकोत्तर विभाग किया गया है। लौकिक विभाग में संभारमार्ग और प्रयोग मार्ग के २२ धर्मों का तथा लोकोत्तर विभाग में शेष १५ धर्मों का समावेश किया जाता है।

विमलप्रभा में ज्योतिर्मार्ग, धूममार्ग और विमिश्र नामक अन्य तीन मार्ग बताये गये है। यहाँ ज्योतिर्मार्ग का सूर्य (दिन) से और धूममार्ग का चन्द्र (रात्रि) से संबन्ध है। विमिश्र मार्ग को दिवारात्रिधर्मा बताया गया है। ज्योतिर्मार्ग का उत्तरायण से तथा धूममार्ग का दक्षिणायन से संबन्ध उसी प्रकार बताया गया है, जैसे भगवद्गीता (८.२४-२५) में देवयान और पितृयान का संबन्ध इन दोनों अयनों से बताया गया है। विभिश्र मार्ग का उल्लेख गीता में नहीं है। ज्योतिर्मार्ग और धूममार्ग का सिद्धान्त भारत में कितना दृढ़मूल हो गया है, इसका उदाहरण महाभारत की भीष्मपितामह की कथा से मिलता है।

बौद्ध तन्त्रों में अवधूती मार्ग भी प्रसिद्ध है। इसका विवरण अलग से दिया जा रहा है। अवधूती मार्ग को यहाँ वज्रमार्ग भी कहा गया है। महायान मार्ग का भी उल्लेख मिलता है। कलश, गुह्य और प्रज्ञाज्ञान नामक तीन अभिषेकों से उस मार्ग को संबद्ध बताया गया है। हम समझते हैं कि यहाँ इस शब्द का प्रयोग मन्त्रयान के लिये किया गया है।

बौद्ध योग

पाँच बल और इन्द्रियाँ

प्रयोगमार्ग के दस धर्मों में पाँच बल एवं पाँच इन्द्रियों की गणना की जाती है। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा नामक पाँच इन्द्रियों और बलों की चर्चा वसन्ततिलक में मिलती है और टीकाकार ने इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। टीकाकार का कहना है कि श्रद्धा, [1]वीर्य आदि के अश्रद्धा, कौशीद्य, विस्मृति, विक्षेप और अयोनिशोमनसिकार (दौष्प्रज्ञ) नामक पाँच शत्रु हैं। इन शत्रुओं से जिस योगी की श्रद्धा आदि पाँच इन्द्रियाँ क्षीण नहीं होती, तो वे योगी के पाँच बलों में परिणत हो जाती हैं।

पातंजल योग में भी श्रद्धा आदि की चर्चा आई है। वहाँ बताया गया है कि उपायप्रत्यय योगी क्रमशः श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा का सहारा लेकर प्रथमतः सम्प्रज्ञात समाधि को तथा अन्ततः अभ्यास और वैराग्य के सहारे इनकी भावना को पुष्ट

---

१. अष्ट लोकधर्म की बाधा को सहन करने की शक्ति को ही वीर्य माना गया है। अष्ट लोक-धर्मों में— १. लाभ, २. अलाभ, ३. यश, ४. अपयश, ५. निन्दा, ६. स्तुति, ७. सुख और दुःख की गणना की जाती है।

कर असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त कर लेता है। भाष्यकार ने उस सूत्र की व्याख्या इस तरह से की है— "उपायप्रत्ययो योगिनां भवति। श्रद्धा चेतसः प्रसादः। सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति। तस्य श्रद्दधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते। समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरुपतिष्ठते। स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते। समाहितचित्तस्य प्रज्ञाविवेक उपजायते। तेन यथार्थं वस्तु जानाति। तदभ्यासात् तद्विषयाच्च वैराग्यादसम्प्रज्ञातः समाधिर्भवति" (१.२०)।

षडभिज्ञ एवं दशबल

भगवान् बुद्ध षडभिज्ञ, दशबल आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। इनके अभिप्राय को समझ लेना जरूरी है। अभिज्ञापंचक शब्द के विवरण में पाँच अभिज्ञाओं के नाम दिये गये हैं— १. दिव्यश्रोत्र, २. दिव्यचक्षु, ३. परचित्तज्ञान, ४. पूर्वनिवासानुस्मृति और ५. ऋद्धिविज्ञान। अभिधर्मसमुच्चय (पृ. १२८) में छठी अभिज्ञा का नाम आस्रवक्षयज्ञान दिया गया है। अमरकोश की रामाश्रयी टीका में षडभिज्ञ शब्द का विवरण देते समय ये नाम दिये हैं— १. दिव्यचक्षुःश्रोत्र, २. परचित्तज्ञान, ३. पूर्वनिवासानुस्मृति, ४. आत्मज्ञान, ५. वियद्गमन और ६. कायव्यूहसिद्धि। षडभिज्ञ शब्द का दूसरा विवरण भी यहाँ दिया गया है कि दान, शील, क्षमा, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा नामक छः गुणों का जिनको सबसे पहले ज्ञान हुआ, वे षडभिज्ञ हैं। बौद्ध शास्त्रों में ये गुण षट्पारमिता के नाम से प्रसिद्ध हैं।

धर्मसंग्रह[१] में बोधिसत्त्वों के दस बलों के नाम इस प्रकार मिलते हैं— १. अधिमुक्ति, २. प्रतिसंख्या, ३. भाव, ४. क्षान्ति, ५. ज्ञान, ६. प्रहाण, ७. समाधि, ८. प्रतिभान, ९. पुण्य और १०. प्रतिपत्ति बल। [२]वहीं तथागतों के दस बलों के नाम भी दिये गये हैं— १. स्थानास्थानज्ञान, २. सर्वविपाकज्ञान, ३. नानाधातुज्ञान, ४. नानाधिमुक्तिज्ञान, ५. सत्त्वेन्द्रियपरापरज्ञान, ६. सर्वत्रगामिनीप्रतिपत्तिज्ञान, ७. ध्यानविमोक्षसमाधिसमापत्ति-संक्लेशव्यवदानव्युत्थानज्ञान, ८. पूर्वनिवासानुस्मृतिज्ञान, ९. च्युत्युत्पत्तिज्ञान और १०. आस्रवक्षयज्ञान। अमरकोश में दशबल के विवरण में टीकाकार ने दान, शील, क्षमा, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा, बल, उपाय, प्रणिधि और ज्ञान नामक दस बलों की गणना की है। ये दस बल ही बौद्ध शास्त्रों में दस पारमिताओं के नाम से वर्णित हैं। सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि छः पारमिताओं एवं दस पारमिताओं से सम्पन्न होने के कारण भगवान् षडभिज्ञ एवं दशबल के नाम से प्रसिद्ध हैं।

---

१. महायानसूत्रसंग्रह, भा.१, पृ. ३३३

२. वहीं, भा.१, पृ. ३३३; अर्थविनिश्चयसूत्र, पृ. ४८; इन शब्दों का विस्तृत विवरण अर्थविनिश्चयसूत्र (पृ. २६०-२६७) में देखा जा सकता है।

विविध योग

बौद्ध योग की अनेक विधाओं में [1]षडंग योग अतिप्रसिद्ध है। षडंग योग को ज्ञानामृत कहा जाता है। षडंग योग के प्रसंग में सेवा, उपसाधन, साधन और महासाधन नामक चार उपायों का, वज्रयोग के अन्तर्गत विशुद्ध, धर्म, मन्त्र और संस्थान योग का और अभिसंबोधि-चतुष्टय के प्रसंग में कायवज्र, चित्तवज्र, वाग्वज्र और ज्ञानवज्र नामक चतुर्विध वज्रयोग का निरूपण भी देखने को मिलता है। विशुद्धयोग को ही कहीं-कहीं शुद्धयोग भी नाम दिया गया है। योग शब्द का विवरण देते समय अधिष्ठान, परिकल्पित और निष्पन्न नामक त्रिविध योग के साथ देवतायोग और सहजयोग का भी लक्षण बताया जाता है। योग के षडंगों का निरूपण करते समय सेकोद्देशटीका में (गुह्य)समाजतन्त्र के प्रमाण से रात्रियोग का तथा नामसंगीति के प्रमाण से सन्ध्या भाषा में दिवायोग की चर्चा की गई है। सेकोद्देशटीका में ही निमित्तदशक का विवरण देते समय गुह्यसमाज में वर्णित रात्रियोग को आकाशयोग तथा दिवायोग को अभ्यवकाशयोग बताया है। विमलप्रभा में योगाभ्यास के बौद्ध, आसुर और भौत नामक तीन भेद किये हैं और इनके लक्षण भी दिये हैं। अद्वयवज्रसंग्रह में समयमुद्रा के प्रसंग में आदियोग, मण्डलराजाश्रि-(ग्रि), कर्मराजाश्रि(ग्रि), बिन्दुयोग और सूक्ष्मयोग की भावना आदर्श आदि पंचविध ज्ञान की सहायता से करने का विधान प्रदर्शित है। काय शब्द आध्यात्मिक व्याख्या करते समय हेवज्रतन्त्र के टीकाकार ने चर्यायोग की चर्चा की है। यहाँ चर्यायोग शब्द चर्यातन्त्र का वाचक है, योग का नहीं। सेक, सेकहठयोग तथा हठयोग का भी बौद्ध तन्त्रों में विवरण मिलता है। इस प्रसंग में सेक शब्द का प्रयोग अभिषेक के अर्थ में न होकर सहजयोग के अर्थ में हुआ है। हठयोग की स्थिति सहजयोग से एकदम विपरीत है। हठयोग के विषय में विशेष कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। नाथयोग का यह प्रमुख विषय है और यहाँ भी इसका स्वरूप मिलता-जुलता ही है।

षडंग योग अथवा चण्डाली योग के प्रसंग में यहाँ प्राणायाम, समाधि तथा चक्रों के विषय में भी कुछ सूचनाएँ मिलती हैं। उनका संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है।

प्राणायाम

हेवज्रतन्त्र की टीका में वायु शब्द का विवरण देते हुए नासिका से निकलती वायु को रेचक, प्रवेश करती वायु को पूरक, भीतर रोकी गई वायु को कुंभक और प्रवेश के बाद स्थिर हुई वायु को प्रशान्त कहा है। इस प्रकार यहाँ प्राणायाम के चार भेद वर्णित हैं। चतुर्थ प्राणायाम की चर्चा [2]योगसूत्र में भी मिलती है। वहाँ के

---

१. षडंग एवं अष्टांग योग की चर्चा अलग से की जा रही है।

२. "बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः" (२.५१)।

भाष्य[१] में तृतीय और चतुर्थ प्राणायाम का अन्तर भी प्रदर्शित है, किन्तु चतुर्थ प्राणायाम को वहाँ कोई नाम नहीं दिया गया है। नारदपुराण (१.३३.१२०) में इसको शून्यक कहा है। शून्यक और प्रशान्त का अभिप्राय प्रायः एक ही है। मार्कण्डेय पुराण (३९.२१-२६) में प्राणायाम के ध्वनि, प्राप्ति, संवित् और प्रसाद नामक तथा वायु. (१८. ४-१०), लिंग. (१.८.५७-७५) और शिवपुराण (७.२.३९. ११-१३) में शान्ति, प्रशान्ति, दीप्ति और प्रसाद नामक चार प्रयोजन बताये गये हैं। उक्त चारों प्राणायामों से इन चार लक्ष्यों की प्राप्ति होती है, ऐसा हम मान सकते हैं। चतुर्थ प्राणायाम की चर्चा शिवपुराण के एक अन्य स्थल (७.२.३७.२९) पर भी देखने को मिलती है। यहाँ भी इसको कोई नाम नहीं दिया गया है।

समाधि

अभाव शब्द का अनुत्पाद अर्थ करते हुए हेवज्रतन्त्र के टीकाकार लंकावतार को उद्धृत करते हैं। यह वचन लंकावतार का न होकर समाधिराजसूत्र (३८.११) का है। वहाँ बताया गया है कि जो व्यक्ति सभी भावों को अभाव-स्वरूप, अनुत्पादात्मक मानकर उसमें आसक्त नहीं होता, वह अनिमित्त समाधि में प्रवेश का अधिकारी बन जाता है। इसी तरह से महासाधन पद की व्याख्या करते हुए सेकोद्देशटीकाकार शून्यता-समाधि का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि इस अक्षर सुखावस्था में योगी सहजानन्द से आप्लावित हो जाता है। बालयोगी इस स्थिति तक नहीं पहुँच सकते। यही बोधिसत्त्वों की शून्यता-समाधि है।

चक्र (चार, छः, अठारह)

वसन्ततिलक आदि में नाभि, हृदय, कण्ठ और मूर्धा में स्थित निर्माण, धर्म, संभोग और महासुख नामक चार चक्रों की तथा कालचक्रतन्त्र एवं उसकी विमलप्रभा टीका में गुह्यचक्र और उष्णीष चक्रों को मिलाकर छः चक्रों की विशद व्याख्या मिलती है। विमलप्रभा (पृ. १६९) में १८ चक्रों का भी उल्लेख है, किन्तु उनके नामों अथवा स्थानों का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। वहाँ केवल इतना बताया गया है कि १२ चक्रों का निरूपण आगे किया जायगा। इन बारह चक्रों के साथ यहाँ वर्णित छः चक्रों को मिलाने से उनकी संख्या १८ होगी।

योगिनीहृदय की दीपिका टीका (पृ. ३४-३७) में स्वच्छन्दसंग्रह के प्रमाण से ३२ चक्रों का उल्लेख है। सुषुम्ना नाड़ी के नीचे और ऊपर रक्त और श्वेत दो सहस्रदल कमल हैं और इनके बीच में अन्य तीस पंकज हैं। दीपिकाकार ने यहाँ केवल नौ चक्रों

---

१. "तृतीयस्तु विषयानालोचितो गत्यभावः सकृदारब्ध एव देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयोर्विषयावधारणात् क्रमेण भूमिजयादुभयाक्षेपपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामः" (२.५१)।

का ही वर्णन किया है। अतः हम विमलप्रभा में सूचित १२ चक्रों के समान यहाँ के शेष चक्रों का भी स्वरूप जानने में असमर्थ हैं।

भूमियाँ (दश, द्वादश, त्रयोदश)

षडंगयोग के अभ्यास से साधक योगी दस, बारह अथवा तेरह भूमियों पर क्रमशः आरोहण करता है। अतः प्रसंग-प्राप्त इनके स्वरूप पर विचार कर लेना आवश्यक है। हेवज्रतन्त्र की टीका में— १. प्रमुदिता, २. विमला, ३. अर्चिष्मती, ४. प्रभाकरी, ५. सुदुर्जया, ६. अभिमुखी, ७. दूरंगमा, ८. अचला, ९. साधुमती, १०. धर्ममेघा, ११. समन्तभद्रा और १२ निरुपमा नामक बारह भूमियों के नाम गिनाये गये हैं। हेवज्रतन्त्र को छोड़कर अन्यत्र प्रायः सभी तन्त्रों में धर्ममेघा पर्यन्त दस भूमियाँ ही मानी जाती हैं। इन दस भूमियों के नामों की व्युत्पत्ति वसन्ततिलक की टीका के आधार पर बौद्ध तन्त्रकोश में संगृहीत हैं। हेवज्रतन्त्र के टीकाकार ने ज्ञानवती नाम की तेरहवीं भूमि का भी उल्लेख किया है और बताया है कि यह अप्रतिष्ठितनिर्वाणधातु रूप है।

दस भूमि वाले मत में धर्ममेघा अन्तिम भूमि है। पातंजल [1]योगसूत्र में इसका समाधि के रूप में वर्णन है। वहाँ बताया गया है कि इसके प्राप्त हो जाने पर क्लेश, कर्म आदि के सभी आवरणों की निवृत्ति हो जाती है और योगी अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। इस स्थिति को वहाँ कैवल्य अथवा मोक्ष बताया गया है। भगवान् बुद्ध को दशभूमीश्वर कहा जाता है। इन दस भूमियों को प्राप्त कर लेने पर ही योगी बुद्धत्व का लाभ करता है। बौद्ध शास्त्रों में बताया गया है कि [2]मलों के अपगम से चित्त प्रभास्वर हो जाता है, आगन्तुक मलों के हट जाने से चित्त अपने वास्तविक प्रभास्वर पद को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार पातंजल योग की स्वरूप-प्रतिष्ठा और बौद्ध शास्त्रों की चित्त-प्रभास्वरता में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता।

धर्ममेघ शब्द की व्याख्या करते हुए योगसूत्रभाष्य (४.२९) में बताया गया है कि पुरुषार्थ के साधक प्रकृष्ट [3]अशुक्लकृष्ण धर्म की वर्षा करने के कारण इसको धर्ममेघ समाधि कहा जाता है। अशुक्लकृष्ण धर्म के लिये शैव-शाक्त तन्त्रों में [4]कर्मसाम्य शब्द

---

१. "प्रसंख्यानेऽप्यकुशीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः" (४.२९)।

२. "प्रभास्वरमिदं चित्तं प्रकृत्यागन्तवो मलाः। तेषामभावे सर्वार्थं तज्ज्योतिरविनश्वरम्।।" यह श्लोक तन्त्रालोकविवेक (१. २३, ३.३०) में दो बार तथा परमोक्षनिरासकारिका (श्लो. ४६) की रामकण्ठकृत वृत्ति में विज्ञानवाद के प्रसंग में उद्धृत मिलता है। इस श्लोक का पूर्वार्ध तो धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्त्तिक (१.२१०) में मिलता है, किन्तु उत्तरार्ध वहाँ नहीं है।

३. "कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्" (यो. सू. ४.७)।

४. सिद्धान्तशैवागम के प्रकरण (पृ. ३५७-३६१) में इस विषय पर प्रकाश डाला गया है।

प्रयुक्त हुआ है। कर्मसाम्य की अवस्था में समान बल वाले परस्पर-विरोधी पुण्यापुण्यात्मक कर्म सुन्दोपसुन्द-न्याय से आपस में टकराकर नष्ट हो जाते हैं। उस स्थिति में पहुँचा हुआ व्यक्ति [1]उपकार अथवा अपकार करने वाले व्यक्ति के प्रति राग और द्वेष से मुक्त हो जाता है। उसका चित्त राग-द्वेष के अभाव में सदा प्रसाद गुण से सरावोर रहता है, वह जीवन्मुक्त स्थिति में पहुँच जाता है।

वर्णों में अकार की श्रेष्ठता

आचार्य जब शिष्य को सेक प्रदान करता है, उसको दीक्षा देता है, अभिषिक्त करता है, तो साथ में जप या भावना के लिये मन्त्र का भी उपदेश करता है। वसन्ततिलक (१०.२३-२४) में मन्त्र को घुण कहा है। इसके तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए टीकाकार कहते हैं कि जहाँ धुन लग जाती है, वहाँ सब कुछ बर्बाद हो जाता है, उसी तरह मन्त्र भी राग आदि सारे क्लेशों को खा जाता है। इस मन्त्र का स्वरूप क्या है, इस पर अलग से विचार किया जायगा। इसकी उत्पत्ति कैसे होती है? इस पर विचार कर लेना पहले जरूरी है।

वसन्ततिलक (९.८) में अकार को सभी वर्णों में श्रेष्ठ माना गया है। परमेश्वर और [2]महार्थ जैसे विशेषणों से इसे संयोजित किया गया है। हम समझते हैं कि बौद्ध तन्त्रों में इस तरह का उल्लेख सर्वप्रथम [3]नामसंगीति में हुआ है। वसन्ततिलक (९. ६-७) में अ क च ट त प य श नामक आठ वर्गों का और पचास वर्णों का उल्लेख है। वहाँ बताया गया है कि परमाक्षर अकार आठ वर्गों में विभक्त इन पचास वर्णों से वेष्टित है। वर्णों के यहाँ आलि और कालि नामक दो विभाग किये गये हैं, जिनको हम स्वर और व्यंजन भी कह सकते हैं। शैव-शाक्त तन्त्रों में आलि और कालि को [4]बीज और योनि नाम दिया गया है। वर्गों और वर्णों की संख्या यहाँ भी आठ और पचास ही मानी गई है, किन्तु शाक्त तन्त्रों की कुछ शाखाओं में क्ष और ळ को नवम वर्ग के रूप में मान्यता मिली है और वहाँ वर्णों की संख्या ५१ हो जाती है। अन्य तन्त्रों के समान वसन्ततिलक (१.१) में बारह मात्राओं (स्वरों) का ही मन्त्रों में उपयोग बताया गया है। टीकाकार ने यहाँ स्पष्ट किया है कि चार नपुंसक स्वरों को हटा देने पर यह

---

१. न हृष्यत्युपकारेण नापकारेण कुप्यति।
य: सम: सर्वभूतेषु जीवन्मुक्त: स उच्यते।। (अ. प्र., पृ. २००)

२. शाक्त तन्त्र की एक शाखा क्रम के नाम से प्रसिद्ध है। इसके लिये महार्थ, महार्थनय जैसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं। "क्रम तान्त्रिसिज्म इन कश्मीर" (पृ. २१-२५) में इन शब्दों की व्युत्पत्ति दी गई है।

३. अकार: सर्ववर्णाग्र्य: (ना. सं. ५.१)।

४. "बीजं स्वरा मता:। कादयश्च स्मृता योनि:" (मालिनीविजय, ३.१०-११)

संख्या बनती है। ऋ ॠ लृ ॡ— इन चार स्वरों को तन्त्रशास्त्र की सभी शाखाओं में नपुंसक माना गया है और इनका प्रयोग बीजाक्षरों अथवा मन्त्रों के अंग के रूप में कहीं भी नहीं किया जाता।

वसन्ततिलक के टीकाकार ने आठ वर्गों से वेष्टित परमाक्षर अकार को सभी मन्त्रों का जनक माना है। उनका कहना है कि आलि-कालि मध्यवर्ती भगवान् अकार ही समस्त वर्ण, पद, वाक्य, महावाक्य के रूप में परिणत होते हैं। अकार से सर्वप्रथम वर्ण प्रादुर्भूत होते हैं। वे पदों को, पद-वाक्यों को और वाक्य-महावाक्यों को जन्म देते हैं। ८४ हजार [१]धर्मस्कन्धों की उत्पत्ति भी प्रथम वर्ण अकार से ही होती है। अन्य निकायों के अनुसार १४ विद्यास्थान और बौद्ध निकाय के अनुसार पाँच विद्यास्थान— ये सभी अकार से ही प्रसूत हैं। चार वेद, छः वेदांग, मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र की चतुर्दश विद्यास्थान में और लक्षणशास्त्र, हेतुविद्या, अध्यात्मविद्या, चिकित्साशास्त्र और शिल्पशास्त्र का पाँच विद्या-स्थानों में परिगणन किया गया है। [२]आयुर्वेद, गान्धर्ववेद, धनुर्वेद और अर्थशास्त्र का इनमें परिगणन कर कुछ आचार्य विद्यास्थानों की संख्या अठारह मानते हैं।

वसन्ततिलक (९.४) का कहना है कि पचास वर्णों से ही वेद आदि शास्त्रों की भी रचना होती है। समस्त मन्त्र और तन्त्र में ये ही विविध रूपों में स्थित हैं। [३]ऐतरेयारण्यक का भी कहना है कि वाणी का सारा विस्तार अकार से ही होता है। वहाँ भी बताया गया है कि अकार ही ब्रह्म है। नामसंगीति के समान शाक्त तन्त्र [४]संकेतपद्धति में भी सभी वर्णों में श्रेष्ठ अकार प्रकाशात्मक परमशिव का तथा वर्णों के अन्तिम कला रूप हकार को विमर्शात्मक शक्ति माना है। बौद्ध तन्त्रों में यह स्थान एवंकार को दिया गया है। वहाँ एकार प्रज्ञा का तथा वंकार उपाय का द्योतक माना गया है। शाक्त तन्त्र के कामकला बीज के तथा बौद्ध तन्त्रों के एवंकार के स्वरूप को समझने के लिये इन वर्णों के ब्राह्मी लिपि में निर्दिष्ट आकारों का सूक्ष्म निरीक्षण करना होगा।

---

१. धर्मस्कन्ध शब्द से त्रिपिटक साहित्य का ग्रहण किया जाता है। इसको ८४ हजार धर्मस्कन्ध प्रमाण माना गया है। प्रो. रामशंकर त्रिपाठी द्वारा संपादित अभिधम्मत्थसंगहो के प्रथम भाग की भूमिका (पृ. १७-१९) देखिये।

२. "अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश।। आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेत्यनुक्रमात्। अर्थशास्त्रं परं तस्माद् विद्या अष्टादश स्मृताः।।" (शिवपुराण, ७.१.१.२५-२६)।

३. "अकारो वै सर्वा वाक्" (ऐ. आ. २.३.६), "अ इति ब्रह्म" (ऐ. आ. २.३.८)।

४. अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः। हकारोऽन्त्यः कलारूपो विमर्शाख्यः प्रकीर्तितः।।" योगिनीहृदयदीपिका आदि में उद्धृत संकेतपद्धति का वचन।

वसन्ततिलक के टीकाकार अकार की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि आठ वर्गों से विभूषित प्रथम स्वर से ही खड्ग, अंजन आदि आठ महासिद्धियाँ, दिव्यचक्षु आदि, अणिमा आदि तथा कायैश्वर्य आदि लौकिक और लोकोत्तर सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं।

सिद्धियाँ

अकार-प्रभव विविध सिद्धियों का उल्लेख ऊपर किया गया है। आठ महासिद्धियों की सूचना देनेवाला "या: खड्गाञ्जन" इत्यादि श्लोक वसन्ततिलक में दो बार आया है। इसकी टीका में बताया गया है कि खड्ग सिद्धि में चक्र, रत्न, वज्र, पद्म और विद्याधर नामक पाँच सिद्धियों का समाहार करना चाहिये। इन सबकी अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। खड्गसिद्धि के प्राप्त हो जाने पर मन्त्रसिद्ध खड्ग शत्रु का नाश कर पुन: अपने स्वामी के पास आ जाता है। खड्ग को लेकर इन सिद्धियों की संख्या छ: हो जाती है। यहाँ टीकाकार ने खड्गसिद्धि का अथवा उसके अन्य पाँच भेदों का परिचय नहीं दिया है। खड्ग के अतिरिक्त— २. अंजन, ३. पादलेप, ४. पाताल, ५. यक्षांगना, ६. गुटिका, ७. त्रैलोक्योदरवर्तिनी और ८. सूतक नामक सिद्धियों का परिचय वहाँ मिलता है। तत्त्वज्ञानसिद्धि की टीका में— १. अंजन, २. गुटिका, ३. पादुका, ४. सिद्धौषधि, ५. मणि, ६. मन्त्र, ७. यक्षस्त्री और पर पुरप्रवेश नामक आठ सिद्धियों के नाममात्र उल्लिखित है। पादुका अथवा पादलेप सिद्धि अभिन्न है। सिद्धौषधि, मणि और मन्त्र से प्राप्त होने वाली सिद्धियों का उल्लेख [1]योगसूत्र में भी है। परपुरप्रवेश का अर्थ दूसरे के शरीर में प्रवेश करने का सामर्थ्य है। अणिमा आदि आठ सिद्धियों का उल्लेख तत्त्वज्ञानसंसिद्धि की टीका में गुणाष्टक के नाम से किया गया है। इनके नाम वहाँ इस तरह से दिये गये हैं— १. अणिमा, २. लघिमा, ३. गरिमा, ४. ईशित्व, ५. वशित्व, ६. कर्तृत्व, ७. भोज्यत्व और ८. इच्छाप्रकामता। अमरकोश में इन आठ सिद्धियों के नाम इस प्रकार दिये गये हैं—

अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा।
प्राप्ति: प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धय:।।

योगभाष्य में दिये गये अणिमा आदि सिद्धियों के नामों में कुछ अन्तर है। वहाँ इनके नाम इस प्रकार हैं— १. अणिमा, २. लघिमा, ३. महिमा, ४. प्राप्ति, ५. प्राकाम्य, ६. वशित्व, ७. ईशित्व और ८. यत्रकामावसायिता। वहाँ इनके लक्षण भी दिये गये हैं— "तत्राणिमा भवत्यणु:। लघिमा लघुर्भवति। महिमा महान् भवति। प्राप्तिरङ्गुल्यग्रेणापि स्पृशति चन्द्रमसम्। प्राकाम्यमिच्छानभिघातो भूमावुन्मज्जति निमज्जति यथोदके। वशित्वं

१. "जन्मौषधिमन्त्रतप:समाधिजा: सिद्धय:" (४.१)।

भूतभौतिकेषुवशीभवति, अवश्यश्चान्येषाम्। ईशित्वं तेषां प्रभवाप्ययव्यूहानामीष्टे। यत्रकामावसायित्वं सत्यसंकल्पता, यथा संकल्पस्तथा भूतप्रकृतीनामवस्थानम्" (३.४५)। कालिदास ने कुमारसंभव में प्राकाम्य विभूति का वर्णन इस प्रकार किया है—

द्रवः संघातकठिनः स्थूलः सूक्ष्मो लघुर्गुरुः।
व्यक्तो व्यक्तेतरश्चासि प्राकाम्यं ते विभूतिषु।। (२.११)

यहाँ और पातंजल योग के विभूतिपाद में **विभूति** पद सिद्धि का ही पर्याय है। कुछ विद्वान् इन सिद्धियों का भी बौद्ध और बौद्धेतर विभाग करते हैं। यह उचित नहीं है। दोनों ही प्रकार की सिद्धियाँ सभी तन्त्रागमशास्त्र की शाखाओं में उपलब्ध होती हैं। गुह्यसमाज की प्रदीपोद्योतन-व्याख्या में सिद्धियों के तीन विभाग मिलते हैं। यहाँ अन्तर्धान को उत्तम, भूगत निधान-दर्शन को मध्यम तथा वशीकरण को अधम सिद्धि बताया गया है। सेकोद्देशटीका में अकनिष्ठ भुवन पर्यन्त आधिपत्य को लौकिक सिद्धि तथा सभी वासनाओं और क्लेशों के साथ ज्ञेयसमापत्ति रूप आवरण के नाश के कारण क्रमशः द्वादश भूमियों की उपलब्धि को तथा सम्यक् संबुद्ध पद की प्राप्ति को लोकोत्तर सिद्धि बताया है। वैरोचनाभिसंबोधितन्त्र में प्रदर्शित द्विविध देवतायोग के प्रसंग में सनिमित्त एवं अनिमित्त नामक सिद्धियाँ सूचित हैं। विमलप्रभा में कामावचरा कर्ममुद्रासिद्धि, रूपावचरा ज्ञानमुद्रासिद्धि और भावाभावरहिता महामुद्रासिद्धि नामक त्रिविध सिद्धियाँ वर्णित हैं। हेवज्रतन्त्र की टीका योगरत्नमाला में बताया गया है कि चतुर्थाभिषेक से महामुद्रासिद्धि प्राप्त होती है। वहीं अन्यत्र कहा गया है कि वैमल्य फल की प्राप्ति के बाद महामुद्रा योग की विशुद्धि से महामुद्रा की सिद्धि होती है।

योगसूत्र के तृतीय विभूतिपाद में नाना प्रकार की सिद्धियों का वर्णन किया गया है। अन्त में वहाँ बताया गया है कि ये [१]व्युत्थान दशा में सिद्धियाँ मानी जाती हैं, समाधि के लिये तो ये अन्तराय स्वरूप हैं। वहाँ यह भी कहा गया है कि इनमें [२]आसक्ति नहीं रखनी चाहिये और न उनके प्राप्त हो जाने पर योगी के चित्त में अहंकार का संचार ही होना चाहिये। ऐसा होने पर योगी को पुनः अनिष्ट की प्राप्ति हो सकती है, उसका सारा प्रयत्न इन दोनों के कारण निष्फल हो सकता है।

नाद और बिन्दु

अकार-प्रभव वर्णात्मक मन्त्र का और अष्टविध सिद्धियों का निरूपण करने के बाद नाद-बिन्दु स्वरूप मन्त्र का विवेचन अपेक्षित है। वसन्ततिलक में मन्त्र को ही नाद

---

१. "ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः" (३.३७)।
२. "स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्" (३.५१)।

बताया गया है। नाभि देश में उच्चरित हो रहा ऊर्ध्व गतिशील प्राणवायु सभी मन्त्रों का जनक है। नाभि देश में नदनशील यह प्राणवायु ही प्राणियों के सारे वर्ण, पद, वाक्यरूप वाणी के व्यापार का मूल कारण है। यह नादात्मक व्यापार ही मन्त्र का वास्तविक स्वरूप है। वर्णों अथवा दो पदों के संघातात्मक स्वरूप को यहाँ मन्त्र नहीं माना जाता। टीकाकार ने एक [1]श्लोक को उद्धृत करते हुए बताया है कि हम मन्त्रों को वर्णस्वरूप नहीं मानते, क्योंकि साधारण मनुष्य के द्वारा उच्चरित ये वर्ण एक तिनके को भी टेढा नहीं कर सकते। शाक्त ग्रन्थ महार्थमंजरी की परिमल [2]टीका में भी इस प्रकार के वचन मिलते हैं। राजराजभट्टारक के वचन [3]को उद्धृत कर वहाँ बताया गया है कि मन्त्र वर्णात्मक नहीं है। यह पाँच मुँह और दस आँखों वाला भी नहीं है। वस्तुतः दृढ़ संकल्प शक्ति के साथ उल्लसित हुआ नाद ही मन्त्र है।

वसन्ततिलक के टीकाकार द्वारा उद्धृत दूसरे वचन में बताया गया है कि मन्त्रों का सार रहस्य परमाक्षर अकार में छिपा हुआ है। उसके वास्तविक रहस्य को समझने पर ही मन्त्र में शक्ति का आधान संभव हो सकता है। अकार की महिमा के विषय में अभी कहा जा चुका है। कश्मीरी तन्त्र [4]तन्त्रसद्भाव के लुप्तागमसंग्रह के पहले भाग (पृ. ५२-५४) में संगृहीत श्लोकों में मन्त्रों में शक्ति के आधान की प्रक्रिया विस्तार से वर्णित है।

चर्यागीतिकोशव्याख्या (पृ. १४६) में दीर्घ हूँकाराकार उपायग्राहक ज्ञानविकल्प को बिन्दु तथा प्रज्ञाग्राहक ज्ञानविकल्प को नाद बताया गया है। शैव-शाक्त तन्त्रों में बिन्दु को शिव का और नाद को शक्ति का प्रतिनिधि माना गया है। विमलप्रभा में चतुर्थ शून्य को बिन्दु कहा गया है। स्कन्ध, धातु, आयतन आदि की निरावरणता, समरसता, एकलोलीभाव ही बिन्दु है। इसी को चतुर्थाक्षर महाशून्य कहते हैं। शाक्त तन्त्रों में यह कामकला के नाम से वर्णित है। चतुर्थाक्षर की पहचान के लिये यहाँ अर्धचन्द्र के वाम

१. "अत एव हि नेच्छामो मन्त्रान् वर्णस्वरूपिणः। नहि शक्तास्तृणस्यापि कुब्जीकरणहेतवः।।" (वसन्ततिलक, पृ. ७२)।

२. "उच्चार्यमाणा ये मन्त्रा न मन्त्रांश्चापि तान् विदुः" (पृ. १२३)।

३. "वर्णात्मको न मन्त्रो दशभुजदेहो न पञ्चवदनोऽपि। संकल्पपूर्वकोटौ नादोल्लासो भवेन्मन्त्रः।।" (पृ. १२२)। वर्णात्मक और बिन्दुनादात्मक मन्त्र के स्वरूप का अन्तर वहीं उद्धृत एक अन्य श्लोक से स्पष्ट होता है— "पुण्ड्रेक्षोरिव मन्त्रस्य माधुर्ये हृदयस्पृशि। ऋजीषमानने तिष्ठत्यक्षरोच्चार-लक्षणम्।।" (पृ. १२३)।

४. 'सर्वे वर्णात्मका मन्त्रास्ते च शक्त्यात्मकाः प्रिये। शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया शिवात्मिका।।" (पृ. ५३)।

भाग में एक बिन्दु दिया जाता है, जो [१]अनुच्चार्य है। नाद, बिन्दु आदि के स्वरूप को रेखाओं के द्वारा प्रकट करने की प्रक्रिया योगिनीहृदय (शाक्त तन्त्र) में वर्णित है (१. २८-३३)। सेकोद्देशटीका में बिन्दु को शून्य कहा गया है। वहाँ बताया गया है कि अच्युत बिन्दु ही परमाक्षर कहलाता है। वसन्ततिलक में मस्तिष्क में स्थित चन्द्रमण्डल के बीच बिन्दुरूप अनाहताक्षर हूँकार की स्थिति कही गई है। इन्दु(चन्द्र)स्वरूप इस बिन्दु से निरन्तर अमृत झरता रहता है, यह समस्त शरीर को आप्यायित, आह्लादित करता रहता है। [२]वेदनशील होने से इसे बिन्दु कहते हैं। महासुख चक्र में अनाहत अक्षर के रूप में इसकी स्थिति मानी जाती है। दोहाकोश की व्याख्या में बिन्दु को अनाहत ज्ञान कहा गया है। प्रदीपोद्योतनकार ने इसको योग, बीज और अनाहत तत्त्व कहा है। विमलप्रभाकार बिन्दु को वंकार स्वरूप मानते हैं।

नाडीत्रय

बौद्ध तन्त्रों में वर्णित ललना, रसना और अवधूती नामक तीन प्रधान नाड़ियों को शैव-शाक्त आदि तन्त्रों में इडा, पिंगला और सुषुम्ना के नाम से जाना जाता है। इन नामों का उल्लेख प्रसंगवश बौद्ध तन्त्रों में भी हुआ है। ललना प्रज्ञास्वभाव, रसना उपाय-स्वभाव और इन दोनों के बीच में अवधूती नाड़ी स्थित है। यह ग्राह्य और ग्राहक से रहित है। ललना अक्षोभ्य का, रसना रक्त का और अवधूती प्रज्ञास्वभाव चन्द्रामृत का वहन करती है। अवधूती की स्थिति ललना और रसना के मध्य में होने से इसे मध्यमा नाड़ी या मध्यनाड़ी भी कहते हैं। शाक्त तन्त्रों में यह मध्यधाम कहलाती है। वाम पार्श्व में स्थित प्राणवहा ललना नाडी कण्ठ से नाभि तक अधोमुख होकर शुक्र का वहन करती है और दक्षिण पार्श्व में स्थित अपानवहा रसना नाड़ी नाभि से कण्ठ तक ऊर्ध्वमुख होकर रक्त का वहन करती है।

विमलप्रभाकार ने चन्द्र शब्द से अपानवायु और सूर्य शब्द से प्राणवायु का ग्रहण कियो है। वहाँ बताया गया है कि अपानवायु विड्, मूत्र और चन्द्र नाडियों का अधिपति है और स्वभावतः इसकी गति नाभि से नीचे की ओर रहती है। प्राणवायु इडा, पिंगला और सुषुम्ना नाडियों का अधिपति है और इसकी गति नाभि से ऊपर की ओर रहती है। वज्रसत्त्व शब्द की व्याख्या करते समय विमलप्रभाकार शुक्र को चन्द्र और रज को सूर्य कहते हैं और बताते हैं कि शुक्र, चन्द्र, वंकार, वज्र— ये सब पर्यायवाची शब्द है और इसी तरह रज, सूर्य, एकार, पद्म— ये सब भी एक ही अर्थ में प्रयुक्त हैं।

---

१. "अर्धमात्रा स्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः" (दुर्गासप्तशती, १.७४)।

२. "वेदनशीलो बिन्दुः शिवशक्तिद्वितयसामरस्यतनुः। वेदकवेद्यविभागस्वरूपसंकोचरूपसंस्कारः।।" (सौभाग्यसुधोदय, १.२४) ; "बिन्दुर्वेद्यस्य संस्कारः" (परापंचाशिका, श्लो. ३७)।

वसन्ततिलक में मद को चन्द्र तथा रक्त को सूर्य बताया है। ललना चन्द्रनाड़ी है तथा रसना सूर्यनाड़ी। नासिका के वाम पार्श्व में चन्द्रनाडी ललना तथा दक्षिण पार्श्व में सूर्यनाडी रसना स्थित है। ललनानाडी अधोमुखी है। यह कण्ठ से नाभि पर्यन्त मद का वहन कर वहीं विश्राम करती है। रसनानाडी ऊर्ध्वमुखी है। यह नाभि से कण्ठ तक रक्त का वहन कर वहीं विश्राम करती है। वाम और दक्षिण पार्श्व में स्थित ये दोनों ललना और रसना नामक नाड़ियाँ प्राण और अपान की सहायता से मद (शुक्र) और रक्त धातु को अधोमुख और ऊर्ध्वमुख प्रवाहित करती रहती हैं।

वसन्ततिलक की टीका में स्थूल द्रव्यों का वहन करने के कारण वाम और दक्षिण पार्श्व स्थित ललना और रसना नाड़ी को स्रुक् और स्रुव की संज्ञा दी गई है। आन्तर होम की इस प्रक्रिया का स्वरूप वसन्ततिलक और उसकी टीका (८. २३-२४) में देखा जा सकता है। अद्वयवज्र ने ललना और रसना के मध्य में स्थित अवधूती को ही धर्ममुद्रा बताया है और कहा है कि सद्गुरु के उपदेश से जब योगी धर्ममुद्रा के स्वरूप को पहचान लेता है, तो उसे महामुद्रा का साक्षात्कार हो जाता है, वह धर्ममुद्रा को महामुद्रा में विलीन होता हुआ देखता है, इन दोनों का भेद उसकी दृष्टि में समाप्त हो जाता है। चण्डाली शक्ति के प्रज्वलन से यह संभव हो पाता है।

चण्डाली (कुण्डलिनी)

ललना और रसना नाडियाँ गुरु द्वारा बताई गई विधि से जब संयुक्त हो जाती हैं, तो उस संयुक्त स्थान से एक विशेष प्रकार की ऊष्मा (गर्मी) पैदा होती है। उसे तथा उस स्थान में स्थित नाडी को भी चण्डाली कहते हैं। वाम और दक्षिण वाह को प्राणायाम के अभ्यास से रोक देने पर यह संभव होता है। उस स्थिति में प्राणवायु की गति मध्यमा (अवधूती) की ओर मुड़ जाती है। तब यह प्राणवायु पंचवर्ण महारत्न कहलाती है। प्राणायाम को ही वज्रजाप भी कहा जाता है। इसमें प्राणवायु की गति केवल मध्यमा नाड़ी में ही रह जाती है, अर्थात् प्राणवायु और मध्यमा का अभेद स्थापित हो जाता है।

चण्डाली शब्द के हेवज्रतन्त्र के टीकाकार ने अनेक अर्थ दिये हैं। इस शब्द का नाड़ीपरक अर्थ भी वहाँ बताया गया है। चण्डा, प्रज्ञा, वाम नाड़ी आलिरूप है और उपाय दक्षिण नाडी कालिरूप है। ये दोनों ललना और रसना नामक नाड़ियाँ गुरु द्वारा बताई गई विधि से जब संयुक्त हो जाती हैं, तो यह चण्डाली कहलाती है। यह चण्डाली, अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति जब नाभिस्थान में प्रज्वलित होती है, तो उसकी ज्वाला से पंचस्कन्ध-स्वभाव पंचतथागत तथा पृथिवी आदि पाँच धातुस्वभाव लोचना

आदि की कोई स्थिति नहीं रह जाती। इन सबके भस्मसात् हो जाने पर हंकार स्वभाव शशि का, अर्थात् [1]वज्रसत्त्व का प्रसार होता है। तब योगी जगत् के कल्याण के लिये हेवज्रात्मक शरीर को प्राप्त कर लेता है। वज्रयोग की प्रक्रिया के द्वारा चण्डाली को नाभिचक्र से उत्थापित कर वज्रमार्ग में प्रवेश कराया जाता है, तो यह मध्यमा या अवधूती कहलाती है। वज्रमार्ग को अवधूती मार्ग भी कहते हैं। चण्डाली का यह ज्वलन-व्यापार गुरु के उपदेश के अनुसार धारणा के अभ्यास से सम्पन्न होता है। धारणा के बल से योगी नाभि-स्थित चण्डाली को प्रज्वलित करता है। तब वह वज्रमार्ग से अवधूती की मध्यधारा के सहारे क्रमशः उष्णीष-चक्र तक पहुँचता है। यह उष्णीष-कमल की कर्णिका तक पहुँचकर कायादि-स्वभाव चार क्षर बिन्दुओं को गुरु के द्वारा उपदिष्ट स्थान में ले जाता है। धारणा के सिद्ध हो जाने पर चण्डाली शक्ति स्वभावतः उज्ज्वल हो जाती है। उस स्थिति में स्कन्ध, धातु, आयतन-स्वरूप सारे संसार के विलीन हो जाने पर योगी को सर्वावरण-विवर्जित अनन्त बुद्धों की सृष्टि करने वाली, प्रतिसेना-सदृश, प्रभामण्डल से मण्डित महामुद्रा के दर्शन होते हैं।

महामुद्रा

अचिन्त्याद्वयक्रमोपदेश में अद्वयज्ञान को महामुद्रा कहा है। [2]शिवानन्द ने मुद्रा के तीन प्रकार बताकर तृतीय मुद्रा को बोधगगनचारिणी बताया है और कहा है कि यह व्याख्यान के योग्य नहीं है। दोहाकोश के व्याख्याकार हेवज्रतन्त्र के प्रमाण से शून्यता-करुणा से अभिन्न रूप वाली महामुद्रा को एवंकार में प्रतिष्ठित मानते हैं। हेवज्रतन्त्र के टीकाकार ने कहा है कि महामुद्रा की सिद्धि चतुर्थाभिषेक से होती है। अन्यत्र चार फलों का विवरण देते समय वे कहते हैं कि चतुर्थ वैमल्य फल की योग द्वारा विशुद्धि होने पर चतुर्थाभिषेक की प्रक्रिया से महामुद्रा की सिद्धि होती है। अधिमात्रेन्द्रिय सत्त्वों की बुद्धि अनन्त कल्पों तक की गई भावना के बल से अत्यन्त निर्मल हो जाती है। ऐसे योगियों को अब इस जन्म में बिना यत्न के सहज रूप में महामुद्रा सिद्ध हो जाती है।

अद्वयवज्र का कहना है कि गुरु के उपदेश के अनुसार धर्ममुद्रा के स्वरूप को समझकर जब योगी उसके पूरे रहस्य को स्वयं जान लेता है, तो उसके लिये महामुद्रा

---

१. वज्र का अर्थ है परम सुखस्वभाव शुक्र और सत्त्व का अर्थ है सर्वाकार प्रज्ञाबिम्ब, ज्ञेयस्वभाव रवि। अथवा प्रज्ञोपाय-स्वभाव चन्द्र-सूर्य के समायोग से उत्पन्न होने वाला बीजोत्पत्ति का चिह्न वज्र है और उसके गर्भ में स्थित बीज सत्त्व है। इस प्रकार के वज्रसहित सत्त्व को यहाँ वज्रसत्त्व कहा गया है।

२. बोधगगनचारिता काचित् फलात्मा न व्याख्यानार्हा" (नि.षो.ऋ., पृ. १८४)।

का द्वार खुल जाता है। वह धर्ममुद्रा को महामुद्रा में विलीन होता हुआ देखता है, इन दोनों का भेद उसकी दृष्टि में समाप्त हो जाता है। वह बोधिचित्त और समाज से महामुद्रा को अभिन्न मानता है। दोहाकोशव्याख्याकार निर्वाण को ही महामुद्रा पद मानते हैं।

विमलप्रभाकार का कहना है कि तीन निमित्तों से अन्तिम अन्तनिमित्त से बुद्धत्व और वज्रधर पद की प्राप्ति होती है। २१६०० परमाक्षर क्षणों में, जो प्रकृतिजाप[1] के नाम से प्रसिद्ध हैं, सहज का साक्षात्कार करने पर साधक को द्वादश भूमियों की प्राप्ति के अन्त में महामुद्रा सिद्ध होती है। इस विषय का वे एकाधिक बार प्रतिपादन करते हैं। वे परमार्थसत्य रूप वज्रपद को भी महामुद्रा की सिद्धि में हेतु मानते हैं। सेकोद्देशटीका में वज्रव्रताभिषेक को भी महामुद्रा का प्रापक माना गया है। विमलप्रभाकार महामुद्रा को विकल्परहित तथा प्रतिसेनास्वरूपिणी कहते हैं। इसके अभ्यास से भावाभावरहितता तथा सर्वाकारसम्पन्नता प्राप्त होती है। [2]प्रतिसेना का स्वरूप सेकोद्देशटीका में बताया गया है। सेकोद्देशटीका के अनुसार महामुद्रा प्रकृति-प्रभास्वर एवं प्रज्ञापारमिता से अभिन्न है और इसको वहाँ सहजतनु कहा गया है। वहाँ महामुद्रा को गगनोद्भवबिम्ब भी कहा है। यह भी प्रतिसेना-स्वरूप ही है। विमलप्रभाकार वंकार को महामुद्रा, सहजानन्द और अक्षरसुख का प्रतिपादक मानते हैं। यहाँ उन्होंने वंकार के आध्यात्मिक स्वरूप को भी समझाया है।

प्रदीपोद्योतनकार ने अक्षोभ्य आदि देवताचक्र को महामुद्रा कहा है। यह आभ्यन्तर महामुद्रा न होकर बाह्य महामुद्रा ही मानी जायगी।

महामुद्रा[3] को महती मुद्रा बताया गया है। इसकी महत्ता प्रहाणमहत्त्व और अधिगममहत्त्व के कारण है। [4]सेकोद्देशटीकाकार ने इन दोनों महत्त्वों को समझाया है और बताया है कि महामुद्रा से निष्पन्दाक्षर की भावना की जाती है, जो सर्वज्ञतालक्षण लोकोत्तर सिद्धि को देने वाली है। हेवज्रतन्त्र के अनुसार यह नाभिमण्डल में स्थित है। टीकाकार इसको आध्यात्मिक परममुद्रा बताते हैं और कहते हैं कि यही सहज है।

---

१. सभी प्राणियों में स्वाभाविक रूप से चलने वाले प्राणापान-व्यापार का, श्वास-प्रश्वास का ही यह नाम है। इसीको अन्यत्र अजपाजप, अजपागायत्री अथवा हंसगायत्री कहा जाता है। इन सभी जगहों पर बताया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति दिन-रात में २१, ६०० बार श्वास छोड़ता और लेता है। विमलप्रभा में इसे अड़क तथा सेकोद्देशटीका में आढक नाम दिया है। इसके अभ्यास से योगी धर्ममेघा भूमि में प्रतिष्ठित हो जाता है।

२. "प्रतिसेनाशब्देन साधकचिन्तितो दर्पणादिषु प्रतिभासमानोऽर्थोऽभिधीयते" (पृ. ४९)।

३. अद्वयवज्रसंग्रह (पृ. ३४-३५) द्रष्टव्य।

४. सेकोद्देशटीका, पृ. ५६-५७ एवं ६२ द्रष्टव्य।

वज्रयान का दर्शन

सदोदित तत्त्व

सरहपाद ने सुखराज को ही सदोदित तत्त्व माना है। सदोदित के पर्याय के रूप में नित्योदित शब्द का प्रयोग भी मिलता है। इन शब्दों की व्याख्या हमें वैष्णव और शैव तन्त्रों में अधिक स्पष्ट रूप में मिलती है। वहाँ शिव के निष्कल स्वरूप अथवा विष्णु के परव्यूह के लिये सदोदित अथवा नित्योदित शब्द का तथा सकल अथवा व्यूह (चतुर्विध) स्वरूप के लिये शान्तोदित शब्द का प्रयोग मिलता है। इस विषय की विस्तृत चर्चा हम पहले कर चुके हैं। यहाँ हम संक्षेप में परमार्थ सत्य को सदोदित और संवृति-सत्य को शान्तोदित कह सकते हैं।

सहज

अद्वयवज्रसंग्रह (पृ. ३२-३३) में सहज शब्द की व्याख्या के प्रसंग में इसके स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। बौद्ध तन्त्रों में [१]अन्यत्र भी अनेक प्रसंगों में सहज की चर्चा आई है। एक स्थान पर उत्पन्नक्रम को सहज बताया गया है। यह निर्विकल्प अथ च सर्वाकार है और मुख, भुज, वर्ण, संस्थान आदि की कल्पना से परे है। अन्यत्र बताया गया है कि कृत्रिम कर्ममुद्रा से [२]अकृत्रिम सहज ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। विशेष स्थिति में [३]एक क्षण के लिये इसकी प्रतीति होती है, बिजली के प्रकाश के समान इस क्षणगत प्रकाश से योगी का चित्त पूर्ण रूप से प्रकाशित हो उठता है। हेवज्रतन्त्र के टीकाकार ने सांवृत और विवृत के रूप में सहज के दो भेद किये हैं और उत्पत्तिक्रम एवं उत्पन्नक्रम से उनको जोड़ा है। मण्डल शब्द की व्याख्या में यहाँ आन्तर मण्डल का स्वरूप बताकर उसकी भी सहज रूप में भावना करने का विधान है। यह सहज, अच्युत, अक्षर, निर्वाण सौख्य नामक चतुर्थ सुख सर्वाकारशून्यता स्वरूप है। इसकी प्राप्ति के लिये हसित, ईक्षण आदि कर्ममुद्रा और ज्ञानमुद्रा के प्रत्ययों की आवश्यकता नहीं पड़ती। वंकार आदि इसी के पर्याय हैं, महामुद्रा, सहजानन्द, अक्षरसुख आदि इसी के नामान्तर हैं।

यह सहज ही निर्विकल्प योगी का सहजकाय है। इसीको स्वाभाविक काय कहते हैं। यही युगनद्ध अवस्था है। चण्डाली के ज्वलन से नाभिस्थान में इस शुद्धकाय की प्राप्ति होती है। कहीं-कहीं धर्मकाय को भी सहज-स्वरूप मान लिया गया है, जब

१. बौद्ध तन्त्र कोश, भा. १, पृ. १३४-१३६ देखिये।

२. "परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन" (१.२.१२) मुण्डकोपनिषत् के इस वचन का भी यही अभिप्राय है।

३. "सकृद्विभातोऽयमात्मा" शाक्त तन्त्रों में इसी अभिप्राय का यह वचन उद्धृत है।

कि लोकोत्तर चित्त की उपलब्धि के कारण धर्मकाय अत्यन्त निर्मल हो जाता है। त्रिकाय सिद्धान्त के अनुसार ऐसा माना जा सकता है। कालचक्र की विमलप्रभा टीका में आनन्द के सोलह भेदों का वर्णन कर कहा गया है कि यह षोडशाकार तत्त्व ही सहजकाय है। अन्यत्र [1]निरंजनकाय को यह नाम दिया गया है। सेकोद्देशटीकाकार ने बज्रयोग के प्रथम भेद विशुद्धयोग और चतुर्थ भेद संस्थानयोग की विशुद्धि से सहजकाय की प्राप्ति की बात कही है।

अद्वयवज्र अमनसिकार शब्द की व्याख्या करते हुए इस स्थिति को निर्विकल्प सहज ज्ञान कहते हैं। योगशास्त्र के ग्रन्थों में यह चित्त की उन्मनी अवस्था मानी गई है। योगी इस दशा में बुद्धत्व को प्राप्त कर लेता है। वह बुद्धक्षेत्र में प्रविष्ट हो जाता है। उसका प्रकृतिसिद्ध सहज बुद्धस्वरूप में अभिव्यक्त हो उठता है। एकचित्तता रूप सहजयोग की सहायता से इसे प्राप्त किया जाता है। उस समय योगी के चित्त में अभिव्यक्त सहज प्रज्ञा ही नाभिमण्डल में प्रज्वलित वाराही का रूप धारण कर लेती है। यही योगी का सहजाभिषेक अथवा चतुर्थाभिषेक है। चतुर्थाभिषेक से अभिषिक्त योगी को ही सहज की अनुभूति हो सकती है। सहज की अनुभूति होने पर योगी सहजसुख या सहजानन्द से परिपूर्ण हो जाता है। सहजानन्द इन्दु(चन्द्र) की सोलह कलाओं से परिपूर्ण है। इसीको चतुर्थानन्द भी कहते हैं। लोक-संवृति के अनुसार भी सहजानन्द की व्याख्या की जाती है। इसे ज्ञानवज्रावस्था नाम दिया गया है। सेकोद्देशटीका में सहजानन्द के भी चार भेद बताये गये हैं। हठयोग, सेकयोग अथवा दोनों की सहायता से इस सहज तत्त्व का साक्षात्कार किया जा सकता है।

३७ बोधिपाक्षिक धर्म

वसन्ततिलक के आरंभ में सम-विषम-महासुख स्वभाव ३७ बोधिपाक्षिक धर्मों का उल्लेख है। टीकाकार ने इसके दो अर्थ किये हैं। पहले के अनुसार सम का अर्थ उपायस्वभाव और विषम का प्रज्ञास्वभाव है। महासुख प्रज्ञा और उपाय की अद्वय सत्ता, समरस स्थिति है। उपाय, प्रज्ञा और अद्वय स्वभाव ३६ बोधिपाक्षिक धर्मों को यहाँ पाँच मार्गों में बाँटा गया है। सातवें निर्देश में टीकाकार ने संभारमार्ग, प्रयोगमार्ग, दर्शनमार्ग, भावनामार्ग और अशैक्षमार्ग के नाम से इन पाँच मार्गों का विवरण दिया है और मूल ग्रन्थ में कायानुस्मृत्युपस्थान से लेकर सम्यक्समाधि पर्यन्त निर्दिष्ट ३७ बोधिपाक्षिक धर्मों को इनमें बाँटा गया है। जैसे चार स्मृत्युपस्थान, चार सम्यक्प्रहाण और चार

१. "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" (मुण्डकोपनिषत्, ३.१.३)।

ऋद्धिपाद— ये बारह धर्म संभारमार्ग के अन्तर्गत, पाँच इन्द्रिय[1] और पाँच बल प्रयोगमार्ग के अन्तर्गत, सात बोध्यंग दर्शनमार्ग के और आठ आर्य-अष्टांगिक धर्म भावनामार्ग के अन्तर्गत आते हैं। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि वसन्ततिलक में सम्यक्प्रहाण धर्मों का निरूपण स्मृत्युपस्थान और ऋद्धिपाद के साथ न कर इस निर्देश के अन्त में किया गया है।

इन पाँच मार्गों का टीकाकार ने लौकिक और लोकोत्तर मार्ग में संग्रह किया है (पृ. ५२)। इनमें सम (उपाय) स्वभाव प्रथम २२ धर्मों का लौकिक मार्ग में और बाद के विषम (प्रज्ञा) स्वभाव १५ धर्मों का लोकोत्तर मार्ग में समावेश माना जाता है। इन ३७ बोधिपाक्षिक धर्मों का दस में, दस का तीन में और तीन का केवल एक तत्त्व में संग्रह का प्रकार भी टीकाकार (पृ. ५७-५८) ने ही बताया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के पाँचवें और छठे निर्देश में एवं उनकी टीका में तथागतकाय में नाडी रूप से स्थित ३७ संवित्स्वरूपिणी डाकिनियों का निरूपण मिलता है। टीकाकार ने सातवें निर्देश के अन्त में (पृ. ५८) शिर से जानुपर्यन्त स्थित २४ नाडियों, नाभिचक्रान्त की चार, द्वाराष्टक की आठ तथा मध्य में स्थित अवधूती नाडी को मिला कर इनकी संख्या ३७ बताई है और बाद में इनका भी तथागतकाय के नवद्वार और दशम नाभि स्थित मध्यनाडी में समावेश किया है। दस नाडियों का ललना, रसना और अवधूती में और बाद में ललना एवं रसना का भी एक ही मध्यनाडी में समावेश कर दिया है। वहाँ बताया गया है कि यह सारा नाडीचक्र वज्रवाराही-स्वभाव मध्यनाडी अवधूती से प्रादुर्भूत होता है फिर उसीमें विलीन (समवशरण) हो जाता है। इससे संवृति और परमार्थ की अद्वयस्वभावता, युगनद्धता सिद्ध होती है। यह प्रज्ञा और उपाय की अद्वय सत्ता, समरस स्थिति ही ३७ बोधिपाक्षिक धर्मों की महासुख-स्वभावता है। इसी स्थिति को यहाँ वसन्ततिलक-योग कहा गया है। सम-विषम-महासुख शब्द से उपाय और प्रज्ञा की अद्वयता का बोध कराते हुए टीकाकार ने यहाँ (पृ. ५८) बताया है कि शान्तब्रह्मवादी वेदान्ती तथा सांख्यदर्शन के अनुयायी (परयूथ्य=बौद्धेतर दार्शनिक) और निराकार विज्ञप्तिवादी (स्वयूथ्य=बौद्ध दार्शनिक) संवृति और परमार्थ के भेद के प्रति अत्यन्त आग्रहशील हैं। अत: ये सब सत्य का दर्शन नहीं कर सकते।

इस ग्रन्थ में प्रत्येक वस्तु की बाह्य और आन्तर रूप में व्याख्या की गई है। ३७ बोधिपाक्षिक धर्मों के प्रति भी वही पद्धति अपनाई गई है। सातवें निर्देश में प्रदर्शित

---

१. वसन्ततिलक और उसकी टीका के आधार पर पाँच इन्द्रियों और बलों की पातंजल योग से तुलनात्मक समीक्षा "बौद्ध तन्त्र कोश" भा. १ के उपोद्घात, पृ. १९ पर देखिये।

कायानुस्मृत्युपस्थान से सम्यक्समाधि पर्यन्त ३७ बाह्य बोधिपाक्षिक धर्म और पाँचवें तथा छठे निर्देश में एवं आठवें निर्देश के प्रारंभ में वर्णित संवित्स्वरूपिणी ३७ नाडियाँ (डाकिनियाँ) आन्तर बोधिपाक्षिक धर्म हैं। टीकाकार ने सम-विषम-महासुख शब्द की दूसरी व्याख्या कर इस अर्थ को स्पष्ट किया है (पृ. २)। यहाँ 'सम' का अर्थ दक्षिण नाडी से निकली संवित्स्वरूपिणी डाकिनियाँ तथा 'विषम' का अर्थ वाम नाडी से प्रसूत डाकिनियाँ किया गया है। चक्षु आदि छः विज्ञानों में से प्रत्येक में चार-चार प्रकार के आनन्द विद्यमान हैं। मिलकर इनकी संख्या २४ होती है। इसी प्रकार चार चक्रों में से प्रत्येक में प्रवेश, स्थिति और उत्थान के क्रम से तीन-तीन प्रकार के आनन्द स्थित हैं। मिलकर इनकी संख्या १२ होती है। इन छत्तीस प्रकार के आनन्दों का जहाँ लय हो जाता है, उस सहजस्वभाव हेरुक को यहाँ ३७वाँ आनन्द माना गया है। इस प्रकार यह सहजमूर्ति भगवान् श्रीहेरुक ही सप्तत्रिंशत्-बोधिपाक्षिक-धर्मस्वभाव है। इसका अभिप्राय यह है कि इस ग्रन्थ के प्रथम उद्देश वाक्य के— "समविषममहासुखसप्त-त्रिंशन्महाबोधिपक्षस्थधर्मस्वभावस्थितम्" इस प्रथम विशेषण से बाह्य और आन्तर रूप में ३७ बोधिपाक्षिक धर्मों से संवलित भगवान् श्रीहेरुक को स्मरण किया गया है, अर्थात् बाह्य और आन्तर ये सभी धर्म भगवान् श्रीहेरुक से ही प्रादुर्भूत होते हैं और उन्हींमें विलीन हो जाते हैं, समवशरणता को प्राप्त कर लेते हैं।

स्थूल से सूक्ष्म में प्रवेश

स्कन्ध, धातु और आयतनों के संघात-स्वरूप सभी प्राणियों के देह में देवत्व की भावना करने में ही निष्पत्तिक्रम की भावना का रहस्य छिपा हुआ है, स्थूल के सहारे ही सूक्ष्म की तरफ बढ़ा जा सकता है। यह कैसे संभव हो सकता है?

प्राणियों का देह रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान नामक पाँच स्कन्धों; नेत्र, श्रुति, घ्राण, मुख, काय और मन नामक छः आयतनों तथा पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश नाम की पाँच धातुओं का संघातात्मक रूप है। स्कन्धों में वैरोचन आदि पाँच बुद्धों की, आयतनों में मोहवज्र आदि की तथा महाबल आदि छः छः वीरों की धातुओं में पातनी आदि पाँच देवियों की भावना करने से प्रत्येक प्राणी का देह देवमय हो जाता है।

टीकाकार ने सम्पुटतन्त्र के प्रमाण से मनुष्य के देह को षाट्कौशिक पिण्ड बताया है और कहा है कि इसमें छः तथागतों की भावना करनी चाहिये। पाँच बुद्ध ही पाँच तथागत हैं और भगवान् श्रीहेरुक को सर्वरूप षष्ठ तथागत माना गया है। पाँच तथागत आदर्श आदि पंचज्ञानात्मक अथवा पंचाकाराभिसंबोधि-स्वरूप हैं और छठे

तथागत भगवान् श्रीहेरुक सहज (महासुख) स्वरूप हैं। छठे आयतन मन के अधिपति भी श्रीहेरुक ही हैं। छः आयतनों के अधिपति षट्चक्रवर्ती के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। इनको वीर भी कहा जाता है। इनके नाम टीकाकार ने क्षितिगर्भ, वज्रपाणि, खगर्भ, लोकेश्वर, विष्कम्भी और समन्तभद्र दिये हैं। यहाँ प्रयुक्त सभी शब्दों की व्याख्या टीका में दी गई है और बताया गया है कि सभी देवताओं का निवासस्थान यह देह ही है। इस देह में ही देवता की भावना करनी चाहिये। बाह्य मुख, भुजा, आयुध आदि से अलंकृत प्रतिमा आदि में देवत्व की भावना व्यर्थ है।

तथागतकाय

इससे आगे के सभी निर्देशों में प्राणीमात्र के देह को तथागतकाय कहा गया है और बताया है कि यह पंचतथागतात्मक स्थूल काय एक स्तम्भ और नवद्वार (स्रोत) वाला है। यहाँ तथागतकाय से संबद्ध कुछ विशेष विषयों की चर्चा करना जरूरी है। पूरे तृतीय निर्देश में मनुष्य देह के आन्तर स्वरूप का निरूपण किया गया है। टीकाकार ने यहाँ नवस्रोतात्मक दो चक्षु, दो श्रोत्र, दो घ्राण, वक्त्र (मुख), गुह्य और गुदा नामक प्रत्येक द्वार के नौ भेद किये हैं और इनको पंचबुद्धात्मक एवं चतुर्योगिनीस्वभाव माना है। इन नवगुणित नवद्वारों के कारण यह देह एकाशीति (८१) द्वार वाला हो जाता है। इस प्रकार इस देह का प्रत्येक स्पन्दन तथागतस्वभाव माना जाता है। मध्यम वाचिक द्वार में यहाँ आग्नेय, वायव्य, माहेन्द्र और वारुण मण्डलों की स्थिति मानी गई है। टीकाकार ने ही त्रिचक्रस्थ धातुरूप वीरों की संख्या चौबीस बताकर श्रीहेरुक को पचीसवाँ वीर कहा है और काय, वाक्, चित्त और ज्ञानचक्र स्थित नाडीस्वभाव डाकिनियों की संख्या २८ बताई है। सहज सिद्धों और योगिनियों की भी यहाँ चर्चा है (पृ. २४-२५)

चतुर्थ निर्देश में टीकाकार कहते हैं कि [१]तथागत और पृथग्जन में कोई भेद नहीं हैं। निरे अज्ञानी जन ही सोचते हैं कि इस देह से अन्यत्र अभिरति आदि बुद्धक्षेत्रों में बुद्ध अवस्थित हैं। बुद्ध की दस भूमियाँ, दस अथवा चौबीस पीठ आदि भी इसी देह में स्थित हैं, अर्थात् देह में स्थित दस प्रधान नाडियाँ ही बुद्ध की दस भूमियाँ और योगियों के दस पीठ हैं। २४ पीठों का विस्तार भी नाडियों के रूप में इसी देह में स्थित है। अनेक आचार्य इस देह में ३२ अथवा ३६ नाडियों की भी स्थिति मानते हैं। काय, वाक्, चित्त चक्र अथवा मण्डल के अतिरिक्त ज्ञानमण्डल की भी स्थिति इसी देह में है। इन सभी विषयों का निरूपण पाँचवें निर्देश में भी

---

१. तत्त्वतस्तथागतपृथग्जनयोरभेदात्" (व. ति. टी., पृ. २९)।

हुआ है और बताया गया है कि चतुर्विंशति धातुरूप वीर तथा अभेद्या आदि चौबीस नाड़ियाँ बुद्धस्वरूप ही हैं। इन सबकी स्थिति इसी देह में है। ये सारी भूमियाँ सभी प्राणियों के लिये सुलभ हैं।

छठे निर्देश में नाड़ीचक्र की डाकिनी-स्वभावता और इनके अधिपति श्रीहेरुक की मन्त्रात्मकता प्रतिपादित है। यहाँ और सातवें निर्देश में ३७ बोधिपाक्षिक धर्म और चौबीस, बत्तीस अथवा ३७ नाड़ियाँ निरूपित हैं। इनका परिचय पहले दिया जा चुका है। मन्त्रमूर्ति भगवान् श्रीहेरुक का भी मन्त्रेश्वर के रूप में वहाँ निरूपण हो चुका है। प्रधान नाड़ी को यहाँ त्रिगुणातीत तथा अन्य नाड़ियों को रज:सत्त्वतमोरूप बताया गया है। त्रिवृता नाड़ी, सर्षप प्रमाण वीर, वसन्त श्रीहेरुक और वाराही तिलका का प्रतिपादन भी इस निर्देश में हुआ है। इनका विवरण हम अलग से देंगे। टीकाकार ने यहाँ (पृ. ५०) योगिनियों के विषय में एक विशेष सूचना दी है कि [1]लय, भोग और अधिकार के भेद से इनकी संख्या ७२ होती है। वाम और दक्षिण वाह से इनकी प्रवृत्ति होती है। सप्तम निर्देश में टीकाकार ने प्रसंगवश समाधि के छ: दोषों की चर्चा की है (पृ. ५३), किन्तु कौशीद्य (आलस्य), आलम्बन-सम्प्रमोष, लय और औद्धत्य— ये चार नाम ही वहाँ मिलते हैं। टीका के भोट अनुवाद में इन चार दोषों के अतिरिक्त असंस्कार और संस्कार नामक दो अन्य दोष गिनाये गये हैं। टीकाकार के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए यहाँ यह भी बताया गया है कि लय और औद्धत्य को एक ही मान लेने पर समाधि के दोषों की संख्या पाँच[2] रह जायगी। इन दोषों के परिहार के लिये टीकाकार ने आठ प्रहाण संस्कारों का निरूपण किया है।

आन्तर होम

तथागतकाय की विशद चर्चा के बाद यहाँ आठवें निर्देश में तदनुरूप ही मण्डल, होम, योग (याग), जप और भावना की आन्तर विधि का वर्णन किया गया है। तदनुसार यह तथागतकाय ही [3]मण्डल है। इस आन्तर मण्डल का निरूपण करने के बाद यहाँ बताया गया है कि इस तथागतकाय रूप मण्डल में आन्तर और बाह्य[4] द्रव्यों की प्रज्ञाग्नि

---

१. शैवसिद्धान्त के मतंगपारमेश्वर नामक आगम के विद्यापाद के तृतीय और चतुर्थ पटल में ईश्वर की लय, भोग और अधिकार नामक तीन दशाओं का वर्णन है। यहाँ भी इन तीन शब्दों का प्रयोग योगिनियों की इस तरह की तीन अवस्थाओं के लिये किया गया प्रतीत होता है।

२. मध्यान्तविभागशास्त्र की— "पञ्चदोषप्रहाणाष्टसंस्कारसेवयाऽनया" (४.३) इत्यादि कारिकाओं और उनकी व्याख्या में यह विषय देखा जा सकता है।

३. चतुरस्र कायमण्डल का सविशेष वर्णन यहाँ अष्टम निर्देश (पृ. ६१-६५) में देखा जा सकता है।

४. आन्तर और बाह्य, स्थूल और सूक्ष्म द्रव्यों का विवरण वहाँ पृ. ६६ पर देखना चाहिये।

में आहुति देनी चाहिये। यही आन्तर होम है। होम के बाद योग की चर्चा कुछ अप्रासंगिक सी लगती है। 'योग' के स्थान पर यहाँ 'याग' पाठ मूल में होना चाहिये। यह याग कैसे सम्पन्न होता है, इसके लिये यहाँ पात्र, स्रुवा, कुण्ड, अग्नि, आचार्य आदि की आध्यात्मिक[१] व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इसी पद्धति से यहाँ जप और भावना की भी आन्तर विधि[२] वर्णित है।

काश्मीरी शैवदर्शन और योगशास्त्र के ग्रन्थ विज्ञानभैरव के अन्तिम कुछ (१४२-१४९) श्लोकों में भी जप, ध्यान (भावना), पूजा, होम, याग आदि की परिभाषा इसी प्रकार की दी गई है। वहाँ आन्तर होम का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

महाशून्यालये वह्नौ भूताक्षविषयादिकम्।
हूयते मनसा सार्धं स होमश्चेतनास्रुचा।।१४६।।

अर्थात् इस आन्तर होम की प्रक्रिया में पाँच महाभूत, इन्द्रियग्राम और सारे विषयजाल को मन के साथ अपनी चेतनाशक्ति में समेट कर शून्यातिशून्य पदवी (महामाया शक्ति) में स्थित परभैरव स्वरूप वह्नि में उसकी आहुति दी जाती है। इसी अभिप्राय का श्लोक योगिनीहृदय की दीपिका टीका में भी मिलता है—

धर्माधर्महविर्दीप्ते आत्माग्नौ मनसा स्रुचा।
सुषुम्नावर्त्मना नित्यमक्षवृत्तीर्जुहोम्यहम्।। (पृ. २९६)

यहाँ धर्म और अधर्म रूपी हवि से प्रज्वलित होने वाली आत्मारूपी अग्नि में मनरूपी स्रुचा से सुषम्ना नाड़ी के मार्ग द्वारा इन्द्रिय की वृत्तियों की आहुति देने की बात कही गई है। इन सब वचनों से स्पष्ट हो जाता है कि आन्तर होम, याग आदि की प्रक्रिया सर्वत्र एक सी है।

चार काय

इस आन्तर पूजाविधि से परिपुष्ट तथागतकाय की चार अवस्थाएँ क्रमशः निर्माण, संभोग, धर्म और महासुख काय के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन सबका निरूपण यहाँ दशम

---

१. टीकाकार ने यहाँ (पृ. ७०) सूत्र, रज आदि शब्दों की भी आन्तर और बाह्य द्विविध व्याख्या प्रस्तुत की है।

२. मण्डल, होम, याग, जप और भावना की कृत्रिम और सहज— इन उभयविध दृष्टियों का यहाँ (पृ. ६८) उल्लेख है। सहज में प्रवेश के लिये ही कृत्रिम उपायों की उपयोगिता है। विज्ञानभैरव (श्लो. ८-१३) में शब्दान्तर से यही विषय वर्णित है कि सकल (साकार) स्वरूप की उपासना निष्कल (निराकार) में प्रवेश पाने के लिये की जाती है। कृत्रिम की हेयता का सविशेष वर्णन वसन्ततिलकाकार ने प्रथम निर्देश में भी किया है।

निर्देश में किया गया है। यहाँ प्रथम उद्देश-वाक्य में धर्म, संभोग और निर्माण नामक तीन कायों से महासुख की अनुभूति की चर्चा है। यह महासुख ही चतुर्थ सहजकाय है। यहाँ आगे बताया गया है कि शिर और नाभिगत चक्र एकाराकृति एवं हृदय तथा कण्ठगत चक्र वंकाराकृति है। नाभिगत पद्म में ६४ दल और शिरःस्थित पद्म में ३२ दल हैं। कण्ठगत पद्म षोडश दल तथा हृदयस्थित पद्म अष्टदल है। ६४ दल वाले निर्माणचक्र में निर्माण काय, आठ दल वाले धर्मचक्र में धर्मकाय, षोडशार संभोगचक्र में संभोगकाय तथा ३२ दल वाले महासुखचक्र में सहजकाय स्थित है। निर्माणचक्र में परमाक्षर अकार का, धर्मचक्र में अनाहत हूँकार का, संभोगचक्र में ॐकार तथा महासुखचक्र में हँकार का ध्यान किया जाता है।

ठीक यही विषय छठे निर्देश (पृ. ३८-४०) में भी वर्णित है कि नाभि में ह्रस्व अकार का, हृदय में दो मात्रा वाले हूँकार का, कण्ठ में तीन मात्रा वाले प्लुत ॐकार का तथा शिरःस्थित महासुखचक्र में नाद और बिन्दु से विभूषित अनाहताक्षर हँकार का ध्यान किया जाता है।

कण्ठचक्र में महाराग के रूप में चन्द्रमा की स्थिति को संभोगकाय तथा नासाग्र अथवा वज्राग्र में अस्तंगत विरागात्मक नाभिगत सूर्य की स्थिति को निर्माणकाय कहा जाता है। इस निर्माणकाय से ही बुद्धों और बोधिसत्त्वों का स्फरण होता है। इन दोनों स्थितियों से, अर्थात् राग और विराग से निर्मुक्त, निर्द्वन्द्व परम शुद्ध स्वरूप वाले भगवान् श्रीहेरुक तन्त्रों में घुण के रूप में जाने जाते हैं, अर्थात् जैसे घुन लग जाने पर सब कुछ नष्ट हो जाता है, उसी तरह से हेरुक-स्वरूप का साक्षात्कार होने के साथ ही रागविरागात्मक यह संसार सिमट जाता है। पृथिवी आदि पाँच धातु, आदर्श आदि पाँच ज्ञान और वैरोचन आदि पाँच बुद्धों का स्फरण यहीं से होता है। वज्रसत्त्व, परमसुख-स्वरूप यह स्वयंभूकाय ही यहाँ धर्मकाय कहा गया है। कायत्रयस्वभाव भगवान् श्रीहेरुक और उसकी सहजा प्रज्ञा वाराही की शिखा (शीर्षचक्र) में अद्वयभाव से स्थिति ही चतुर्थ महासुखकाय है। इस स्थिति को यहाँ देवतायोग नाम दिया गया है।

हेरुक-वाराही : वसन्त-तिलका

भगवान् श्रीहेरुक के स्वरूप का वर्णन करते समय पहले (६.३-६) बताया गया है कि 'वसन्ततिलक' इस समस्त पद में स्थित 'वसन्त' पद भगवान् श्रीहेरुक का तथा 'तिलक' पद भगवती वाराही का वाचक है। इन पदों की व्याख्या यहाँ छठे (२-८ श्लो.) निर्देश में मिलती है। सभी प्राणियों के हृदय में धर्मचक्र के नाम से अभिहित होनेवाला कर्णिका और केसर से युक्त अष्टदल कमल स्थित है। इसके बीच में

तैलवह्निसदृश प्रकाशमान, कदलीपुष्प के सदृश अधोमुखी त्रिवृता नाम की नाडी स्थित है। इसके बीच में सर्षप (सरसों) के समान सूक्ष्म आकृति वाला हंकाराकार अनाहत नाद स्थित है। इसको यहाँ वीर संज्ञा दी गई है। सभी प्राणियों के हृदय में आनन्द के उल्लास का जनक होने से इसे 'वसन्त' नाम दिया गया है। 'वाराही' का स्वरूप वाडवाग्नि के जैसा है। इसको 'तिलका' कहते हैं। कर्म (योगाभ्यास) रूपी पवन की सहायता से यह नाभिमण्डल (निर्माणचक्र) में प्रज्वलित होकर ऊपर उठती है और हृदय स्थित धर्मचक्र में सूक्ष्म सर्षप प्रमाण वीर से संयुक्त होती है। इस वीर वसन्त से संयुक्त होकर वह [1]सन्तुष्ट हो जाती है, उसके साथ समाश्लिष्ट हो जाती है। वसन्त और वाराही की समापत्तिरूप यह अद्वय स्थिति ही वसन्ततिलका के नाम से अभिहित होती है। यह वसन्ततिलका योगिनी का रूप धारण कर सारे चराचर जगत् में व्याप्त होती है। काय, वाक् और चित्त नामक द्वारों से यह शरीर स्थित चक्रों में गति और आगति करती रहती है। (श्लो. ३०-३७)

गति और आगति की इस प्रक्रिया को यहाँ दसवें निर्देश (श्लो. ३३-३७) में स्पष्ट किया गया है। भगवान् श्रीहेरुक के धर्मकाय का निरूपण करने के बाद यहाँ बताया गया है कि परमसुखस्वरूप, हेतुप्रत्ययनिरपेक्ष, धर्मकायस्वरूप भगवान् श्रीहेरुक की ही सहजा प्रज्ञा 'वाराही' है। कर्म (योगाभ्यास) रूपी पवन की सहायता से नाभिमण्डल (निर्माणचक्र) में प्रज्वलित यह संवित्स्वरूपिणी वाराही चन्द्र की चन्द्रिका के समान हेरुक से अभिन्न मानी जाती है। यह बाल के अग्र भाग से भी हजारों गुना सूक्ष्म है तथा सैकड़ों बिजलियों की एक साथ पैदा हुई चमक के समान अति [2]कान्तिमयी है। देवता (हेरुक) के साथ योग होने पर, अर्थात् समापत्ति दशा में यह ज्ञानाग्नि की ज्वाला योगी के सभी रोमकूपों की सन्धियों से बाहर निकल कर सुरासुरात्मक, अर्थात् सभी शुभ और अशुभ स्कन्ध, इन्द्रिय आदि विकल्पों को पराहत करती हुई, धर्म और संभोग चक्र के ग्रन्थिरूप समस्त विकल्प व्यापारों को, अर्थात् स्कन्ध, आयतन और धातुओं को जला डालती है। इसके बाद वह योगी की दक्षिण नासिका के रास्ते बाहर निकलती है और ऊर्णाकोश-गत शिखारन्ध्र से पुनः प्रविष्ट होकर दशों दिशाओं में विद्यमान बुद्धों और बोधिसत्त्वों को एवं चारों चक्रों को दग्ध कर देती है। वह पुनः वाम नासापुट से बाहर निकल कर शिखारन्ध्र से

---

१. तुलनीय— "तेन चारेण सन्तुष्टा पुनरेकाकिनी सती" (नि. षो. ४.१५)।
२. शैव, शाक्त और वैष्णव तन्त्रों में मूलाधार स्थित कुण्डलिनी शक्ति का स्वरूप भी इसी प्रकार का बताया गया है।

प्रविष्ट होती है और पूर्व दग्ध तथागतों का आप्यायन करती है। इतना करने के बाद वह ज्ञानवह्नि पुनः नाभिमण्डल[१] में स्थिर हो जाती है।

यहाँ मूल के ३३-३७ श्लोकों में से कुछ का अभिप्राय स्पष्ट नहीं है। टीकाकार की पद्धति से यहाँ ऊपर का विवरण दिया गया है। अपनी इस व्याख्या की पुष्टि में टीकाकार ने कहीं का एक वचन उद्धृत किया है। वहाँ कहा गया है कि मन्थ्य और मन्थान का संयोग होने पर ज्ञानवह्नि उसी प्रकार प्रज्वलित होती है, जैसे दो अरणियों के संयोग से लौकिक वह्नि। कर्ममारुत से प्रेरित होकर यह ज्ञानवह्नि नाभिमण्डल में प्रकाशित होती है। वहाँ समयचक्र-गत सुगतों को दग्ध कर और संभोगचक्र-गत उपाय की तीन प्रदक्षिणा कर [२]ऊर्णाकोशगत उड्डियानसंज्ञक मर्मोद्घाटन द्वार में प्रविष्ट होकर दशदिग्गत तथागतों को भस्म कर देती है तथा जालन्धरसंज्ञक कनकद्वार में प्रविष्ट होकर चारों चक्रों को भी जला डालती है। कनकद्वार से बाहर निकल कर वह पूर्व दग्ध तथागतों को क्षीरधारा से आप्यायित कर देती है।

वसन्ततिलका-स्वभाव वाराहीसमालिंगित मण्डलपति भगवान् श्रीहेरुक चतुश्चक्र-स्वभाव हैं, चारों कायों में इनकी व्याप्ति है, इसका निरूपण यहाँ हो चुका है। छठे

---

१. ऐसा प्रतीत होता है कि शैव-शाक्त तन्त्रों में वर्णित भूतशुद्धि और कुलकुण्डलिनी की अकुल शिव के साथ सामरस्य की प्रक्रिया को यहाँ एक साथ मिला दिया गया है। भूतशुद्धि की प्रक्रिया में पाँच भूतों की शुद्धि कर शरीर स्थित पापपुरुष, अर्थात् मलिन वासनाओं का प्राणायाम के पूरक, कुंभक और रेचक व्यापारों के द्वारा शोष, दाह और आप्यायन किया जाता है, अर्थात् पूरक प्राणायाम से मलिन वासनाओं को सुखा कर कुंभक के द्वारा उनको दग्ध कर दिया जाता है और रेचक प्राणायाम के द्वारा दग्ध पापपुरुष की भस्म को बाहर निकाल दिया जाता है। इस प्रकार इस भावनात्मक प्रक्रिया के द्वारा पापपुरुष की भस्म के भी बाहर निकल जाने से साधक की सारी मलिन वासनाएँ समाप्त हो जाती हैं और वह देवमय हो जाता है। बौद्ध तन्त्रों की दृष्टि से इसे निष्पन्नक्रम में प्रवेश की प्रक्रिया कहा जा सकता है। निष्पन्नक्रम में स्थित साधक ही आगे की साधना का अधिकारी माना जाता है।
नित्याषोडशिकार्णव (४.१२-१६) में बताया गया है कि मूलाधार स्थित कुलकुण्डलिनी शक्ति चक्रभेद के क्रम से ब्रह्मरन्ध्र स्थित सहस्रारनिवासी परपुरुष, अर्थात् अकुल शिव के साथ समरसभाव को प्राप्त करती है और पूर्णतया सन्तुष्ट होकर वह पुनः अकेली रह जाती है, अर्थात् जिस मार्ग से वह ऊपर उठी थी, उसी पद्धति से वह पुनः अपने मूल स्थान में आ जाती है। इस द्विविध विवरण के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि वसन्ततिलक का उक्त विवरण इन दोनों प्रक्रियाओं को मिलाकर देखने से सुस्पष्ट हो जाता है।

२. हठयोग के ग्रन्थों में उड्डियान और जालन्धर बन्धों का निरूपण मिलता है, किन्तु उनकी यहाँ वर्णित ऊर्णाकोशगत उड्डियानसंज्ञक मर्मोद्घाटन द्वार तथा जालन्धरसंज्ञक कनकद्वार से कोई समानता नहीं दिखाई पड़ती। इनका विशेष विवरण अपेक्षित है।

निर्देश (श्लो. १०-१५) में वसन्ततिलककार ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए बताया है कि पृथिवी आदि चार महाभूतों में चार चक्रों के रूप में यह स्थित है। चार सन्ध्या, चार क्षण, चार आनन्द, चार योग, चार पूजा— ये सब इसीके स्वरूप हैं। इस संदर्भ की व्याख्या करते हुए टीकाकार कहते हैं कि भगवान् श्रीहेरुक नाभिस्थित निर्माणचक्र में ह्रस्व अकार के रूप में, हृदय स्थित धर्मचक्र में नादबिन्दुयुक्त हूँकार के रूप में, कण्ठस्थित संभोगचक्र में तीन मात्रा वाले प्लुत प्रणव (ॐकार) के रूप में और ललाटस्थित महासुखचक्र में बिन्दुनादविभूषित अनाहत अकार-हकार के[1]समरस रूप में स्थित हैं। यह भगवान् श्रीहेरुक की मन्त्रमयी मूर्ति है। ये चारों चक्र पृथिवी आदि चार भूतों के स्वभाव के हैं। ये सब बुद्धक्षेत्र के अन्तर्गत हैं।

दिन-रात में मिलकर चार सन्ध्याएँ होती हैं। इनके नाम हैं— मध्याह्न, प्रदोष, अर्धरात्र और प्रत्यूष (प्रात:काल)। प्रत्येक सन्ध्या में प्रवाहित होने वाले श्वासों की संख्या ५४०० है। चारों सन्ध्याओं, अर्थात् दिन-रात में मिलकर इनकी संख्या २१६०० होती है। ये चार सन्ध्याएँ ही प्रज्ञासंवलित भगवान् श्रीहेरुक के चार मुख हैं। विचित्र, विपाक, विमर्द और विलक्षण नामक चार क्षण एवं आनन्द, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द[2] नामक चार आनन्द बौद्ध तन्त्रशास्त्र में अतिप्रसिद्ध हैं। टीकाकार ने त्वरित, बाष्प, विबन्धक और विश्वस्तक नामक चार[3] योगों के नाम गिनाये हैं। ये चार क्षण, चार आनन्द और चार योग ही भगवान् श्रीहेरुक की बारह भुजाएँ, बारह नेत्र और बारह आयुध हैं। प्रज्ञासनाथ मध्यनायक भगवान् श्रीहेरुक का यह आध्यात्मिक स्वरूप है। चारों दिशाओं और विदिशाओं में स्थित धारण, श्रावण, तेजन और प्रेरण लक्षण डाकिनी, लामा, खण्डरोहा और रूपिणी नामक दिग्डाकिनियों की पूजा चतु:पूजा के नाम से यहाँ वर्णित है। चारों दिशाओं में स्थापित कलशों में इनकी पूजा होती है। विदिग्डाकिनियों के नाम यहाँ नहीं दिये गये हैं, किन्तु सप्तम निर्देश के अन्त में यमदाढी आदि चार देवियों को कोणदेवी कहा गया है। अत: उन्हीं चार कोणदेवियों का चारों विदिशाओं (कोणों) में स्थापित कलशों में पूजन किया जाता है।

---

१. शाक्त तन्त्र के त्रिपुरा सम्प्रदाय में वर्णित चतुर्बिन्दुमय अकार-हकार की सामरस्य-स्वरूपिणी कामकला से इसकी तुलना की जा सकती है।

२. निजानन्द, निरानन्द, परानन्द, ब्रह्मानन्द, महानन्द और चिदानन्द नामक छ: आनन्दों का एवं इनके समष्टीभूत जगदानन्द का प्रतिपादन अभिनवगुप्त ने तन्त्रसार (पृ. ३८-३९) और तन्त्रालोक (५.४४-५२) में किया है। इनमें कोई समानता प्रतीत नहीं होती।

३. ज्ञानोदयतन्त्र (पृ. ६) में इनके नाम त्वरित, बाष्प, विवर्च और विश्वस्थात् हैं। अन्यत्र योग, अनुयोग, महायोग और अतियोग नामक योग के चार अन्य प्रकारों का उल्लेख मिलता है। कृष्णयमारितन्त्र की टीका में इनका विशेष विवरण देखा जा सकता है।

भगवान् श्रीहेरुक को [1]चार संख्या बहुत प्रिय है। वसन्ततिलक की पद्धति से इनका निरूपण ऊपर किया गया है। इसके अतिरिक्त टीकाकार तन्त्र, ज्ञान, मन्त्र और गुह्य नामक चार ओलियों का तथा चार प्रत्ययों का भी निरूपण करते हैं। गुह्यतत्त्वप्रकाश के उद्धरण के आधार पर (पृ. ७२९-७३०) चतुर्विध प्रत्ययों का स्वरूप शैव-शाक्त तन्त्रों की पृष्ठभूमि में बताया जा चुका है। शैव-शाक्त तन्त्रों में ओलि या ओवल्ली शब्द का प्रयोग परम्परा के लिये होता है। टीकाकार द्वारा प्रयुक्त ओलि शब्द का हम यही अर्थ मान सकते हैं। वसन्ततिलक में विभिन्न स्थलों पर तन्त्र, ज्ञान, मन्त्र और गुह्य नामक तन्त्रशास्त्र की इन चारों परम्पराओं का संक्षेप में किस प्रकार वर्णन किया है, इसको टीकाकार ने स्थान-स्थान पर स्पष्ट कर दिया है। शब्द-सूची की सहायता से इन स्थलों को देखा जा सकता है। इसीलिये टीकाकार ने (पृ. ९०) कहा है कि सभी तन्त्रों के अर्थ को यहाँ संगृहीत कर दिया गया है। इन विषयों को जानने के लिये किसी अन्य ग्रन्थ की आवश्यकता नहीं है। यह ग्रन्थ अपने में परिपूर्ण है।

गुह्य परम्परा का यहाँ विशेष रूप से वर्णन हुआ है। इसीलिये टीकाकार (पृ. ८८) ने बताया है कि मृदु इन्द्रिय वाले सत्त्वों के लिये यह ग्रन्थ नहीं लिखा गया है। तीक्ष्णेन्द्रिय पुद्गलों (सत्त्वों) का ही यहाँ अधिकार माना गया है। ऐसे तत्त्वों के लिये यहाँ वीर[2] शब्द प्रयुक्त हुआ है। मन्त्रशास्त्र की विशेषता को बताते हुए अद्वयवज्र (पृ.२१) भी इसमें तीक्ष्णेन्द्रिय सत्त्वों का ही अधिकार मानते हैं।

गुह्यसिद्धिकार ने बोधिचित्त[3] को सभी सिद्धियों का खजाना बताया है और कहा है कि इसका पतन हो जाने तथा स्कन्धविज्ञान का उत्थान हो जाने पर साधक को वह निर्मल सिद्धि (निर्वाण की अधिगति) नहीं प्राप्त हो सकती। गोरक्ष सम्प्रदाय के ग्रन्थों

---

१. ज्ञानोदयतन्त्र (पृ. ६ एवं १३) में भी चार संख्या के अतिरिक्त तीन और पाँच संख्या वाले पदार्थ परिगणित हैं। त्रिपुरा सम्प्रदाय के उत्तरषट्क और नित्याषोडशिकार्णव में तीन संख्या, योगिनीहृदय, संकेतपद्धति आदि में चार संख्या तथा महार्थमंजरी जैसे क्रम सम्प्रदाय के ग्रन्थों में पाँच संख्या वाले पदार्थों की प्रधानता है।

२. शाक्त तन्त्र योगिनीहृदय की टीका दीपिका (पृ. ८२, ३७८) में परापंचाशिका के प्रमाण से इदन्ता रूपी शत्रु का अहन्ता में विलय करने वाले, अर्थात् सर्वत्र अद्वय भाव को देखने वाले को 'वीर' कहा गया है।

३. पतिते बोधिचित्तेऽस्मिन् सर्वसिद्धिनिधानके।
उत्थिते स्कन्धविज्ञाने कुतः सिद्धिरनिन्दिता।। (८. ३८-३९)
इस श्लोक में प्रयुक्त बोधिचित्त शब्द का तथा अन्यत्र प्रयोग में लाये गये तत्त्व, तत्त्वचर्या तत्त्वयोग, खधातु, धर्मोदया आदि शब्दों का समय-भाषा के अनुसार अर्थ किया जाता है।

में इसी अभिप्राय का यह वचन मिलता है— "मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्"[१] स्पष्ट है कि इस साधना में चित्त की विशुद्धि परम आवश्यक है।

चित्त की विशुद्धि

कुद्दालपाद[२] ने चित्त को दोष और गुण दोनों का आधार माना है। बौद्ध दर्शन में चित्त को प्रकृतिप्रभास्वर, स्वभावतः निर्मल माना गया है। नाना प्रकार की कल्पनाओं (विकल्पों-वासनाओं) के कारण यह [३]मलिन हो जाता है। उन वासनाओं के अनुरूप ही इसमें गुणों और दोषों का संचार होता रहता है। [४]चित्त से राग-द्वेष आदि की वासनाओं को दूर कर पाना बड़ा कठिन है। इन वासनाओं से घिरे चित्त को संसार का कारण माना जाता है। चित्त पर चढ़े हुए वासनाओं के इस दुरन्त मल को जब तक दूर नहीं किया जाता, तब तक व्यक्ति संसार के बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। चित्त की इस संसारात्मक और निर्वाणात्मक स्थिति का प्र.वि.सि. के दो श्लोकों (४.२२-२३) में बहुत सुन्दर वर्णन मिलता है। नाना प्रकार के संकल्पों के अन्धकार में डूबा, प्रबल झंझावात के समान अतिचंचल यह चित्त जब राग-द्वेष आदि दुरन्त मलों से घिर जाता है, तो भगवान् वज्री ने इसी को **संसार** कहा है। यही चित्त सभी प्रकार की विकल्प-वासनाओं से मुक्त, राग-द्वेष आदि से निर्लिप्त हो जब प्रभास्वर हो जाता है, जब ग्राह्य-ग्राहक आदि की कोई सत्ता नहीं रह जाती, तो उसी स्थिति को **निर्वाण** कहा जाता है।

[५]व्यक्ति का शरीर चित्त की प्रेरणा के बिना कुछ भी करने में असमर्थ है, उसकी प्रेरणा के बिना मुँह से वाणी नहीं निकल सकती। इसीलिये कायिक और वाचिक कर्म मन में जाकर एकाकार हो जाते हैं। यह चित्त ही मनुष्य को शुभ और अशुभ कर्मों में प्रवृत्त करता है। प्राणियों के हित के लिये किये गये सभी कर्म सच्चरित के अन्तर्गत आते हैं, इनको शुभ कर्म कहा जाता है। इसके विपरीत किया गया आचरण अशुभ माना जाता है। इन शुभ और अशुभ कर्मों का प्रेरक चित्त ही है। यही व्यक्ति को नाश की ओर ले जाता है और यही उन्नति की ओर भी। [६]चित्त से जिसकी भावना की जाती है, उसी को निर्मल चित्त मान लेना बड़ी भारी भूल है। अपनी वासनाओं के अनुसार

१. हठयोगप्रदीपिका, स्वात्माराम योगी कृत, ३. ८८.
२. दोषाणां च गुणानां च चित्तमाधार उच्यते। (अ. क्र., श्लो. ३३)
३. कल्पनाजालमात्रेण चित्तरत्नं मलीकृतम्। (अ. क्र., श्लो. १०)
४. रागादिदुर्वारमलावलिप्तं चित्तं हि संसारमुवाच वज्री। (प्र. वि. सि., ४.२२)
५. ज्ञानसिद्धि (९. ६-९) द्रष्टव्य।
६. ज्ञानसिद्धि (१२. १५-१६) द्रष्टव्य।

हम चित्त की सहायता से जिस वस्तु की जैसी भावना करते हैं, वह वैसा ही दिखाई पड़ता है। हमें उस समय यह चिन्ता नहीं रहती कि हम चित्त के स्वरूप पर भी विचार कर सकें कि वह कैसा है?

[१]अ.प्र.वि.सि. में उद्धृत एक वचन में बताया गया है कि काम, क्रोध, भय, उन्माद, स्वप्न आदि से ग्रस्त व्यक्ति, जिनकी कोई सत्ता नहीं है, ऐसी वस्तुओं को भी अपने सामने देखने लगता है। इसी दृष्टान्त से विज्ञानवादी बौद्ध विज्ञान के अतिरिक्त किसी बाह्य वस्तु की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। मलों के दूर हो जाने पर [२]प्रकृति-प्रभास्वर चित्तरत्न ही परिपूर्ण अद्वय विज्ञानाकार हो जाता है। योगिनी [३]चिन्ता का कहना है कि यह सारा त्रैधातुक जगत् चित्तमय है। चित्त के अभाव में बाह्यार्थ की कोई स्थिति नहीं बन सकती, विश्व का कोई स्वरूप नहीं उभर सकता। चित्त में अनादि काल से चले आ रहे वासनाओं के जाल के कारण ही यह संसार हमें दिखाई पड़ता है, किन्तु वासनाओं का क्षय हो जाने पर विशुद्ध विज्ञानाकार में ही सब कुछ विलीन हो जाता है। उस समय चित्त और चैत्त का द्वैत नष्ट हो जाता है। यदि हम इस अद्वय चित्त के स्वरूप को भलीभाँति समझ लें, तो फिर बाह्यार्थ की अलग से कोई सत्ता ही नहीं बचती। इसीलिये यहाँ चित्त को स्थिर करने के लिये, उसकी विशुद्धि के लिये अनेक उपाय बताये गये हैं। उनमें पंचाकाराभिसम्बोधि का एक विशेष स्थान है।

पंचाकाराभिसम्बोधि

चित्त की विशुद्धि के लिये बौद्ध तन्त्रों में जो अनेक उपाय बताये गये हैं, उनमें पंचाकाराभिसम्बोधि का अपना एक विशेष स्थान है। प्रायः सभी बौद्ध तन्त्रों में इसकी चर्चा मिलती है। हम यहाँ गुह्यसिद्धि (४.८-३६), ज्ञानसिद्धि (१.४७-५३) और अचिन्त्या. (श्लो. ७३-७६) की सहायता से इनके स्वरूप पर प्रकाश डालने का प्रयत्न कर रहे हैं। 'धीः' के प्रथम अंक (पृ. ८२) में सेकोद्देशटीका (पृ. ६-७) के आधार पर अभिसम्बोधिचतुष्टय शब्द की दी गई परिभाषा में एकक्षण, पंचाकार, विंशत्याकार और मायाजाल नामक चार अभिसम्बोधियों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। पंचाकाराभिसम्बोधि में पाँच ज्ञानों का ग्रहण किया जाता है। ये पाँच ज्ञान हैं— आदर्श, समता, प्रत्यवेक्षणा, कृत्यानुष्ठान और सुविशुद्धधर्मधातु।

गुह्यसिद्धि के अनुसार इनका विनियोग उत्पत्तिक्रमयोग में किया जाता है। अ. क्र. के अनुसार संस्कार, वेदना, संज्ञा, रूप और विज्ञान नामक पाँच स्कन्धों से निर्मित काय

---

१. कामशोकभयोन्मादचौरस्वप्नाद्युपप्लुताः। अभूतानपि पश्यन्ति पुरतोऽवस्थितानिव।। (पृ. २१८)

२. ज्ञानसिद्धि, पृ. १४०

३. व्यक्तभावानुगततत्त्वसिद्धि, पृ. १७६-१७७

पंचज्ञानात्मक और पंचबुद्धात्मक है। ये पाँच बुद्ध हैं— शाश्वत (वैरोचन), अक्षोभ्य, रत्नसंभव, अमितायु (अमिताभ) और अमोघ(सिद्धि)। इन्हीं से पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश नामक पाँच महाभूतों की उत्पत्ति होती है। आदर्श, समता, [1]कृत्यानुष्ठान, प्रत्यवेक्षा और (सुविशुद्ध)धर्मधातु नामक पाँच ज्ञानों की सहायता से व्यक्ति विकल्पों की कल्पनारूपता को समझ पाता है और निश्चय करता है कि पाँच स्कन्धों से निष्पन्न कायों में एक ही अद्वय पंचबुद्धात्मक काय स्थित है। यह पंचबुद्धात्मक काय भी अद्वय महासुख से अभिन्न है। पंचमहाभूत भी अन्ततः अद्वयबोधि में एकरस हो जाते हैं और सारे विकल्पात्मक कल्पना-जालों के ऊपर एक स्वयंभू अद्वयतत्त्व रह जाता है। उत्पत्तिक्रम की इतिकर्तव्यता यहाँ पूरी हो जाती है।

गुह्यसिद्धि आदि में इन पंचविध ज्ञानों का जो स्वरूप बताया गया है, उसे यहाँ संक्षेप में सर्वसंमत क्रम से प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. आदर्श ज्ञान

सुविशुद्ध स्वभाववाली महामुद्रा की छाया (प्रतिकृति) के रूप में, इन्द्रजाल के द्वारा बनाई गई वस्तु की तरह मनोमय मुद्रा का दिव्य रूप आविर्भूत होता है। अनन्त गुणों से संवलित मुद्रा के इस [2]छायामय स्वरूप को देवगण भी समझ नहीं पाते। योगी आदर्श ज्ञान के सहारे इस मुद्रा के स्वरूप को समझ पाता है। इन्द्रभूति (१.४८) का कहना है कि यह आदर्श ज्ञान ही समन्तभद्रा महामुद्रा और धर्मकाय के नाम से भी जाना जाता है। जैसे मनुष्य अपना प्रतिबिम्ब दर्पण (आदर्श) में देख सकता है, उसी तरह से योगी आदर्श ज्ञान की सहायता से अपने धर्मकायात्मक स्वरूप को देखने में समर्थ हो जाता है।

२. समता ज्ञान

जब योगी को आदर्श ज्ञान की सहायता से धर्मकाय का साक्षात्कार हो जाता है, तो उसमें समता दृष्टि का उन्मेष होता है। उस समय वह सभी तथागतों के तथा अपने

---

१. यह क्रम अ. क्र. (श्लो. ७६) में दिया गया है। इस क्रम को अन्यत्र मान्यता नहीं मिली। अतः लगता है कि छन्द के अनुरोध से यहाँ क्रम बदला गया है।

२. गुह्यसिद्धि, ४-१६-१७; प्र. वि. सि. का यह श्लोक भी देखिये—

प्रतिदिनमद्वयमसमं योऽनिशमनुसेवते त्रितत्त्वाग्रचम्।
वज्रोपमममलमसौ कायं छायोपमं लभते।। (५.४४)

इन्द्रायुध-तुल्य इस वज्रकाय का स्वरूप अ. प्र. वि. सि. (पृ. २१३) में भी वर्णित है।

और अन्य प्राणियों के शरीर एवं चित्त में कोई अन्तर नहीं देखता, सबमें एकाकार संबोधि का, [1]निःस्वभावता का ही दर्शन करता है।

३. प्रत्यवेक्षा ज्ञान

विविध देवताओं की आराधना के लिये शास्त्रों में विभिन्न मण्डलों के निर्माण की विधि बताई गई है। इनमें मुख्य देवता के अतिरिक्त प्रभामण्डल में स्थित अन्य देवताओं की भी उपासना की जाती है। वस्तुतः इनमें कोई भेद नहीं है। इन सबका स्वरूप आदिशुद्ध, अनुत्पन्न और स्वभाव से ही प्रभास्वर माना गया है। इस तरह से सभी उपास्य देवताओं में एक ही प्रभास्वर परमतत्त्व के दर्शन करने को प्रत्यवेक्षा ज्ञान कहा जाता है। सर्वत्र नैरात्म्ययोग की सहायता से निःस्वभावता का दर्शन करना, सर्वत्र तथागत के स्वरूप की ही व्याप्ति को देखना प्रत्यवेक्षा है। दिव्य खधातु भुवन में सभी बुद्ध और बोधिसत्त्व निवास करते हैं। वर्तमान समय में जितने तथागत हैं, जो हो चुके हैं अथवा होंगे, वे सब यहीं रहते हैं। इस खधातु भुवन में इनकी स्थिति तिल की छीमी के समान है। तिल की छीमी चारों तरफ से एकाकार दिखाई पड़ती है। उसी तरह से ये सब बुद्ध, बोधिसत्त्व, तथागत आदि इस शून्यगगन में सब तरफ से एकाकार हैं। इस शुद्ध, निर्मल, सभी तथागतों के निवास-स्थान रूपी मण्डल में निःस्वभावता रूपी प्रभास्वर पद का निरीक्षण करना ही प्रत्यवेक्षा ज्ञान है।

४. कृत्यानुष्ठान ज्ञान

सभी जगह, सदा जो कुछ मैं करता हूँ, यह सारी प्रवृत्ति मेरी बुद्धत्व की प्राप्ति के लिये ही है, सभी बुद्धों ने ऐसा ही किया है, मन की इस भावना को कृत्यानुष्ठान ज्ञान कहा जाता है। यहाँ प्रयत्नपूर्वक सर्वत्र तथागत-स्वभाव का ही दर्शन करते हुए मंडल आदि में पाँच कुलों के शाश्वत (वैरोचन) अक्षोभ्य, रत्न(संभव), आयु (अमिताभ), कुलाद्य (अमोघसिद्धि) आदि की और चक्रवर्ती राजा, विद्यापुरुष आदि की भी परमानन्द से परिपूर्ण, दिव्य अलंकार आदि से अलंकृत महामुद्राओं के साथ भावना की जाती है।

५. सुविशुद्ध-धर्मधातु ज्ञान

समस्त क्लेशावरणों और ज्ञेयावरणों से ढके हुए सभी प्राणी मुक्त हो जाँय, जब वज्रयान के उपासक श्रेष्ठ योगी के मन में ऐसी भावना उत्पन्न होती है, तो उस स्थिति

---

१. गुह्यसिद्धि में समता ज्ञान का लक्षण इस तरह बताया गया है—
यस्मिन्निरूप्यते ज्ञाने तद्रूपं मुक्तियोगतः।
निःस्वभावस्वरूपेण समताज्ञानं तदुच्यते।। (४.१८)

को सुविशुद्ध ज्ञान कहा जाता है। सभी प्रपंचों से ऊपर स्थित परमतत्त्व का जो परम कल्याणमय स्वरूप है, वही सुविशुद्ध-धर्मधातुस्वभाव ज्ञान कहलाता है। यह सुविशुद्ध-धर्मधातुस्वरूप परमतत्त्व साधकों के अनुग्रह के लिये पाँच कुलों में विभक्त शाश्वत, अक्षोभ्य आदि देवताओं के ३२ लक्षणों और ८० अनुव्यंजनों से युक्त स्वरूप को ग्रहण करता है।

गुह्यसिद्धि में इस प्रकरण के अन्त में बताया गया है कि इन पाँचों देवताओं के सुविशुद्ध स्वरूप को जानना ही पंचाकाराभिसम्बोधि है। इन्हींकी उपासना से साधक अपने सुविशुद्ध-स्वरूप को पुनः प्राप्त कर लेता है। इसी स्थिति को सुविशुद्ध-धर्मधातु ज्ञान कहा गया है। इसकी प्राप्ति के लिये साधक को चतुर्विध भावनाओं का सहारा लेना पड़ता है।

शैव-शाक्त तन्त्रों में पंचाकाराभिसंबोधि अथवा पंचविध ज्ञान का कहीं उल्लेख नहीं मिलता, अतः बौद्ध तन्त्रों की यह अपनी विशेषता लगती है। समता की चर्चा अवश्य की गई है। [1]तन्त्रालोक, उसकी टीका विवेक तथा महार्थमंजरी की परिमल व्याख्या में अष्टविध समता वर्णित है। शक्तिसंगमतन्त्र (२.१८.२१) में भी इसकी सूचना मिलती है। इस विषय की चर्चा पहले (पृ. ५८) हो चुकी है।

चतुर्ब्रह्मविहार भावना

मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा नामक चार ब्रह्मविहारों का बौद्ध तन्त्र-साहित्य में अपना स्थान है। इनका उल्लेख [2]पालि वाङ्मय में तो मिलता ही है, [3]पातंजल योगसूत्र और जैन-ग्रन्थ [4]तत्त्वार्थसूत्र में भी इनको विशिष्ट स्थान प्राप्त है। बौद्ध तन्त्रकोश के प्रथम भाग में पृथक्-पृथक् तथा चतुर्ब्रह्मविहार और चतुर्ब्रह्मविहारभावना के अन्तर्गत इस विषय की पर्याप्त सामग्री इकट्ठी की गई है। सात प्रकार की अथवा

---

१. तन्त्रालोक की विवेकटीका (४.२७४) तथा महार्थमंजरी की परिमलटीका (पृ. १६८) देखिये। इस विषय की अन्य सूचनाएँ लुप्तागमसंगह के द्वितीय भाग के उपोद्घात (पृ. २११) में दी गई हैं।

२. "सोमेत्तासहगतेन चेतसा एकं दिसं फरीत्वा वहरति। पुन च परं विसेट्ठ भिक्षु करुणासहगतेन चेतसा....मुदितासहगतेन चेतसा....उपेक्खासहगतेन चेतसा एकं दिसं फरीत्वा विहरति" (सुत्तपिटक, दीघनिकाय, पृ. २१०-२११; नवनालन्दा महाविहार, सन् १९५६), "मेत्तं उपेक्खं करुणं विमुत्तिम् आसेवमानो मुदितां च काले। सत्त्वेन लोकेन अविरुज्जमानो एको चरे खग्गविषाणकप्पो।।" (सुत्तनिपात-अट्ठकथा, प्रभम भाग, ३. ७३, पृ. १५६, नवनालन्दा महाविहार, सन् १९७४)।

३. "मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्" (१.३३)।

४. "मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनयेषु" (७.११)।

एकादशविध अनुत्तर पूजा का उल्लेख साधनमाला में मिलता है। सात प्रकार की अनुत्तर पूजा के साथ वहाँ ब्रह्मविहारों की भावना अनेक स्थानों पर वर्णित है। "तान्त्रिकी वरिवस्या" (पृ. ८८५-८८६) शीर्षक के अन्तर्गत हम इनके स्वरूप पर विचार करेंगे।

पतंजलि का कहना है कि सुख-सुविधा से सम्पन्न सभी प्राणियों के प्रति मैत्री, दु:खी जीवों के प्रति करुणा, पुण्य करने वाले को देखकर प्रसन्नता तथा अपुण्यशील पुरुषों के प्रति उपेक्षा की दृष्टि रखने से व्यक्ति का चित्त प्रसाद गुण से सम्पन्न हो जाता है। तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वामी अहिंसा आदि दोषों की निवृत्ति के लिये सभी प्राणियों के प्रति मैत्री, अपने से बढ़कर गुणसम्पन्न व्यक्ति को देखकर प्रमोद (मुदिता), दु:खी प्राणियों के प्रति कारुण्य (करुणा) और अविनीत जनों के प्रति माध्यस्थ्य (उपेक्षा) भाव रखने को कहते हैं। योगसूत्र और उसके [1]भाष्य से हमें एक विशेष सूचना मिलती है कि मैत्री, करुणा और मुदिता में ही समाधि-भावना की जा सकती है, उपेक्षा में नहीं। पापशीलों के प्रति उपेक्षा-भाव ही रखा जा सकता है, किन्तु इसमें समाधि की भावना कल्याणकारक नहीं हो सकती। स्पष्ट है कि इनके मत में उपेक्षा-भाव लौकिक व्यवहार तक ही सीमित है। महामुनि पतंजलि ने इनको सार्वभौम महाव्रत बताया है (यो. सू., १.३४)।

भावना-चतुष्टय

चार भावनाओं का निरूपण गुह्यसिद्धि के चतुर्थ परिच्छेद में किया गया है। आदिकर्मिक सत्त्वों, वज्रयान की उपासना में प्रवेश चाहने वाले प्राणियों को पहले उत्पत्तिक्रम के अनुसार चार प्रकार की भावनाओं का अभ्यास करना चाहिये। पहली भावना में अपने में अक्षरतत्त्व (देवत्व) का न्यास किया जाता है। दूसरी भावना में साधक अपने को सिद्धाचार्यों की कोटि में रखने का प्रयत्न करता है, उनकी चर्या का अनुसरण करता है। तीसरी में दिव्य ज्ञानमुद्रा की तथा चौथी में महामुद्रा की भावना की जाती है। अक्षरन्यास-योग की सहायता से आदिकर्मिक सत्त्व अपने में जो अक्षरतत्त्व की भावना करता है, यह उसका वज्रयान की साधना में रखा गया पहला कदम माना जाता है। उत्पत्तिक्रम के अनुसार इसके पाँच अंग हैं, जिनका ऊपर (पृ. ७५८-७६१) पंचाकाराभिसंबोधि के नाम से विवरण दिया जा चुका है। आदिकर्मिक सत्त्वों के लिये

---

१. "मैत्र्यादिषु बलानि" (३.२३) इस सूत्र का भाष्य इस प्रकार है— "मैत्री करुणा मुदितेति तिस्रो भावना:। तत्र भूतेषु सुखितेषु मैत्रीं भावयित्वा मैत्रीबलं लभते। दु:खितेषु करुणां भावयित्वा करुणाबलं लभते। पुण्यशीलेषु मुदितां भावयित्वा मुदिताबलं लभते।....पापशीलेषूपेक्षा, न तु भावना। ततश्च तस्यां नास्ति समाधिरित्यतो न बलमुपेक्षात:, तत्र संयमाभावात्"।

इस भावना का उपदेश किया गया है। इसे बाह्य भावना अथवा सत्त्वक्रम-विभावना भी कहते हैं। इसमें अक्षरन्यास-योग का सहारा लिया जाता है, अर्थात् अपने में देवत्व[1] बुद्धि का आरोप किया जाता है।

[2]इसके बाद साधक सिद्धाचार्यों की कोटि में प्रविष्ट हो कर्ममुद्रा की भावना करता है। इसमें स्वाधिष्ठान क्रम का अनुसरण किया जाता है। इसकी विधि समाजतन्त्र में बताई गई है, जो वज्रधरों के लिये भी अत्यन्त गोपनीय है। इसको स्वरूप-भावना कहा जाता है। अध्यात्म पद की भावना तीसरी कोटि में आती है। इसमें सारी श्रेष्ठताओं से परिपूर्ण ज्ञानमुद्रा की भावना की जाती है। समाजोत्तरतन्त्र में चौथी भावना को अभिसंबोधि (बुद्धत्व) की प्राप्ति का कारण बताया गया है। इसमें महामुद्रा की भावना की जाती है। महामुद्रा की भावना की विधि गुरु के मुँह से ही प्राप्त हो सकती है।

तन्त्रक्रम में उपदिष्ट इन भावनाओं की सहायता से बुद्धत्व (बोधिचित्त) की अधिगति हो जाने पर बाद में इनकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। उस अवस्था में साधक सारी भावनाओं का परित्याग कर महामुद्रा में अपने चित्त को विलीन कर देता है। इसीको चित्त की विशुद्धि अथवा बोधिचित्तोत्पाद कहा जाता है। उस समय चित्त की सारी आगन्तुक मलिनताएँ शान्त हो जाती हैं और उसकी निःस्वभावता प्रकट हो उठती है। इस निःस्वभावता में प्रज्ञा और उपाय समरस रूप में एकाकार हो जाते हैं। साधक को महामुद्रा का साक्षात्कार उसी अवस्था में होता है।

भावना की विधि

गुह्यसिद्धि (१.३२) में चर्या और भावना को अलग-अलग बताया गया है और कहा गया है कि जिसका चित्त विशुद्ध हो गया है और जो राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि के द्वन्द्वों से विमुक्त हो गया है, ऐसा व्यक्ति घर में रहकर भी इनका आचरण कर सकता है। आदिकर्मिक सत्त्व के चित्त को विशुद्ध करने के लिये, बोधिचित्त की प्राप्ति के लिये कर्ममुद्रा की सहायता लेनी पड़ती है, लेकिन जिसको तत्त्व का साक्षात्कार हो गया है,

---

१. "देवो भूत्वा यजेद् देवम्" अथवा "शिवो भूत्वा शिवं यजेत्" जैसे वचन इसी स्थिति की सूचना देते हैं। शतपथब्राह्मण के दर्शपूर्णमास प्रकरण में दीक्षित यजमान यज्ञ के प्रारम्भ में "इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि" (१.१.१.४) तथा अन्त में "य एवास्मि सोऽस्मि" (१.९.३.२३) कहता है। यहाँ अनृत शब्द मनुष्यभाव का तथा सत्य शब्द देवभाव का पर्याय है। तदनुसार इन दो वाक्यों का अभिप्राय यह है कि कर्म के प्रारम्भ में साधक मनुष्यभाव को छोड़कर देवभाव को प्राप्त करता है और कर्म की समाप्ति के बाद वह पुनः मनुष्यभाव में आ जाता है।

२. गुह्यसिद्धि, ३.२२-३४ द्रष्टव्य।

उसके लिये कर्ममुद्रा की आवश्यकता नहीं रहती। वह बिना मुद्रा के भी दिव्य निर्वाण पद को प्राप्त कर लेता है। ऐसा तत्त्वयोगी विकल्पों से भरी हुई कर्ममुद्रा और ज्ञानमुद्रा को छोड़कर केवल महामुद्रा की भावना करता है। इस भावना का अभ्यास करने वाले योगी को व्यर्थ के वितण्डावाद में नहीं पड़ना चाहिये। उसे भावना का अभ्यास इस प्रकार से करना चाहिये कि किसी प्रकार के कष्ट की अनुभूति न हो, अर्थात् बिना जोर-जबर्दस्ती के सहजभाव से जब तक मन स्थिर रहे, तभी तक उसे भावना का अभ्यास करना चाहिये। मन के चंचल हो जाने पर योगी को भावना करना छोड़ देना चाहिये। योगी यदि तत्त्वज्ञान से सम्पन्न है, तो उसे भावना के माध्यम से शीघ्र ही अभीष्ट सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

प्र.वि.सि. (४.५-८) में कहा गया है कि योगी को न तो शून्य की भावना करनी चाहिये और न अशून्य की ही, साथ ही उसे शून्य अथवा अशून्य को छोड़ना भी नहीं चाहिये। अशून्य और शून्य इन दोनों की भावना करने पर अनेक प्रकार की मिथ्या कल्पनाएँ आ घेरती हैं और यदि इनका परित्याग किया जाय, तो उसके लिये एक दृढ़ संकल्प की आवश्यकता होगी कि मैं ऐसा करूँगा। इस संकल्प में एक अभिमान की झलक दिखलाई पड़ेगी। अत: योगी को ग्रहण और परित्याग इन दोनों ही स्थितियों के जंजाल से दूर रहना चाहिये। उसे निर्विकार भाव से, किसी भी प्रकार की आसक्ति और आकांक्षा से मुक्त होकर विशुद्ध चित्त से, आदि और अन्त आदि की कल्पनाओं से ऊपर उठकर आकाशोपम परम तत्त्व की भावना करनी चाहिये।

इस [1]परम तत्त्व की भावना में न तो कोई भावना करने वाला है, न कोई भावना का स्वरूप है और न भावनीय पदार्थ की ही कोई सत्ता है। यहाँ न कोई कर्ता है और न भोक्ता; न कोई ग्राहक (लेने वाला) है और न समर्पक (देने वाला); यहाँ न कुछ छोड़ने लायक है और न ही कुछ ग्रहण करने लायक। सब कुछ करते हुए भी तत्त्वयोगी की यह योग-भावना निरन्तर चलती रहती है। इसी स्थिति को अद्वयतत्त्व, बोधिचित्त, वज्र, वज्रसत्त्व, संबुद्ध, बोधि, प्रज्ञापारमिता, समता आदि नामों से जाना जाता है। अत: योगी को भाव[2] और अभाव इन दोनों स्थितियों से ऊपर उठकर परम तत्त्व की भावना करनी चाहिये। ऐसा करने से उसके सारे दोषों और क्लेशों का नाश हो जाता है, उसमें अनन्त सौगत गुणों का आविर्भाव हो जाता है।

---

१. प्र. वि. सि. ४.१२-२१ द्रष्टव्य।

२. कुद्दालपाद भी कहते हैं— "अभावे भावना नैव भावे च न च भावना" (अ. क्र., १५)।

गुह्यसिद्धि (५.४९-५१), ज्ञानसिद्धि (१.५,४.२६-२७) और अद्वयसिद्धि (श्लो. ३) में बताया गया है कि जिस योगी ने तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है, उसे मण्डलरचना, मुद्राबन्ध, मन्त्रजप आदि की कोई आवश्यकता नहीं रहती। ये सब भावना के लिये विघ्नस्वरूप हैं। तत्त्वयोगी को सभी बाह्य आडम्बरों से मुक्त होकर केवल आध्यात्मिक उपासना में तल्लीन रहना चाहिये। जिस योगी को बोधिचित्त की उपलब्धि हो गई है, उस उत्साह-सम्पन्न, बल-वीर्यशाली योगी के लिये भावना, चिन्तन, मनन, शास्त्रश्रवण आदि की कोई उपयोगिता नहीं है। जिस योगी को तत्त्व का साक्षात्कार नहीं हुआ है, उसे मुद्रा, मण्डल, मन्त्रजप, भावना, नियम, व्रत, उपवास, अक्षरोच्चार आदि से कोई लाभ मिलने वाला नहीं है। वह करोड़ों कल्पों में भी सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता। अत: तत्त्वयोगी को पहले नियमों का पालन करते हुए भावना-योग के सहारे बुद्धत्व की प्राप्ति के लिये, बोधिचित्त की अधिगति के लिये प्रयत्न करना चाहिये। इस स्थिति को प्राप्त कर लेने के उपरान्त फिर उसके लिये मण्डल, मुद्रा आदि की तो कोई उपयोगिता नहीं ही रह जाती, भावना-योग की भी आवश्यकता उसके लिये समाप्त हो जाती है। सहज, स्वाभाविक रूप से प्रभास्वर चित्त के सहारे वह निर्वाण-पदवी में प्रविष्ट हो जाता है। तत्त्वयोगी की इस सहज, स्वच्छन्द चर्या का व्यक्तभावा. के अन्तिम श्लोकों में बड़ा हृदयहारी वर्णन किया गया है।

बोधिचित्त

ऐसा बुद्धिमान् तत्त्वयोगी बोधिचित्त की प्राप्ति के लिये निर्विकल्प, सभी प्रकार के विकल्पों, सन्देहों, शंकाओं से मुक्त होकर, सभी प्रकार की आसक्तियों को छोड़कर, बोधि में चित्त को स्थिर करके जब तत्त्वचर्या आरंभ करता है, तब उसे अवश्य ही निर्वाण की प्राप्ति होती है। यहाँ इतना स्मरण रखना चाहिये कि चित्त में समता-भावना के आने पर और दृढ़ संकल्प-शक्ति के साथ आगे बढ़ने पर ही बोधिचित्त के उत्पाद की प्रक्रिया आरंभ होती है, अन्यथा उसका करोड़ों कल्पों का प्रयास व्यर्थ जाता है। अत: तत्त्वयोगी को बोधिचित्त की अधिगति के लिये संबोधि में चित्त को स्थिर करके दृढ़ संकल्प के साथ ज्ञानसागर में डुबकी लगानी चाहिये। मलिन रत्न को शाण पर चढ़ाने से जैसे उसमें अनोखी चमक आ जाती है, उसी तरह मलिन चित्त-रत्न को भी भावना की शाण पर चढ़ाकर उसके मल को दूर कर देने पर अद्वय ज्ञान की, बोधि की प्रतिष्ठा होती है।

ज्ञानसिद्धिकार ने बोधिचित्त का लक्षण बताते हुए समाजोत्तरतन्त्र (पृ. १५३) के एक श्लोक को उद्धृत कर उसकी व्याख्या की है (पृ. १३४-१३५)। यह श्लोक इस प्रकार है—

अनादिनिधनं शान्तं भावाभावक्षयं विभुम्।
शून्यताकरुणाभिन्नं बोधिचित्तमिति स्मृतम्।।

यह बोधिचित्त उत्पाद और विनाश से रहित है। इससे बोधिचित्त की व्यापकता, अविकारिता और सार्वकालिकता सिद्ध होती है। जो वस्तु किसी देश में स्थित है, जिसका कोई स्वरूप है, जो विकारी है और किसी काल में जिसकी स्थिति है, ऐसी वस्तु का विनाश अवश्य होता है। अरूपी वस्तु भी यदि किसी देश में स्थित है, तो वह विनाशी मानी जायगी। जैसे कस्तूरी की गन्ध का कोई रूप नहीं है, किन्तु कस्तूरी की स्थिति किसी न किसी देश में ही रहती है। कस्तूरी का अथवा उससे सुवासित द्रव्य का अभाव हो जाने पर उसकी गन्ध की भी कोई स्थिति नहीं रह जाती। इन लक्षणों से अतीत होने के कारण बोधिचित्त उत्पाद और विनाश से अस्पृष्ट है। क्लेश आदि चित्त के आगन्तुक मल माने जाते हैं। इनसे रहित चित्त स्वभावत: शान्त, प्रभास्वर माना जाता है। इसीलिये यह भाव और अभाव इन दोनों स्थितियों से अतीत है। सभी लौकिक और लोकोत्तर प्रयोजनों का संपादक होने से यह सबका स्वामी है। यह शून्यता और करुणा से अभिन्न है। सभी धर्म नि:स्वभाव हैं, सभी तथागतों द्वारा उपदिष्ट इस नि:स्वभावता को ही शून्यता कहा जाता है। सभी प्राणियों को मैं इसी ज्ञानराज्य में प्रतिष्ठापित कर दूँ और उनको सभी प्रकार के सुखों से परिपूर्ण कर दूँ, इस तरह की चित्तवृत्ति को करुणा कहा जाता है। बोधिचित्त में शून्यता और करुणा दोनों एकाकार हो जाते हैं।

इस प्रकार गुह्यसमाज के वचन की व्याख्या करने के उपरान्त इन्द्रभूति (पृ. १३५) आदिकर्मिक सत्त्वों के बोधिचित्त की विलक्षणता को बताते हुए कहते हैं कि उनमें अद्वयभाव की प्रतिष्ठा नहीं हो पाती। उनका केवल इतना ही संकल्प रहता है कि मैं सभी प्राणियों को अनुत्तर सम्यक्संबोधि में प्रतिष्ठित कर दूँ। इसका अभिप्राय यह है कि उनमें करुणा का तो आविर्भाव होता है, किन्तु वे अद्वयशून्यता का साक्षात्कार नहीं कर पाते।

बोधिचित्त का स्वरूप अन्य सिद्धियों में भी वर्णित है। गुह्यसिद्धि (२.२६) में कहा गया है कि यह शुद्ध और अनभिलाप्य तत्त्व है, इसके स्वरूप का शब्दों से वर्णन नहीं किया जा सकता। [1]यह परम शुद्ध, नि:स्वभाव बोधिचित्त ही निरुत्तर तत्त्व है। प्र.वि.सि. (२.२९-३३) में बताया गया है कि सभी धर्मों को अपने में समेटे हुए दिव्य बोधिचित्त

१. नि:स्वभावं परं शुद्धं बोधिचित्तमनुत्तरम्। (गु. सि. ३. ९)
नि:स्वभावात्मकं शुद्धं बोधिचित्तमिति स्मृतम्। (गु. सि. ९. १०)

नित्य प्रभास्वर तथा शुद्धस्वभाव है। यह जिन (बुद्ध) का निवास स्थान है। यह सारा त्रैधातुक जगत् इसमें स्थित है और यही सारे जगत् का कारण है। सूर्य की किरणों के सम्पर्क से जैसे सूर्यकान्त रत्न में दाहकता उत्पन्न हो जाती है, उसी तरह से तत्त्वयोगी आचार्य के सम्पर्क से शिष्य का चित्तरूपी रत्न बोधि-दशा को प्राप्त कर लेता है। ज्ञानसिद्धिकार (१३.१०) कहते हैं कि जिस योगी को बोधिचित्त की प्राप्ति हो जाती है, वह सदा प्रसन्नचित रहता है। उसमें सभी अच्छे गुणों का आविर्भाव हो जाता है। बुद्धि निर्मल हो जाती है। उसको कभी क्रोध नहीं आता। वह सदा उत्साह-सम्पन्न रहता है और धर्म-मार्ग पर चलने का दृढ़ निश्चय कर लेता है।

ज्ञानसिद्धिकार (पृ. १४१) गुह्येन्दुमणितिलक-तन्त्रराज के प्रमाण से बताते हैं कि इस जगत् में बोधिचित्त की प्राप्ति से बढ़कर और कोई सुख नहीं है। बोधिचित्त ही सभी सुखों का आगार है। अन्य सभी सुख वहीं से स्फुरित होते हैं। बोधिचित्त के उत्पाद की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए [1]इन्द्रभूति कहते हैं कि इस बोधिचित्त के उत्पाद के साथ ही सभी पुण्यों का उदय हो जाता है। इसके लिये साधक छोटे-बड़े सभी प्राणियों के लिये यह भावना रखता है कि मैं इन सभी को सर्वज्ञ की भूमि में प्रतिष्ठित कर दूँ, मैं करुणा का सहारा लेकर सभी प्राणियों के दुःख को दूर कर दूँ, इनको सारी सम्पन्नताओं से भर दूँ, इनको बोधिमार्ग का उपदेश करूँ। इस तरह की सम्यक् भावना से ओतप्रोत, सभी प्राणियों के प्रति समान दृष्टि वाले व्यक्ति में बोधिचित्त का उत्पाद होता है। यदि व्यक्ति की दृष्टि में विषमता बची हुई है, उसका राग-द्वेष नष्ट नहीं हुआ है, तो वह बोधिचित्त की प्राप्ति का अधिकारी नहीं बन सकता। इसके लिये योगी को चित्तरत्न के शोधन के उपायों का सहारा लेकर, सभी सत्त्वों के प्रति बन्धुत्व की दृढ़ भावना को जगाते हुए, अपने चित्त को सभी प्रकार के विकल्पों और आशंकाओं, राग-द्वेष आदि मलों से मुक्त कर स्वच्छ-सन्तुष्ट बनाने का सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये।

व्यक्तभावा. (पृ. १७६-१७७) में बताया गया है कि योगी को जब स्वभावशुद्ध बोधिचित्त की प्राप्ति हो जाती है, तो उसकी सहज रूप से चल रही सारी शारीरिक क्रियाएँ [2]मुद्रा का और सारी उक्तियाँ मन्त्र का रूप धारण कर लेती हैं। सहज रूप से प्रवाहित हो रही चित्त की रस, भाव, विभाव आदि सारी दशाएँ शुद्धस्वभाव ज्ञान का आकार ग्रहण कर लेती हैं। यह सारा त्रैधातुक जगत् इस शुद्धस्वभाव बोधिचित्त में ही

१. ज्ञानसिद्धि, ८.२२-२८ देखिये।

२. तुलना कीजिये— "जपो जल्पः शिल्पं सकलमपि मुद्राविरचना" (सौन्दर्यलहरी, श्लो. २७)।

समाहित हो जाता है। सहजसिद्धिकार (१.५) का कहना है कि यह [1]सहज रूप से प्रवाहित हो रहा शुद्धस्वभाव बोधिचित्त ही देवता है।

हम पहले बता चुके हैं कि वज्रयान में यह स्पष्ट निर्दिष्ट है कि व्यक्ति को पाषाण, पट आदि में इष्टदेवता की उपासना करने की अपेक्षा अपने शरीर में ही देवत्व-बुद्धि को जगाना चाहिये। योगी की साधना और मन्त्र के सामर्थ्य से जब जड़ पाषाण, पट आदि में देवता आविर्भूत हो सकते हैं, तो इस चेतन शरीर में ऐसा क्यों नहीं हो सकता? इस शरीर में देवत्व तभी जाग्रत् हो सकता है, जब साधक पूरी तत्परता से तत्त्व के साक्षात्कार का प्रयत्न करता है।

परमतत्त्व का साक्षात्कार

गुह्यसिद्धि और ज्ञानसिद्धि में आदर्श आदि पाँच ज्ञानों का स्वरूप बताने से पहले इनकी सहायता से प्राप्त होने वाले वज्रज्ञानात्मक परमतत्त्व का परिचय देते हुए कहा गया है कि [2]सर्वज्ञ, वरद, अद्वयवादी का कोई वर्ण अथवा आकार नहीं होता, वह जन्म और मृत्यु के प्रपंच से ऊपर है। पवन उसको हिला नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकता, जल उसको बहा नहीं सकता, तीक्ष्ण शस्त्र प्रयत्न करने पर भी उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकते। आकाश के समान इसका कोई एक ठौर नहीं है, यह सर्वत्र व्याप्त है और इसका कोई लक्षण नहीं बन सकता।

[3]यह दिव्य तत्त्व सभी प्रकार की कामनाओं से वर्जित है, परम शुद्ध है। आदि, मध्य और अन्त से रहित है। अतः यह सदा सुविशुद्ध स्वभाव का है। इसी परमतत्त्व में सभी जागतिक पदार्थों के स्वभाव पृथक् पृथक् रूप में विद्यमान हैं, किन्तु उनको नैरात्म्य योग की सहायता से ही जाना जा सकता है। सभी प्रपंचों से ऊपर परमतत्त्व का जो परम कल्याणमय स्वरूप है, वही सुविशुद्ध-धर्मधातुस्वभाव ज्ञान कहलाता है। सभी क्लेशों से मुक्त इस दिव्य पद में रहते हुए भी सत्त्वों के कल्याण के लिये यह सर्वज्ञ तत्त्व दिव्य उपाय और प्रज्ञा के सहारे [4]बिजली के कौंध जाने के समान जिस स्वरूप को ग्रहण करता है, वह बत्तीस लक्षणों और अस्सी अनुव्यंजनों से तथा सभी

---

१. सहजसिद्धि में सहज का लक्षण इस प्रकार बताया गया है—

सहजं वज्रस्वरूपं तु नित्यसंसिद्धिरुच्यते।
सहजसिद्धिर्भवेत् तस्मादवाच्यः सहजः स्मृतः।। (१. २)

२. ज्ञानसिद्धि (१. ४५-४७) द्रष्टव्य।

३. गुह्यसिद्धि (४. १०-१५, ३५) देखिये।

४. शैव-शाक्त तन्त्रों में इस तरह के प्रसंगों में "सकृद् विभातोऽयमात्मा" यह श्रुति उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की जाती है।

प्रकार के दिव्य वस्त्र और आभूषणों से मण्डित है। सामान्य जन इस परम कल्याणकारी, स्वच्छ, निर्मल, शुद्ध स्वरूप को देख नहीं पाते। इस स्वरूप को महामुद्रासिद्ध योगी ही देख पाता है।

सुख शब्द के विवरण में भी इस परमतत्त्व का लक्षण बताया गया है। हेवज्रतन्त्र के प्रमाण से यहाँ आत्मतत्त्व, मन्त्रतत्त्व, देवतातत्त्व और ज्ञानतत्त्व नामक चार तत्त्वों का उल्लेख किया गया है। टीकाकार ने इन सब शब्दों की व्याख्या भी की है।

गुह्यसिद्धिकार (१.१८-१९) ने कहा है कि यहाँ वर्णित गुह्यचर्या का अनुष्ठान साधक को उत्पन्नक्रम योग की सहायता से तत्त्व का साक्षात्कार हो जाने के उपरान्त ही करना चाहिये। जिसको तत्त्व का साक्षात्कार नहीं हुआ है, उसे इस मार्ग का अनुसरण नहीं करना चाहिये। तत्त्व का स्वरूप बताते हुए वे (१.२० -२७) कहते हैं कि तत्त्व सभी प्रकार की कल्पनाओं से अतीत है। वह सभी उपाधियों से रहित है। उसका कोई निमित्त (कारण) नहीं है। वह निराभास, निर्द्वन्द्व एवं परम कल्याण स्वरूप है। युक्ति, शास्त्र, आगम, नाना प्रकार के कर्मकाण्ड— ये सब उत्पत्तिक्रम के अन्तर्गत हैं। तेल की बूँद जैसे पानी पर पड़कर चारों तरफ फैल जाती है, वैसे ही युक्ति आदि के सहारे तत्त्व के स्वरूप का विचार करने पर विकल्पजाल का ही विस्तार होता है। उत्पत्तिक्रम की सहायता से तत्त्व का स्वरूप समझा नहीं जा सकता, अतः साधक को पहले तत्त्व के स्वरूप का साक्षात्कार करने के लिये उत्पन्नक्रम-योग की सहायता लेनी चाहिये। तत्त्व का, परमार्थ सत्य का साक्षात्कार हो जाने पर योगी को पुनः संवृति सत्य में प्रवेश कर चर्याव्रत को ग्रहण करना चाहिये, विद्याव्रत का अनुष्ठान करना चाहिये। तत्त्व के स्वरूप को जाने बिना किया गया चर्याव्रत, विद्याव्रत आदि का अनुष्ठान व्यर्थ जाता है और तत्त्वज्ञानी के लिये व्रत आदि के अनुष्ठान की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। चर्या और विद्याव्रत शब्दों का परिचय गुह्यसिद्धि से प्राप्त किया जा सकता है।

वे आगे (१.२८-३०, ३६-३७, ४४) कहते हैं कि इस परमार्थ सत्य का उपदेश समाजतन्त्र में स्पष्ट रूप से किया गया है। एक ही परम शुद्ध तत्त्व क्रिया, चर्या आदि तन्त्रों तथा सूत्रपिटक आदि में नाना सूत्रों में वर्णित है। बुद्धनाथ का यह सारा उपदेश सत्त्व के आशय (चित्त की स्थिति) के अनुरूप किया गया है। यहाँ तत्त्व के नाम से कहा गया वह दिव्य पद बहुत कठिनाई से मिल पाता है। जो साधक गुरु में और वज्रधर में भेद नहीं मानता, वही इसका साक्षात्कार कर सकता है। भूतवादी ने इसको परम निर्वाण की स्थिति कहा है। पुस्तकों को पढ़कर इस तत्त्व का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता। [1]यह तत्त्व वाणी का अगोचर है। इस निःस्वभाव तत्त्व का साक्षात्कार निर्मल

१. द्रष्टव्य— गुह्यसिद्धि, ३. ७१-७३

चित्तरत्न द्वारा ही किया जा सकता है। इसीलिये इस तत्त्व को स्वसंवेद्य कहा गया है। निर्मल चित्त से भक्तिपूर्वक इसकी भावना करने से ही इसका साक्षात्कार हो सकता है। इस तत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर साधक को इन्द्रधनुष सरीखे वज्रकाय की प्राप्ति होती है।

अनंगवज्र[१] ने प्रज्ञा और उपाय की अद्वयाकार स्थिति को ही परमतत्त्व माना है। यह अप्रतिष्ठित निर्वाण की स्थिति है। अपार करुणा से प्रेरित हो जगत् के कल्याण के लिये योगी समस्त प्राणियों को एक-सी दृष्टि से देखता हुआ, अपने और पराये के भाव को छोड़कर सभी को इस सुखमय स्थिति में पहुँचाना चाहता है। इस सुखमय स्थिति का साक्षात्कार ही यहाँ तत्त्व के नाम से कहा गया है। [२]यहाँ बताया गया है कि इस तत्त्वरत्न की प्राप्ति शास्त्र आदि के सहारे नहीं मिल सकती। इसके लिये तो सद्गुरु की शरण में ही जाना पड़ता है। [३]गुरु द्वारा बताई गई पद्धति से बोधि में चित्त को स्थिर करके तत्त्व के साक्षात्कार के लिये प्रयत्न करना चाहिये। तत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर प्रज्ञा और उपाय में अद्वयाकारता स्थिर हो जाती है। तत्त्वयोगी को इस तत्त्व के साक्षात्कार के लिये सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये। स्वाधिष्ठान योग की सहायता से निर्मल चित्तरत्न की प्राप्ति हो जाने पर योगी इसी जन्म में सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

[४]इन्द्रभूति और [५]लक्ष्मींकरा का भी कहना है कि गुरु की कृपा से ही इस तत्त्व का साक्षात्कार हो सकता है। इस तत्त्व को जानने की विधि गुरु के मुँह से ही जानी जा सकती है। इन्द्रभूति (पृ. १००-१०२) कहते हैं कि तत्त्वयोगी को इस अनुत्तर तत्त्वरत्न की प्राप्ति के लिये भावना का सहारा लेना चाहिये। यह अनुत्तर तत्त्वरत्न स्वसंवेद्य है। युक्ति, आगम आदि के सहारे इसको जाना नहीं जा सकता। अज्ञानी आदिकर्मिक जीव इसका साक्षात्कार नहीं कर सकते। अतः ऐसे प्राणियों के कल्याण के लिये भगवान् भुजा, वर्ण आदि से सम्पन्न रूप धारण करते हैं और उसकी उपासना के लिये मुद्रा, मण्डल आदि का उपदेश करते हैं। ऐसे व्यक्तियों को सभी कल्पनाओं से अतीत उस शुद्ध तत्त्व का साक्षात्कार नहीं हो सकता।

इन्द्रभूति ने ज्ञानसिद्धि के तीसरे परिच्छेद में ज्ञान की साकारता और चौथे परिच्छेद में निराकारता का निषेध करके पाँचवें परिच्छेद में निश्चितता को ही तत्त्व

---

१. प्र. वि. सि., १. १९-२८

२. वहीं, २. ५-६

३. वहीं, ५. ९-१७

४. गुरुप्रसादो यस्यास्ति स लभेत् तत्त्वमुत्तमम्।
अन्यथा क्लिश्यते बालश्चिरकालविमोहितः।। (ज्ञा. सि. १. २३)

५. गुरुवक्त्रात् परं तत्त्वं प्राप्यते नात्र संशयः। (अ. सि. ३०)

माना है। ज्ञान की साकारता और निराकारता का निरूपण हम चित्त की सहायता से ही कर सकते हैं। सविकल्प और निर्विकल्प ज्ञान का आधार भी चित्त ही है। इन्द्रभूति ने छठें परिच्छेद में आश्वास-प्रश्वास, सातवें परिच्छेद में [1]द्वीन्द्रियज सुख तथा बारहवें परिच्छेद में रूपकाय आदि भावात्मक और शशशृंग आदि अभावात्मक पदार्थों की भी तत्त्वहीनता का प्रतिपादन किया है, इन सबको मिथ्याज्ञान माना है। चित्तरत्न की शुद्धि के लिये योगी को इन सबके ऊपर उठना पड़ता है। वज्रयान में बताई गई तत्त्वचर्या के सहारे चित्त के निर्मल हो जाने पर साधक के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। पुण्यसंभार के उदय के साथ उसका ज्ञान निर्मल हो जाता है और इसीके साथ उसे परमतत्त्व का साक्षात्कार होता है, बोधिचित्त की प्राप्ति होती है।

पदार्थों की भावाभावात्मकता, ज्ञान की साकारता-निराकारता, सविकल्पकता-निर्विकल्पकता आदि के समाप्त हो जाने से इस बोधिचित्त के लिये कोई आलम्बन अवशिष्ट नहीं रह जाता। यह बुद्ध की अनाभोग दशा है। यहाँ सब कुछ एकाकार हो जाता है। यह अद्वय तत्त्व ही परमार्थ सत्य है। इस अवस्था में प्रवेश कर लेने पर चित्त की भी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। इस स्थिति को निश्चित्तता तत्त्व कहा गया है। बोधिचित्त की इस अनाभोग दशा का ही इन्द्रभूति ने सम्यक् तत्त्व के रूप में वर्णन किया है और इसको अनादिनिधन, शान्त, भावाभावविवर्जित, व्यापक माना है। इस बोधिचित्त में शून्यता और करुणा एकाकार हो जाती हैं। चित्त में इस समता का प्रादुर्भाव हो जाने के साथ योगी निर्मल ज्ञान से सम्पन्न हो जाता है, उसे परमार्थ सत्य की प्रतीति हो जाती है। [2]इन्द्रभूति ने अपने ग्रन्थ को समाप्त करते हुए कहा है कि तत्त्व की प्रतीति के बिना बुद्धत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती और यह तत्त्वज्ञान मार्ग का अवलम्बन किये बिना नहीं हो सकता। कुद्दालपाद ने अपने ग्रन्थ में इस अद्वय तत्त्व का युक्ति-युक्त और हृदयहारी वर्णन किया है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि चित्त की प्रभास्वरता ही वह अद्वय तत्त्व है। उसीको बोधिचित्त, बुद्धत्व, निर्वाण आदि शब्दों से पहचानने का प्रयास किया जाता है।

भूतकोटि

अद्वयतत्त्व के लिये भूतकोटि शब्द का प्रयोग बौद्ध तन्त्रों में विशेष रूप से मिलता है। हेवज्रतन्त्र की टीका में तथता, भूतकोटि और धर्मधातु— इन सब शब्दों को पर्यायवाची माना गया है। प्रकृति और स्वभाव को भी समानार्थक माना जाता है।

---

१. "सुखं द्वीन्द्रियजं केचित् तत्त्वमाहु...."(७. १) कह कर यहाँ इन्द्रभूति ने इस मत का खण्डन किया है। इसका उल्लेख पंचक्रम (३. ३७) में है। यह वचन शाक्यमित्र की अनुत्तरसन्धि का है, नागार्जुन का नहीं। नागार्जुन के पंचक्रम में इसका समावेश तृतीय क्रम के रूप में हुआ है।

२. द्रष्टव्य— ज्ञानसिद्धि, २०. ७

अद्वयवज्रसंग्रह में बताया गया है कि भगवती वज्रधात्वीश्वरी ही तथता, शून्यता, प्रज्ञापारमिता, भूतकोटि और नैरात्म्या कहलाती है। [1]परिनिष्पन्न तत्त्व सदा अविकार भाव में रहता है। भूतकोटि, विज्ञप्तिमात्रता, धर्मधातु आदि इसी के नाम हैं।

अचिन्त्य प्रभास्वर स्वाधिष्ठान पद

नागार्जुन रचित [2]पंचक्रम में पिण्डीक्रम के अतिरिक्त वज्रजापक्रम, स्वाधिष्ठानक्रम, अभिसम्बोधिक्रम और युगनद्धक्रम नामक पाँच क्रम वर्णित हैं। डॉ. पूसें ने अपने संस्करण में शाक्यमित्र की अनुत्तरसन्धि का भी समावेश किया है। इसमें भी स्वाधिष्ठानक्रम ही वर्णित है। पंचक्रम के टिप्पणीकार ने कहा है कि कायविवेक के लिये पिण्डीक्रम का, वाग्विवेक के लिये वज्रजापक्रम का, चित्तविवेक के लिये स्वाधिष्ठान क्रम का, प्रभास्वरता के लिये अभिसंबोधिक्रम का और स्वाधिष्ठान एवं प्रभास्वरता की एकता के लिये युगनद्धक्रम का उपदेश किया गया है। अमनसिकार पद की अद्वयवज्र (पृ. ६०-६२) कृत व्याख्या में प्रभास्वरपद, स्वाधिष्ठानपद और अचिन्त्यप्रभास्वर स्वाधिष्ठानपद का उल्लेख है। इन तीनों पदों का संबन्ध क्रमशः अभिसम्बोधिक्रम, स्वाधिष्ठानक्रम और युगनद्धक्रम से है। प्रभास्वर पद का निरूपण शास्त्रों में इस तरह से किया गया है।

प्रभास्वर पद

पंचक्रम के रचयिता नागार्जुन स्वाधिष्ठानक्रम का निरूपण करते समय [3]स्वाधिष्ठान समाधि और प्रभास्वर पद नामक दो सत्यों का उल्लेख करते हैं और कहते हैं कि इन दोनों सत्यों में हेतुफलभाव सम्बन्ध है। यहाँ स्वाधिष्ठान समाधि हेतु (उपाय) है और प्रभास्वर पद फल। स्वाधिष्ठान समाधि के सहारे हम प्रभास्वर पद रूपी बोधिचित्त की प्राप्ति, अद्वय तत्त्व का साक्षात्कार कर सकते हैं। स्वाधिष्ठान समाधि अथवा स्वाधिष्ठान क्रम का लक्षण बताते हुए वे कहते हैं कि [4]संवृति सत्य के सहारे परमार्थ सत्य का साक्षात्कार करना ही इसका उद्देश्य है, अर्थात् स्वाधिष्ठान समाधि में उपाय के रूप में संवृति सत्य का सहारा लिया जाता है। नागार्जुन का कहना है कि [5]जिस चित्त से अज्ञानी जन सांसारिक बन्धनों में फँस जाते हैं, योगी उसी चित्त की सहायता से सुगत पदवी को प्राप्त कर लेते हैं। पद्मवज्र

---

१. डॉ. चन्द्रधर शर्मा का ग्रन्थ "भारतीय दर्शन : आलोचना और अनुशीलन" (पृ. १२०) देखिये।

२. पंचक्रम के संक्षिप्त परिचय के लिये 'धीः' का छठा अंक (पृ. ७४-७५ एवं ८९-९०) देखिये।

३. स्वाधिष्ठानसमाधिश्च प्रभास्वरपदं तथा।
सत्यद्वयमिति ख्यातं फलहेतुविशेषतः।। (४. १३)

४. स्वाधिष्ठानक्रमो नाम संवृतेः सत्यदर्शनम्। (४. १०)

५. येन चित्तेन बालाश्च संसारे बन्धनं गताः।
योगिनस्तेन चित्तेन सुगतानां गतिं गताः।। (४. १६)

की अ. प्र. वि. सि. (पृ. २१७) में इसी अभिप्राय के अपभ्रंश और संस्कृत के चार वचन उद्धृत हैं। वहाँ (पृ. २१२-२१३) स्वाधिष्ठानक्रम का विवरण देते समय बताया गया है कि सभी असत् दृष्टियों का समूल नाश कर देने वाले इस स्वाधिष्ठान क्रम के सिद्ध हो जाने के बाद योगी अपनी रुचि और सहज चेष्टाओं का अनुसरण कर इच्छानुसार सब कुछ कर सकता है अथवा इच्छा न होने पर वह कुछ भी नहीं करेगा। मालिनीविजय (१८.७४-८१) नामक शैव तन्त्र के एक लम्बे उद्धरण में शुद्धि-अशुद्धि, भक्ष्याभक्ष्य आदि की चर्चा करते हुए बताया गया है कि यहाँ न कुछ विहित है और न प्रतिषिद्ध ही। अथवा सब कुछ विहित भी है और प्रतिषिद्ध भी। वस्तुत: विधि और निषेध का कोई महत्त्व नहीं है। महत्त्व इस बात का है कि योगी का चित्त किस तरह से स्थिर हो। अत: योगी को अपनी चर्या ऐसी बनानी चाहिये कि वह चित्त की स्थिरता में सहायक हो। जिसका चित्त स्थिर हो गया है, वह योगी विषयों का उपभोग करते हुए भी उनमें उसी तरह से लिप्त नहीं होता, जैसे जल में रहते हुए भी कमलपत्र उससे निर्लिप्त रहता है। स्वाधिष्ठान समाधि के अभ्यास में लगा योगी भी अ.प्र.वि.सि. (पृ. २१२-२१३) के अनुसार चतुर्विध वाद्य, नवविध रस, योगतन्त्र की स्तोभ आदि क्रिया अथवा महाराग नय की विविध चेष्टाओं को करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता। चैत्यवन्दन, पुस्तकवाचन, देववन्दन, मन्त्रजप, मुद्राबन्ध आदि सब कुछ उसकी इच्छा के ऊपर निर्भर हैं।

उपसंहार

इसका उद्देश्य कोई सामाजिक उच्छृंखलता फैलाना नहीं है। इसका उद्देश्य मानवमात्र को चित्त की प्रभास्वरता का अधिकार देना है। कोई भी मानव, चाहे उसका खान-पान, रहन-सहन कैसा भी क्यों न हो, बिना रोक-टोक के, बिना किसी प्रकार की आशंका के इस मार्ग का अवलम्बन कर सकता है। व्यक्ति गलती करता रहता है, किन्तु इसके कारण वह सदा-सदा के लिये पतित नहीं हो जाता। सामाजिक मान्यताएँ भी समय-समय पर बदलती रहती हैं। किन्तु विज्ञान के मोह में न पड़कर हमें चित्त की मलिनता को बढ़ाने वाली नई मान्यताओं से दूर ही रहना होगा।

अध्यात्म और विज्ञान के क्षेत्र का परिसीमन कर लेना हमारे लिये आवश्यक है। विज्ञान इस बाहरी विश्व का निरीक्षण करता है, वह भीतर कभी नहीं झाँकता। इसके विपरीत अध्यात्म अपने को भीतर ही बन्द कर देता है, वह बाहर झाँकने को चेष्टा नहीं करता। तन्त्रशास्त्र ने अध्यात्म को बाहर लाने की चेष्टा की है, मानवमात्र को अध्यात्म का अधिकारी माना है। विज्ञान को अध्यात्म की ओर आकृष्ट करने का काम भी वही कर सकता है। विज्ञान को भी चित्त की प्रभास्वरता के दर्शन हों, यह आवश्यक है। अन्यथा चित्त की मलिनता से जुड़ा यह विज्ञान सब कुछ भस्म कर देगा।

***

जैनाधिकार

- जैन तन्त्रशास्त्र (सामान्य परिचय)
- जैन तन्त्र-साहित्य
- प्रतिपाद्य विषय

जैनाधिकार

जैन तन्त्रशास्त्र (सामान्य परिचय)

जैन तन्त्रशास्त्र का हमारा ज्ञान नहीं के बराबर था। "भारतीय तन्त्रशास्त्र" में समाविष्ट चार [1]निबन्धों तथा बृहदितिहास के एकादश तन्त्रागम खण्ड में समाविष्ट एक[2] निबन्ध तक हमारा ज्ञान सीमित था। इनसे जैन तन्त्रशास्त्र का कोई व्यवस्थित स्वरूप सामने नहीं आने पाया। जैन वाङ्मय में तन्त्रशास्त्र का कोई स्थान नहीं है, ऐसा इस सम्प्रदाय के कुछ विद्वानों का मानना है। इस विषय की चर्चा सारनाथ में सम्पन्न हुई तन्त्रशास्त्र-विषयक कार्यशाला के विवरण में देखी जा सकती है (पृ. ३२० -३२५)। इन जैन विद्वानों का कहना है कि धार्मिक जनता के मन में अपने धर्म के प्रति विश्वास बनाये रखने के लिये जैन आचार्यों ने इस तरह के ग्रन्थों की रचना की, किन्तु वह जैन धर्म के अहिंसा-प्रधान स्वरूप के विपरीत पड़ती है, अतः इस शास्त्र को यहाँ मान्यता नहीं मिली[3]।

जैन विद्वानों की दृष्टि

हालैण्ड के तन्त्रशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. तून गान्द्रियान ने "हिन्दु तान्त्रिक लिटरेचर इन संस्कृत" (पृ. १११) में मात्र एक अनुच्छेद (पैराग्राफ) में जैन तन्त्रशास्त्र की चर्चा की है। वहाँ इन्होंने टिप्पणी की है कि पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री जी ने दो भागों में "जैन साहित्य का इतिहास" लिखा है। वहाँ जैन तन्त्रशास्त्र के एक भी ग्रन्थ का नाम

---

१. इनके शीर्षक ये हैं— १. जैन तन्त्र : प्रवर्तन, प्रवर्धन तथा प्रसरण, २. जैन तन्त्र में मन्त्र और सकलीकरण, ३. मन्त्रशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में नमस्कार मन्त्र तथा ४. ए ग्लिम्प्स इन टू जैन तान्त्रिक साधना : हिस्टोरिकल बैकग्राउण्ड। चतुर्थ निबन्ध के कुछ अंश को छोड़कर बाकी सभी निबन्ध विषय-प्रधान हैं (भारतीय तन्त्रशास्त्र, पृ. २३७-३२५)।

२. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, एकादश तन्त्रागम खण्ड में समाविष्ट "जैन तन्त्र और साहित्य-सम्पदा" (पृ. ४५० -४९०)। यहाँ जैन तन्त्रशास्त्र का इतिहास प्रस्तुत किया गया है।

३. सारनाथ की कार्यशाला के विवरण (पृ. २८२-३००; ३२० -३२५) में आप प्रो. नथमल टाटिया, डॉ. सागरमल जैन, डॉ. एम. ए. ढाकी जैसे जैन इतिहासज्ञ विद्वानों के जैन-तन्त्र संवन्धी विचारों से परिचित हो सकते हैं। डॉ. सागरमल जैन के विचार अभी हाल में प्रकाशित उनके ग्रन्थ में भी देखे जा सकते हैं (पृ. ३० -३१, १५२-१५३, २८६-२८७, ३१८, ३२७)।

नहीं है। अहमदाबाद से गाँधीनगर जाते समय एक जैन संस्थान का समृद्ध पुस्तकालय स्थित है। वहाँ सभी प्रकाशित ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के नाम कम्प्यूटर में सूचीबद्ध कर दिये गये हैं, किन्तु वहाँ भी जैन तन्त्रशास्त्र के एक भी ग्रन्थ का नाम समाविष्ट नहीं है। इससे जैन विद्वानों की मानसिकता को समझा जा सकता है।

भारतीय तन्त्रशास्त्र पर सारनाथ में सम्पन्न हुई सप्तदिवसीय कार्यशाला में पूछे गये एक प्रश्न और उसके उत्तर से इस मानसिकता के आधार का पता चलता है। प्रश्न यह था कि जैन तन्त्रशास्त्र में शक्तिवाद का कोई स्थान है या नहीं? प्रश्नकर्ता का अभिप्राय पंचमकार वाली उपासना से था। उत्तर में प्रो. एम. ए. ढाकी ने कहा कि जैन तन्त्रों में पंचमकार का कोई स्थान नहीं है। इसकी जगह उड़द और तिल का होम वे करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि पंचमकार के प्रतिनिधि-द्रव्यों का वे उपयोग करते हैं। इस प्रसंग में इतना हमें समझ लेना चाहिये कि तन्त्रशास्त्र की कौल मत से प्रभावित शाखाओं में ही पंचमकार वाली उपासना प्रचलित है। प्रारंभिक वैष्णव एवं शैव तन्त्र इससे पूरी तरह से मुक्त थे। उन्हींके साथ हम वीरशैव धर्म और जैन धर्म का भी समावेश कर सकते हैं कि ये सामान्यत: इन उपादानों से मुक्त थे। हमें इसके लिये सिद्धान्तशैव, वीरशैव और त्रिपुरा तन्त्रों से जैन तन्त्रों की तुलनात्मक समीक्षा करनी चाहिये।

तन्त्रशास्त्र के मुख्य विषय

तान्त्रिक रहस्यवाद से बचने के लिये ही सारनाथ की गोष्ठी के संयोजकों ने ऐसे विषयों का चयन किया था, जिनसे भारतीय तन्त्रशास्त्र की अपनी पहचान बनती है। इनमें दीक्षा, अभिषेक, मन्त्र, मातृका, मुद्रा, न्यास, पीठ, बाह्य और आन्तर पूजा, षडंग योग, कुण्डलिनी योग, चण्डाली योग, वज्रकाय और आनापान व्यापार जैसे विषयों का समावेश किया गया था। दीक्षा या अभिषेक के उपरान्त ही तान्त्रिक साधना आरंभ होती है। कुछ शाखाओं ने पूरी मानव जाति को इसका अधिकारी माना है, कुछ ने नहीं। दीक्षा या अभिषेक आदि के सहारे आगे की विधि निश्चित होती है। नामकरण, मन्त्रोपदेश आदि कृत्यों के संपादन के बाद गुरु शिष्य को मन्त्र, मुद्रा, न्यास आदि की विधि बताता है। तन्त्रशास्त्र की प्रत्येक शाखा में इन विषयों का अपनी-अपनी पद्धति से निरूपण हुआ है। स्वरव्यंजनात्मक वर्णमाला का मातृका, मालिनी, आलिकालि अथवा भूतलिपि के रूप में और पूजा का आन्तर और बाह्य वरिवस्या के अथवा सप्तविध अनुत्तर पूजा के रूप में प्रतिपादन मिलता है। तन्त्रशास्त्र की कुछ शाखाओं में बाह्य और आन्तर पीठों का अपना महत्त्व है। इसी प्रकार कुण्डलिनी अथवा चण्डाली योग के प्रसंग में नाडी, चक्र, वायु, आधार आदि का तथा वज्रदेह की प्राप्ति का भी विधान है। षडंग योग का और प्राणापान व्यापार के रूप में अजपाजप अथवा हंसगायत्री का वर्णन भी तन्त्रशास्त्र की प्राय: सभी शाखाओं में उपलब्ध है।

मुख्य लक्ष्य

हमने अनेक स्थलों पर अपने ये विचार प्रकट किये हैं कि भारतीय तत्त्वज्ञान को हम धर्म की दृष्टि से न देखकर देश और काल की दृष्टि से देखें कि भारत के किस प्रदेश में कब, कौन सा ज्ञान किन आचार्यों के द्वारा किस सिद्धान्त के रूप में विकसित किया गया? उसकी पृष्ठभूमि क्या थी और उसने आगे के लिये क्या प्रभाव छोड़ा? इस दृष्टि से इन प्रश्नों पर विचार करने पर हमारे सामने तीन काल-खण्ड उपस्थित होंगे— पहला ईसा-पूर्व का काल, दूसरा छठी शताब्दी तक का तथा तीसरा १२वीं शताब्दी तक का। हम देखेंगे कि इन काल-खण्डों में आविर्भूत साहित्य में अत्यन्त समानता है, चाहे वह किसी भी धर्म का प्रतिनिधित्व करता हो। आगम-तन्त्रशास्त्र की सभी शाखाओं में इस प्रकार की समानता की खोज हमारे प्रस्तुत ग्रन्थ का मुख्य लक्ष्य रहा है।

सामंजस्य का अभाव

प्रारंभिक जैन विचारों और परवर्ती जैन विचारों में विषमता की समस्या केवल जैन विचारकों तक ही सीमित नहीं है, वैदिक और बौद्ध धर्मों के अनुयायियों के सामने भी वे आती हैं। इन दोनों धर्मों ने तो इनमें परस्पर सामंजस्य स्थापित कर लिया है, किन्तु ऐसा लगता है कि डॉ. नथमल टाटिया जैसे कुछ प्रबुद्ध विचारकों को हम छोड़ दे, तो जैन विद्वान् उक्त तीन काल खण्डों में विकसित अपने ही आध्यात्मिक और कर्मकाण्डीय विचारों में सामंजस्य नहीं बैठा पाये हैं।

धार्मिक इतिहास की दूसरी विसंगति की ओर भी हम प्रबुद्ध पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं कि वे वैदिक हों, बौद्ध हों या जैन— सभी धर्मों के इतिहासकार तन्त्रशास्त्र की चर्चा करते समय अपने-अपने धर्म-ग्रन्थों, वैदिक वाङ्मय, बौद्ध-पालि त्रिपिटक अथवा जैन प्राकृत-आगमशास्त्र का तो उल्लेख करते हैं, किन्तु स्वेतर शास्त्रों की चर्चा वहाँ नहीं के बराबर रहती है। [1]बौद्ध तन्त्रों का प्रवर्तन भगवान् बुद्ध के द्वारा ही हुआ, उसी तरह से जैन तन्त्रों की प्रवृत्ति भी जैन आगम-साहित्य में संगृहीत भगवान् पार्श्वनाथ तथा भगवान् महावीर के उपदेशों के आधार पर ही हुई, ऐसा कह पाना कठिन है। इन प्राचीन शास्त्रों में तन्त्रशास्त्र के जिन बीजों की खोज हम करते

---

१. बौद्ध वाङ्मय में भगवान् बुद्ध के द्वारा त्रिविध धर्मचक्र-प्रवर्तन की सूचना मिलती है। तदनुसार पहली धर्मदेशना श्रावकयान की सारनाथ में, दूसरी महायान की राजगृह में गृध्रकूट पर्वत पर तथा तीसरी वज्रयान की देशना धान्यकटक में श्रीपर्वत पर हुई। जैन वाङ्मय में इस तरह की देशना उपलब्ध है या नहीं? इसके लिये हमें यह देखना होगा कि मानवौघ परम्परा के अतिरिक्त दिव्यौघ और सिद्धौघ परम्परा से प्राप्त वाङ्मय की यहाँ कैसी स्थिति है?

हैं, वे तो अथर्ववेदीय वाङ्मय में और अभिनवगुप्त के अनुसार लोक-व्यवहार में प्रचलित थे। जिस तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन की हम तुलनात्मक समीक्षा करना चाहते हैं और जिसके लिये हमने कुछ विषयों का निर्धारण किया है, उनकी प्रवृत्ति शास्त्रीय वाङ्मय में कब, कैसे हुई, इसकी खोज हमें पहले करनी पड़ेगी। इस संबन्ध में हमने अपने विचार इस ग्रन्थ के प्रारंभ के उपक्रमाधिकार में "तन्त्रशास्त्र का सामान्य परिचय" शीर्षक से दिये हैं।

नई प्रवृत्ति

ऊपर चर्चित तन्त्रशास्त्रीय कार्यशाला में जैन-तन्त्रों पर हुई चर्चा के अन्त में हमने कहा था— "जैन विद्वान् उक्त तीन काल-खण्डों में विकसित अपने ही आध्यात्मिक और कर्मकाण्डीय विचारों में सामंजस्य नहीं बैठा पाये हैं। यदि यह कार्य अब भी हो सके, तो यह इस कार्यशाला की सफलता मानी जायगी" (पृ. २३५)। यह प्रसन्नता की बात है कि सारनाथ में सम्पन्न हुई इस तन्त्रशास्त्रीय कार्यशाला के बाद अन्य स्थानों पर भी इस तरह की गोष्ठियाँ आयोजित हुईं। इनमें काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में समायोजित तन्त्रशास्त्रीय गोष्ठी के सातत्य में पार्श्वनाथ विद्यापीठ में सम्पन्न हुई जैन तन्त्रशास्त्रीय गोष्ठी का विशेष महत्त्व है। इसमें जैन तन्त्रशास्त्र पर अनेक निबन्ध पढ़े गये। यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं है कि यहाँ के निदेशक डॉ. सागरमल जैन का इसी विद्यापीठ से "जैनधर्म और तान्त्रिक साधना" शीर्षक लगभग ५०० पृष्ठ का ग्रन्थ अभी (सन् १९९७) प्रकाशित हुआ है।

आर्हत (जैन) सम्प्रदाय

शक्तिसंगमतन्त्र (१.६.१५४-१५५) में बताया गया है कि तारावती, भोगवती, विमलावती, प्रज्ञावती, मधुमती, उद्भटाम्बावती आदि के उपासक आर्हत कहलाते हैं। जैनों का लक्षण वहाँ इस प्रकार बताया गया है— "हे महादेवि ! अब जैन का लक्षण सुनो। ये सदा कमण्डलु धारण करते हैं। यहाँ जीव को ही भोगी, कर्ता और हर्ता माना गया है। उसको जो सुख की प्रतीति होती है, वह उसका अपना ही स्वरूप है। जैनों और बौद्धों को यही सिद्धान्त मान्य है। केशलुंचक, श्वेतपट, रक्तपट, नीलपट, बृहद्गुरु— ये सब इनके भेद हैं। ये सब अहिंसक होते हैं (१.८.१२-१६)। आगे भी बताया गया है कि जैनागम में रक्त, शुक्ल आदि वस्त्रों के आधार पर विभिन्न जातियाँ (भेद) मानी गई है (२.१.३१)। तृतीय खंड में बताया गया है कि जैनों के दो भेद हैं— पार्श्वनाथ और कलानाथ। पद्मावती और भोगवती इनकी देवियाँ हैं (३.१.१९५)। जैनों के

दो सौ भेदों की यहाँ चर्चा है, किन्तु इनके नाम कहीं नहीं बताये गये हैं। पद्मावती, उद्भटाम्बा और पार्श्वनाथ का नाम चतुर्थ खंड (४.१.३७) में भी आया है।

जैन तन्त्रशास्त्र की प्रवृत्ति

जैन धर्म में तन्त्रशास्त्र की प्रवृत्ति पर नाना मत दृष्टिगोचर होते हैं। डॉ. सागरमल जैन अपने ग्रन्थ में एक जगह कहते हैं कि वस्तुतः जैन परम्परा में तान्त्रिक साधनाओं का विकास चौथी-पांचवीं शताब्दी के पूर्व ही प्रारंभ हो गया था (पृ. १७)। वे ही अन्यत्र (पृ. १९) लिखते हैं कि आठवीं-नौवीं शताब्दी में जैन आचार्यों ने अनेक तान्त्रिक विधि-विधानों को जैन साधना और पूजापद्धति का अंग बना दिया। भारतीय तन्त्रशास्त्र पर सारनाथ में सम्पन्न हुई गोष्ठी में जैन-तन्त्रों पर बोलते हुए डॉ. एम. ए. ढाकी का कहना है कि आठवीं शताब्दी में भद्रकीर्ति अपर नाम बप्पभट्टी सूरि ने तन्त्रवाद का प्रचलन किया। इनका समय उन्होंने ७४५-८३५ ई. निर्धारित किया है। वे कहते हैं कि नौंवी शताब्दी में किसी अज्ञात आचार्य ने आर्यनन्दील (पुराने आचार्य) के नाम से वैरोटयास्तव की रचना की। प्राकृत में वैरोटया नागिनी देवता है। इसी प्रसंग में वे भैरवपद्मावतीकल्प और कनकनन्दी नाम के आचार्य को भी स्मरण करते हैं (भा. त., पृ. ३२१-३२२)। डॉ. सिकदर का कहना है कि सिन्ध में ७वीं शताब्दी में इस्लाम के प्रवेश के बाद सातवीं-आठवीं शताब्दी में जैन तन्त्र का प्रवेश हुआ (भा.त., पृ. ३०९-३१०)। इस्लाम के प्रवेश के साथ तन्त्रशास्त्र की प्रवृत्ति का क्या संबन्ध वे जोड़ना चाहते हैं, यह स्पष्ट नहीं होता।

प्रवर्तक और निवर्तक धर्म

प्रवर्तक एवं निवर्तक धर्मों का विकास, निवर्तक एवं प्रवर्तक धर्मों के दार्शनिक एवं सांस्कृतिक प्रदेय, जैसे शीर्षकों से प्रो. सा. म. जैन ने जो कुछ लिखा है (पृ. ६-९), उसमें वे यह मानकर चले हैं कि जैनों की दृष्टि निवृत्ति-प्रधान तथा इतरों की प्रवृत्ति-प्रधान रही है। यह अवधारणा पूरी तरह से सही नहीं मानी जा सकती। तिलक महाराज ने गीतारहस्य की भूमिका (पृ. १०) में प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग का विश्लेषण करते हुए बताया है कि महाभारत के शान्तिपर्व के अन्त में स्थित नारायणीयोपाख्यान में प्रवृत्ति धर्म का और भगवद्गीता में निवृत्ति धर्म का उपदेश किया है। नारायणीय में प्रवृत्ति धर्म का विधान है, इसके लिये वे वहाँ के (३४७.८२-८३) और भगवद्गीता की निवृत्तिधर्मपरकता के लिये भी वहीं (३४८.५३) के दूसरे वचन को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

प्रवृत्ति शब्द का अर्थ जीवन पर्यन्त संन्यास न लेकर चातुर्वर्ण्य-विहित निष्काम कर्म करते रहना है और निवृत्ति धर्म का अर्थ है यतियों द्वारा लिया गया संन्यास। गीता में प्रवृत्ति धर्म के साथ ही यतियों का निवृत्ति धर्म भी वर्णित है। गीता की मनु, इक्ष्वाकु इत्यादि की तथा जनक इत्यादि की परम्परा प्रवृत्ति मार्ग की है, निवृत्ति मार्ग की नहीं। विष्णुपुराण (१.६.३०-३१) ने प्रवृत्ति मार्ग का विरोध करने वाले को वेदनिन्दक कहा है। इसके विपरीत पाशुपत योगाचार्यों को सर्वत्र निवृत्तिपरायण बताया गया है। लिंगपुराण (१.२९.७-८) में बताया गया है कि प्रवृत्तिपरायण मुनियों को निवृत्ति मार्ग का उपदेश देने के लिये महामुनि श्वेत दारुवन में गये थे।

मनुस्मृति (१२. ८८-९०) में प्रवृत्त और निवृत्त दोनों ही को वैदिक कर्म माना गया है। आभ्युदयिक, ऐहिक सुख को देने वाले काम्य कर्मों को प्रवृत्त और ज्ञानपूर्वक किये गये निष्काम कर्म को निवृत्त कहा है। प्रवृत्त कर्म से स्वर्ग की और निवृत्त कर्म से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार विचार करने पर प्रतीत होता है कि प्राय: सभी भारतीय धर्म प्रवर्तक एवं निवर्तक धर्म की परिभाषा के अन्तर्गत आ जाते हैं।

जैन तन्त्र-साहित्य

डॉ. तून गान्द्रियान के ग्रन्थ की ऊपर चर्चा आई है। यहाँ इन्होंने एक छोटे से अनुच्छेद (पैराग्राफ) में जैन-तन्त्रों की चर्चा की है। भैरवपद्मावतीकल्प और ज्वालिनी-कल्प का परिचय देते हुए वे कहते हैं कि प्रथम ग्रन्थ की रचना १०५० ई. के आसपास मैसूर के मल्लिषेण ने की और दूसरे ग्रन्थ की रचना द्रविड़ देश के किसी मुनि ने राष्ट्रकूट की राजधानी मान्यखेट में की। भैरवपद्मावतीकल्प में पद्मावती की उपासना-विधि प्रदर्शित है, जो शाक्त सम्प्रदाय की त्रिपुरा[1] का ही जैन संस्करण है। यह ग्रन्थ १० अधिकारों में विभक्त है और ३०८ आर्या आदि विभिन्न छन्दों में निबद्ध हुआ है। यह परिशुद्ध संस्कृत में लिखा गया है। बन्धुषेण के विवरण के साथ इस ग्रन्थ का सम्पादन प्रो. के. वी. अभ्यंकर ने और प्रकाशन अहमदाबाद के साराभाई मणिलाल नबाब ने सन्

१. भैरवपद्मावतीकल्प की यह श्लोक देखिये— "तोतला त्वरिता नित्या त्रिपुरा कामसाधनी। देव्या नामानि पद्मायास्तथा त्रिपुरभैरवी।।" (१.३)। यहाँ के नित्या, त्रिपुरा और त्रिपुरसुन्दरी— ये तीनों नाम त्रिपुरभैरवी से संबद्ध हैं। त्रिपुराभारती के लघुस्तव पर सोमतिलक सूरि की विवृति प्रकाशित हो चुकी है। लघुस्तव के कर्ता लघु पण्डित धर्माचार्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रभाचन्द्राचार्य के प्रभावकचरित (पृ. १३६, १४६, १४७, १५०) में धर्म पण्डित के नाम से इनकी चर्चा मिलती है। ये पंचस्तवी के कर्ता माने जाते हैं और भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण में यहाँ के श्लोक उद्धृत हैं। त्वरिता नवमी नित्या का नाम है और षोडश नित्याओं की नामावली से हम षोडश महाविद्याओं की तुलना कर सकते हैं। इस विषय पर आगे भी विचार होगा।

१९४४ में किया था। यह ग्रन्थ मोहनलाल भगवान्दास झवेरी के द्वारा अंग्रेजी भाषा में "कम्परेटिव एण्ड क्रिटिकल स्टडी आफ मन्त्रशास्त्र" शीर्षक से अंग्रेजी भाषा में लिखित ३६१ पृष्ठों के विस्तृत उपोद्घात के साथ प्रकाशित हुआ था। यहाँ भैरवपद्मावतीकल्प के संस्कृत पाठ के प्रारंभ और अन्त में तन्त्रशास्त्र संबन्धी अनेक छोटे-छोटे स्तोत्र, कल्प आदि भी प्रकाशित हुए हैं। अपने मूल रूप में यह ग्रन्थ हमें वाराणसी के विश्वनाथ पुस्तकालय (गोयनका लाइब्रेरी) में उपलब्ध हो गया है। इसका और अन्य जैन तन्त्र-साहित्य का परिचय हम आगे देने जा रहे हैं।

[१]ज्वालिनीकल्प के विषय में यहाँ इतनी ही सूचना दी गई है कि [२]नन्दी के 'इंस्टीटयूशंस', चेप्टर ११ (पृ. १४७-१६७) में "दी जैन गोडेशेस आफ तान्त्रिक एसोसिएशन" देखिये। १५वीं शताब्दी के सकलकीर्ति के तत्त्वार्थसारदीपिका नामक तान्त्रिक योगविधि से संबद्ध ग्रन्थ की भी यहाँ चर्चा है और बताया है कि इलियट के योग (पृ. २१४) में इसका परिचय मिलता है। आर. विलियम्स के "जैन योग" (पृ. २९-३०) में सकलकीर्ति के प्रश्नोत्तरश्रावकाचार का परिचय दिया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ का वहाँ कोई उल्लेख नहीं मिलता।

---

१. आगे (पृ. ७९०) द्रविड़ संघ के इन्द्रनन्दी के ज्वालामालिनीकल्प की तथा इन्द्रनन्दी के गुरु विप्पनन्दी और परमगुरु वासवनन्दी की भी चर्चा की गई है। डॉ. गान्द्रियान द्वारा उद्धृत ग्रन्थ (पृ. १११ टि.) से यह अभिन्न लगता है। डॉ. सागरमल जैन ने ज्वालामालिनीकल्प के नाम से ही इसका परिचय दिया है (पृ. ३५१-३५२)। इसमें १० परिच्छेद हैं और तीसरे में सकलीकरण की चर्चा है। जैनों और सिद्धान्त शैवों के तन्त्र-ग्रन्थों में प्राय: समान रूप से इसका वर्णन मिलता है। यहाँ चतुर्थ परिच्छेद में जिन मण्डलों की चर्चा है, वे भिन्न प्रकार के हैं। इनकी चर्चा प्राचीन वैष्णव और शैव तन्त्रों में मिलती है। अष्टम परिच्छेद में देवी वसुधारा की और दशम में ब्राह्मी आदि आठ देवियों की पूजनविधि चर्चित है। ये सब विषय बौद्ध और शाक्त तन्त्रों में भी उपलब्ध होते हैं। वसोर्धारा का संबन्ध महाभारत के शान्तिपर्व के नारायणीयोपाख्यान (१२.३३५-३३७) में वर्णित राजा वसु उपरिचर से भी हो सकता है। शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव (९.४१) में भी ये चर्चित हैं। ब्राह्मी आदि सात अथवा आठ मातृकाएँ तो सर्वत्र प्रसिद्ध हैं ही। बृहदितिहास. (पृ. ४७१-४७२) में हर्षनन्दी के शिष्य इन्द्रनन्दी के और मल्लिषेण के ज्वालिनीकल्प का अलग-अलग परिचय दिया गया है। रचनाकाल का तो समाधान ७९० वें पृष्ठ पर उद्धृत सामग्री के आधार पर हो जाता है, किन्तु इन्द्रनन्दी के गुरु के नाम की परीक्षा अपेक्षित है।

२. डॉ. रमेन्द्रनाथ (आर. एन.) नन्दी के ग्रन्थ "रिलीजियस इंस्टीटयूशंस एण्ड कल्ट्स इन दी डेक्कन" ग्रन्थ की यहाँ संक्षिप्त सूचना दी गई है (पृ. ८०४-८०५)। प्रस्तुत ग्रन्थ के इस शीर्षक के १० वें अध्याय (पृ. १४७-१५६) में यह विषय चर्चित है। "दी डवलपमेन्ट आफ जैन तान्त्रिज्म" शीर्षक ११वाँ अध्याय (पृ. १५७-१६७) भी इसी विषय से संबद्ध है।

१. भैरवपद्मावतीकल्प

जैसा कि ऊपर बताया गया, १० अधिकरणों और ३०८ आर्या आदि विभिन्न छन्दों में यह ग्रन्थ निबद्ध हुआ है। यहाँ (१०.५६) ग्रन्थ की श्लोक संख्या ४०० बताई गई है। ३२ अक्षर के अनुष्टुप् छन्द के श्लोक के आधार पर संस्कृत ग्रन्थों की ग्रन्थसंख्या निर्धारित की जाती है। तदनुसार इस कल्प की ग्रन्थसंख्या ४०० है। ग्रन्थकार मल्लिषेण ने अपनी गुरु-परम्परा इस तरह से दी है— अजितसेनगणि, तदीय शिष्य कनकसेनगणि, तदीय शिष्य जिनसेन और जिनसेन के शिष्य मल्लिषेण। बन्धुषेण-प्रणीत संस्कृत विवरण के साथ यह ग्रन्थ ऊपर निर्दिष्ट संस्करण के १-७४ पृष्ठों में प्रकाशित हुआ है। मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली से अभी हाल में (सन् १९९९) हिन्दी व्याख्या के साथ यह ग्रन्थ पुनः प्रकाशित हुआ है।

प्राचीन संस्करण में ग्रन्थ के प्रारंभ में मानदेवसूरि कृत सूरिमन्त्रस्तोत्र का, योनिप्राभृत स्थित मणिभद्र मन्त्र और गणधरवलय मन्त्र का तथा अंगविद्या के अन्तर्गत षड्विध विद्याओं का समावेश किया गया है। पुरुष देवता के मनु मन्त्र और स्त्री देवता के मनु विद्या के नाम से अभिहित होते हैं। उसी परिभाषा का यहाँ अनुसरण किया गया है। इन मन्त्रों और विद्याओं की तुलना हम बौद्ध धारिणी-मन्त्रों से कर सकते हैं।

ग्रन्थ के अन्त में १३६ पृष्ठों में विभिन्न परिशिष्टों के रूप में अनेक ग्रन्थ संयोजित हैं। इनमें प्रथम परिशिष्ट (पृ. १-१४) में यशोभद्र उपाध्याय के शिष्य श्रीचन्द्रसूरि विरचित अद्भुतपद्मावतीकल्प के ३-६ प्रकरण संयोजित हैं। तृतीय प्रकरण में श(स)कलीकरण का लक्षण, चतुर्थ में सयन्त्र देव्यर्चनाक्रम, पंचम में पात्रविधि और षष्ठ प्रकरण में दोष-लक्षण निरूपित है। यहाँ (पृ. १३) हनुमान् का मालामन्त्र भी संगृहीत है। आगे (पृ. १४) इनको रुद्रस्वरूप माना गया है। मालामन्त्र ही बौद्ध-वाङ्मय में धारिणीमन्त्र के नाम से जाने जाते हैं। द्वितीय परिशिष्ट (पृ. १५-१७) में पद्मावतीपूजन, तृतीय (पृ. १८-२०) में रक्तपद्मावतीकल्प, चतुर्थ (पृ. २१-२५) में पद्मावतीव्रतोद्यापन, पंचम (पृ. २६-२८) में पद्मावतीस्तोत्र, षष्ठ (पृ. ३९-४२) में पद्मावतीस्तुति, सप्तम (पृ. ४३-४६) में पद्मावतीमन्त्राम्नायविधि, अष्टम में (पृ. ४७-५६) पद्मावतीसहस्रनामस्तोत्र, नवम (पृ. ५७) में पद्मावतीस्तोत्र, दशम (पृ. ५८-६०) में जिनप्रभ सूरि विरचित पद्मावतीचतुष्पदिका का समावेश किया गया है। यह अन्तिम ग्रन्थ प्राकृत भाषा में निबद्ध है। बाकी के सभी ग्रन्थ संस्कृत भाषा में रचित हैं।

इसी तरह के यहाँ ३१ परिशिष्ट दिये गये हैं। इनमें मल्लिषेणाचार्य का सरस्वती-मन्त्रकल्प, बप्पभट्टिसूरि का सरस्वतीकल्प, साध्वी शिवार्या का पठितसिद्धसारस्वतस्तव,

जिनप्रभ सूरि का शारदास्तवन, देवीस्तोत्र, अम्बिकाष्टक आदि, महामात्य वस्तुपाल रचित अम्बिकास्तवन जिनेश्वर सूरि की अम्बिकादेवीस्तुति, जिनदत्त सूरि कृत चक्रेश्वरीस्तोत्र, चतुष्षष्टियोगिनीस्तोत्र, ज्वालामालिनीमन्त्रस्तोत्र, श्रीधराचार्य रचित पद्मावतीस्तोत्र, सूरिविद्यास्तोत्र, आचार्य भद्रगुप्त कृत अनुभवसिद्धमन्त्रद्वात्रिंशिका (पृ. ११४-१२८), जैसे लघु ग्रन्थ समाविष्ट हैं। अन्तिम ३१वें परिशिष्ट के रूप में मानदेवसूरि का लघुशान्तिस्तव धर्मप्रमोद गणि की वृत्ति के साथ प्रकाशित हुआ है (पृ. १२९-१३६)। इन सभी ३१ ग्रन्थों का परिचय उक्त उपोद्घात के १९ वें प्रकरण (पृ. ३०७-३५२) में विस्तार से दिया गया है।

पद्मावती, श्रुतदेवता (सरस्वती), अम्बिका, चक्रेश्वरी आदि देवियों के रंगीन एवं सादे कुल १५ चित्र यहाँ दिये गये हैं। साथ ही यहाँ ४५ प्रकार के यन्त्रों की एवं १२ प्रकार की मुद्राओं की आकृतियाँ भी ग्रन्थ के अन्त में संयोजित हैं। विषय सूची (पृ. १०) से इसकी सूचना मिलती है, किन्तु ४५ वाँ पद्मावतीपूजन मन्त्र और मुद्राओं की आकृति वाले पत्र[1] यहाँ उपलब्ध नहीं है। इस ग्रन्थ के नूतन संस्करण में भी १० परिशिष्ट दिये गये हैं। इनमें प्रथम परिशिष्ट में भैरवपद्मावतीकल्प में निर्दिष्ट मन्त्रों का बीजकोश दिया गया है। पार्श्वनाथस्तवन के अतिरिक्त बाकी के सभी परिशिष्ट पूर्व संस्करण से ही लिये गये लगते हैं। चित्रों और यन्त्रों आदि का समावेश यहाँ नहीं किया गया।

भैरवपद्मावतीकल्प के दस अधिकारों के नाम इस प्रकार हैं— १. मन्त्रिलक्षणाधिकार, २. [2]सकलीकरणाधिकार, ३. देव्यर्चनाधिकार, ४. द्वादशरंजिकायन्त्राधिकार, ५. स्तम्भनयन्त्राधिकार, ६. अंगनाकर्षणाधिकार, ७. वशीकरणयन्त्राधिकार, ८. दर्पणादिनिमित्ताधिकार, ९. वशीकरणतन्त्राधिकार और १०. गारुडाधिकार। इन शीर्षकों से ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषयों का सामान्य ज्ञान हो जाता है। यथास्थान हम इन विषयों का विशेष परिचय देंगे (पृ. ७९१)। यों अंग्रेजी भाषा के उपोद्घात (पृ. २९५-२९९) में प्रस्तुत ग्रन्थ का संक्षिप्त परिचय दे दिया गया है। डॉ. सागरमल जैन के ग्रन्थ (पृ. ३३५-३५६) में भी यह देखा जा सकता है। ग्रन्थ की रचना प्रधानतः आर्या छन्द में हुई है। चार सौ श्लोक-प्रमाण ग्रन्थ की संगति में विषय में अभी हम लिख चुके हैं।

हमारी दृष्टि में इस उपोद्घात के प्रारंभिक १० परिच्छेदों की सामग्री पुरानी पड़ चुकी है और इन सब विषयों पर हम इस ग्रन्थ के उपक्रमाधिकार में नये सिरे से विचार

१. गोयनका विश्वनाथ पुस्तकालय में स्थित इस ग्रन्थ में ये चित्र उपलब्ध नहीं है।

२. सकलीकरण प्रकरण (२. १३-१६) में मन्त्री के लिये अंशक ज्ञान की आवश्यकता को बताते हुए इसका क्रम बताया गया है। कश्मीर के स्वच्छन्दतन्त्र के आठवें पटल में षड्विध अंशक का निरूपण कर इसी प्रक्रिया को स्पष्ट किया गया है। सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध और शत्रु के रूप में मन्त्रों की परीक्षा की विधि प्रायः सभी तन्त्रशास्त्रीय ग्रन्थों में मिलती है।

कर चुके हैं। इस उपोद्घात के आगे के दस परिच्छेदों पर समीक्षात्मक दृष्टि डालने से पहले हम एक दो बातों का खुलासा कर देना चाहते हैं। एक तो यह कि जैन और बौद्ध धर्म से भी पहले शतपथब्राह्मण (१३.६.१) में अहिंसक पांचरात्र सत्र का उल्लेख मिलता है, छान्दोग्य उपनिषत् (३.१७.१-६) में घोर आंगिरस ऋषि देवकीपुत्र कृष्ण को सत्य और अहिंसा का उपदेश देते हैं, उपनिषदों ने यज्ञों को कमजोर नाव बताया है और राजा वसु उपरिचर की कथा महाभारत और पुराणों में ही नहीं, जैन शास्त्रों में भी चर्चित है। शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव के इस श्लोक को आप देखिये—

परोपरोधादपि निन्दितं वचो ब्रुवन्नरो गच्छति नारकीं गतिम्।
अनिन्द्यवृत्तोऽपि गुणी नरेश्वरो वसुर्यथाऽगादिति लोकविश्रुतम्।।

महाभारत शान्तिपर्व (१२.३३५-३३७) की कथा के अनुसार देवताओं की यज्ञीय हिंसा के पक्ष का समर्थन करने के कारण वसु उपरिचर की आकाशगमन की सामर्थ्य नष्ट हो गई थी। इसकी भी सूचना ज्ञानार्णव के उक्त श्लोक में मिलती है।

दूसरी बात यह कि वैदिक तन्त्र, अवैदिक तन्त्र, ब्राह्मण तन्त्र अथवा हिन्दू तन्त्र नाम की कोई चीज नहीं है। प्रस्तुत उपोद्घात (पृ. ५०) में शैव, वैष्णव, सौर, गाणपत्य, शाक्त आदि तान्त्रिक शाखाओं की चर्चा की गई है और आगे (पृ. ६०) इन पर बौद्ध और जैन तन्त्रों के प्रभाव की बात कही गई है। डॉ. सागरमल जैन भी अपने नव प्रकाशित ग्रन्थ में एक स्थान पर (पृ. २१) आराध्य देवों के भेद के आधार पर शैव, शाक्त, वैष्णव, सौर्य (सौर), गाणपत्य, बौद्ध, जैन आदि तन्त्रों की प्रवृत्ति की चर्चा करते हैं। आगम-तन्त्रशास्त्र के अध्ययन की यही सही दृष्टि है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण तन्त्र, हिन्दु तन्त्र जैसे शब्द इस शास्त्र का सही प्रतिनिधित्व नहीं कर पाते। बौद्ध और जैन तन्त्रों की तुलनात्मक समीक्षा ऊपर दिये गये विभाग से ही संभव हो पाती है, अन्य विभागों से नहीं। जैन तन्त्रों की अनुस्यूति सामान्यतः सिद्धान्त शैव एवं शाक्त त्रिपुरा तन्त्रों से तथा बौद्ध तन्त्रों की अनुस्यूति शैव-शाक्त (कौल) तन्त्रों से समरस है। हिन्दु तन्त्रों में तो इन सभी का समावेश मान लिया गया है। उस स्थिति में उनसे बौद्ध-जैन तन्त्रों की तुलनात्मक समीक्षा कैसे संभव हो सकती है? अस्तु. हम इस विवाद में नहीं पड़ना चाहते, किन्तु इतनी बात दृढ़तापूर्वक कह देना उचित समझते हैं कि विकल्प-व्यापार मानवता को कभी भी सही दिशा नहीं दे सकता। वैदिक, अवैदिक विभाग को मान्यता इस रूप में दी जा सकती है कि बौद्ध और जैन वेदों को प्रमाण नहीं मानते और बाकी सभी तान्त्रिक शाखाओं को ये मान्य हैं। इसीलिये पं. सुखलाल जी संघवी जैसे प्रबुद्ध जैन चिन्तक जैन और बौद्ध शब्दों के साथ वैदिक शब्द का ही प्रयोग करते हैं।

२. अंग्रेजी उपोद्घात का विस्तृत परिचय

उक्त उपोद्घात के ग्यारहवें प्रकरण (पृ. ६३-८७) में तान्त्रिक साधना का परिचय देते समय टिप्पणी (पृ. ६३) में यह श्लोक दिया गया है—

अन्यान्यशास्त्रेषु विनोदमात्रं न तेषु किञ्चिद् भुवि दृष्टमस्ति।
चिकित्सितज्योतिषतन्त्रवादाः पदे पदे प्रत्ययमावहन्ति।।

शास्त्रों में इष्ट और पूर्त कर्मों का विधान मिलता है। वैदिक कर्मकाण्ड का इष्ट में और तान्त्रिक कर्मकाण्ड का पूर्त में समावेश किया जाता है। इष्ट का हम पारलौकिक फल देने वाले और पूर्त का इस श्लोक में भी फल देने वाले कर्मकाण्ड में समावेश कर सकते हैं। सभी शास्त्रों में इस तरह के इष्ट और पूर्त नाम के कर्मकाण्डों का विधान मिलता है। ऊपर के श्लोक में बताया गया है कि अन्यान्य शास्त्रों के अनुसार जो कुछ हम करते हैं, उनका प्रत्यक्ष फल हमें नहीं मिलता, किन्तु चिकित्साशास्त्र, ज्योतिःशास्त्र और तन्त्रशास्त्र, वापी, कूप, तटाक, मन्दिर, धर्मशाला, औषधालय आदि के निर्माण के आदेश के रूप में पद-पद पर मानवता की इसी लोक में सहायता करते हैं। तन्त्रशास्त्र की सभी शाखाओं में पूर्त धर्म का विधान अवश्य मिलता है।

तन्त्रशास्त्र के प्रतिपाद्य दीक्षा-अभिषेक आदि विषयों की हमने ऊपर सूचना दी है। इनमें से गुरु और दीक्षा, यन्त्र, मण्डल, मुद्रा, पूजा, भूतशुद्धि, न्यास, ध्यान, मन्त्रजाप, मन्त्र-पुरश्चरण (पूर्वसेवा-उत्तरसेवा), होम, तर्पण, विविध सिद्धियाँ, पंचोपचार आदि पूजाओं के विविध प्रकार जैसे विषयों का इस उपोद्घात के प्रस्तुत प्रकरण में परिचय दिया गया है। भैरवपद्मावतीकल्प के प्रथम पाँच अधिकारों में तथा "भारतीय तन्त्रशास्त्र" में समाविष्ट जैन-तन्त्र विषयक चार लेखों (पृ. २३७-२७९) में भी इनका विशद स्वरूप विवेचित है।

इनमें से **प्रथम निबन्ध** में दीक्षा (वाचना), अभिषेक विधान, मन्त्र, मातृका, मुद्रा, पीठ, न्यास, बाह्य, एवं आन्तर पूजा, षडंग योग, कुण्डलिनी योग, नाडी, चक्र, वायु, आधार— जैसे विषयों पर जैन तन्त्रशास्त्र की दृष्टि से विशद प्रकाश डाला गया है। यहाँ बताया गया है कि १४ वीं शती के आचार्य प्रभाचन्द्र का "प्रभावकचरित्र"[१] इसी कोटि का ग्रन्थ है, जिसमें अनेक महाप्रभावी तान्त्रिक जैनाचार्यों की मन्त्र-विद्या-प्रवीणता का एवं उनके प्रभावपूर्ण कार्यों का विस्तार से वर्णन हुआ है। **द्वितीय निबन्ध** में जैन-तन्त्रों के अनुसार सकलीकरण के स्वरूप पर और **तृतीय निबन्ध** में जैन

१. यह ग्रन्थ सिंघी जैन ग्रन्थमाला से सन् १९४० में प्रकाशित हुआ है। मुनि जिनविजय जी ने इसका सम्पादन किया है। ये सभी आचार्य जैन तन्त्रशास्त्र से संबद्ध हैं, इसकी परीक्षा अपेक्षित है।

मन्त्रशास्त्र की दृष्टि से नमस्कार मन्त्र के स्वरूप पर विचार किया गया है। यहाँ उद्धृत जैन तन्त्र ग्रन्थों में भैरवपद्मावतीकल्प, विद्यानुशासन, तत्त्वानुशासन, मन्त्रराजरहस्य, मन्त्रव्याकरण, पंचाशक (हरिभद्र सूरि) और प्रश्नव्याकरण के नाम उपलब्ध हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रस्तुत उपोद्घात इस ११वें प्रकरण में प्रदर्शित विषयों पर इन निबन्धों में विशद विचार किया गया है। विचार-विनिमय के प्रसंग में (पृ. २८५) में जैन पंचनमोकार मन्त्र, वैष्णव पंचोपनिषन्मन्त्र, बौद्ध पंचबुद्ध मन्त्र और शैव पंचब्रह्म मन्त्र की चर्चा तुलनात्मक अध्ययन के लिये अच्छी सामग्री प्रस्तुत करती है। वहाँ प्रकाशित **चतुर्थ निबन्ध** (पृ. ३०१-३१९) में जैन तन्त्रों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर विचार प्रस्तुत किये गये हैं। यह निबन्ध भी ऊपर प्रदर्शित पद्धति से यद्यपि अछूता नहीं है, तो भी यहाँ जैन दीक्षा, कुण्डलिनी योग, ध्यान योग जैसे विषय अधिक स्पष्टता से विवृत हैं।

प्रस्तुत उपोद्घात के १२वें प्रकरण (पृ. ८८-११२) में बौद्ध मन्त्रयान और वज्रयान की चर्चा की गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ में हमने बौद्ध-तन्त्रों के विषय में अलग से विचार किया है। बौद्ध तन्त्रों की प्रवृत्ति के संबन्ध में असंग, वसुबन्धु, आदि की चर्चा को हम निराधार बता चुके हैं। बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन के साथ कक्षपुट जैसे परवर्ती ग्रन्थों को जोड़ना भी उचित नहीं है। डॉ. बी. भट्टाचार्य के बौद्ध तन्त्र संबन्धी मत की समीक्षा भी हम कर चुके हैं (उपक्रमाधिकार, पृ. ५-८) में और स्वयं झवेरी जी ने भी इनकी समीक्षा (पृ. १०८-१११) की है। मंजुश्रीमूलकल्प, गुह्यसमाजतन्त्र जैसे बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थों के काल के विषय में यहाँ दिये गये विचार अब पुराने पड़ चुके हैं। बौद्ध-तन्त्रों के आविर्भाव का काल निश्चित रूप से छठी शताब्दी के बाद का है। अब जापानी विद्वान् भी इससे सहमत हैं। बौद्ध तन्त्रों का अनुशीलन निश्चित रूप से हमें कौल तन्त्रों की पृष्ठभूमि में करना चाहिये और इस स्थिति में बौद्ध तन्त्रों का प्राचीन और नवीन विभाग सही नहीं माना जा सकता। महायान और वज्रयान की कड़ी के रूप में मन्त्रयान को प्राचीन बौद्ध तन्त्रों के रूप में प्रस्तुत करना भी सही नहीं है, क्योंकि अद्वयवज्र जैसे बौद्ध तान्त्रिकों ने मन्त्रयान की स्थिति को महायान से पूरी तरह से भिन्न मानकर उसे वज्रयान से जोड़ा है। मंजुश्रीमूलकल्प जैसे कुछ ग्रन्थों को हम महायान और वज्रयान को जोड़ने वाली कड़ी मान सकते हैं। वज्रयान, कालचक्रयान और सहजयान को परवर्ती मानकर उन पर बाहरी प्रभाव के सिद्धान्त को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। तन्त्रों के प्राचीन और अर्वाचीन विभाग की समयसीमा हम [1]अन्यत्र निर्धारित कर चुके हैं।

१. शक्तिसंगमतन्त्र के चतुर्थ छिन्नमस्ता खण्ड का उपोद्घात (पृ. २०-२१) तथा उपक्रमाधिकार में स्थित "तन्त्रों का प्राचीन-नवीन विभाग" (पृ. ३४-३६) शीर्षक देखिये।

श्री झवेरी जी के इस उपोद्घात के १३वीं और २० वीं संख्या के प्रकरणों पर हम प्रबुद्ध पाठकों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट करना चाहते हैं। १३वें प्रकरण (पृ.११३-१४६) में उन्होंने दरवेश, सूफी, ओलिया, सन्त जैसे नामों से परिचित इस्लाम और क्रिश्चियन जैसे सेमेटिक धर्मों से संबद्ध रहस्यवादी साहित्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। विभिन्न नामों से परिचित होने वाले ये दरवेश जादू-टोना जैसे कर्मकाण्डों के साथ आध्यात्मिक शक्तियों से भी एक साथ पूरी तरह से जुड़े हुए थे। अपने ग्रन्थ में हम इन विषयों पर विचार नहीं कर पा रहे हैं। हमारी दृष्टि में तन्त्रवाद और तान्त्रिक दर्शन की पृष्ठभूमि में नये सिरे से इस विषय पर भी विचार होना चाहिये।

इस विचारधारा की पृष्ठभूमि में अथवा स्थापना में कौल और बौद्ध तन्त्रों के साथ सेमेटिक धर्मों का कितना प्रभाव है? इसकी परीक्षा होना अभी बाकी है। शांकर वेदान्त की अपेक्षा कश्मीर के प्रत्यभिज्ञा दर्शन से और इससे भी पहले पश्चिम एशिया में फैले बौद्ध शून्यवाद और विज्ञानवाद के कम्बलपाद की आलोकमाला में प्रतिपादित नूतन स्वरूप से इसकी तुलनात्मक समीक्षा अपेक्षित है। इसी तरह से २० वें प्रकरण में (पृ. ३५३-३६०) इन्होंने ईरान के जरथुष्ट्र धर्म से संबद्ध विधि-विधानों की, जेन्दावेस्ता के मन्त्रों की और वैदिक वाङ्मय के साथ इनके संबन्ध की समीक्षा की है। अपने विद्वत्तापूर्ण उपोद्घात में इन विषयों को संमिलित कर झवेरी जी ने प्रशंसनीय कार्य किया था।

श्री झवेरी जी के इस उपोद्घात का नाम "कम्परेटिव एण्ड क्रिटिकल स्टडी आफ मन्त्रशास्त्र" है। इसी नाम से यह अलग से ग्रन्थ के रूप में भी प्रकाशित हो चुका है। मन्त्रशास्त्र का क्षेत्र यहाँ इतना व्यापक कर दिया गया है कि इसकी परिधि में वेद और अवेस्ता के मन्त्र भी आ गये हैं। हमने [1]एक निबन्ध में ऋग्वेद और जेन्दावेस्ता की तुलना करते हुए जेन्दावेस्ता के दो मन्त्र उद्धृत किये हैं—

हावनिम् आ रतुम् आ ह ओमो उपैत् जरथुश्ट्रम्।
आत्रं पइरि-यओजदधन्तम् गाथास् च स्रावयन्तम्।।

आ दिम् परसत् जरथुश्ट्रो को नर अहि।
थिम् अज्ञम् वोस्पहे अन्धमुस् अस्त्वतो स्त्रारशम् दादरस।।

थोड़े से वर्णों में नियम-बद्ध परिवर्तन कर देने से इसकी संस्कृत छाया इस प्रकार बनती है—

---

१. "आगम और तन्त्रशास्त्र" में समाविष्ट "नयी स्थापनाओं की आधारभूमि" शीर्षक निबन्ध (पृ. १४५-१४६) द्रष्टव्य।

सवनिम् आ ऋतुम् आ सोम उपैत् जरथुष्ट्रम्।
अत्रिं परि-योस्-दधन्तं गाथाश्च श्रावयन्तम्।।
आतं पृच्छत् (जरथुष्टः) को नर असि।
यमहं विश्वस्य असोः अस्थिवतः श्रेष्ठं ददर्श।।

इसकी ऋग्वेद की भाषा से तुलना कीजिये। पूना से देवनागरी लिपि में जेन्दावेस्ता का प्रकाशन हो चुका है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से ये एक ही परिवार की भाषाएँ हैं। मन्त्रशास्त्र की दृष्टि से इनका परस्पर विश्लेषण किया जाय, यह उचित ही है। किन्तु जब हम अपने को जैन तन्त्रशास्त्र तक ही सीमित रखना चाहते हैं, तो हम पूरी जैन-परम्परा को इसकी परिधि में नहीं ला सकते। इस दृष्टि से विचार करने पर प्रारंभिक दस प्रकरणों के समान १४वें और १६वें प्रकरण की भी हमारे लिये कोई बहुत उपयोगिता नहीं है। १४वें प्रकरण के परवर्ती काल के आचार्यों का ही इसमें समावेश कर सकते हैं (पृ. १८४-२११)। बृहदितिहास. में समाविष्ट "जैनतन्त्र और साहित्य सम्पदा" (पृ. ४५०-४९०) शीर्षक निबन्ध में तथा "जैनधर्म और तान्त्रिक साधना" के ११वें अध्याय में समाविष्ट पूरी सामग्री को हम इस परिधि में नहीं रख सकते। हमारी दृष्टि में छठी शताब्दी के बाद के साहित्य का यहाँ समावेश होना चाहिये। साथ ही प्रत्येक ग्रन्थ की इस रूप में भी परीक्षा अपेक्षित है कि यहाँ उन तान्त्रिक विषयों की चर्चा है या नहीं, जिनको तान्त्रिक विषयों के रूप में मान्यता मिली हुई है। अनेक शैव, वैष्णव, बौद्ध तान्त्रिक विषयों के मूल उपादान हमें पूर्ववर्ती शैव-वैष्णव आगमों तथा महायान के ग्रन्थों में भी अवश्य मिलते हैं। पूर्ववर्ती जैन आगमों में भी इसकी संभावना हो सकती है, किन्तु स्तूप, चैत्य आदि की वन्दना से संबद्ध साहित्य की तथा [1]मन्दिर आदि से संबद्ध साहित्य की प्रकृति एक-सी नहीं है, इस तथ्य की हम उपेक्षा नहीं कर सकते। जैन तन्त्रों पर विचार करते समय हमें जैन धर्म के दिगम्बर, श्वेताम्बर और स्थानकवासी सम्प्रदायों की प्रवृत्ति के काल पर भी ध्यान देना होगा। जैम तन्त्रशास्त्र के स्वरूप को समझने के लिये इन सम्प्रदायों के विभेदक तत्त्वों की भी समीक्षा करनी होगी।

श्री झवेरी जी ने परवर्ती काल के आचार्यों में वज्रस्वामी, खपुटाचार्य, आचार्य रोहण, यशोभद्र सूरि, मानतुंग, हरिभद्र, बप्पभट्टि जैसे आचार्यों के नाम गिनाये हैं (पृ.१८४-२११)। इन सभी आचार्यों के समय की तथा इनके ग्रन्थों की पूरी सावधानी से परीक्षा होनी चाहिये कि इनके ग्रन्थों में ऊपर निर्दिष्ट तान्त्रिक विषयों का समावेश किस

१. मन्दिर, प्रतिमा आदि का निर्माण कब से प्रारंभ हुआ, श्री झवेरी जी के उपोद्घात (पृ. २००-२११) में इसकी भी चर्चा है। जैन दृष्टि से इस पर विशद विचार अपेक्षित है।

रूप में हुआ है। श्री झवेरी जी ने प्रस्तुत प्रकरण में १०८० वि. संवत् से पूर्ववर्ती आचार्यों का परिचय दिया है। अगले प्रकरण (पृ. २१२-२५४) में इसके बाद के जैन मन्त्रशास्त्रियों का परिचय दिया गया है। इनमें अभयदेव सूरि, वीराचार्य, जिनदत्त सूरि, देवसूरि, हेमचन्द्राचार्य, (मलयगिरि और देवचन्द्र सूरि), पाश्वदिवगणि, श्रीचन्द्रसूरि, सागरचन्द्र सूरि, अमरचन्द्र सूरि, बालचन्द्र सूरि, धर्मघोष सूरि, देवभद्रगणि, पूर्णकलश गणि, जिनप्रभ सूरि, जिनकलश सूरि, भुवनतुंग सूरि, मेरुतुंग सूरि, मुनिसुन्दर सूरि, हेमविमल सूरि, जिनचन्द्र सूरि, उपाध्याय शान्तिचन्द्र, उपाध्याय यशोविजय, उपाध्याय मेघविजय, पण्डित वीरविजय, मुनि महाराज मोहनलाल जी— इन सभी आचार्यों का परिचय दिया गया है। विक्रम की ११वीं शताब्दी से २०वीं शताब्दी तक इनकी स्थिति मानी गई है।

यहाँ (पृ. २३४) टिप्पणी में जैन मत में स्वीकृत ६४ योगिनियों के नाम गिनाये गये हैं। डॉ. सागरमल जी के ग्रन्थ (पृ. ४९-५०) में भी चतुष्षष्टियोगिनीस्तोत्र उद्धृत है। यह भैरवपद्मावतीकल्प (पृ. १०१-१०२) से लिया गया है। इन दोनों नामावलियों में समानता नहीं मिलती। शैव-शाक्त तन्त्रों में उपलब्ध नामावलियों में भी एकरूपता नहीं है। भेड़ाघाट के ६४ योगिनियों के मन्दिर में मूर्तियों के साथ नाम भी उत्कीर्ण हैं। अग्निपुराण (१४६.१२-२१) और प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय (६.३२७-३३५) में स्थित नामावलियों में से इसकी तुलना अपेक्षित है। यहाँ यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि शाक्त तन्त्रों में वर्णित अष्टाष्टक पूजा ६४ योगिनियों और ६४ भैरवों के मेलापक से ही सम्पन्न होती है। स्पष्ट है कि योगिनियों का भैरवों से संबन्ध जैन-तन्त्रों की ही कोई विशेषता नहीं है। इसी तरह से पृ. २३९ की टिप्पणियों में नादोपासक[1] योगी की और लययोग की चर्चा मिलती है। ऊपर उद्धृत आचार्यों के ग्रन्थों में इस तरह की सामग्री की उपलब्धि और उसके गंभीर अनुशीलन के बाद ही जैन तन्त्रशास्त्र का सर्वांगीण विश्लेषण प्रस्तुत किया जा सकता है।

हम ऊपर बता चुके हैं कि इस उपोद्घात के १७वें प्रकरण (पृ. २९५-२९९) में भैरवपद्मावतीकल्प का विस्तृत परिचय दिया गया है। अगले १८वें प्रकरण (पृ. ३००-३०६) में ग्रन्थकार मल्लिषेण सूरि और टीकाकार बन्धुषेण के विषय में विशद जानकारी दी गई है। भैरवपद्मावतीकल्प के नये संस्करण की प्रस्तावना (पृ. २०) में भी ग्रन्थकार मल्लिषेण की गुरु-परम्परा इस तरह से दी गई है— मल्लिषेण के गुरु

---

१. डॉ. सिकदर के निबन्ध (भा. त., पृ. ३१६) में इन्दु, बो(रो)धिनी, नाद, अर्धचन्द्रिका, उन्मनी जैसे सात आकाशों की ध्यानयोग के प्रसंग में चर्चा की गई है। आज्ञाचक्र के पास इनकी स्थिति मानी गई है। शैव-शाक्त तन्त्रों में वर्णित नादयोग, लययोग या जपयोग से इनको समरस किया गया है। स्पष्ट है कि जैन तन्त्रों में भी यह प्रक्रिया निर्दिष्ट है।

जिनसेन, परमगुरु कनकसेन और परमेष्ठिगुरु अजितसेन। इनके द्वारा रचित ग्रन्थों में प्रस्तुत ग्रन्थ के अतिरिक्त सरस्वतीमन्त्रकल्प, ज्वालामालिनीकल्प, महापुराण और नागकुमारचरित्र के नाम भी परिगणित हैं। श्री झवेरी जी इनको दिगम्बर जैन आचार्य बताते हैं और इनके गुरु जिनसेन का परिचय देते हुए कहते हैं कि इन्होंने ऊपर गिनाये गये अपने अन्य ग्रन्थों में भी अपनी गुरु-परम्परा का परिचय दिया है। इनके परमेष्ठी गुरु अजितसेन गंगवंश के राजा राच(ज)मल्ल के राजगुरु, महामात्य और सेनापति चामुण्डराय ही थे। महापुराण के पुष्पिका-वाक्य में ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी, शक संवत् ९६८ (विक्रम संवत् ११०४) तिथि दी गई है। अन्य किसी ग्रन्थ में इस तरह कोई तिथि नहीं मिलती, अतः इसीके आधार पर इनका स्थिति-काल विक्रम की बारहवीं शताब्दी के प्रारंभ में माना जा सकता है।

प्रस्तुत उपोद्घात (पृ. ३००) की टिप्पणी में इनको— गारुडमन्त्रवादवेदी, उभयभाषाकविशेखर, उभयभाषाकविचक्रवर्ती, सकलागमलक्षणतर्कवेदी, सरस्वतीलब्धवर-प्रसाद और योगीश्वर जैसे विशेषणों से सुशोभित किया गया है। इनका महापुराण और नागकुमारचरित्र (काव्य) भी उपलब्ध है। इनके आधार पर इनकी काव्यप्रतिभा और मन्त्रशास्त्र के तलस्पर्शी ज्ञान पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। ये कामचण्डालिनी-(सिद्धायिका)कल्प के भी रचयिता माने गये हैं। सात हजार श्लोक-प्रमाण के ग्रन्थ विद्यानुवाद के कर्ता अथवा सम्पादक भी इनको माना गया है और कहा गया है कि इस ग्रन्थ में बाद में अन्य आचार्यों की कृतियों का भी समावेश हो गया। इस प्रसंग में यहाँ (पृ. ३०१) टिप्पणी में दिये गये ९-११ संख्या के श्लोक अवधेय हैं।

यहीं द्रविड़ संघ के इन्द्रनन्दी के [१]ज्वालामालिनीकल्प की भी चर्चा की गई है। इनके गुरु विप्पनन्दी और परमगुरु वासवनन्दी थे। ये प्रसिद्ध मन्त्रशास्त्री थे। इस ग्रन्थ की रचना का काल ८६१ शक संवत् (९९६ विक्रम संवत्) माना गया है। मतिसागर आदि आचार्यों की भी यहाँ चर्चा की गई है और बताया गया है कि मतिसागर, वादिराज और मल्लिषेण सूरि समसामयिक आचार्य हो सकते हैं। विद्यानुशासन के विषय में यहाँ विस्तार से (पृ. ३०१-३०४) विचार किया गया है। वज्रपंजरविधान और बालग्रहचिकित्सा को भी (पृ. ३०४-३०५) इन्हीं की रचना बताया गया है। कुछ अन्य ग्रन्थों के विषय में कहा गया है कि ये ग्रन्थ इनके नहीं हो सकते। श्री नाथूराम प्रेमी के ग्रन्थ "जैन साहित्य और इतिहास" की भी एकाधिक वार चर्चा की गई है। [२]देवसेन सूरि के ग्रन्थ

---

१. ऊपर की पृ. ७८१ की पहली टिप्पणी देखिये।

२. नन्दी के 'इंस्टीटच्यूशंस' (पृ. ४९) में दर्शनसार चर्चित है। टिप्पणी में इसका रचनाकाल ८४३ ई. बताया गया है।

दर्शनसार के प्रमाण से द्रविड़ संघ को यहाँ (पृ. ३०२) **जैनाभास** कहा गया है। मन्त्र, निमित्त और ओषधी शब्दों से हम "चिकित्सित-ज्यौतिष-मन्त्रवादा:" (पृ. ६३ टि.) का ग्रहण कर सकते हैं। मान्त्रिक में इन सबका समवाय अपेक्षित है। वनवासी, चैत्यवासी, मठपति जैसे शब्दों का प्रयोग विभिन्न सम्प्रदायों के लिये हुआ है। इन शब्दों में निहित विभिन्न विचारधाराओं की सूक्ष्म परीक्षा अपेक्षित है। तभी हम जैन तन्त्रशास्त्र के सही स्वरूप के निर्धारण में समर्थ हो सकते हैं।

भैरवपद्मावतीकल्प की टीका के द्वितीय मंगल पद्य से ज्ञात होता है कि टीकाकार का नाम बन्धुषेण है। इनके विषय में अधिक कुछ जानकारी नहीं मिलती। नाम के साथ सेन शब्द की संयुति से हम कह सकते हैं कि ये सेन गण या संघ से संबद्ध थे, जो **पंचस्तूपान्वय**[1] से जुड़ा हुआ था। मंगल पद्य[2] में 'बन्धुषेणै:' इस तरह नाम के साथ बहुवचन संयुक्त है, अत: श्री झवेरी जी का अनुमान है कि ये अपने सम्प्रदाय के विशिष्ट आचार्य हो सकते हैं। यों इसका एक दूसरा पक्ष भी है। तत्त्वप्रकाशकार भोजदेव ने— "तत्त्वप्रकाश एषोऽस्माभि: क्रियते" (श्लो. ४) यहाँ बहुवचन का प्रयोग किया है। टीकाकार कुमारदेव का कहना है— "आत्मनि गुरुषु बहुवचनविधानादस्माभिरिति बहुवचननिर्देश:" (पृ. १३)। इस मर्यादा के अनुसार भी यहाँ बहुवचन का प्रयोग माना जा सकता है। टीकाकार ने कुछ स्थलों पर कन्नड़ शब्दों का प्रयोग किया है, अत: ये उसी राज्य के हो सकते हैं और इनका ग्रन्थकार मल्लिषेण से भी संबन्ध हो सकता है।

अन्त में (पृ. ३०६) विद्यानुशासन की पुन: चर्चा करते हुए श्री झवेरी जी ने मल्लिषेण के ग्रन्थों को उद्धृत कर उनके पुराण साहित्य के, विशेषकर गरुडपुराण और नारदीय महापुराण के ज्ञान की चर्चा की है। स्पष्ट है कि मल्लिषेण अपने समय के प्रसिद्ध जैन मन्त्रशास्त्री थे।

भैरवपद्मावतीकल्प के प्रथम पाँच अधिकारों में प्रतिपादित विषयों की ऊपर चर्चा आ चुकी है। आगे अंगनाकर्षण, वशीकरण यन्त्र, दर्पणादि निमित्त, वशीकरण तन्त्र और गारुड नामक अधिकारों में प्राय: ऐहलौकिक कल्याण के उपादानों की ही चर्चा की गई है। इस ग्रन्थ के वाराणसी-दिल्ली संस्करण में प्राय: सभी मुख्य प्रतिपाद्य विषयों की जानकारी अनुक्रमणिका के माध्यम से मिल सकती है। श्री झवेरी जी के उपोद्घात के प्रथम दस प्रकरणों में प्राय: इन्हीं सब विषयों पर विचार किया गया है।

---

१. नन्दी के इंस्टीटचूशंस (पृ. ४९-५०) में इसी अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त है। इसके लिये वहाँ (पृ. १४८) पंचस्तूपकुलान्वय शब्द भी प्रयुक्त है। ४७९ ई. के शिलालेख में यह चर्चित है।

२. यह ध्यान देने की बात है कि प्राचीन संस्करण में उपलब्ध टीकाकार के दोनों मंगलपद्य दिल्ली से प्रकाशित नूतन संस्करण में नहीं मिलते।

आधुनिक जैन विद्वान् जैन तन्त्रशास्त्र की प्रवृत्ति का प्रमुख कारण भी इन्हीं विषयों को मानते हैं। यहाँ ईसा-पूर्व प्रादुर्भूत साहित्य को और बारहवीं शताब्दी के बाद पुनरुद्धार के रूप में प्रस्तुत बंगीय तन्त्र साहित्य को एक साथ मिला दिया गया है। संमोहन, आकर्षण, विद्वेषण, उच्चाटन, वशीकरण और स्तंभन के नाम से प्रसिद्ध षट्कर्मों तक तथा दर्पण आदि ऐन्द्रजालिक निमित्तों तक ही तन्त्रशास्त्र सीमित नहीं है। क्रूर कर्मों के अतिरिक्त शान्तिक, पौष्टिक आदि सौम्य कर्मों का भी विधान आगम-तन्त्रशास्त्र में है। पंचमकार की साधना केवल कौल-तन्त्रों तक ही सीमित है। समस्त तान्त्रिक वाङ्मय को उसकी परिधि में नहीं लाया जा सकता। जैन-तन्त्रों को भी उससे मुक्त ही मानना उचित होगा। [1]मन्त्रवाद का निषेध नेत्रतन्त्र (मृत्युंजयभट्टारक) जैसे कश्मीरी तन्त्रों में भी मिलता है। मारण, मोहन आदि षट्कर्मों की प्रवृत्ति अथर्ववेद और उसके कल्पसूत्रों के काल से ही चली आ रही है और लोक-व्यवहार में भी इनकी प्रवृत्ति अतिप्राचीन काल से चली आ रही है। गारुड़ाधिकार की पूरी सामग्री गारुड़ तन्त्रों में मिलती है और शैवागमों में पंचवक्त्र शिव के पूर्व तत्पुरुष वक्त्र से गारुड़ तन्त्रों की प्रवृत्ति मानी गई है। २८ गारुड़ तन्त्रों की नामावली प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय (२. ११२-११५) में देखी जा सकती है। इनमें से तोतुलतन्त्र नेत्रतन्त्र और स्वच्छन्दतन्त्र की क्षेमराज कृत उद्योत टीका में उद्धृत है। विषचिकित्सा का चिकित्साशास्त्र से तो संबन्ध है ही। आगम-तन्त्रशास्त्र का अनुशीलन बिम्बोपासना (साकारोपासना) से संबद्ध साहित्य के प्रारंभ के साथ हो, यही उचित पक्ष प्रतीत होता है।

इस प्रकार हमने यहाँ भैरवपद्मावतीकल्प और उसके साथ जुड़े हुए श्री झवेरी जी के विस्तृत उपोद्घात का संक्षिप्त एवं सामान्य परिचय दिया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ५५ वर्ष पहले लिखे गये इस उपोद्घात के बाद जैन तन्त्रों का अनुशीलन शायद आज भी आगे नहीं बढ़ सका। इस मनीषी के प्रति हम अत्यन्त आदर के साथ अपना हार्दिक अभिनन्दन प्रस्तुत करते हैं। हिन्दु विश्वविद्यालय में अभी सन् १९९६ में सम्पन्न हुई गोष्ठी का जैन-तन्त्र संबन्धी एक सत्र पार्श्वनाथ विद्यापीठ में हुआ था। उसमें पढ़े गये निबन्धों का प्रकाशन अभी तक नहीं हुआ है। लखनऊ के संस्कृत संस्थान (अकादमी) से संस्कृत वाङ्मय के बृहत् इतिहास के एकादश तन्त्रागम खण्ड का जब मुद्रण हो रहा था, तब हमारे पास दमोह (मध्यप्रदेश) से श्री सिंघई जी का दि. ३.१.९४

१. मन्त्रवाद के विषय में हम नेत्रतन्त्र के उपोद्घात (पृ. २८-३३, ४५-४७) में पर्याप्त लिख चुके हैं। नेत्रतन्त्र का यह स्पष्ट कथन है— "मन्त्रवादो हि सर्वत्र न कार्यः शिवचिन्तकैः" (२०. ५७), "यदीच्छेदुत्तमां सिद्धिं मोक्षं वा शाश्वतं ध्रुवम्। मन्त्रवादो न कर्तव्य इत्याह परमेश्वरः।।" (२०. ६३-६४), "यदि कुर्याद् विनश्यति" (२०.६५)। अहिंसावादी जैनों को भी यही अभिप्रेत है।

का एक पत्र आया था कि उनके पास जैन-तन्त्र संबन्धी पर्याप्त सामग्री विद्यमान है। हमने उस सामग्री को भेजने का उनसे अनुरोध किया था। विविध रूपों में उन्हींके नाम से इस सामग्री का उपयोग हो सकता था, किन्तु उक्त ग्रन्थ में अब उसका समावेश नहीं हो सकता, यह जानकर उन्होंने वह सामग्री नहीं भेजी। हिन्दु विश्वविद्यालय में सम्पन्न हुई गोष्ठी के साथ इस सामग्री के प्रकाशन के लिये भी प्रयत्न होना चाहिये।

३. जैन धर्म और तान्त्रिक साधना

डॉ. सागरमल जैन के ग्रन्थ "जैन धर्म और तान्त्रिक साधना" का पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी से अभी सन् १९९७ में प्रकाशन हुआ है। इसका भी संक्षिप्त परिचय हम दे देना चाहते हैं। लगभग ५०० पृष्ठों का यह ग्रन्थ १२ अध्यायों में विभक्त है और १२वें अध्याय के रूप में समाविष्ट परिशिष्ट (पृ. ३६८-४६९) में जैनाचार्यों द्वारा लिखित विभिन्न तान्त्रिक स्तोत्र संगृहीत हैं। ग्रन्थ के प्रारंभ में प्रकाशकीय वक्तव्य के अतिरिक्त १३ पृष्ठ की एक भूमिका भी है। शेष ११ अध्यायों के शीर्षक इस प्रकार हैं—

१. तन्त्रसाधना और जीवन-दृष्टि।
२. जैन देवकुल के विकास में हिन्दू तन्त्र का अवदान।
३. पूजाविधान और धार्मिक अनुष्ठान।
४. जैन धार्मिक अनुष्ठानों में कलातत्त्व।
५. मन्त्र-साधना और जैन धर्म।
६. स्तोत्रपाठ, नामजप एवं मन्त्रजप।
७. यन्त्रोपासना और जैन धर्म।
८. ध्यान-साधना और जैन धर्म।
९. कुण्डलिनी जागरण एवं षट्चक्रभेदन-जैन दृष्टि।
१०. तान्त्रिक साधना के विधिविधान।
११. जैन धर्म का तन्त्रसाहित्य।

प्रस्तुत ग्रन्थ का सामान्य परिचय इससे मिल जाता है। जैन तन्त्रशास्त्र के प्रति जैन विद्वानों के सामान्य दृष्टिकोण की चर्चा हम प्रारंभ में कर चुके हैं। इस विषय में अब कुछ न कहकर प्रस्तुत ग्रन्थ का मात्र एक विहगावलोकन करना चाहते हैं। यहाँ (पृ. १८) जैन-परम्परा के आर्यखपुट आदि आचार्यों की एवं उनके काल की सूचना देते हुए संक्षिप्त नामावली दी गई है। आगे ११वें परिच्छेद (पृ. ३४८-३६७) में जैन-तन्त्र साहित्य के नाम पर ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी से लेकर विक्रम की वर्तमान २१वीं

शताब्दी तक के चुने हुए ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का परिचय दिया गया है। यहाँ दिये गये नामों की हमें सूक्ष्म परीक्षा करनी होगी कि ऊपर दी गई आगम-तन्त्रशास्त्र की परिभाषा के अन्तर्गत किन ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का समावेश किया जा सकता है। प्रत्येक ग्रन्थ-ग्रन्थकार के परिचय के साथ उसके प्रकाशन की तिथि और स्थान की जानकारी देना भी आवश्यक है। जैन साहित्य में ६३ शलाकापुरुष प्रसिद्ध हैं। हेमचन्द्राचार्य रचित त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में इनका परिचय दिया गया है। इसी तरह से सिद्धान्तशैव और वीरशैव मत में भी ६३ शिवभक्त प्रसिद्ध हैं। इनकी तुलनात्मक समीक्षा अपेक्षित है। जैन तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों के बीच में कोकशास्त्र की चर्चा (पृ. ३६३) अजीब सी लगती है। वास्तव में यह कामशास्त्र का ग्रन्थ है, तन्त्रशास्त्र का नहीं। आत्म-पर-योग-तत्त्व (गुह्य) नामक चार पीठों के प्रतिपादक बौद्ध चतुष्पीठतन्त्र के अन्तिम गुह्यपीठ की स्थिति भी प्राय: इससे मिलती-जुलती है।

बौद्ध एवं शैव-शाक्त तन्त्रों में दस महाविद्याओं की अपनी-अपनी पद्धति से उपासना विहित है और इनका स्वरूप भी भिन्न प्रकार का है। शक्तिसंगमतन्त्र (४.१.३-८) में दस के अतिरिक्त तेरह, सोलह और इक्यावन महाविद्याएँ निर्दिष्ट हैं, किन्तु जैन तन्त्रों में वर्णित सोलह विद्याओं से ये पूरी तरह से भिन्न हैं। त्रिपुरा तन्त्रों में षोडश नित्याओं की उपासना प्रधान रूप से वर्णित है, किन्तु इन षोडश नित्याओं की नामावली भी षोडश विद्याओं की नामावली से भिन्न है। जैन तन्त्रों की षोडश विद्याओं की नामावली प्रस्तुत ग्रन्थ में इस प्रकार दी गई है— १. रोहिणी, २. प्रज्ञप्ति, ३. वज्रशृंखला, ४. वज्रांकुशी, ५. अप्रतिचक्रा, ६. नरदत्ता, ७. काली, ८. महाकाली, ९. गौरी, १०. गान्धारी, ११. महाज्वाला, १२. मानवी, १३. वैरोटया, १४. अच्युता, १५. मानसी और १६. महामानसी (पृ. २५)। विद्या और मन्त्र के अन्तर को बताते हुए यहाँ भी यही कहा गया है कि स्त्री-देवता से अधिष्ठित विद्या और पुरुष-देवता से अधिष्ठित मन्त्र हैं (पृ. २५)। इन षोडश विद्यादेवियों की और तीर्थंकरों की २४ यक्षिणियों की नामावली संहितासार (९३९ ई.) स्तुतिचतुर्विंशति और बप्पभट्टसूरि कृत चतुर्विंशतिका में मिलती है।

इसी सातत्य में डॉ. सागरमल जैन लिखते हैं कि सोलह विद्यादेवियों के अंकन का मुख्य रूप से श्वेताम्बर परम्परा में अधिक प्रचलन रहा है। इनका प्राचीनतम अंकन ओसिया (९वीं शती), कुम्भारिया (११वीं शती), आबू (१२वीं शती), आबू लुणगसही (१३वीं शती) में मिलता है। दिगम्बर परम्परा में महाविद्याओं का अंकन मात्र खजुराहो (११वीं शती) में ही उपलब्ध है। इन सब सूचनाओं के साथ इन महाविद्याओं के नामों एवं प्रतिमा-लक्षणों की एक सूची उन्होंने डॉ. मारुतिनन्दन तिवारी के ग्रन्थ "जैन प्रतिमा

विज्ञान" के आधार पर दी है (पृ. २६-२८)। इसी प्रसंग में यहाँ (पृ. ३१-३७) "तीर्थंकरों के लांछन एवं यक्ष-यक्षिणियाँ" तथा "यक्ष-यक्षिणी मूर्तिविज्ञान" शीर्षक दो तालिकाएँ भी दी गई हैं। आगे की एक अन्य तालिका (पृ. ३८-४१) में यक्ष-यक्षिणियों के वाहन, भुजा और आयुधों का विवरण है।

डॉ. सागरमल जैन का इस प्रसंग में भी स्पष्ट निर्देश है कि जैन-परम्परा में स्त्री या शस्त्र से युक्त देवों या देव-प्रतिमाओं को आराध्य या उपास्य मानने का स्पष्ट निषेध है, किन्तु कालान्तर में हिन्दू-परम्परा के प्रभाव से २४ तीर्थंकरों से अतिरिक्त देव-प्रतिमाओं में शस्त्रों का प्रदर्शन जैन-परम्पराओं में भी मान्य हो गया। ज्ञातव्य है कि यह सब तीर्थंकरों से निम्न श्रेणी के देवों के संबन्ध में ही मान्य हुआ है (पृ. २८)। इस मान्यता के काल को ही जैन तन्त्रों की प्रवृत्ति का काल मानकर तदनुरूप ही जैन तन्त्र-साहित्य का अनुशीलन होना चाहिये। केवल जैन धर्म की ही नहीं, वैदिक और बौद्ध धर्म की भी ऐसी ही स्थिति थी। कामदेव को भस्म कर देने वाले भगवान् शिव के और मारविजयी भगवान् बुद्ध के अनुयायी जिस परिवर्तन से गुजरे, उससे जैन धर्म बच नहीं सकता था। बिम्ब (मूर्ति) की आराधना के साथ उससे संबद्ध पूजा-पद्धति का आविर्भाव सभी तत्कालीन भारतीय धर्मों में हुआ है।

डॉ. जैन का स्वयं ही कहना है कि जैन धर्म में शासन-देवताओं के रूप में यक्ष-यक्षिणियों की उपासना वस्तुतः छठी शती में ही प्रारंभ हुई है। इसके पूर्व के साहित्यिक साक्ष्यों और पुरातात्त्विक अवशेषों में इनके संबन्ध में कोई भी संकेत उपलब्ध नहीं है, किन्तु इतना निश्चित है कि लगभग आठवीं शती में २४ तीर्थंकरों के २४ यक्ष और २४ यक्षिणियों की पूरी सूची बन गई थी (पृ. ३०)।

बृहदितिहास, के "जैन-तन्त्र के देवी-देवता" (पृ. ४५२-४५३) शीर्षक के अन्तर्गत सोलह विद्यादेवियों तथा तीर्थंकरों से संबद्ध यक्ष-यक्षिणियों, अर्थात् शासनदेवों और शासनदेवियों, इनके वाहन, वर्ण, भुजा आदि का विस्तृत वर्णन निर्वाणकलिका के आधार पर किया गया है। इनके अतिरिक्त श्रुतदेवता (सरस्वती), ६४ योगिनियों तथा मणिभद्र एवं घण्टाकर्ण नामक यक्षों की भी पूजा जैन धर्म में प्रचलित है। यही विषय भारतीय तन्त्रशास्त्र (पृ. ३०९-३११) में समाविष्ट डॉ. सिकदर के निबन्ध में भी चर्चित है। यहाँ योगिनियों के साथ क्षेत्रपाल का भी उल्लेख है और शासनदेवियों की नामावली भी दी गई है। डॉ. सिकदर ने सूचित किया है कि कल्याण के शक्ति अंक में प्रकाशित "जैन धर्म में शक्ति पूजा" (पृ. ५६५) शीर्षक निबन्ध में भी इस विषय को देखा जा सकता है।

इतनी स्पष्ट परिस्थितियों के उपलब्ध हो जाने के बाद भी जैन तन्त्रों की अस्वीकृति की मानसिकता भारतीय तन्त्रशास्त्र के विकृत अध्ययन से पैदा हुई है। इसका सही उपचार तन्त्रशास्त्र की विभिन्न शाखाओं के सतर्क अध्ययन से ही हो सकता है। वे इतना अवश्य कह सकते हैं कि जैन तन्त्रों पर कौल तन्त्रों का प्रभाव नहीं के बराबर है।

समालोच्य ग्रन्थ के पंचम अध्याय में भूमिशुद्धि, [१]न्यास, सकलीकरण, आवाहन, संनिधान, अवगुण्ठन, छोटिका, अमृतीकरण, विसर्जन जैसे विषयों की चर्चा आई है (पृ. १३७-१४०)। इसी तरह से दसवें अध्याय (पृ. ३२१-३४७) में भी न्यास, सकलीकरण, दिग्बन्धन (छोटिका) [२]मुद्रा, [३]मण्डल, पंचोपचार, दीक्षाविधान जैसे विषय चर्चित हैं। ये सभी विषय प्रायः सभी तन्त्रों में वर्णित हैं। इनकी भी तुलनात्मक समीक्षा अपेक्षित है। सकलीकरण, आवाहन, संनिधान, संनिरोधन, अवगुण्ठन, अमृतीकरण जैसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग सिद्धान्तशैव और वीरशैव आगमों में भी मिलता है। त्रिलोचन शिवाचार्य के सिद्धान्तसारावलि नामक ग्रन्थ में इनका विशेष विवेचन मिलता है। छोटिका का उपयोग दिग्बन्धन और विघ्नापसारण के लिये किया जाता है। भौम, आन्तरिक्ष और दिव्य के भेद से ही विघ्न तीन प्रकार के माने गये हैं। इनके अपसारण की विधि योगिनीहृदय (त्रिपुरा-तन्त्र) में इस प्रकार बताई गई है—

पार्ष्णिघातेन भौमांश्च तालेन च नभोगतान्।
अस्त्रमन्त्रेण दृष्ट्या च दिव्यान् विघ्नानपोहयेत्।।

इसका अभिप्राय यह है कि पार्ष्णि (एडी) पर तीन बार आघात कर भूमिगत विघ्नों को अस्त्र मन्त्र का उच्चारण करते हुए निकाल भगावे। तीन बार ताली बजाकर अस्त्र मन्त्र का उच्चारण करते हुए अन्तरिक्षगत विघ्नों का अपसारण करे और अपनी तिरछी दृष्टि से अस्त्र मन्त्र का उच्चारण करते हुए दिव्य विघ्नों को निकाल भगावे।

---

१. भारतीय तन्त्रशास्त्र (पृ. २५५-२५६) में न्यास संबन्धी जैन मान्यताओं को स्पष्ट किया गया है। वज्रपंजर (आत्मरक्षा रूप न्यास) कवच को धारण करने का विधान भी वहाँ बताया गया है। डॉ. सा. जैन ने कल्मषदहन, हृदयशुद्धि, पिण्डशुद्धि और निर्मलीकरण के लिये न्यास और सकलीकरण की आवश्यकता को स्पष्ट किया है। (पृ. ३२०-३२७)।

२. विस्तृत परिचय प्रस्तुत ग्रन्थ (पृ. ३२९-३३४) में ही देखिये। भारतीय तन्त्रशास्त्र (पृ. २५३-२५४) में मुद्रा संबन्धी जैन मान्यताओं को स्पष्ट किया गया है। भैरवपद्मावतीकल्प के अहमदाबाद संस्करण में कुछ मुद्राओं के चित्र दिये गये हैं।

३. प्रस्तुत ग्रन्थ में वर्णित मण्डलों का परिचय आगे (पृ. ८०१) दिया गया है।

जैन षडावश्यकों के साथ संख्या-साम्य के आधार पर मारण-मोहन आदि तान्त्रिक षट्कर्मों की और उनमें प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों की भी यहाँ (पृ. १४० -१४५) चर्चा कर जैन दृष्टि से इसकी समीक्षा की गई है। नवग्रहों की शान्ति के लिये तो आज वैदिक अथवा तान्त्रिक पद्धति से भी सर्वत्र अनुष्ठान किये जाते हैं। यहाँ (पृ.१४९-१५३) भी इनकी शान्ति के लिये मन्त्रों के प्रयोग बताये गये हैं।

भैरवपद्मावतीकल्प में—

तोतला त्वरिता नित्या त्रिपुरा कामसाधनी।
देव्या नामानि पद्मायास्तथा त्रिपुरभैरवी।। (१.३)

यहाँ नित्या, त्रिपुरा और त्रिपुरभैरवी के नाम से भी देवी पद्मावती स्मृत है। धर्माचार्य के लघुस्तव को जैन सम्प्रदाय में भी मान्यता मिली है। मुनि जिनविजय जी इस स्तोत्र का पाठ किया करते थे और राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला के **प्रथम पुष्प** के रूप में जैन आचार्य सोमतिलक सूरि की वृत्ति के साथ लघु पण्डित (धर्माचार्य) के इस स्तव को संपादित कर उसका प्रकाशन कराया था। अपने प्रास्ताविक में उन्होंने लिखा है कि इस लघुस्तुति का प्रचार जैन सम्प्रदाय में भी प्राचीन काल से बहुत अधिक रूप में प्रचलित रहा है (पृ. २)। जैन धर्मवलम्बी प्रभाचन्द्राचार्य की कृति प्रभावकचरित में भी धर्म पण्डित की चर्चा मिलती है। वहाँ बताया गया है कि ये भृगुकच्छ (गुजरात) के निवासी थे। ये लघुस्तुति के कर्ता धर्माचार्य से अभिन्न हैं। इसी तरह से श्री नाथूराम प्रेमी ने अपने ग्रन्थ "जैन साहित्य और इतिहास" में कवि हस्तिमल्ल की चर्चा की है। ये त्रिपुरासारसमुच्चय के कर्ता नागभट्ट से अभिन्न हैं। त्रिपुरा सम्प्रदाय के इन दोनों आचार्यों के विषय में हमने अपने ग्रन्थ "आगम और तन्त्रशास्त्र" में प्रकाशित "योगी अमृतानन्द" शीर्षक निबन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला है (पृ. ८४-८७)।

इस त्रिपुरा सम्प्रदाय में षोडश तिथि-नित्याओं की उपासना निर्दिष्ट है। इस सम्प्रदाय के प्रमुख एवं प्राचीन ग्रन्थ का नाम नित्याषोडशिकार्णव है। विभिन्न चार टीकाओं के साथ यह ग्रन्थ तीन स्थानों से प्रकाशित हो चुका है। ऋजुविमर्शिनी और अर्थरत्नावली नाम की दो टीकाओं के साथ यह ग्रन्थ सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय की योगतन्त्र ग्रन्थमाला के **प्रथम पुष्प** के रूप में प्रकाशित हुआ है। इसके विस्तृत उपोद्घात (पृ. १०४-१०७) में षोडश नित्याओं की अनेक प्रकार की उपासना विधि निरूपित है। यदि इनमें से एक विशिष्ट प्रकार से षोडश विद्याओं की भी उपासना की जाती हो, तो उसमें कोकशास्त्र की आवश्यकता पड़ सकती है। कर्णाटक के लक्ष्मीधर ने सौन्दर्यलहरी की टीका में यह वाक्य उद्धृत किया गया है— "तत्र सुरामांसमधु-

मत्स्यादिद्रव्यैः समाराधनं वामाचारप्रवृत्त्या प्रत्यक्षत्रिकोणे बिन्दुस्थानं मन्मथच्छत्रं कृत्वा सम्पूजयन्ति। अधोमुखं त्रिकोणमधोमुखमेव छत्रं पूजयन्ति। दिगम्बरक्षपणकादयस्तु स्त्रियमुत्तानां कृत्वा ऊर्ध्वं त्रिकोणं पूजयन्तीति रहस्यम्" (पृ. १८३, तवाधारे ४१ इति श्लोकव्याख्यायाम्)। "भारतीय तन्त्रशास्त्र" (पृ. ३२५) के अनुसार जैन तन्त्रों में पंचमकार की जगह उड़द और तिल के होम का विधान भी परोक्ष रूप से इसकी सत्ता को स्वीकार कर लेता है। यों लघुपण्डित (धर्माचार्य) ने भी विप्र के लिये क्षीर का ही विधान किया है। यही न्याय जैन तन्त्रों पर भी लागू हो सकता है।

"जैन धर्म और तान्त्रिक साधना" के छठे अध्याय (पृ. १५५-१७५) में [1]स्तोत्रपाठ, नामजप एवं मन्त्रजप जैसे विषयों का परिचय दिया गया है, यह बताया जा चुका है। मालाजप के प्रसंग में यहाँ (पृ. १६३-१७३) करावर्तजप, आनुपूर्वीजप आदि का सचित्र परिचय दिया गया है। इस तरह का वर्णन अन्यत्र नहीं मिलता। मालाजप के विविध रूपों के साथ जप के मानस, उपांशु और भाष्य नामक तीन भेदों का भी स्वरूप यहाँ बताया गया है। इस त्रिविध जप की चर्चा मनुस्मृति (२.८५) में भी मिलती है और परवर्ती तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में इन पर विस्तार से विचार किया गया है। इस विषय को हम केवल तन्त्रशास्त्र तक सीमित नहीं कर सकते।

सातवें अध्याय (पृ. १७६-२५५) का शीर्षक यन्त्रोपासना है। प्राचीनतम जैन यन्त्रों के साथ अंक यन्त्रों तक का सचित्र स्वरूप यहाँ प्रदर्शित है। भक्तामरस्तोत्र के सभी ४८ श्लोक [2]यन्त्रगर्भित हैं। इन सभी का उद्धार यहाँ (पृ. १८०-२०३) चित्रों के माध्यम से किया गया है। आगे २४ तीर्थंकरों के अनाहत यन्त्रों के चित्र, जैनसिद्धान्तकोश में संगृहीत ४८ यन्त्रों की नामावली, भैरवपद्मावतीकल्प में संगृहीत यन्त्र, लघुविद्यानुवाद में संगृहीत यन्त्र— इन सबका यहाँ सचित्र विवरण दिया गया है। इस अध्याय के अन्तिम पृष्ठों (पृ. २५२-२५४) में कुछ अंक-यन्त्र चित्रित हैं। शिवताण्डवतन्त्र में इन अंक यन्त्रों

---

१. तन्त्रशास्त्र में अपने आराध्य देवता की उपासना स्तोत्र, कवच, हृदय, शतनाम, सहस्रनाम, ध्यान, मन्त्रोद्धार, यन्त्रोद्धार आदि के रूप में पंचांग अथवा दशांग पद्धति से की जाती है। शाक्तप्रमोद में दस महाविद्याओं की उपासनाविधि इसी पद्धति से बताई गई है।

२. भक्तामरस्तोत्र के यन्त्रोद्धारात्मक स्वरूप की चर्चा यहाँ की गई है। सौन्दर्यलहरी का भी इस प्रकार का स्वरूप मद्रास संस्करण में देखने को मिलता है। नवीं शताब्दी के वैरोट्या स्तव की भी चर्चा की गई है। जिनसेन के जैन महापुराण (आदिपुराण) में जिनसहस्रनाम उपलब्ध है। इन सबसे सूचित होता है कि सातवीं-आठवीं शताब्दी के बीच जैन साहित्य में भी इस तरह की रचनाएँ होने लगी थीं। डॉ. ढाकी ने इनका समय नवीं शताब्दी बताया है। महाभारत में विद्यमान विष्णुसहस्रनाम और बौद्ध नामसंगीति प्राचीन ग्रन्थ माने गये हैं।

का विस्तार से वर्णन किया गया है। दो टीकाओं के साथ इस तन्त्र की अनेक मातृकाएँ उपलब्ध हैं। नीलकण्ठी टीका के साथ लीथो टाइप में इसका मुद्रण हुआ है, ऐसी सूचना मिलती है।

आठवें अध्याय (२५६-३०२) में जैन ध्यान-साधना का अच्छा परिचय दिया गया है। इनमें दो-तीन विषयों की ओर हम प्रबुद्ध पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। यहाँ (पृ. २६७-२७०) आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र (१२. २) के आधार पर मन की विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट और सुलीन नामक चार अवस्थाओं का परिचय दिया गया है। अन्य विद्वानों ने भी इस प्रसंग में बताया है कि हेमचन्द्र ने [1]स्वानुभव के आधार पर मन के इन चार रूपों को प्रस्तुत किया है। इस विषय में हम देवीकालोत्तरागम की प्रस्तावना (पृ. ८-९) में बता चुके हैं कि सिद्धान्तशैवागम के ग्रन्थ निश्वासकारिका में विक्षिप्त, गतागत, संश्लिष्ट और स्वलीन नामक मन की चार अवस्थाएँ वर्णित हैं। स्वल्प पाठभेद के सिवाय इनमें कोई अन्तर नहीं है। इन वचनों का संकलन लुप्तागमसंग्रह के प्रथम भाग (पृ. ७१-७२) में किया गया है। निश्वासागम एक प्राचीन शैवागम है। सातवीं शताब्दी के बौद्ध आचार्य पद्मवज्र ने अपनी गुह्यसिद्धि (८.१२) में कालोत्तर के साथ इसे भी उद्धृत किया है। इसी के उपागम के रूप में निश्वासकारिका का नाम कामिक, अजित आदि शैवागमों में वर्णित २०७ उपागमों की नामावली में मिलता है। अतः यह मानना पड़ेगा कि हेमचन्द्र के सामने यह ग्रन्थ अवश्य विद्यमान था। स्पष्ट है कि केवल जैन योग-दर्शन के अंग के रूप में इसको प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

ध्यान के प्रसंग (पृ. २८७-२९२) में पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानों की तथा पार्थिवी, आग्नेयी, वायवीया, वारुणी और तत्त्वमयी धारणाओं की भी यही स्थिति है। यद्यपि हेमचन्द्र के योगशास्त्र से पहले शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव की स्थिति मानी जाती है और उसमें भी ये सभी विषय वर्णित हैं, तो भी कश्मीर शैवागम के प्रसिद्ध ग्रन्थ मालिनीमत (विजय) में इन सभी विषयों का विस्तार से वर्णन मिलता है। अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक (१.१८) के अनुसार कश्मीर के प्रत्यभिज्ञा दर्शन की प्रतिष्ठा में मालिनीमत का विशिष्ट स्थान माना गया है। "मालिनीमत में वर्णित

१. ज्ञान के तीन अथवा चार स्रोतों की चर्चा हम शैव एवं बौद्ध प्रकरणों में कर चुके हैं। योगशास्त्र के रचयिता प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र ने भी— "या शास्त्रात् सुगुरोर्मुखादनुभवाच्चापि" (१२.५५) इस तरह से ज्ञान के तीन स्रोतों की चर्चा की है। यहीं के एक वचन से यह भी ज्ञात हो जाता है कि इन्होंने स्वयं ही अपने योगशास्त्र पर वृत्ति भी लिखी है। स्वोपज्ञ वृत्ति के साथ इनका यह योगशास्त्र प्रकाशित हो चुका है।

योगपद्धति" शीर्षक निबन्ध में हमने मालिनीमत के इन अंशों की पर्याप्त समीक्षा की है। स्पष्ट है कि जैन तन्त्रों में इन विषयों को अन्य तन्त्रों से संगृहीत कर उनकी अपनी पद्धति से व्याख्या की गई है।

आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र के प्रमाण से भौम, वारुण, वायव्य और आग्नेय मण्डलों का सचित्र परिचय यहाँ (पृ. ३३४-३३७) दिया गया है। साथ ही पुरन्दर, वरुण, पवन और दहन नामक नासान्तरचारी चार वायुओं को भी पृथ्वी, जल, वायु और तेजस्तत्त्व के प्रतिनिधि के रूप में स्थापित किया गया है। शाक्त त्रिपुरा-तन्त्रों में का-पू-जा-ओं[१] इन चार पीठों का भी वर्णन कुछ इसी तरह का मिलता है। योगिनीहृदय (१.४१-४३) में इसे देखा जा सकता है। वहाँ इन पीठों की स्थिति [२]कन्द (पिण्ड), पद, रूप और रूपातीत में मानी गई है। इन पीठों का आकार भौम, वारुण, वायव्य और आग्नेय मण्डलों के जैसा ही है। टीकाकार अमृतानन्द ने इस प्रसंग में एक श्लोक उद्धृत किया है—

पिण्डं कुण्डलिनी शक्तिः पदं हंसः प्रकीर्तितः।
रूपं बिन्दुरिति ख्यातं रूपातीतं तु चिन्मयम्।।

इसके अनुसार पिण्ड (कन्द) ही कुण्डलिनी शक्ति है, पद को ही हंस माना गया है, रूप ही बिन्दु और चिन्मय तत्त्व ही रूपातीत है। इनके स्थान मूलाधार, हृदय, भ्रूमध्य और ब्रह्मरन्ध्र हैं (पृ. ५९)। तात्पर्य यह है कि इन्हीं स्थानों में चार पीठों और चार मण्डलों की स्थिति यहाँ प्रदर्शित है। ध्यान देने की बात यह है कि त्रिपुरा-तन्त्रों में पुरन्दर आदि चतुर्विध वायुओं की कोई चर्चा नहीं है।

---

१. भारतीय तन्त्रशास्त्र (पृ. २५४-२५५) में पीठों के विषय में जो कुछ कहा गया है, उससे स्थिति स्पष्ट नहीं होती। सिंहतिलक सूरि के मन्त्रराजरहस्य (पृ. ४७) में चार पीठों की चर्चा आती है। उनका क्रम वहाँ इस प्रकार दिया गया है— उ. जा. का. पू.। उड्याण पीठ में भगवती त्रिपुरा की उपासना की जाती है। इससे भी जैन तन्त्रों की स्थिति स्पष्ट होती है।

२. शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव और हेमचन्द्र के योगशास्त्र में पिण्डस्थ आदि चतुर्विध ध्यान विस्तार से वर्णित हैं। इन्हीं चार शब्दों का कौल और क्रम तन्त्रों में भी विशिष्ट स्थान है। युवाचार्य महाप्रज्ञ के ग्रन्थ "जैन योग" (प्रस्तुति, पृ.३) में नवचक्रेश्वरतन्त्र की और उसमें पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत शब्दों की स्थिति की सूचना मिलती है। ज्ञानार्णवतन्त्र की प्रस्तावना (पृ. ३८ मूल एवं टि.) में बताया गया है कि छठी शताब्दी के योगीन्द्र द्वारा विरचित योगसार में इन चारों नामों का उल्लेख मिलता है। इन सबकी परीक्षा अपेक्षित है। यदि यह सही है, तो हमें तभी से जैन तन्त्रों की प्रवृत्ति माननी पड़ेगी।

प्रस्तुत ग्रन्थ में एक स्थल पर लिखा गया है— वैसे यन्त्र और मण्डल में बहुत अधिक अन्तर नहीं है, किन्तु जहाँ यन्त्र पूजा अथवा धारण के काम में आते हैं, वहाँ मण्डल ध्यान के विषय होते हैं" (पृ. ३३५)। यन्त्रों और मण्डलों का यह अधूरा परिचय है। वस्तुतः यन्त्र (चक्र) और मण्डल देवताओं के गृह (निवास-स्थान) माने गये हैं। इनमें मुख्य देवता के अतिरिक्त आवरण देवताओं की भी पूजा की जाती है। मण्डलों की रचना प्रासाद (मन्दिर) निर्माण की पद्धति से तथा यन्त्रों की रचना चक्रों के आधार पर की जाती है। इसीलिये श्रीयन्त्र को श्रीचक्र के नाम से भी जाना जाता है। [१]मण्डलों के निर्माण की और उनमें विविध देवताओं की उपासना की पद्धति प्रधानतः वैष्णव, शैव और बौद्ध आगमों में मिलती है। जैन आगमों में भी इनका स्वरूप प्रदर्शित है। परवर्ती आगमों एवं तन्त्रों में यन्त्रमय चक्रों में देवताओं की उपासना के साथ विविध धारणीय यन्त्रों और अंक यन्त्रों का भी विवरण मिलता है। यन्त्रों के प्रसंग में जैन तन्त्र अतिसमृद्ध लगते हैं।

कुण्डलिनी जागरण एवं षट्चक्र भेदन के विषय में हम पूर्व अधिकरणों में पर्याप्त लिख चुके हैं। डॉ. जैन के ग्रन्थ के नवें अध्याय (पृ. ३०२-३१७) में जैन दृष्टि से इन पर विचार किया गया है। आजकल इस विषय का अध्ययन प्रधानतः पूर्णानन्द परमहंस के श्रीतत्त्वचिन्तामणि नामक बृहद् ग्रन्थ के छठे प्रकाश षट्चक्रनिरूपण के आधार पर किया जाता है। नेत्रतन्त्र के सातवें अधिकार में [२]षट्चक्रों की नामावली भिन्न प्रकार की मिलती है। वैष्णव और बौद्ध तन्त्रों में चतुर्विध एवं षड्विध चक्रों का विवरण मिलता है और शाक्त त्रिपुरा-तन्त्रों में नवविध चक्र निरूपित हैं। डॉ. जैन ने

१. मण्डलों के सही स्वरूप की जानकारी के लिये भा. त. में प्रकाशित "पौष्करसंहिता–मण्डलाकृति परिचय" (पृ. ४७७-४८१) शीर्षक निबन्ध देखिये। सारनाथ में सम्पन्न हुई गोष्ठी के समय लगाई गई प्रदर्शनी में जैन मण्डलों के भी चित्र प्रदर्शित थे। इन्द्रनन्दी के ज्वालिनीकल्प के चतुर्थ परिच्छेद में जिन मण्डलों की चर्चा है, वे संभवतः प्राचीन मण्डलों के ही प्रतिनिधि हैं।

२. नेत्रतन्त्र (मृत्युजिद्भट्टारक) के सातवें अधिकार में सूक्ष्म योग का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है— "ऋतुचक्रं स्वराधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।। ग्रन्थिद्वादशसंयुक्तं शक्तित्रयसमन्वितम्। धामत्रयपथाक्रान्तं नाडित्रयसमन्वितम्।। ज्ञात्वा शरीरं सुश्रोणि दशनाडिपथावृतम्। द्वासप्तत्या सहस्रैस्तु सार्धकोटित्रयेण च।। नाडिवृन्दैः समाक्रान्तं मलिनं व्याधिभिर्वृतम्। सूक्ष्मध्यानामृतेनैव परेणैवोदितेन तु।। आप्यायं कुरुते योगी आत्मनो वा परस्य च। दिव्यदेहः स भवति सर्वव्याधिविवर्जितः।।" (७.१-५)। इन्हीं श्लोकों पर पूरा हठयोग आधारित है। कुण्डलिनी योग के भी ये ही तत्त्व मुख्य आधार हैं। क्षेमराज ने इन श्लोकों की विस्तार से व्याख्या की है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि पूरे प्रकरण में सूक्ष्म योग शब्द के स्थान पर सूक्ष्म ध्यान शब्द ही प्रयुक्त है, जो जैनाचार्यों का प्रिय शब्द है।

प्रस्तुत प्रकरण में कुण्डलिनी शक्ति एवं षट्चक्रों का स्वरूप बता देने के बाद "जैन धर्म में षट्चक्र साधना" (पृ. ३११-३१३) शीर्षक से आचार्य विबुधचन्द्र के शिष्य सिंहतिलक सूरि (१३वीं शती) के ग्रन्थ परमेष्ठिविद्यायन्त्रकल्प के आधार पर नौ चक्रों का उल्लेख किया है। त्रिपुरा-तन्त्रों और हठयोग के ग्रन्थों में भी इन नौ चक्रों अथवा आधारों का इसी रूप में वर्णन मिलता है। नेत्रतन्त्र की क्षेमराज की टीका में षोडश आधार निरूपित हैं और योगिनीहृदय (त्रिपुरा- तन्त्र) की दीपिका टीका में उद्धृत स्वच्छन्दसंग्रह में ३२ चक्रों की सूचना मिलती है।

आचार्य सिंहतिलक सूरि ने नौ चक्रों के नाम, स्थान, कमलदलों की संख्या, रंग, बीजाक्षर आदि की चर्चा की है। वहाँ (पृ. ३१२-३१३) उनके ग्रन्थ का मूलपाठ उद्धृत है। इसकी तुलना हमें षट्चक्रों से नहीं, त्रिपुरा आदि के तन्त्रों में स्वीकृत नौ चक्रों या आधारों से करनी होगी। भाषानुवाद के साथ प्रकाशित योगिनीहृदय के उपोद्घात (पृ. ३४-३६) में 'नौ आधार' शीर्षक से इनकी चर्चा की गई है। योगिनीहृदयदीपिका (पृ. ३३४) में निर्दिष्ट दो नामों में कुछ अस्पष्टता झलकती है। यहाँ के वर्णन से इन नौ चक्रों के स्थानों की स्थिति तो स्पष्ट हो जाती है, किन्तु नामों के विषय में संशय बना ही रहता है।

दसवें अध्याय के प्रारंभ (पृ. ३१८) में सिंहतिलक सूरि के मन्त्ररहस्य के आधार पर २० प्रकार के पूजाविधानों की, वर्धमान विधि के १६ विधानों की, ऋषिमण्डलस्तव में वर्णित मन्त्रसाधना के आठ प्रकार के अंगों की और सागरचन्द्र सूरि के मन्त्राधिराज-कल्प में वर्णित मन्त्रसाधना के छः प्रकारों की सूचना नामोल्लेख पूर्वक दी गई है और आगे पूरे अध्याय में इन सबका परिचय दिया गया है। इनमें से कुछ विषयों की समीक्षा हम पहले ही कर चुके हैं।

अन्तिम १२वें अध्याय में परिशिष्ट के रूप में जैन आचार्यों के द्वारा प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में निबद्ध स्तोत्र संगृहीत हैं। भक्तामरस्तोत्र के समान वसन्ततिलका छन्द में निबद्ध कल्याणमन्दिर स्तोत्र भी यहाँ संगृहीत है। इसके कर्ता कुमुदचन्द्र हैं। त्रिपुरा-स्तोत्रों में इसी छन्द में निबद्ध कल्याणवृष्टिस्तोत्र उपलब्ध होता है। अवधूत सिद्ध का भक्तिस्तोत्र भी इसी छन्द में निबद्ध है भक्तिभाव से भरित स्तोत्रों के लिये यह छन्द अतीव उपयुक्त है। इनका पाठ करने से भक्त के हृदय में एक अनोखी झङ्कृति, अनुरणन पैदा होता है। भैरवपद्मावतीकल्प के अन्त में विविध परिशिष्टों के रूप में तथा प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्त में संकलित स्तोत्र-साहित्य के आधार पर जैन तन्त्रशास्त्र से संबद्ध स्तोत्रों का एक अच्छा अनुशीलन प्रस्तुत किया जा सकता है। मुनि श्री जिनविजय

जी के लघुस्तव के पूर्व चर्चित (पृ. १८) संस्करण (पृ. ३७-४६) में उमासहाचार्य विरचित ९५ श्लोक वाला मातंगी स्तोत्र उपलब्ध है। यह उनके ग्रन्थ आगमसार का माना गया है।

सतर्क समीक्षा अपेक्षित

कुछ निबन्धों, दो ग्रन्थों तथा इधर उधर की सूचनाओं के आधार पर हमने जैन तन्त्रशास्त्र का जो स्वरूप यहाँ प्रस्तुत किया है, उससे हम स्वयं संतुष्ट नहीं हैं। हमारी दृष्टि में आगम-तन्त्रशास्त्र का अध्ययन विक्रम की प्रथम शताब्दी के बाद विकसित साहित्य के आधार पर होना चाहिये, जो यज्ञीय समाराधन एवं स्तूप-चैत्य समाराधन का अवसान काल और बिम्बाराधन का उदय काल माना जाता है। इसके बीज यद्यपि पाणिनि के समय में अथवा उससे भी पहले मिलने लगे थे, किन्तु बिम्बाराधन से संबद्ध जिस साहित्य का आविर्भाव हुआ, उसका काल प्रथम शताब्दी से पहले का नहीं माना जाता। शैवागमों और पुराणों में इसकी स्पष्ट घोषणा की गई है कि अमुक-अमुक विषय [1]वेदों में प्रतिपादित नहीं हैं। बौद्ध वाङ्मय में भी इसकी स्पष्ट घोषणा मिलती है कि श्रावकयान और महायान की अपेक्षा मन्त्रयान (वज्रयान) की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। इस तरह की उक्ति जैन साहित्य में शायद उपलब्ध नहीं होती। यहाँ अभी (पृ. ६९८) बताया गया है कि देवसेन सूरि के ग्रन्थ दर्शनसार में द्रविड़ संघ को जैनाभास कहा गया है। इस उक्ति की परीक्षा होनी चाहिये।

छठी शताब्दी के आसपास कौल तन्त्रों के विकास के साथ वेदानुवर्ती तन्त्रों और बौद्ध तन्त्रों में भी पर्याप्त परिवर्तन हो गया। दक्षिणभारत के प्रारंभिक काल के आगम-तन्त्र साहित्य पर इसका प्रभाव नहीं के बराबर पड़ा। वीरशैव एवं जैन धर्म की भी गणना हम इसमें कर सकते हैं। उत्तरभारत में विकसित तन्त्र साहित्य की पर्याप्त समालोचना हुई और यहाँ तक स्थिति पहुँची कि पंचमकार की उपासना ही तन्त्र शब्द

---

१. इस प्रसंग में निम्न श्लोक देखिये— "न वेदे त्रिविधं लिङ्गं न च प्रासादलक्षणम्। न द्वारं मण्डपादिश्च स्थापनं न शिवादिके।।" (प्र. ल. सा., २. १५६)। "न वेदे ग्रहसंचारो न शुद्धिः कालबोधिनी। तिथिवृद्धिक्षयो वापि न पर्वग्रहनिर्णयः।। इतिहासपुराणैस्तु कृतोऽयं निर्णयः पुरा। यत्र दृष्टं हि वेदेषु तत्सर्वं लक्ष्यते स्मृतौ।। उभयोर्यन्न दृष्टं हि तत्पुराणैः प्रगीयते।" (बृ. ना. २. २४. १९-२१)। शैव और बौद्ध तन्त्रों में बताया गया है कि भगवद्गीता और महायान-ग्रन्थों के अनुसार अनेक जन्मों की तपस्या से ही मोक्ष-सिद्धि हो पाती है, किन्तु हमारे मत में तो एक ही जन्म में मुक्ति मिल सकती है। निर्विकार भाव से जैन विद्वानों को पं. श्री सुखलाल जी संघवी की दृष्टि का अनुसरण करना चाहिये। इन पंक्तियों का लेखक यह नायकिया दवे नायकी (महेसाणा) गाँव में जन्मे इस महान् समन्वयवादी विद्वान् को सादर नमन करता है।

का पर्याय बन गई। तन्त्रशास्त्र का इतिहास लिखने वाले आधुनिक लेखकों ने इस पर मुहर लगा दी। फल यह हुआ कि जैनाचार्यों ने जैन धर्म में तन्त्रशास्त्र के अवदान को एकदम नकार देने का दु:साहस किया। उसका फल यह हुआ कि जैन धर्म में तन्त्रशास्त्र का अध्ययन आज भी व्यवस्थित नहीं हो सका है।

जैन आचार्यों ने और वीरशैवों ने कौल उपादानों को प्राय: स्वीकार नहीं किया है। इसी पृष्ठभूमि में जैन तन्त्रों का अध्ययन होना चाहिये था, किन्तु यह संभव न हो सका। मन्त्रशास्त्र के नाम से जो अध्ययन प्रस्तुत किया गया, उसमें बिना कालक्रम का विचार किये, पूरे जैन साहित्य को एक साथ जोड़ दिया गया है। मन्त्रशास्त्र की परिधि में तो यह सब कुछ आ ही सकता है। हमारी समझ में तो जैन तन्त्रशास्त्र के अध्ययन के लिये छठी शताब्दी के बाद में विकसित साहित्य का इस दृष्टि से अनुशीलन होना चाहिये कि मन्त्रशास्त्र के साथ मन्त्र, मातृका, मुद्रा, न्यास, दीक्षा, कुण्डलिनी योग, षडंग योग, आनापान स्मृति जैसे विषयों की चर्चा होने लगी है। नकारात्मक मानसिकता के रहते यह संभव नहीं हो सकता। हो सकता है, भविष्य में जैनाचार्य इस विषय पर ध्यान दें और जैन तन्त्रों का परिष्कृत तौलनिक अध्ययन प्रस्तुत हो। छठी शताब्दी के बाद के चुने हुए जैनाचार्यों के कुछ चुने हुए ग्रन्थों के आधार पर यह अनुशीलन प्रस्तुत किया जा सकता है।

४. रिलीजियस इंस्टीटच्यूशंस एण्ड कल्ट्स इन दी डेक्कन

डॉ. आर. एन. नन्दी के ग्रन्थ "रिलीजियस इंस्टीटच्यूशंस एण्ड कल्ट्स इन दी डेक्कन" में यह प्रयास किया गया है। ११ परिच्छेदों के इस ग्रन्थ का अन्तिम विनियोग जैन तन्त्रशास्त्र का अनुशीलन माना जा सकता है। बिम्बोपासना (साकारोपासना) की हमने पहले (पृ. ७९२) चर्चा की है। उसीके परिप्रेक्ष्य में ६०० से १००० ई. तक की निश्चित कालावधि में दक्षिण भारत में विकसित जैन, शैव और बौद्ध संस्थाओं (मठों एवं मंदिरों) का लेखा-जोखा यहाँ प्रस्तुत किया गया है। यहाँ सुदूर दक्षिण और उत्तरभारत के बीच में स्थित आन्ध्रप्रदेश, कर्णाटक के साथ महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश एवं उड़ीसा के दक्षिण भाग को उक्त नाम से परिभाषित किया गया है। देश और काल की सीमा में किया गया यह प्रयास सराहनीय है। हमारी दृष्टि से अन्य क्षेत्रों में भी इसी पद्धति से शोध होना चाहिये।

देवसेन गणि के दर्शनसार की (पृ. ४९), पंचस्तूपान्वय की (पृ. ४९-५०, १४८), तिरसठ जैन शलाकापुरुषों और तिरसठ शैव नायनारों की (पृ. ८१) चर्चा यहाँ मिलती है। आमर्दक मठ का पंजाब के पाशुपतों से संबन्ध अनुमानित है, जो सही नहीं है। सिद्धान्तशैवागम की अपेक्षा यहाँ कर्णाटक के कालामुख सम्प्रदाय का अधिक विस्तार

है। ऐसा लगता है कि प्रस्तुत ग्रन्थकार ने भी तन्त्रशास्त्र को शाक्त उपादानों से ही जोड़ दिया है। हेवज्रतन्त्र, ज्वालिनीकल्प, कालिकापुराण, रुद्रयामल आदि की वे चर्चा करते हैं और हेवज्रतन्त्र के पूर्णगिरि पीठ को कोल्हापुर के महालक्ष्मी पीठ से जोड़ना चाहते हैं। यह सही नहीं है। यहाँ का सप्तमातृका वाला परिच्छेद हमारे लिये उपयोगी हो सकता है। जैन तन्त्रशास्त्र के अध्ययन से संबद्ध १०-११ परिच्छेदों में ज्वालिनीकल्प और भैरवपद्मावतीकल्प को वरीयता दी गई है, जो काल की दृष्टि से परवर्ती ग्रन्थ हैं। दर्शनसार की रचना इन दोनों ग्रन्थों से पहले हो चुकी थी (ई.८४३) और इस ग्रन्थ में द्रविड़ संघ के लिये **जैनाभास** शब्द प्रयुक्त हुआ है। ज्वालिनीकल्प के लेखक इन्द्रनन्दी (९३९ ई.) के अनुसार हेलाचार्य ने ज्वालामालिनी की उपासना प्रचलित की थी। इनका समय (८१९-८३९ ई.) माना जाता है। दर्शनसार की रचना इसके थोड़े ही समय बाद हुई है।

आर. एन. नन्दी के अनुसार वरांगचरित, यशस्तिलकचम्पू, रविषेण के पद्मपुराण, जिनसेन के आदिपुराण और गणभद्र के उत्तरपुराण के आधार पर जैन तन्त्रशास्त्र का अनुशीलन होना चाहिये। इनमें से वरांगचरित की सातवीं शताब्दी में मैसूर में रचना हुई। आदिपुराण आठवीं और उत्तरपुराण नवीं शताब्दी की रचना मानी गई है। यशस्तिलक १० वीं शताब्दी में सोमदेव सूरि रचित चम्पूकाव्य ग्रन्थ है। डॉ. कृष्णकान्त हाण्डीकी ने इसका रचनाकाल ९५९ ई. माना है। देवसेन ने दर्शनसार की रचना धारानगरी (मध्यप्रदेश) में नवीं शताब्दी में की। इन्हींके आधार पर डॉ. नन्दी ने अपना अध्ययन प्रस्तुत किया है।

जैन तन्त्रशास्त्र के अनुशीलन में हम समझते हैं श्री झवेरी जी के उपोद्घात की तथा ऊपर विवृत ग्रन्थों की महनीय भूमिका रहेगी। मात्र इनकी सतर्क समीक्षा अपेक्षित है। इस कार्य को किसी जैन विद्वान् के लिये छोड़कर अब हम विभिन्न ग्रन्थों से, अहमदाबाद के कुछ जैन संस्थाओं से और वहीं के जैनाचार्यों से मिली जानकारी के आधार पर कुछ सूचनाएँ देकर इस अधिकार को पूरा करेंगे। इस कार्य में अहमदाबाद की ओपेरा सोसाइटी उपाश्रय के आचार्य श्री विजयप्रद्युम्न सूरि जी का तथा लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर के नियामक डॉ. जितेन्द्रशाह का हम विशेष रूप से आभार मानते हैं।

जैन तन्त्र : प्रतिपाद्य विषय

बौद्ध तन्त्र के ग्रन्थ साधनमाला के उपोद्घात में डॉ. बी. भट्टाचार्य ने कहीं जैन तन्त्रों की भी चर्चा की है। नारदीय महापुराण (८५.१३३-१३४) में "ॐ पद्मे पद्मे महापद्मे पद्मावतीये स्वाहा" यह मन्त्र उपलब्ध है। डॉ. सागरमल जैन (पृ. ३५३)

भैरवपद्मावतीकल्प की पं. चन्द्रशेखर शास्त्री की भूमिका की सूचना देते हैं। सिंहतिलक सूरि के मन्त्रराजरहस्य (पृ. ४७) में का. पू. जा. ओ. इन चार पीठों का उल्लेख उ. जा. का. पू. इस क्रम से मिलता है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन सिंघी जैन ग्रन्थमाला–७३, भारतीय विद्याभवन, बम्बई से सन् १९८० में हुआ है। इसका सम्पादन जिनविजय मुनिजी ने किया था। चतुर्विध वाक् (श्लो. ४७१), ह्रींकार का स्वरूप (श्लो. ३४२-३५८), कुण्डलिनी (श्लो. ४३७-४४३), पिण्ड-पद-रूप-रूपवर्जित (श्लो. ४५५) जैसे विषय यहाँ चर्चित हैं। ग्रन्थकार ने १३२७ वि. वर्ष दीपावली के दिन इस ग्रन्थ को पूरा किया था। इस ग्रन्थ की चर्चा पहले भी (पृ. ८००) आ चुकी है।

त्रिविध ज्ञान

हरिभद्र सूरि कृत षोडशकप्रकरण का यशोविजय विरचित व्याख्या और गुजराती अनुवाद के साथ प्रकाशन रंजनविजय जैन पुस्तकालय, झालवाड़ा, जिला जालौर, राजस्थान से हुआ है। इसमें श्रुतमय, चिन्तामय और भावनामय ज्ञान निरूपित हैं। मालिनीमत में भी यह विषय चर्चित है। दोनों ग्रन्थों के पाठ इस प्रकार हैं—

वाक्यार्थमात्रविषयं कोष्ठकगतबीजसंनिभं ज्ञानम्।
श्रुतमयमिह विज्ञेयं मिथ्याभिनिवेशरहितमलम्।।
यत्तु महावाक्यार्थजमतिसूक्ष्मसुयुक्तिचिन्तयोपेतम्।
उदक इव तैलबिन्दुर्विसर्पि चिन्तामयं ज्ञानम्।।

ऐदम्पर्यगतं यद् विध्यादौ यत्नवत् तथैवोच्चैः।
एतत्तु भावनामयं शुद्धसद्रत्नदीप्तिसमम्।।
(षो. प्र., ११, ७-९)

ज्ञानं तत् त्रिविधं प्रोक्तं तत्राद्यं श्रुतमिष्यते।
चिन्तामयमथान्यच्च भावनामयमेव च।।
शास्त्रार्थस्य परिज्ञानं विक्षिप्तस्य श्रुतं मतम्।
इदमत्रेदमत्रेति इदमत्रोपयुज्यते।।

सर्वमालोच्य शास्त्रार्थमानुपूर्व्या व्यवस्थितम्।
तद्वच्चिन्तामयं ज्ञानं द्विरूपमुपदिश्यते।।
मन्दस्वभ्यस्तभेदेन तत्र स्वभ्यस्तमुच्यते।
सुसम्पन्ने ततस्तस्मिन् जायते भावनामयम्।।

यतो योगं समासाद्य योगी योगफलं लभेत्।
(मा. म. ४. २८-३२)

भावनामय ज्ञान का निरूपण वहाँ आगे भी किया गया है—

तदर्थभावनायुक्तं मनोध्यानमुदाहृतम्।
तदेव परमं ज्ञानं भावनामयमिष्यते।।
मुहूर्तादिव तत्रस्थ: समाधिं प्रतिपद्यते।। (१७.२०-२१)

मालिनीमत के समय के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। दूसरी तरफ हरिभद्र सूरि का समय[१] वि. सं. ७५७ से ८२७ तक निश्चित किया गया है। काश्मीरी प्रत्यभिज्ञादर्शन का प्रवृत्ति-काल भी इसीके आसपास माना जाता है। मालिनीमत का यह वचन यहाँ अवश्य अवधेय है—

विज्ञानकेवलानष्टौ बोधयामास पुद्गलान्।। (१.१९)।

दीक्षा

षोडशक प्रकरण में ही दीक्षा[२] का लक्षण इस प्रकार दिया गया है— "श्रेयोदानादशिवक्षपणाच्च सतां मतेह दीक्षेति" (१२.२)। दीक्षा का यह लक्षण सभी तन्त्रों में निर्दिष्ट दीक्षा शब्द के अर्थ के साथ पूरी तरह से मेल खाता है। मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भी चर्चा यहाँ (१३.७) मिलती है। पातंजल योगसूत्र (१.३३) में और बौद्ध तन्त्रों में ये उपदिष्ट हैं। बौद्ध तन्त्रों में चतुर्ब्रह्मविहार के नाम से ये निर्दिष्ट हैं। तत्त्वार्थसूत्र (७.११) में भी मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ के नाम से इनकी चर्चा है। आचार्य हरिभद्र ने तत्त्वार्थसूत्र का अनुसरण न कर पातंजल योगसूत्र और बौद्ध तन्त्रों में निर्दिष्ट नामों का अनुसरण किया है, यद्यपि अर्थ की दृष्टि से इनमें कोई अन्तर नहीं है। इस ग्रन्थ में [३]**पशुत्व**-विगम (१६.४) शब्द प्रयुक्त हुआ है। सिद्धान्तशैव दर्शन में

---

१. पं. सुखलाल जी संघवी का ग्रन्थ देखिये— "समदर्शी आचार्य हरिभद्र", पृ. ८

२. जैन दीक्षा (वाचना) और अभिषेक के विषय में भा. त. (पृ. २३९-२४४) में अच्छा प्रकाश डाला गया है। डॉ. सिकदर के निबन्ध में वहीं (पृ. ३११) यह भी बताया गया है कि जैन दीक्षा में बिना वर्ण, लिंग आदि के भेद के सभी को अधिकार दिया गया था। इससे ऐसा लगता है कि जैन और वीरशैव धर्म में दीक्षा का स्वरूप संभवत: बहुत कुछ मिलता-जुलता है।

३. षोडशकप्रकरण (१६.४) देखिये। शैव दर्शन में पति, पशु, पाश नामक तीन तत्त्व मान्य हैं। मोक्षदशा में पशुभाव की निवृत्ति के साथ जीव में शिव के षाड्गुण्य की अभिव्यक्ति हो जाती है। सिद्धान्तशैव प्रकरण में इस विषय पर विचार किया गया है। समदर्शी आचार्य हरिभद्र का इस दृष्टि से भी अध्ययन होना चाहिये।

जीवात्मा के लिये पशु शब्द व्यवहृत है। पृ. २०९ पर "अन्यदपि **तन्त्रसिद्धम्**"[१] (श्लो. १६.४) कहकर हरिभद्र सूरि स्पष्ट ही तन्त्र शब्द का प्रयोग करते हैं।

ज्ञानार्णव के १९वें त्रितत्त्वप्रकरण (पृ. ३६०-३६७) में शिवतत्त्व, विषतत्त्व और कामतत्त्व की चर्चा मिलती है। मूल में वितत्त्व (पृ. ३६१) पाठ दिया गया है, किन्तु टिप्पणी में विषतत्त्व स्पष्ट रूप से पठित है और गारुड विद्या विषतत्त्व से संबद्ध मानी गई है। शैव-शाक्त तन्त्रों में विषतत्त्व और कामतत्त्व के अतिरिक्त निरंजन तत्त्व का भी निरूपण किया गया है। ज्ञानार्णव के इस प्रकरण में भी प्रथमतः शिवतत्त्व की चर्चा है। वहाँ (१९.९) शिव को ही वैनतेय और स्मर (काम) कहा गया है। नि. षो. (५.१) में भगवती त्रिपुरा की उपासना से कामतत्त्व, विषतत्त्व और मोक्षतत्त्व की प्राप्ति की बात कही गई है और तन्त्रालोक के शाम्भवोपाय (मातृकोपासना) प्रकरण में काम, विष और निरंजन तत्त्व वर्णित हैं। त्रिपुरा विद्या के कामराज, शक्ति और वाग्भव बीजों से तथा प्राण, अपान और प्राणापान-प्रशान्ति से भी इनका संबन्ध जोड़ा गया है। इन सभी पक्षों का संक्षिप्त परिचय हमने लुप्ता. के उपो. (पृ. १८०-१८१) में दिया है। इनका तथा पिण्ड, पद आदि का कौल आगम की और त्रिपुरा सम्प्रदाय की आन्तर पूजा से संबन्ध माना जाता है। इस विषय पर अभी अध्ययन अपेक्षित है।

बाह्य और आन्तर पूजा

प्रस्तुत प्रकरण को पूरा करने से पहले हम कुछ विषयों की तुलनात्मक समीक्षा कर लेना चाहते हैं। बाह्य और आन्तर पूजा का विधान तन्त्रागमशास्त्र की सभी शाखाओं में मिलता है। सर्वत्र यह माना गया है कि अन्तर्यजन के माध्यम से शरीर और मन की शुद्धि के उपरान्त ही, अर्थात् देवस्वरूप होकर ही देवता की आराधना में प्रवृत्त होना चाहिये। पंचोपचार, षोडशोपचार आदि से बाह्य पूजा तथा मन्त्र, मातृका, ध्यानयोग आदि से आन्तर उपासना की जाती है। भारतीय तन्त्रशास्त्र (पृ. २५७-२५९) में बाह्य और आन्तर पूजा का विधान संक्षेप में बताया गया है। इसीके साथ वहाँ अन्तर्यजन के साधार और निराधार नामक दो प्रकारों को भी स्पष्ट किया गया है। पंचोपचार पूजा, अष्टप्रकारी पूजा, षोडशोपचार पूजा की चर्चा वहाँ (पृ. २८८-२८९) विचार-विनिमय के प्रसंग में आई है। डॉ. सिकदर ने कौलज्ञाननिर्णय के प्रमाण से अष्टविध अहिंसा आदि पुष्पों के माध्यम से अष्टप्रकारी आन्तर पूजा का वर्णन किया है (पृ. ३०९ टि.)। शैव

---

१. वहीं (१६.४) देखिये। 'तन्त्रसिद्धम्' शब्द का अर्थ हम 'शास्त्र से समर्थित' कर सकते हैं, किन्तु सातवीं-आठवीं शताब्दी के जैनाचार्यों में जिस तरह से शैव-शाक्त तन्त्रों से संबद्ध सामग्री उपलब्ध होती है, उससे ऐसा लगता है कि तन्त्रशास्त्र-संमत मत को यहाँ मान्य किया गया है।

सिद्धान्तशास्त्र के ग्रन्थ सिद्धान्तसारावलि (२. १८-१९) में बाह्य और आन्तर पूजा का विधान बताया गया है और वहीं (पृ. १२३) टीका में कौलज्ञाननिर्णय के समान ही अष्टविध अहिंसा आदि पुष्पों की चर्चा की गई हैं। डॉ. सा. जैन के ग्रन्थ के "पूजा-विधान और धार्मिक अनुष्ठान" (पृ. ५१-७३) शीर्षक तृतीय अध्याय में यह विषय कुछ विस्तार से प्रस्तुत किया गया है।

मन्त्र और मातृका

"भारतीय तन्त्रशास्त्र" में प्रकाशित जैन तन्त्र संबन्धी चार निबन्धों में से प्रथम में जैन मन्त्र और उनकी साधना-विधियाँ (पृ. २४४-२५०) शीर्षक के अन्तर्गत पंचांग शौच, भूमिशुद्धि, मन्त्रस्नान, पंचांगुलिन्यास, कल्मषदहन, सकलीकरण जैसे १६ विषयों पर प्रकाश डाला गया है। आगे (पृ. २५०-२५३) भट्टारक सकलकीर्ति के तत्त्वार्थसार-दीपक के प्रमाण से मातृका की उत्पत्ति की प्रक्रिया को स्पष्ट किया गया है। वहीं "जैन तन्त्र में मन्त्र और सकलीकरण" (पृ. २६४-२६९) शीर्षक द्वितीय निबन्ध में इसी विषय पर सुस्पष्ट विचार हुआ है और "मन्त्रशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में नमस्कार मन्त्र" (पृ. २७०-२७९) शीर्षक तृतीय निबन्ध में अनेक ग्रन्थों की सहायता से नमस्कार मन्त्र के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। प्राचीन और अर्वाचीन मन्त्रवादी आचार्यों की भी चर्चा की गई है। मन्त्र और विद्या शब्दों के अर्थ को ; बीजमन्त्र, मालामन्त्र आदि के लक्षणों को भी बताया गया है। आगे विचार-विनिमय (पृ.२८२-२८५) में नमस्कार पद पर अच्छा विचार हुआ है और बताया गया है कि जैन तन्त्रों में वर्णित पंचनमोकार, वैष्णवों के पंचोपनिषत्, बौद्धों के पंचबुद्ध एवं पाशुपतों (शैवों) के पंचब्रह्म मन्त्र की पाँच संख्या के आधार पर तुलनात्मक समीक्षा होनी चाहिये। पंचब्रह्म एवं पंचबुद्ध की अनुस्यूतता पर तो कालचक्रतन्त्र की विमलप्रभा टीका के लेखक पुण्डरीक ने स्वयं ही लिखा है (भा. २, पृ. १८५)। डॉ. सा. जैन ने "मन्त्रसाधना और जैनधर्म" (पृ. ८१-१५४) तथा "स्तोत्रपाठ, नामजप और मन्त्रजप" (पृ. १५५-१७५) नामक ५-६ अध्यायों में जैन धर्म में स्वीकृत सूरि-मन्त्र आदि पर विस्तार से विचार किया है।

सकलीकरण

जैन तन्त्रों के अनुसार सकलीकरण का स्वरूप "भारतीय तन्त्रशास्त्र" (पृ. २४८ एवं २६५-२६७) में संक्षेप तथा विस्तार से वर्णित है। इस प्रसंग में वहाँ मन्त्रराजरहस्य (श्लो. ७१) और भैरवपद्मावतीकल्प की भी चर्चा की गई है। विद्यानुशासन (श्लो. ७२-७५) और तत्त्वानुशासन (श्लो. ८३-८७) के वचन भी इस प्रसंग में चर्चित हैं। सकलीकरण की स्पष्ट परिभाषा सोमशम्भु की कर्मकाण्डक्रमावली में इस प्रकार दी गई है—

हृदयादिकरान्तेषु कनिष्ठाद्यङ्गुलीषु च।
हृदादिमन्त्रविन्यासः सकलीकरणं स्मृतम्।। (श्लो. १४५)।।

इसका अभिप्राय है— अंगन्यास और करन्यास के द्वारा अपने देह को मन्त्रमय बनाना। पाण्डिचेरी से फ्रेंच शोध संस्थान की ग्रन्थमाला संख्या २५ में सन् १९६३ में प्रकाशित ग्रन्थ सोमशम्भुपद्धति (पृ. ३२२) में अघोरशिव की पद्धति (पृ. २४) के आधार पर सकलीकरण का विस्तृत स्वरूप बताया गया है। सकलीकरण का मुख्य प्रयोजन अपने शरीर में देवत्व का आधान करना है। प्राणायाम के माध्यम से शोष, दाह और आप्याय की भूतशुद्धि और प्राणप्रतिष्ठा की प्रक्रिया से भी यह सम्पन्न होता है। "देवो भूत्वा देवं यजेत्" इसका मूल मन्त्र है। सिद्धान्तसारावलि में पंचब्रह्म-मन्त्रों की ३८ कलाओं से अपने स्थूल शरीर को आप्यायित करने का विधान मिलता है (पृ. ११७-१२०)। इसी पद्धति से तन्त्रशास्त्र की विभिन्न शाखाओं में अपने-अपने इष्टदेव के मन्त्राक्षरों का न्यास किया जाता है। न्यास और सकलीकरण के विषय में डॉ. सागरमल जैन के ग्रन्थ को भी देखा जा सकता है (पृ. ३२१-३२७)। इस प्रसंग में भी डॉ. जैन ने अपने चिर-परिचित विचारों को पुनः दुहराया है। आन्तर सकलीकरण का स्वरूप विरूपाक्षपंचाशिका की टीका (श्लो. ५१) में देखिये।

ध्यान योग

ध्यान का विस्तृत विचार जैनाचार्यों की विशिष्ट देन है। जैन आगमों में 'योग' शब्द के अर्थ में 'ध्यान' का बहुधा प्रयोग हुआ है। ध्यान का अर्थ चिन्तन और भावना से उत्पन्न स्थिर अध्यवसाय है। मन्त्राराधन में ध्यान एक मुख्य अंग के रूप में मान्य है। अध्यात्म, भावना, समता और वृत्तिसंक्षय के समान ही ध्यान भी योगमार्ग की भूमिका है। पातंजल योगसूत्र में वर्णित अष्टांग योग में ध्यान का भी योगांग के रूप में वर्णन मिलता है। इस ध्यान योग का डॉ. सा. जैन के ग्रन्थ के ८वें अध्याय में "ध्यान साधना और जैन धर्म" शीर्षक के अन्तर्गत (पृ. २५६-२८६, २९२-२९८) पर्याप्त विचार हुआ है। यह हमारे अध्ययन की परिधि में नहीं आता। "जैन ध्यान-साधना पर तान्त्रिक साधना का प्रभाव" (पृ. २८६-२९२) इसी विषय पर हमें विचार करना है। श्वेताम्बर जैनाचार्य हरिभद्र सूरि के योगविषयक चार ग्रन्थ और षोडशकप्रकरण इस परिधि में आते हैं। आधुनिक युग के महान् समन्वयाचार्य पंडित सुखलाल जी संघवी ने इनके योगविषयक योगशतक, योगविंशिका, योगदृष्टिसमुच्चय और योगबिन्दु नामक चार ग्रन्थों का अपने ग्रन्थ "समदर्शी आचार्य हरिभद्र" (पृ. ६१-१०५) में विशद परिचय दिया है। इनका जीवनकाल प्रायः वि. सं. ७५७ से ८२७ तक का आँका गया है।

पं. सुखलालजी संघवी द्वारा रचित "समदर्शी आचार्य हरिभद्र" शीर्षक इस ग्रन्थ का प्रकाशन राजस्थान प्राच्य विद्याप्रतिष्ठान, जोधपुर, राजस्थान से सन् १९६३ में हुआ है। वर्तमान समय के महान् समन्वयाचार्य पं. संघवी जी ने आचार्य हरिभद्र के पाँच गुणों की विशेष रूप से चर्चा की है। वे हैं— १. समत्व, २. तुलना, ३. बहुमान वृत्ति, ४. स्वपरम्परा को भी नई दृष्टि और नई भेंट तथा ५. अन्तर मिटाने का कौशल (पृ. ३५-३७)। इन सभी गुणों को हम आदरणीय पंडित जी में भी देखते हैं। दो खण्डों में हिन्दी और गुजराती भाषा में इनके निबन्धों का प्रकाशन हुआ है। उनको पढ़ने से इसका प्रमाण मिल जायगा। गुजराती ब्राह्मण गुजरात से बाहर जहाँ-कहीं भी जाकर बसे हैं, ब्रह्मपुरी के नाम से वह मोहल्ला प्रसिद्ध हो गया है। काशी में भी विश्वनाथ-मन्दिर के पास ब्रह्मपुरी स्थित है। विक्रम वर्षारंभ के पहले अमावास्या को हरिभद्र का जन्मदिन माना जाता है। यह तिथि फाल्गुन की अमावास्या है या चैत्र की, इस पर विवाद उठा है। वस्तुतः पंचांग-भेद से ये दोनों तिथियाँ एक ही है। गुजरात के साथ पूरे दक्षिण भारत में विक्रम वर्ष की समाप्ति फाल्गुन की अमावास्या को और उत्तर भारत में चैत्र की अमावास्या को होती है। आचार्य हरिभद्र का गुजरात और राजस्थान दोनों से संबन्ध था। तदनुसार ही यह तिथिभेद व्यवहार में आ गया है। वस्तुतः ये दोनों तिथियाँ एक ही हैं। पूरे ग्रन्थ को पढ़ने से ज्ञात होता है कि ***अभिनवगुप्त से भी पहले आचार्य हरिभद्र ने दर्शनों में परस्पर समन्वय का प्रयत्न किया था। इनके लेखन पर आगमों के प्रभाव की विस्तृत समीक्षा अभी अपेक्षित है।***

ध्यानयोग के प्रसंग में डॉ. सिकदर के निबन्ध में आज्ञाचक्र के पास इन्दु, बो(रो)धिनी, नाद, अर्धचन्द्रिका, महानादकला, सोमसूर्याग्निरूपिणी और उन्मनी नामक सात आकाश वर्णित हैं (भा. त., पृ. ३१६)। आचार्य हरिभद्र सूरि के योगदृष्टिसमुच्चय के प्रमाण से यहीं मित्रा, तारा, बला, दीप्रा(प्ता), स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा नामक आठ दृष्टियाँ सूचित हैं। ऊपर के सात आकाशों की तुलना हम शैव-शाक्त तन्त्रों में वर्णित नाद की कलाओं से कर सकते हैं। डॉ. एस. एम. देसाई ने "हरिभद्राज योग वर्क्स एण्ड साइकोसिंथेसिस" (पृ. ५३-५४) में हरिभद्र की इन आठ दृष्टियों की तुलना पतंजलि के आठ योगांगों तथा अन्य दो सूचियों से की है। इसी तरह से शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव और आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र की तुलना पातंजल योगसूत्र से की जाती है। वास्तव में पातंजल योगसूत्र की तुलना तत्त्वार्थसूत्र के साथ होनी चाहिये और शुभचन्द्र तथा हेमचन्द्र के ग्रन्थों की तुलना मालिनीमत जैसे ग्रन्थों से। पहले यहाँ (पृ. ७९९-८००) ध्यान के प्रसंग में पिण्डस्थ आदि ध्यानों, का. पू. जा. ओ. नामक पीठों तथा पार्थिवी आदि धारणाओं का विवेचन मालिनीमत और योगिनीहृदय जैसे शैव-शाक्त तन्त्रों की

पृष्ठभूमि में ही हुआ है। यह भी ध्यान देने की बात है कि नेत्रतन्त्र (७. १-४) में सूक्ष्म योग के स्थान पर सूक्ष्म ध्यान शब्द का प्रयोग मिलता है, जो जैन शास्त्रों से समरस है।

अष्टांग योग

शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव के २० वें प्रकरण के प्रारंभ में अष्टांग योग की सूचना इस प्रकार दी है— "अथ कैश्चिद् यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधय इत्यष्टावङ्गानि योगस्य" (पृ. ३७३)। यहाँ 'कैश्चित्' पद ध्यान देने योग्य है। यह महामुनि पतंजलि का सूचक हो सकता है। कूर्मपुराण में भी अष्टांग योग वर्णित है, किन्तु वहाँ का क्रम भिन्न है। वह इस प्रकार है—

प्राणायामस्तथा ध्यानं प्रत्याहारोऽथ धारणा।
समाधिश्च मुनिश्रेष्ठा यमो नियम आसनम्।। (२.११.११)

षडंग योग से संबद्ध पाँच अंगों का यहाँ पहले और उससे असंबद्ध तीन अंगों का बाद में परिगणन किया गया है। नेत्रतन्त्र (८.९-२०) में अष्टांगों की नामावली और उनका क्रम पातंजल योग का ही अनुसरण करते हैं, किन्तु उनका लक्षण पूरी तरह से अध्यात्मप्रवण कर दिया गया है।

षडंग योग

भारतीय तन्त्रशास्त्र (पृ. २५९-२६१) में जैन योग के प्रसंग में जैन षडंग योग की भी चर्चा की गई है, किन्तु इस प्रसंग में वहाँ किसी जैन ग्रन्थ को उद्धृत न कर नाथयोगी के इस वचन को उद्धृत किया गया है—

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समधिरेतानि योगाङ्गानि षडेव हि।।

शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव को देखने से पता चलता है कि जैन योगशास्त्र में भी ये ही छः योगांग वर्णित हैं। वहाँ २० वें प्रकरण के प्रारंभ में पक्षान्तर से अष्टांग योग की नामावली प्रस्तुत करने के बाद षडंग योग की नामावली इस तरह दी गई है— "तथान्यैर्यमनियमावपास्य आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधय इति षट्" (पृ. ३७३)। इस वचन को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि नाथ योगी के उक्त वचन में स्मृत छः अंग ही ज्ञानार्णव में भी निर्दिष्ट हैं। हेमचन्द्र के योगशास्त्र के प्रमाण से वर्णित मन की चार स्थितियों की समालोचना हम अभी (पृ. ७९९) कर चुके हैं। इसी तरह से वैष्णव, शैव और शाक्त तन्त्रों में चर्चित षडंग योग का स्वरूप भी हम यथास्थान बता चुके हैं।

कुण्डलिनी योग

कुण्डलिनी योग के प्रसंग में भा. त. (पृ. २६१-२६२) में बताया गया है कि कुण्डलिनी योग को जैनाचार्यों ने विशेष महत्त्व नहीं दिया, किन्तु सर्वथा त्याग भी नहीं किया। इतना कहकर वहाँ सिंहतिलक सूरि के मन्त्रराजरहस्य (श्लो. ४४०) के प्रमाण से कुण्डलिनी का स्वरूप बताया गया है। वहीं (श्लो. ४४९) अवर्ण (अकार) को कुण्डलीतनु कहा गया है। यह भी बताया गया है कि जैन साधना-पद्धति में कुण्डलिनी को तेजोलब्धि (लेश्या) कहा गया है। कहीं-कहीं इसे चिच्छक्ति भी कहते हैं। इस प्रसंग में एक टिप्पणी के माध्यम से इस निबन्ध के लेखक स्व. डॉ. रुद्रदेव त्रिपाठी ने जैन योग और वैदिक योग के प्रकारों में साम्य दृष्टि को संक्षेप में प्रस्तुत किया है और हरिभद्र सूरि की योगविंशिका के प्रमाण से योग के ८० प्रकारों की सूचना दी है।

कुण्डलिनी योग की चर्चा भारतीय तन्त्रशास्त्र में ही मुद्रित डॉ. सिकदर के निबन्ध (पृ. ३१३-३१६) में भी मिलती है। शाक्त दृष्टि भी यहाँ निरूपित है। वहीं (पृ.३१३) पहली टिप्पणी में बताया गया है कि भैरवपद्मावतीकल्प के पद्मावतीमन्त्राम्नायविधि नामक ७वें परिशिष्ट में भी इस विषय की चर्चा है।

नाडी-चक्र, वायु-आधार और प्राणायाम

सिंहतिलक सूरि के उक्त ग्रन्थ के आधार पर ही "भारतीय तन्त्रशास्त्र" (पृ. २६२- २६३) में ये सभी विषय बहुत ही संक्षेप में निर्दिष्ट हैं। वहीं प्रकाशित डॉ. सिकदर के निबन्ध (पृ. ३१५) में कुण्डभारती नामक एक अप्रकाशित ग्रन्थ के आधार पर १८ चक्रों की नामावली दी गई है, जिसमें षट्चक्रनिरूपण में निर्दिष्ट छः चक्रों की नामावली भी समाविष्ट है। यह विशेष रूप से अवधेय है कि सिंहतिलक सूरि ने छः चक्रों के स्थान पर नौ चक्रों का निरूपण किया है। इस विषय की चर्चा हम कर चुके हैं (पृ. ८०२)। इन सबको देखने से तो ऐसा प्रतीत होता है कि जैनाचार्यों ने कुण्डलिनी योग के विषय में कुछ नहीं लिखा, यह कहना उचित नहीं है। श्री झवेरी के विस्तृत अंग्रेजी उपोद्घात में तथा डॉ. सा. जैन के ग्रन्थ में भी इस विषय की पर्याप्त चर्चा है, यह बताया जा चुका है। नेत्रतन्त्र और योगिनीहृदय के आधार पर इनकी तुलनात्मक समीक्षा की जा सकती है।

बन्ध और मोक्ष

कौल दृष्टि से प्रभावित बौद्ध तन्त्र और काश्मीर शैव दर्शन के ग्रन्थों में [१]बन्ध और मोक्ष की परिभाषा ही बदल गई है। कम्बलपाद की [२]आलोकमाला में तो शून्यता की परिभाषा भी बदल गई है। सायण-माधव के सर्वदर्शनसंग्रह (पृ. २७-३५) में आर्हत दर्शन का प्रतिपादन करते समय जीव और अजीव नामक दो तत्त्वों का तथा जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष नामक सात तत्त्वों का एवं इनके साथ धर्म और अधर्म का भी समावेश कर नौ तत्त्वों का निरूपण किया गया है। इनमें बन्ध और मोक्ष भी समाविष्ट हैं। तत्त्वार्थसूत्र और उसकी व्याख्याओं में तथा अन्यत्र भी इनका स्वरूप विस्तार से देखा जा सकता है।

जैन दर्शन में मोक्ष की परिभाषा में कालक्रम से कोई परिवर्तन हुआ या नहीं? इस विषय की निश्चित सूचना तो इस दर्शन के परिनिष्ठित विद्वान् ही दे सकते हैं, किन्तु हमें ऐसा प्रतीत होता है कि तत्त्वार्थसूत्र[३] की और हरिभद्र सूरि के षड्दर्शनसमुच्चय[४] की परिभाषा में कुछ अन्तर है। डॉ. सिकदर ने भा. त. (पृ. ३१६-३१७) में बन्धनमुक्त जीव के वासस्थान की चर्चा करते हुए **ईषत्प्राग्भार** शब्द का प्रयोग किया है। इस तरह के शब्दों की मूल प्रवृत्ति को समझ कर हम इस ओर आगे बढ़ सकते हैं कि जैन दर्शन में मोक्ष की परिभाषा में किसी तरह का परिवर्तन हुआ है या नहीं? जैन धर्म की प्रकृति को देखते हुए हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि बौद्ध एवं शैव तन्त्रों के समान इन्होंने बन्ध और मोक्ष को विकल्प-घटित कभी नहीं कहा होगा। धर्म के क्षेत्र में अर्थ और काम के प्रवेश के समान दर्शन के क्षेत्र के यह आजीवक और चार्वाक दृष्टि का अद्भुत प्रवेश है। ***इसी विकृति के कारण यह देश पराधीन हो गया और आज भी सँभल नहीं रहा है। आज का धर्मनिरपेक्षता शब्द उसे मोक्ष से विमुख कर पतन की ओर ही ढकेल रहा है।***

---

१. "वस्तुस्थित्या न बन्धोऽस्ति तदभावान्न मुक्तता। विकल्पघटितावेतावुभावपि न किञ्चन।।" आत्मसप्तति का यह श्लोक स्पन्दप्रदीपिका (पृ. ८८) में उद्धृत है। अद्वयवादी शैव तन्त्रों के समान बौद्ध तन्त्रों में भी संसार और निर्वाण दोनों को विकल्पघटित बताया गया है।

२. "विरुद्धत्वात् तमोवृत्तेर्नावकाशं ददाति सा। सावस्था काप्यविज्ञेया मादृशां शून्यतोच्यते।। न पुनर्लोकरूढ्यैव नास्तिक्यार्थानुपातिनी।।" (श्लो. १४१-१४२)। स्पन्दप्रदीपिका (पृ. ९७) में नागार्जुन के नाम से उद्धृत— "सर्वालम्बनधर्मैश्च सर्वसत्त्वैरशेषतः। सर्वक्लेशाशयैः शून्यं न शून्यं परमार्थतः।।" इस श्लोक में भी आलोकमाला का ही अनुसरण किया गया लगता है।

३. द्रष्टव्य— "कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः" (त. सू. १०.२)।

४. द्रष्टव्य— "आत्यन्तिको विमोक्षस्तु देहादेर्मोक्ष उच्यते" (श्लो. ५२)।

उपसंहार

महाप्रज्ञ मुनि नथमल जी के ग्रन्थ "जैन योग" की प्रस्तुति (पृ. ३) में नवचक्रेश्वरतन्त्र के प्रमाण से पिण्ड आदि की चर्चा की गई है। यह हमें उपलब्ध न हो सका, अतः हम कह नहीं सकते कि यह तन्त्र किस प्रकृति का है। जैन तन्त्रशास्त्र के अब तक उपलब्ध हुए सभी ग्रन्थ आचार्यों की कृतियाँ हैं। वैष्णवों, शैवों, शाक्तों और बौद्धों में प्रधानतः दैवी उत्पत्ति के तन्त्र-ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। नवचक्रेश्वरतन्त्र के नाम से आशा की जाती है कि इस तरह के तन्त्रों की जैन साहित्य में भी स्थिति होनी चाहिये। जैन तन्त्रों के इस अध्ययन से हम स्वयं ही सन्तुष्ट नहीं है। ऐसा लगता है कि जैन तान्त्रिकों के लिये प्रयुक्त **जैनाभास** जैसे शब्दों ने इनको बहुत पहले नियन्त्रित कर दिया था।।



स्मार्ताधिकार

- पंचदेवोपासना
- स्मार्त साहित्य
- दस महाविद्या
- स्मार्त दर्शन

स्मार्ताधिकार

पंचदेवोपासना (पंचायतन पूजा)

शक्तिसंगमतन्त्र में पंचायतन शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है, किन्तु उसका स्वरूप क्या है? इसके विषय में कुछ भी नहीं कहा गया। "पाँच उपास्य देवताओं के आयतन (मंदिर) जहाँ एक साथ हों" इस व्युत्पत्ति के आधार पर उसको पंचायतन कहा जायगा, जहाँ शक्ति, शिव, विष्णु, सूर्य और गणेश नामक पाँच देवताओं के मन्दिर एक साथ हों। इनमें अपने-अपने संप्रदाय के अनुसार एक देवता प्रमुख रहती है और अन्य चार देवताओं के आयतन उसी मन्दिर की चारों विदिशाओं में स्थापित किये जाते हैं। [१]प्रतिष्ठा-ग्रन्थों में इनका विवरण मिलता है।

महाकालसंहिता के गुह्यकाली खण्ड (१२.२७८) में पंचायतन शब्द का यह अर्थ बताया गया है—

गणेशश्चापि सूर्यश्च विष्णू रुद्रस्तथैव च।
पूजयेन्मध्य ईशानीं पञ्चायतनमीदृशम्।।

इस श्लोक से ऊपर बताये गये विषय की पुष्टि होती है। डॉ. [२]किशोरनाथ झा का कहना है कि मिथिला में रात्रिपूजा में गणपति आदि पाँच देवताओं का और दिन में सूर्य आदि पाँच देवताओं का पूजन निश्चित है। इससे प्रतीत होता है कि सूर्य और गणेश वैकल्पिक देवता हैं। सूर्य या गणेश के अतिरिक्त विष्णु, शिव, दुर्गा तथा अग्नि को संमिलित किया जाता है। इसका मूल अन्वेषणीय है।

डॉ. झा ने [३]"स्मार्त-तन्त्र परम्परा" शीर्षक से इस विषय का प्रतिपादन किया है और अपने अध्ययन में महाकाल संहिता को प्रधानता दी है। इसमें शक्तिसंगमतन्त्र का

---

१. वैरोचन के प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय (२. १७९-१८१) में २१ प्रतिष्ठा-तन्त्रों की नामावली दी गई है।

२. बृहदितिहास के एकादश खण्ड में समाविष्ट "दस महाविद्या एवं स्मार्त-तन्त्र परम्परा" निबन्ध (पृ. ३९५, टि. ४) देखिये।

३. वहीं, पृ. ३९५-४०५ द्रष्टव्य। वहाँ इस परम्परा का वैशिष्ट्य, त्रिविध उपासना, बाह्य पूजा, दीक्षा, मन्त्र, यन्त्र जैसे विषय वर्णित हैं।

भी समावेश किया जा सकता है। डॉ. [1]झा ने दशविध महाविद्याओं की उपासना का भी समावेश स्मार्त-तन्त्र परम्परा में माना है और इनको पराशक्ति या आदिशक्ति के विविध रूप बताकर इनके स्वरूप, उपासना-पद्धति और उसके प्रतिपादक साहित्य का विस्तार से वर्णन किया है। इन सब विषयों को वहीं देखना चाहिये। इसी क्रम का अनुसरण करते हुए दस महाविद्या संबन्धी अपने विचार हम आगे प्रस्तुत करेंगे।

कुछ विद्वान् मनुस्मृति (१२.१२४) में स्मार्त परम्परा के बीज देखते हैं, किन्तु इस वचन में पाँच महाभूतों की चर्चा है, पाँच देवताओं की नहीं। वायु, विष्णुधर्मोत्तर आदि पुराणों में यह दृष्टि देखने को मिलती है। ये दोनों ग्रन्थ छठी-सातवीं शताब्दी में अवश्य विद्यमान थे, ऐसा माना जाता है। विष्णुधर्मोत्तर की गणना उपपुराणों में होती है। हम मान सकते हैं कि इस दृष्टि का विकास पौराणिक परम्परा में हुआ होगा। हमें यह भी देखना होगा कि क्या पुराणों पर वैदिक वाङ्मय का और उपपुराणों पर आगमिक परम्परा का अधिक स्पष्ट प्रभाव है? प्रपंचसार और शारदातिलक में प्रतिपादित दृष्टि का मूल उत्स कितना पीछे जाता है, इसकी भी खोज हमें करनी होगी। ईशानशिवपद्धति के प्रसंग में हम इस विषय पर विचार करेंगे। मध्यदेशीय शिवाचार्यों के ग्रन्थों के प्रकाशन के बाद ही अथवा किसी साहसी परिश्रमी व्यक्ति के द्वारा इन सब मातृकाओं के आलोडन के बाद ही सही रूप में स्मार्त-तन्त्र परम्परा के मूल उत्स तक पहुँचा जा सकता है। दुःख की बात यह है कि विश्वविद्यालयों और शोध-संस्थानों के अधिकारी-गण विद्वानों को इस ओर प्रवृत्त न कर उनको तान्त्रिक रहस्यवाद में ही उलझाये रखना चाहते हैं। ऐसे व्यक्तियों को समझ लेना चाहिये कि तान्त्रिक रहस्यवाद की विश्व के भविष्य के निर्माण में कोई भूमिका नहीं रह जायगी।

पंचदेवोपासना का क्रम

स्मार्त पंचोपासना में वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य और सौर मतों का समावेश कर प्रो. एन. एन. भट्टाचार्य ने तन्त्रसार की निम्न तीन पंक्तियों को उद्धृत किया है—

> **भवानीं** तु यदा मध्ये ऐशान्यामच्युतं यजेत्।
> आग्नेय्यां पार्वतीनाथं नैर्ऋत्यां गणनायकम्।।
> वायव्यां तपनं चैव पूजाक्रम उदीरितः। (पृ. २७२)

अन्य देवताओं का क्रम भी तन्त्रसार में ही इस प्रकार निर्दिष्ट है—

१. वहीं, पृ. ३६५-३९५ द्रष्टव्य। वहाँ पराशक्ति या आदिशक्ति, पराशक्ति के विविध रूप, दस महाविद्याएँ, दस अवतारों के साथ इनका तादात्म्य, देश-काल, उद्भव-कथा तथा साहित्य का विस्तार से परिचय दिया गया है।

[1]यदा तु मध्ये **गोविन्दमैशान्यां** शङ्करं यजेत्।
आग्नेय्यां गणनाथं च नैर्ऋत्यां तपनं तथा।।

वायव्यामम्बिकां चैव भोगमोक्षैकभूमिकाम्।
शङ्करं च यदा मध्ये ऐशान्यामच्युतं यजेत्।।

आग्नेय्यां तपनं चैव नैर्ऋत्यां गणनायकम्।
वायव्यां पार्वतीं चैव स्वर्गमोक्षप्रदायिनीम्।।

आदित्यं च यदा मध्ये ऐशान्यां शङ्करं यजेत्।
आग्नेय्यां गणनाथं च नैर्ऋत्यां केशवं तथा।।

वायव्यामम्बिकां देवीं स्वर्गसाधनभूमिकाम्।
गणनाथं यदा मध्ये ऐशान्यां केशवं यजेत्।।

आग्नेय्यामीश्वरं चैव नैर्ऋत्यां तपनं तथा।
वायव्यां पार्वतीं चैव पूजयेन्मोक्षदायिनीम्।।
स्वस्थानवर्जिता देवा दुःखशोकभयप्रदाः। (पृ. ५५)

हरि-हर, शिव-शक्ति, शिव-सूर्य अथवा विष्णु-सूर्य के रूप में भी यह उपासना प्रचलित है। ब्राह्मण-अब्राह्मण आदि शब्दों को छोड़कर हम तन्त्रागमशास्त्र का वैदिक-अवैदिक विभाग कर सकते हैं। डॉ. भट्टाचार्य ने इस प्रसंग (पृ. २७२) में प्रबोधचन्द्रोदय नाटक के एक प्रसंग को प्रस्तुत किया है। वहाँ भगवती सरस्वती की अध्यक्षता में वैष्णव, शैव और सौर मत के अनुयायिकों का बौद्धों, जैनों और चार्वाकों के साथ संघर्ष वर्णित है। पंचोपासना की डॉ. भट्टाचार्य की स्मार्त दृष्टि से हम सहमत नहीं है। सद्योज्योति शिवाचार्य से लेकर नारायणकण्ठ के पुत्र रामकण्ठ पर्यन्त शैवाचार्यों की सर्वागम-प्रामाण्य-वादिनी दृष्टि का कश्मीर आदि में विकास हुआ और उसके साथ ही विरोधी भावनाएँ सर्वत्र विलुप्त होती गई। निम्न तीन वचन बौद्ध, जैन और वैदिक दृष्टि का प्रतिनिधित्व करते हैं—

[2]तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्।।
(तत्त्वसंग्रह, ३५७७)

---

१. प्राच्य प्रकाशन, वाराणसी, सन् १९५८ का संस्करण देखिये।

२. अंगुत्तर निकाय (भा.१, ३. ६५.३, पृ. १८९) में पालि भाषा में भी यह उपलब्ध है।

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्ववचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः।।
(षड्दर्शनसमुच्चयटीका, श्लो.४४)

आगमादनुमानाच्च प्रत्यक्षादुपपत्तितः।
परीक्ष्य निपुणं भक्त्या श्रद्धातव्यं विपश्चिता।।
(वायु. ५३. १२२)

यही वचन लिंगपुराण (१.६१.६२-६३) में भी उपलब्ध है। यहाँ 'भक्त्या' के स्थान पर 'बुद्ध्या' पाठ है। यह अधिक संगत लगता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि वायुपुराण (१०४.१६; ८१-८२) में षड्दर्शन के रूप में ब्राह्म, शैव, वैष्णव, सौर, शाक्त तथा आर्हत (बौद्ध) दर्शन परिगणित हैं।

शाम्भव दर्शन

'गारलैण्ड आफ लेटर्स' (पृ. २५०) में शिव और शक्ति की, कुल और अकुल तत्त्व के सामरस्यमय स्वरूप की आराधना के निदर्शक दर्शन को यह नाम दिया गया है। शक्तिसंगमतन्त्र (१.८.८३-८४) में षट्शाम्भव और षट्शाम्भवरहस्य नामक दो ग्रन्थ उद्धृत हैं। शक्तिसंगमतन्त्र के तृतीय खण्ड का नाम भी [1]षट्शाम्भवरहस्य बताया गया है। यहाँ षडन्वयमत (३.३.१९८), षट्शाम्भवक्रम (१.३.४६), षट्शांभवविधि (३.१.६१), षट्शांभवदीक्षा (३.१.११५) आदि का विवरण मिलता है। यह दीक्षा केरल संप्रदाय से संबद्ध है और इसके २० भेद बताये गये हैं (४.१.१०९)। इन सब उद्धरणों को देखने से इस दर्शन का संबन्ध कौल सम्प्रदाय के अतिरिक्त केरल सम्प्रदाय से भी लगता है। केरल में पूर्व वर्णित पंचदेवोपासना के स्थान पर षडानन कुमार स्कन्द का भी समावेश कर छः देवों की उपासना की जाती है और यह षट्शाम्भव मत के रूप में प्रसिद्ध है।

महाकालसंहिता और शक्तिसंगमतन्त्र प्रधानतः तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थ हैं, किन्तु इन पर स्मार्त उपासना का गहरा प्रभाव है। महाकालसंहिता के विभिन्न खण्डों का प्रकाशन प्रयाग के गंगानाथ झा शोध संस्थान से हो चुका है। इसके सम्पादक तन्त्रशास्त्र एवं न्यायशास्त्र के महनीय विद्वान् मिथिला की प्राचीन परम्परा के संरक्षक डॉ. किशोरनाथ झा हैं। इस विषय से संबद्ध एक अन्य ग्रन्थ अंग्रेजी भाषा में इधर निकला है-"स्मार्त रिलीजियस ट्रेडीशन"। इसके लेखक डॉ. वी. एस. पाठक हैं। इनके "शैव कल्ट्स इन नार्दर्न इण्डिया" नामक ग्रन्थ की पहले चर्चा आ चुकी है: इन दोनों ही ग्रन्थों की

---

१. शक्तिसंगम, उपो. पृ. दो की तीसरी टिप्पणी देखिये।

सामग्री ६०० से १२०० ई. के शिलालेखों के आधार पर संकलित की गई है। स्मार्त परम्परा के अध्ययन में यह ग्रन्थ भी सहायक हो सकता है। यहाँ संक्षेप में पंचदेवोपासना का परिचय भी दिया गया है (पृ. ५८-६६)। पंचायतनी दीक्षा के प्रसंग में प्रो. एन. एन. भट्टाचार्य (पृ. ४५६) तथा डॉ. एस. सी. बनर्जी (पृ. ५७०) कृष्णानन्द के तन्त्रसार (पृ. ७०-७२) का स्मरण करते हैं। प्रो. भट्टाचार्य (पृ. २७२-२७३) और डॉ. एस. सी. बनर्जी (पृ. १३१-१३२) पंचोपासना के प्रसंग में ब्राह्मणवाद-अब्राह्मणवाद की चर्चा उठाते हैं। आर्य, द्रविड़, हिन्दु जैसे शब्दों की तरह ब्राह्मण शब्द की भी सृष्टि भारतीय समाज में विग्रह पैदा करने के उद्देश्य से की गई है। हमें इससे सावधान रहना चाहिये और इसके स्थान पर वैदिक-अवैदिक शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिये। अस्तु आगे हम शक्तिसंगमतन्त्र में वर्णित स्मार्त सम्प्रदाय और उसकी विभिन्न शाखाओं का परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं।

स्मार्त सम्प्रदाय

शक्तिसंगमतन्त्र के प्रथम खण्ड में विविध मतों की चर्चा करते समय स्मार्त-वैष्णव पद से वैखानस सम्प्रदाय का ग्रहण किया गया है (८.४३)। बाद में दशविध वैष्णव सम्प्रदायों का परिचय देने के बाद उनके व्रत आदि का निर्णय करते समय स्मार्तों के मत की चर्चा करने के बाद (१.८.६१-६८) वैखानस मत का अलग से उल्लेख किया गया है (१.८.६८-६९)। यहाँ वैखानस मत की अलग से चर्चा होने से स्मार्त वैष्णव की अपेक्षा वैखानस मत की पृथक् स्थिति मानी जानी चाहिये। यहाँ व्रत के लिये दशमीविद्धा एकादशी परिगृहीत है। इससे स्पष्ट होता है कि दशविध वैष्णवों से सर्वथा भिन्न स्मार्त शैव सम्प्रदाय यहाँ चर्चित है। इसी तरह (१.८.८१) में स्मार्त सम्प्रदाय की ही चर्चा मानी जायगी। ये स्मार्त पंचायतन पूजा को स्वीकार करते हैं, केवल शिव या विष्णु की आराधना को नहीं। तदनुसार यहाँ शक्तिसंगमतन्त्र में वर्णित इन सभी मतों का परिचय दिया जा रहा है।

शैव सम्प्रदाय

शक्तिसंगमतन्त्र (१.८.२७) में छः भेद वाले शाम्भव मत का अनुसरण करने वाले को शैव बताया गया है। यहाँ (१.८. ९३-९६) शाम्भव शैव को सर्वोत्तम माना गया है। यह शांभव शैव चतुर्दशी, अर्थात् प्रतिमास की शिवरात्रि और प्रदोष का व्रत रखता है और शिव का पूजन करता है। यह शांभव शैव शिव को ही प्रधान देवता मानता है (२.३.८)। २८ सिद्धान्तों (३.१.१९०) तथा १८ सिद्धान्तागमों (३.११.४०) की भी यहाँ चर्चा मिलती है। क्षेमराज, अघोरशिव आदि के द्वारा प्रदर्शित सिद्धान्त शब्द की व्युत्पत्ति की यहाँ अनेक

स्थलों पर चर्चा हो चुकी है। इस तरह से शैव, शांभव, सिद्धान्ती— ये सब शब्द पर्यायवाची माने जाते हैं। यहाँ एक जगह (१.३.२) प्रयुक्त सिद्धान्त शब्द ज्योतिःशास्त्र से संबद्ध है। यद्यपि आगमसन्दोह प्रकरण (२.१.२४) में शैवों और पाशुपतों का अलग से वर्णन हुआ है, तो भी आगे (३.१.१४९, १८३) पाशुपतों का शैव सम्प्रदाय में अन्तर्भाव बताने के कारण इन सबकी शैव सम्प्रदाय में ही गणना होनी चाहिये। अलग से जो निर्देश किया गया है, उसकी गति ब्राह्मणवसिष्ठ-न्याय से मानी जायगी। वस्तुतः देखा जाय तो शैव, पाशुपत, कालामुख, कापालिक आदि शैव सम्प्रदाय के ही अवान्तर भेद हैं, तो भी इनकी अपनी भी कुछ विशेषताएँ हैं। इन सबका अलग से विस्तार से वर्णन किया गया है। शांभव सम्प्रदाय के गर्भशांभव और केरलशांभव नामक भेद तृतीय खण्ड (१.११५) में तथा पीठवाणी एवं लिपिभाषा के भेद से शांभवों के बीस भेद चतुर्थ खण्ड (१.१०९) में देखे जा सकते हैं। षट्शाम्भवमत की चर्चा अभी ऊपर आ चुकी है।

वैष्णव सम्प्रदाय

शक्तिसंगम के आगमसन्दोह प्रकरण (२.१.२४) में वैष्णव मत भी वर्णित है। पर्यायसप्तक प्रकरण तथा षड्दर्शनों के प्रसंग में भी वैष्णव तन्त्रों का विस्तार से परिगणन किया गया है। वैखानस आदि मतों में दीक्षित व्यक्ति को वैष्णव कहा जाता है (१.८.२६), सभी वस्तुओं को व्याप्त कर जो विद्यमान है, उसे वैष्णव कहते हैं (१.८.२४) इस तरह यहाँ वैष्णव शब्द की व्युत्पत्ति दी गई है। इसके दस भेद यहाँ (१.६.१३८) प्रदर्शित हैं। यद्यपि तृतीय खण्ड (१.१८५) में अष्टविध वैष्णव सूचित हैं, किन्तु गिनने पर इनकी संख्या दस हो जाती है। दशविध वैष्णवों के नाम प्रथम खण्ड (८.३८-४०) में गिनाये गये हैं। तृतीय खण्ड (१. १८५-१८८) में ये पुनः परिगणित हैं। वहाँ (३.१.१४९) पांचरात्र आदि मतों का वैष्णव सम्प्रदाय में समावेश माना गया है। इन सभी सम्प्रदायों के लक्षणों के साथ इनकी अपनी विशिष्टता का वर्णन इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड के आठवें पटल में किया गया है। इस पटल में पांचरात्र मत की सुरेन्द्र-संहिता आदि का तथा वैष्णव मतों के साथ पाशुपत मत का भी वर्णन किया गया है (१.८. ८३-८५)। आगमसन्दोह प्रकरण (२.१. २४-२५) में वीरवैष्णव की गणना अलग से की गई है और अन्यत्र (३.१.१०८) इस मत का अन्तर्भाव दस महाविद्याओं में किया गया है। अधिवासदीक्षा के पांचरात्रक्रम का यहाँ (१.१८-१५) स्वतन्त्र रूप से वर्णन है। इन विषयों की चर्चा वैष्णवाधिकार (पृ. ७३-७६) में हम कर चुके हैं।

दौर्ग सम्प्रदाय

शक्तिसंगमतन्त्र (१.८.३१) में दुर्गा, चण्डी आदि देवियों के उपासक को दौर्ग कहा गया है। कुलार्णवतन्त्र (२.२९) में शैव, वैष्णव, दौर्ग, सौर्य, गाणपत्य, चान्द्र आदि

सम्प्रदायों के मन्त्रों से विशुद्ध चित्त वाले साधक में कुलज्ञान के प्रकाशित होने की बात कही गई है। तदनुसार दौर्ग शब्द से शाक्त सम्प्रदाय का ग्रहण किया जाता है। शक्तिसंगमतन्त्र में शाक्त सम्प्रदाय का विस्तार से वर्णन मिलता है। दौर्ग मत का अलग से उल्लेख करना ब्राह्मणवसिष्ठ-न्याय के अनुसार होगा। कुलार्णव के 'इन्दुसंभव' शब्द का 'जैन दर्शन' अर्थ किया जाता है। इस पर विचार अपेक्षित है।

शाक्त सम्प्रदाय

शक्तिसंगमतन्त्र (१.८.२६) में बताया गया है कि शक्ति का उपासक शाक्त कहलाता है। षड्दर्शन प्रकरण और पर्यायसप्तक प्रकरण में शाक्त सम्प्रदाय का तथा उसके तन्त्रों का विस्तार से परिचय दिया गया है। शाक्त सम्प्रदाय में किन किन मतों का समावेश होता है, इसकी भी सूचना वहाँ दी गई है। यह शक्तिसंगमतन्त्र प्रधान रूप से शाक्त सम्प्रदाय और स्मार्त पद्धति का ही प्रतिपादक है।

सौर सम्प्रदाय

शक्तिसंगमतन्त्र के षड्दर्शन प्रकरण और आगमसन्दोह प्रकरण में भी सौर सम्प्रदाय का समावेश हैं। पर्यायसप्तक का निरूपण करते समय सौर तन्त्र परिगणित है। भगवान् सूर्य में अनुरक्त, उनकी उपासना करने वाले को यहाँ (१.८.३०) सौर सम्प्रदाय का अनुयायी माना गया है। सौर मत के पाँच भेद यहाँ (१.६.१३९) सूचित हैं। इनके नाम यहाँ नहीं दिये गये हैं। अर्घ्यप्रकरण (१.४.१६७) और वरदानाधिकार (२.५८.५५) में भी सौर सम्प्रदाय चर्चित है। डॉ. तून गान्द्रियान (पृ. १११) ने सौरसंहिता (तन्त्र) और देवीरहस्यतन्त्र का सूर्योपासनापरक तन्त्रों के रूप में परिचय दिया है। तान्त्रिक साहित्य (पृ. ३१७ एवं ७१७) में भी इनका विवरण मिलता है।

गाणपत्य सम्प्रदाय

षड्दर्शनों की नामावली और अन्य विभिन्न सम्प्रदायों की गणना करते समय शक्तिसंगमतन्त्र में सर्वत्र बिना व्यवधान के गाणपत्य सम्प्रदाय की उपस्थिति मिलती है। यहाँ (१.६.१३९) इस सम्प्रदाय के आठ भेदों की सूचनामात्र मिलती है। इनके नाम कहीं उपलब्ध नहीं होते। पात्रनिर्णय प्रकरण में और अर्घ्यदान प्रकरण (१.४.१७०) में इस सम्प्रदाय की अपनी विशिष्टता की सूचना अवश्य दी गई है। गाणपत्य तन्त्रों की सूचना पर्यायनिर्णय प्रकरण में मिलती है।

प्रो. एन.एन. भट्टाचार्य ने इस मत के गणपतितत्त्व नामक ग्रन्थ का परिचय दिया है (पृ. ७८)। जावा से उपलब्ध प्राचीन मातृकाओं में यह मिला था। दिल्ली से सन् १९५८ में इसका प्रकाशन हो चुका है। डॉ. सुदर्शना देवी सिंहल ने इसका परिष्कृत संस्करण

तैयार किया था। कुलकुण्डलिनी और षट्चक्रों का यहाँ कायसाधन में उपयोग बताया गया है। षडंग योग का तथा बिन्दु, नाद, मन्त्र और बीज का विवरण भी यहाँ दिया है।

आगे (पृ. २६९-२७२) गणेश या गणपति शब्द की प्रवृत्ति के निमित्त को बताते हुए प्रो. भट्टाचार्य का कहना है कि ऋग्वेद (२.३३.१) में इन्हींकी स्तुति की गई है। ऋग्वेद के रुद्र और पौराणिक शिव से समान रूप से ये संबद्ध हैं। अथर्वशिरस् उपनिषद् में रुद्र के साथ विनायक के रूप में ये वर्णित हैं। महाभारत और मानवगृह्यसूत्र में तथा विविध पुराणों में विविध नामों से ये संबोधित हैं। शिल्पशास्त्र में इनकी २४ प्रकार की मूर्तियों की नामावली उपलब्ध है। विघ्नराज और सिद्धिदाता— ये दोनों ही इनके स्वरूप शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। मातृकाओं के साथ भी गणेश की मूर्तियाँ उपलब्ध होती है। आनन्दगिरि के शंकरदिग्विजय और उसकी डिण्डिम टीका में गाणपत्यों की छः शाखाओं का उल्लेख मिलता है। ये महागणपति, हरिद्रागणपति, उच्छिष्टगणपति, नवनीतगणपति, स्वर्णगणपति और सन्तानगणपति के उपासक के रूप में प्रसिद्ध हैं। सामान्य रूप से गणेश के चार हाथ और तीन आँखें हैं। इनके हाथ पाश, अंकुश, वर और अभय मुद्रा से सुशोभित हैं।

चान्द्र सम्प्रदाय

शक्तिसंगमतन्त्र (१.८.२९) में चन्द्रमा के मन्त्र का जप करने वाले को चान्द्र कहा गया है। विविध सम्प्रदायों की चर्चा के प्रसंग में अनेक स्थलों पर इस मत की भी चर्चा हुई है। इस मत में पूर्णमासी के दिन पवित्र धारण किया जाता है (१.१८.१८)। सोम, सौम्य, सोमसिद्धान्त जैसे नामों से पुराणों एवं प्रबोधचन्द्रोदय जैसे नाटकों में इस सिद्धान्त का वर्णन मिलता है। [1]"यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर" (पृ. ३३६, ३५७) नामक ग्रन्थ में डॉ. कृष्णकान्त हाण्डीकी तथा [2]डेविड एन लोरेंजन ने कापालिक सम्प्रदाय के साथ इसका वर्णन किया है। शक्तिसंगमतन्त्र में इन दोनों मतों का जो सूक्ष्म भेद प्रदर्शित किया गया है, इससे कापालिक और सोमसिद्धान्त को भिन्न मानना ही उचित होगा। सोमसिद्धान्त पर अभी विशेष विचार अपेक्षित है। उमापति शिवाचार्य ने शतरत्नसंग्रह (पृ. ८-९) में संभवतः इस नाम के ग्रन्थ को भी उद्धृत किया है। इस विषय का विस्तार शक्तिसंगमतन्त्र के चतुर्थ खण्ड के संस्कृत उपोद्घात (पृ. २१-५०) में देखा जा सकता है।

शक्तिसंगमतन्त्र में वर्णित कुछ सम्प्रदायों की चर्चा अभी ऊपर की गई है। अब हम स्मार्त पंचायतन पूजा से संबद्ध कुछ ग्रन्थों का यहाँ परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं।

---

१. सन् १९४९ में शोलापुर से यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था।

२. थामसन प्रेस (इण्डिया) लिमिटेड, नई दिल्ली, सन् १९७२, पृ. ८५

स्मार्त-साहित्य

उपनिषत् साहित्य

पुराण-साहित्य के लिये ही नहीं, परवर्ती सांप्रदायिक उपनिषत्-साहित्य के लिये भी यह कहा जा सकता है कि समय-समय पर इनमें घात-प्रतिघातात्मक पद्धति से नवीन तत्त्वों का संनिवेश हुआ अथवा सर्वथा नवीन साहित्य का आविर्भाव हो गया। इन साम्प्रदायिक उपनिषदों का आविर्भाव अपने-अपने सम्प्रदायों की वेदानुकूलता को दिखाने के लिये हुआ, क्योंकि ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद में विभिन्न मतों को अवैदिक ठहरा दिया गया था और इस दृष्टि से अनेक मत समाज में अनादृत-से हो चले थे। अपने संप्रदाय की वेदानुवर्तिता को बताने के लिये स्वतन्त्र ग्रन्थ ही नहीं लिखे गये, प्रत्युत महाभारत तथा पुराणों में अपने मत के समर्थक प्रकरणों को जोड़ा गया और स्वतन्त्र उपपुराणों एवं उपनिषदों की सत्ता भी सामने आई। ब्रह्मसूक्त और महोपनिषत् संबन्धी वेदान्तदेशिक के विचारों को हमने यहीं (पृ. ११२-११३) उद्धृत किया है। सर्वत्र इस तरह के विचारों को देखा जा सकता है। भास्करराय ने भी इस तरह के उपनिषदों की सहायता से त्रिपुरा संप्रदाय की वेदानुवर्तिता को स्थापित करने का प्रयत्न किया है, जब कि त्रिपुरा सम्प्रदाय के प्राचीन आचार्यों ने चातुर्वर्ण्य-विषयक श्रुति के रूप में इसका स्वतन्त्र प्रामाण्य स्वीकृत किया है। मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट के द्वारा उद्धृत वैदिकी और तान्त्रिकी श्रुति की चर्चा श्रीमद्भागवत, देवीभागवत आदि में भी मिलती है।

उपनिषत्संग्रहों में "वैष्णवोपनिषदः, शैवोपनिषदः, शाक्तोपनिषदः" के रूप में अनेक उपनिषदों का प्रकाशन हुआ है। इनकी तथा अन्य उपनिषदों की भी हमें परीक्षा करनी पड़ेगी कि इनमें स्मार्त दृष्टि का अनुसरण करने वाली उपनिषदें भी हैं या नहीं। विष्णुधर्मोत्तर जैसे उपपुराणों का तो हम इनमें समावेश कर ही सकते हैं।

हयशीर्ष पंचरात्र (संहिता)

इस ग्रन्थ का संक्षिप्त परिचय पहले (पृ. ११३-११४) दिया जा चुका है। हयशीर्ष पंचरात्र के आदिकाण्ड का दो भागों में प्रकाशन वारेन्द्र रिसर्च इंस्टीटच्यूट, राजशाही, बंगला देश से सन् १९५२ और १९५६ में हुआ था। पं. भुवनमोहन सांख्यतीर्थ ने इसका सम्पादन किया था। प्रथम भाग में १-१४ तथा द्वितीय में १५-४४ पटल समाविष्ट है। यह पूरा ग्रन्थ चार काण्डों और १४० पटलों में विभक्त हैं। इसकी श्लोक संख्या ६ हजार है। काण्डों के नाम— आदि, संकर्षण, लिंग और सौर हैं। इस पांचरात्र तन्त्र का आविर्भाव दक्षिण में न होकर उत्तरभारत में हुआ, ऐसा माना जाता है। "स्मिथ आगम कलेक्सन" में डॉ. एच. डेनियल स्मिथ ने हयशीर्ष संहिता के नाम से इस ग्रन्थ का

संक्षेप (पृ. १६५-१६७) में तथा "डिस्क्रिप्टिव बिब्लिओग्राफी" (पृ. ५३७-५५३) में विस्तार से परिचय दिया है। आदिकाण्ड के ४४ पटलों में क्रमशः इन विषयों का प्रतिपादन हुआ है—

शास्त्रावतार, पांचरात्रस्वरूपनिरूपण, वर्जनीयाचारलक्षण, आचार्यलक्षण, भूतल-लक्षण, भूतशुद्धि, शंकुलक्षण, देवताविभाग, बलिदान, अर्घ्यदान, शिलाधिवास, पातालयाग, प्रासादलक्षण, प्रासाददेवतासंस्थापन, शिलालक्षण, वनयाग, दिक्शान्ति, प्रतिमालक्षण, पिण्डिकालक्षण, श्रीलक्षण, वैनतेयलक्षण, केशवादिप्रतिमालक्षण, दशावतारप्रतिमालक्षण, नवव्यूहप्रतिमालक्षण, प्रतिमालक्षण, ग्रहप्रतिमालक्षण, मातृलक्षण, लोकेशप्रतिमालक्षण, रुद्रप्रतिमालक्षण, गौरीप्रतिमालक्षण, लिंगलक्षण, पिण्डिकालक्षण, कालपरीक्षण, दिक्पालपटल, कलशाधिवासन, स्नपन, अधिवास, रत्नन्यास, प्रतिष्ठा, अवभृथस्नान, बलिदान, द्वारप्रतिष्ठा, हृत्प्रतिष्ठा, ध्वजप्रतिष्ठा।

२२वें पटल में केशव आदि बारह मासाधिपों की, २३वें पटल में दशावतारों में भगवान् बुद्ध की, २४वें पटल में आदिमूर्ति, वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, नारायण, विष्णु, नरसिंह और वराह नामक नवव्यूहों की और २८वें पटल में आठ लोकपालों की मूर्तियों के निर्माण का विधान बताया गया है। डॉ. स्मिथ ने इन सभी पटलों के प्रतिपाद्य विषयों का सुस्पष्ट परिचय दिया है। मातृकाओं के परिचय में परम्परा का अभाव दिखाई पड़ता है। लोकेश-प्रतिमा का लक्षण परीक्षणीय है।

ऊपर की पद्धति से ही संकर्षण काण्ड के ३९ पटलों की, लिंग काण्ड के २० पटलों की और सौर काण्ड के ४३ पटलों की भी विषय सूची यहाँ प्रस्तुत की गई है। इन सबको देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रधान रूप से वैष्णव मत का ग्रन्थ होते हुए भी यहाँ पंचायतन पूजा में अंगीकृत सभी देवताओं की प्रतिष्ठाविधि वर्णित है।

५५३ वें पृष्ठ में पचीस पांचरात्र संहिताओं के अतिरिक्त भागवत, शिवोक्त, विष्णुभाषित, पद्मोद्भव, वाराह, सामान्यसंहिता, व्यासोक्तसंहिता और परमसंहिता नामक आठ संहिताओं के नाम दिये गये हैं। भागवतों की ये संहिताएँ हैं, ऐसी कोई सूचना यहाँ नहीं दी गई है। पुराण पद को लगता है, यहाँ पद्मोद्भव का विशेषण मानकर अलग से पुराणसंहिता की गणना नहीं की गई है। इस विषय पर हम वैष्णवाधिकार (पृ. १५७-१६०) में चर्चा कर चुके हैं।

सौरसंहिता

सौरसंहिता की प्राचीन मातृका का उल्लेख डॉ. तून गान्द्रियान (पृ. १११) ने किया है। नेत्रतन्त्र (१३. १७-२७) में जयाख्या, मायावामनसंहिता आदि संहिताओं के साथ

सौरसंहिता में वर्णित भगवान् सूर्य की ध्यानविधि वर्णित है। यह विषय और यहाँ के श्लोक सौर संहिता की उक्त मातृका में उपलब्ध हैं या नहीं और यह हयशीर्षपंचरात्र के सौर काण्ड से भिन्न है या अभिन्न? इसकी परीक्षा अपेक्षित है। सौरपुराण आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला, पूना से प्रकाशित हुआ है। इस प्रसंग में इसकी भी समीक्षा होनी चाहिये। [1]ईशानशिवपद्धति में क्षेत्रपालतन्त्र, गणेशतन्त्र, दौर्गतन्त्र, भानुतन्त्र, मातृतन्त्र, षडास्यतन्त्र, सूर्यतन्त्र, सोमतन्त्र जैसे तन्त्र-ग्रन्थ उद्धृत हैं या ग्रन्थकार ने इन देवताओं की आराधना से संबद्ध जो सामग्री विभिन्न पटलों में संकलित है, उसको यह नाम दे दिया गया है, इसकी परीक्षा होनी चाहिये। इससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि उस समय तक विभिन्न देवताओं की उपासना के विधायक तन्त्र-ग्रन्थ आविर्भूत हो चुके थे और उन्हीं की सहायता से अग्निपुराण आदि पुराणों में ही नहीं, नेत्रतन्त्र, हयशीर्ष पंचरात्र जैसे शैव और वैष्णव आगमों के ग्रन्थों में भी पंचदेवोपासना का विधान उपलब्ध था। स्मार्त धर्म की प्रतिष्ठा में इन सबका अवदान हमें स्वीकार करना पड़ेगा।

पुराण-साहित्य

पंचायतन पूजा के प्रसंग में वायुपुराण और विष्णुधर्मोत्तर उपपुराण की चर्चा अभी आ चुकी है (पृ. ८१८)। बृहदितिहास के तन्त्रागमीय खण्ड में प्रकाशित डॉ. करुणा एस. त्रिवेदी के "पुराणगत योग एवं तन्त्र" नामक निबन्ध में "पुराणगत तन्त्र" शीर्षक से १७ पुराणों की सामग्री का संक्षेप में संकलन किया गया है। इनमें अग्निपुराण, गरुडपुराण, नारदपुराण और शिवपुराण में पंचायतन पूजा संबन्धी सामग्री विशेष रूप से मिलती है। हम यहाँ इन चारों पुराणों के चुने हुए कुछ अंशों को प्रस्तुत करना चाहते हैं। अग्निपुराण के संबन्ध में हम स्वयं भी बता चुके हैं कि यहाँ की ३९-७० अध्यायों की सामग्री हयशीर्ष पंचरात्र से तथा ७१ से १०६ अध्याय तक की सामग्री लीलावती नामक शिवागम से ली गई है (पृ. १०)।

अग्निपुराण

वैष्णव और शैव तन्त्रों के अतिरिक्त यहाँ शाक्त तन्त्रों की भी पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। त्रैलोक्यविजय, संग्रामविजय, महामारी आदि विद्याओं का, तान्त्रिक षट्कर्मों का, कुब्जिका का तथा ६४ योगिनियों की पूजा का भी वर्णन मिलता है। इस प्रकार वैष्णव, शैव और शाक्त मतों के साथ स्कन्द, गणपति और सूर्य की पूजा का भी, उनके

---

१. इस पद्धति का परिचय प्रस्तुत प्रकरण (पृ. ८३६-८३७) में और सिद्धान्तशैव प्रकरण (पृ. २६९) में भी दिया गया है। "निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्" में प्रकाशित "आचार्यशङ्करीयः प्रपञ्चसारः" शीर्षक निबन्ध भी देखिये (पृ. १८९-१९०)।

मन्त्र-मुद्रा आदि के साथ पूरा विधान मिलता है। शैवागमों में ४८ संस्कार वर्णित हैं। गौतम स्मृति में भी इनका उल्लेख है। इस पुराण के ३२वें अध्याय में भी इन संस्कारों की चर्चा है। स्पष्ट है कि सौर, शाक्त, वैष्णव और शैव दीक्षा में इनका समान रूप से अनुष्ठान किया जाता है (३३.११)।

गरुडपुराण

आयुर्वेद, ज्यौतिष, विषचिकित्सा आदि विषयों की तो पर्याप्त सामग्री यहाँ है ही, साथ ही शिव के पाँच मुखों से निर्गत पंचविध तन्त्रों का, सात्वत (वैष्णव) तन्त्र का, "जितन्ते" स्तोत्र का, १६वें अध्याय से लेकर ३२वें अध्याय तक सूर्यपूजा, सौर सम्प्रदाय और उनके विविध मन्त्रों आदि का, त्रिपुरा, कुब्जिका, मनसा आदि देवियों के साथ विष्णु के श्रीधर आदि स्वरूपों का और विविध मन्त्रों का विस्तार से उल्लेख मिलता है। अगले अध्यायों में सुदर्शन, हयग्रीव, गायत्री, दुर्गा, माहेश्वरी आदि की पूजापद्धति का वर्णन है। सप्त मातृकाएँ भी यहाँ चर्चित हैं। नित्यक्लिन्ना, त्रिपुरा और असितांग भैरव आदि के मन्त्र भी उपलब्ध हैं। "ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती" यह प्रसिद्ध श्लोक इसी पुराण (१. २२२-३४) का है।

नारदपुराण

इस पुराण के पूर्व खण्ड के ६३-९१ अध्यायों में आगम और तन्त्रशास्त्र के ही विषय विस्तार से वर्णित हैं। प्रारंभ में यहाँ शैवागमों में वर्णित विषयों का परिचय दिया गया है। इतना ही नहीं, यहाँ के और सद्योज्योति शिवाचार्य की मोक्षकारिका के दो श्लोक पूरी आनुपूर्वी से मिलते हैं। इसी तरह से ८९वें अध्याय के १० से २१ तक के १२ श्लोक नित्याषोडशिकार्णव के प्रारंभ में द्वादशश्लोकी के नाम से प्रसिद्ध हैं। ६८वें अध्याय में गणेश के और ६९वें अध्याय में नाना देवों के मन्त्रों का विधान है। अगले अध्यायों में भगवान् विष्णु की और उनके नृसिंह, राम आदि अवतारों की पूजाविधि वर्णित है। हनुमान् आदि के मन्त्रों का, कार्तिकेय की दीपविधि का, भगवान् श्रीकृष्ण और राधा की उपासना का ; महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती, त्रिपुरा, दुर्गा, षोडश नित्या आदि के पूजाविधान का भी यहाँ वर्णन है। यहाँ का ९०वाँ अध्याय नित्यापटल के नाम से प्रसिद्ध है। स्पष्ट है कि पंचायतन पूजाविधि यहाँ विस्तार से वर्णित है।

शिवपुराण

इस पुराण के विषय में हम "शिवपुराणीयं दर्शनम्" (तन्त्रयात्रा, पृ. ५०-५८) में तथा यहाँ शैवागम प्रकरण (पृ. २५०-२५२) में पर्याप्त लिख चुके हैं। अपभ्रंश भाषा में निबद्ध कर्मवादपरक जैनशास्त्र का, बौद्धागमों का, बौद्ध तन्त्रों में वर्णित धारणी-सदृश

मन्त्रों का विवरण भी यहाँ देखने को मिलता है। भैरवावतार का वर्णन यहाँ कूर्मपुराण की पद्धति से हुआ है। दुर्गासप्तशती के समान यहाँ उमासंहिता के ४५-५० अध्यायों में महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती इन तीनों देवियों के अतिरिक्त अन्य शताक्षी आदि देवियों के अवतार की कथाएँ वर्णित हैं। काली, तारा आदि दस महाविद्याओं की नामावली भी यहाँ देखी जा सकती है और इनके अधिपति रुद्रों की भी। रुद्रसंहिता के सती खण्ड के ११वें अध्याय में भगवती दुर्गा की स्तुति विशेष महत्त्व की है।

हमने यहाँ केवल चार पुराणों का ही उल्लेख किया है। यों सभी पुराणों में स्मार्त पंचायतन पूजा का विधान उपलब्ध होता है। वैदिक एवं तन्त्रागमीय पूजाविधान के समन्वय के रूप में इसकी प्रवृत्ति कब हुई, यह गहन अनुशीलन का विषय है। प्रपंचसार और शारदातिलक तक ही हम अपने को सीमित नहीं रख सकते। पूर्ववर्ती मध्यदेशीय शैवाचार्यों, स्मार्त धर्म के अनुयायी धर्मशास्त्रीय निबन्धकारों तथा पुराण-उपपुराण साहित्य का हमें गहन अनुशीलन करना पड़ेगा। तभी हम किसी निष्कर्ष तक पहुँच सकेंगे।

विष्णुधर्मोत्तर

विष्णुधर्मोत्तर की चर्चा पहले (पृ. ८१८) आ चुकी है। वहाँ इस प्रश्न को भी उठाया गया है कि क्या उपपुराणों पर आगमिक परम्परा का प्रभाव हैं? पांचरात्र आगमों में हम अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग नामक पाँच कृत्यों के पाँच कालों में अनुष्ठान का प्रकार सर्वत्र देखते है। यहाँ भी प्रथम खण्ड के ६१-६५ अध्यायों में इनका विवरण मिलता है। शिव-विष्णु की अभिन्नता, शंकरकृत गणेश की स्तुति, माहेश्वरी आदि मातृगण की चर्चा, कार्तिकेय की स्तुति जैसे स्मार्त तन्त्रों के विषय भी यहाँ वर्णित हैं। कृतान्तपंचक की चर्चा महाभारत आदि में मिलती है। यहाँ भी उनका उल्लेख हुआ है। वह इस प्रकार है—

सांख्यं योगं पाञ्चरात्रं शैवं पाशुपतं तथा।
कृतान्तपञ्चकं विद्धि ब्रह्मण: परिमार्गणे।।

यहाँ 'वेदा:' के स्थान पर 'शैवं' पाठ है। स्पष्ट है कि विष्णुधर्मोत्तर के काल तक सिद्धान्तशैव मत प्रसिद्धि को प्राप्त कर चुका था।

इस उपपुराण के द्वितीय और तृतीय खण्ड में प्रधान रूप से राजशास्त्र, ज्योति:शास्त्र, धनु:शास्त्र, चित्र-संगीत आदि कला, शिल्पशास्त्र, नवरस, नृत्यमुद्रा, मूर्ति-प्रासाद-निर्माण, षडंग वेद, चतुर्दश विद्या जैसे विषय ही प्रधान रूप से वर्णित हैं, तो भी तृतीय खण्ड के अन्त में ब्रह्मा आदि विविध देवताओं के पूजन, व्रतविधान आदि की भी

चर्चा मिलती है। प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि नामक पाँच योगांगों का भी वर्णन यहाँ तृतीय खण्ड के पाँच अध्यायों (२८०-२८४) में किया गया है। वायुपुराण (२. १०.७६) में भी योग के पाँच ही अंग प्रदर्शित हैं। वहाँ समाधि को स्मरण कहा गया है। कृतान्तपंचक की तो चर्चा यहाँ स्पष्ट रूप से मिलती है, किन्तु पंचोपासना की स्मार्त पद्धति यहाँ चर्चित है या नहीं, इसकी खोज करनी होगी।

प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय

वैरोचन शिवाचार्य के प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय का प्रकाशन नेपाल की राजधानी काठमांडू से दो भागों में संवत् २०२३ एवं २०२५ में हुआ है। इसका सम्पादन हमारे मित्र पं. बुद्धिसागर परांजुलि जी ने किया था। यह ग्रन्थ ३२ विधियों में पूरा हुआ है। यह प्रधान रूप से प्रतिष्ठाशास्त्र का ग्रन्थ है। शिवोक्त २१ प्रतिष्ठा-तन्त्रों की सहायता से इस ग्रन्थ की रचना की गई है (२. १७९-१८१)। अवधूतसिद्ध जैसे शैवाचार्य भी यहाँ उद्धृत हैं। प्रथम विधि का विषय लिंग-निर्माण के द्रव्यों का निरूपण है। द्वितीय विधि में अनेक विशेष विषय निरूपित हैं। प्रारंभ में यहाँ श्रेष्ठ, मध्यम आदि गुरुओं को बताकर आर्यावर्त का तथा वहाँ के शैवाचार्यों का लक्षण वर्णित है। तदुपरान्त शिव के पाँच मुखों से विनिःसृत १६४ आगमों की नामावली दी गई है (२.१०८-१२८)। इनमें भैरवागमों की संख्या ३२ ही बताई गई है। अन्य ३२ तन्त्रों के नाम यहाँ नहीं दिये गये। वेदों की अपेक्षा तन्त्रशास्त्र में वर्णित विशेष विषयों को यहाँ गिनाया गया है और कहा गया है कि इनका वर्णन वेदों में नहीं मिलता (३.१५६-१६०)। १९ स्मृतियों और २१ प्रतिष्ठा-तन्त्रों की नामावली भी यहाँ (२. १७६-१८१) दी गई है। अन्य विविध तन्त्रों, ग्रन्थ-ग्रन्थकारों की नामावली भी स्थान-स्थान पर उपलब्ध है।

इस ग्रन्थ का परिचय पहले (पृ. २५७-२५९) दिया जा चुका है। अतः अब सम्पूर्ण ग्रन्थ का परिचय न देकर कुछ विशिष्ट स्थलों की ही चर्चा की जा रही है। दारुशिलाग्रहण, लिंगमान, व्यक्तलिंगलक्षण के अतिरिक्त शक्ति, शिव, भैरव, अर्धनारीश्वर, रुद्र, विष्णु और उनके दशावतारों का यहाँ वर्णन है। उनमें बुद्ध परिगणित हैं। दशावतारों में यहाँ (६.८५) कृष्ण का नाम नहीं मिलता। केशव आदि द्वादश मासाधिपतियों के अतिरिक्त वासुदेव आदि स्वरूपों का तथा हरिहर, चण्डी, नवदुर्गा, सप्तमातृका, रुद्रगण, द्वादश आदित्य, नवग्रह, अष्टनाग, मनसा देवी, नक्षत्र, राशि, दिक्पाल, विश्वकर्मा, हनुमान्, क्षेत्रपाल, ६४ योगिनियों एवं भैरवों का ध्यान यहाँ वर्णित है। इन्हींके आधार पर इनकी मूर्तियों के निर्माण का विधान भी यहाँ दिया गया है। ६४ योगिनियों की यह प्राचीनतम नामावली है। भेड़ाघाट की ६४ योगिनियों की मूर्तियों से इन लक्षणों की तुलना अपेक्षित

है। आगे व्यक्ताव्यक्त लिंग, पिण्डिका, विविध आयुध और वाहनों का लक्षण, कालविचार, मण्डप, कुण्ड, स्रुक्, स्रुव आदि का परिमाण बताया गया है। अधिवासन, प्रतिष्ठा, लिंगस्थापन, चण्डेश्वरस्थापन, भूतादिस्थापन, बाणलिंगस्थापन, ध्वजनिवेशन, जीर्णोद्धारविधि, मण्डप-मठ आदि का निर्माण, कीलकारोपण, शल्योद्धार, वास्तुपूजा, पदसंस्थापन, नवप्रासादवर्तन, लिंगमान के अनुसार प्रासाद का लक्षण, विविध द्वार लक्षण, वास्तुयाग विधान, मण्डप लक्षण, नाटचशालालक्षण, वज्रलेपविधान, भूबन्ध, गणेशपूजन, पुष्करिणी-कूप-वृक्षोद्यान-आराम आदि का विधान प्रदर्शित है। अन्तिम ३२वीं विधि में पवित्रारोपण का विधान बताया गया है और कहा गया है कि सुन्दर आदि आचार्यों का अनुसरण कर मैंने इस प्रतिष्ठातन्त्र की रचना की है। यहाँ ग्रन्थकार ने अपना परिचय भी दिया है (३२. ७१-७४)। मत्तमयूर वंश के, अर्जुन[१] वृक्ष से चिह्नित विमलशिव [२]निर्भय भूपाल के गुरु थे। उनके शिष्य का नाम ईशानशिव था। ग्रन्थकार वैरोचन इन्हींके शिष्य हैं। विक्रम की नवीं शताब्दी इनका समय माना गया है।

प्रपंचसार

प्रपंचसार में आठ पटल पर्यन्त वे सभी विषय प्रतिपादित हैं, जो सामान्य रूप में सभी तन्त्रों में वर्णित हैं। जैसे प्रथम पटल में चतुर्विध देहोत्पत्ति पर्यन्त अर्थसृष्टि एवं शब्दब्रह्म की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया संक्षेप में बताई गई है। द्वितीय और तृतीय पटल में इन्हींका विस्तार किया है। तृतीय पटल में केशव आदि, तथा श्रीकण्ठ आदि विष्णु और शिव के ५१ स्वरूपों और उनकी शक्तियों की नामावली दी गई है। ये ५१ वर्णों को प्रतिनिधित्व करते हैं। मन्त्रोद्धार की सारी प्रक्रिया इन पर आधारित है। चतुर्थ पटल में न्यास, पंचम में दीक्षा, षष्ठ में अग्निसमाराधन तथा अभिषेकविधि वर्णित है। प्रसंगवश यहाँ अष्टांग एवं पंचांग प्रणाम का क्रम भी निर्दिष्ट है। सप्तम में मातृका-परिचय, पुरश्चरण, विविध न्यास, होम, जप, तिलकधारण आदि विषय वर्णित हैं और अष्टम पटल में प्राणाग्निहोत्र और मन्त्रोद्धार का स्वरूप एवं वाग्देवी का स्तोत्र पठित है।

आगे नवम से चतुर्दश पटल पर्यन्त त्रिपुरा, भुवनेश्वरी, लक्ष्मी और दुर्गा नामक शक्तियों की आराधना-पद्धति, यन्त्र-मन्त्र आदि का विधान है। तब सूर्य, चन्द्र,

---

१. सिद्धान्तसारावलि (पृ. २५५) में अर्जुन वृक्ष को पुष्पगिरि मठ का प्रतिनिधि माना गया है। मत्तमयूर वंश का इस मठ से संबन्ध होगा?

२. श्रीमन्मत्तमयूरजो हरसमः शैवोऽर्जुनद्योतकः, प्रख्यातो विमलादिकः शिवपरश्चाचार्यवर्योऽभवत्। पूज्यो निर्भयभूमिपस्य च गुरुस्तेनाभिषिक्तः स्वयं ज्ञानीशानशिवस्तदङ्घ्रिजनितो वैरोचनो देशिकः।। (३२, ७२)।

महागणपति और मन्मथ देवों की पूजा, ध्यान आदि की विधि वर्णित है। १९वाँ पटल प्रणव को समर्पित है। आगे नारायण, द्वादशमासों के देवता, वासुदेव, पुरुषोत्तम, श्रीकर, नृसिंह की पूजाविधि बताई गई है। २६वें में विष्णुपंजर और २७वें में प्रासाद, पंचब्रह्म आदि मन्त्रों का विधान है। इसी पटल में प्रसिद्ध गोलक-न्यास का भी वर्णन है। आगे के पटलों में दक्षिणामूर्ति मन्त्र, चिन्तामणि मन्त्र, गायत्री मन्त्र, त्रिष्टुब्विद्या, लवणादि मन्त्र, अनुष्टुप्प्रकरण, विविध यन्त्र-मन्त्र आदि का विधान बताया गया है। ३५वें पटल में प्राणप्रतिष्ठाविधि को विस्तार से बताया गया है। अन्तिम ३६वें पटल में पुत्रोत्पत्तिकर प्रयोगों का निरूपण कर गुरु और शिष्य के लक्षणों एवं दीक्षित शिष्य के आचारों को बताया गया है।

यह सम्पूर्ण ग्रन्थ दो भागों में पद्मपादाचार्य के विवरण के साथ आगमानुसन्धान समिति, कलकत्ता से सन् १९३५ में प्रकाशित हुआ है। ग्रन्थ के अन्त में अज्ञातकर्तृक प्रयोगक्रमदीपिका के नवम पटल पर्यन्त भाग का भी प्रकाशन हुआ है। यह प्रपंचसार की व्याख्या न होकर पद्मपादाचार्य के विवरण की व्याख्या है। अन्य संस्करणों का परिचय डॉ. तून गान्द्रियान के उक्त ग्रन्थ की टिप्पणी (पृ. १३१, टि. ३) से प्राप्त कीजिये। ग्रन्थ का आर्थर एवेलन का विस्तृत उपोद्घात अवलोकनार्ह है। यहाँ सभी पटलों के विषयों का विस्तृत परिचय भी दिया गया है। इस ग्रन्थ में पटलों की संख्या यद्यपि ३६ है, किन्तु यहाँ सांख्य दृष्टि के अनुसार २५ तत्त्व ही वर्णित हैं, शैव-शाक्त तन्त्रों में वर्णित ३६ तत्त्वों की यहाँ कहीं-कोई चर्चा नहीं है।

ऋजुविमर्शिनीकार शिवानन्द ने अभियुक्तवचन के रूप में प्रपंचसार के अनेक वचनों को उद्धृत किया है। यह ग्रन्थ आद्य शंकराचार्य द्वारा प्रणीत है या उनकी शिष्य-परम्परा में से किसी ने इसकी रचना की, इस विषय में ऐतिहासिक एकमत नहीं हैं। अर्थरत्नावलीकार विद्यानन्द ने अपनी दूसरी रचना ज्ञानदीपविमर्शिनी (पृ.१७) में "मूलाधारात् स्फुरित" इस श्लोक को "तदुक्तं भगवता शङ्कराचार्येण" कहकर उद्धृत किया है। इससे इतना स्पष्ट होता है कि १३-१४ वीं शताब्दी के विद्यानन्द इसको आचार्य शंकर की कृति मानते हैं। ईशानशिवगुरुदेवपद्धति में सात स्थलों पर प्रपंच अथवा प्रपंचसार के नाम से यह ग्रन्थ उद्धृत है। ये वचन यहाँ आनुपूर्वी से मिल जाते हैं। ईशानशिव का समय खीष्टीय एकादश शताब्दी का अन्तिम भाग माना जाता है। ईशानशिव सोमशंभु को उद्धृत करते हैं और इन्होंने अपने ग्रन्थ कर्मकाण्डक्रमावली को ११३० वि. संवत् में पूरा किया था। ईशानशिव की पद्धति को कुमारदेव उद्धृत करते हैं। ये कुमारदेव गुजरात के चालुक्य राजा मूलराज के गुरु कुमारशिव से अभिन्न हैं, तो ईशानशिव का उक्त स्थिति-काल अनायास स्थापित हो जाता है।

हमारी इस स्थापना को हालैण्ड के तन्त्रशास्त्र के विद्वान् डॉ. तून गान्द्रियान ने अपने ग्रन्थ "हिन्दू तान्त्रिक एण्ड शाक्त लिटरेचर" (पृ. १३१) में स्वीकार किया है। उग्रज्योति, सद्योज्योति आदि १८ पद्धतिकार शैवाचार्यों की सूचना मिलती है। [1]प्रायश्चित्त-समुच्चय, [2]नैमित्तिकक्रियानुसन्धान, [3]प्रतिष्ठादर्पण जैसे शैव पद्धति-ग्रन्थ अभी प्रकाशित नहीं हो सके हैं। इनके अनुशीलन के बाद प्रपंचसार का रचनाकाल और भी पहले जा सकता है।

आजकल सभी शांकर मठों में श्रीयन्त्र एवं भगवती त्रिपुरा की उपासना की जाती है। प्रपंचसार में तन्त्रशास्त्र के सामान्य विषयों को बताने के बाद नवम पटल (त्रिपुरा कल्प) में सर्वप्रथम भगवती त्रिपुरा की आराधना-पद्धति को बताया गया है। शारदातिलक में यह क्रम नहीं है। ईशानशिव की पद्धति में प्रपंचसार के अनुसार ही यद्यपि सारे विषय विस्तार से वर्णित हैं, तो भी वहाँ प्रथमत: गणपति की पूजा के उपरान्त ही त्रिपुरोपासना की पद्धति बताई गई है। छठी शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक अपनी विद्वत्ता के लिये प्रसिद्ध शिव-शंभु नामधारी शैवाचार्यों की निरन्तर उपस्थिति शिलालेखों तथा उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर ज्ञात होती है। मध्यदेश के इन आचार्यों ने सारे देश में शैव धर्म का प्रचार और प्रतिष्ठा की थी। ईशानशिव आदि के ग्रन्थों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि ये आचार्य सर्वधर्मसमभाववादी थे। इस पद्धति में वसुधाराधिकार में अक्षोभ्य, वैरोचन, रत्नसंभव, अमिताभ और अमोघसिद्धि नामक पंचबुद्धों को नमन किया गया है (भा.२, पृ. ११४) तथा मन्त्रपाद के ४७वें पटल में यमान्तक मन्त्र का स्वरूप ठीक वैसा ही है, जैसा बौद्ध [4]कृष्णयमारितन्त्र में उपलब्ध है।

इस पद्धति का प्रपंचसार में अनुवर्तन नहीं किया गया है। यहाँ वर्णित दशावतारों में भगवान् बुद्ध का नाम नहीं है। जैसे— "मत्स्य: कूर्मवराहौ नृसिंहकुब्जत्रिरामकृष्णाश्च

१. "तान्त्रिक साहित्य" (पृ. ४०५) से ज्ञात होता है कि ईशानशिव के शिष्य हृदयशिव ने प्रायश्चित्तसमुच्चय की रचना की थी। प्रस्तुत ईशानशिव से भिन्न ये प्राचीन आचार्य हैं। त्रिलोचन शिवाचार्य कृत प्रायश्चित्तसमुच्चय की भी सूचना मिलती है।
२. नैमित्तिकक्रियानुसन्धान ब्रह्मशंभु की कृति है। इसकी सूचना ईशानशिवपद्धति (भा. २, पृ. १) के म. म. हरप्रसाद शास्त्री लिखित उपोद्घात से तथा 'शैव कल्ट.' (पृ. ३९) से मिलती है। ९३८ ई. में लिपिबद्ध इसकी मातृका का विवरण न्यू कैटलागस्. (भा. १०, पृ. २२७) में दी गई है।
३. प्रतिष्ठादर्पण की रचना ईशानशिव के शिष्य वैरोचन ने की है, इसकी भी सूचना म.म. हरप्रसाद शास्त्री और शैव कल्ट. में उक्त स्थल पर दी गई है। वैरोचन के ऊपर विवृत ग्रन्थ से यह भिन्न है या अभिन्न? इसकी परीक्षा अपेक्षित है।
४. इस प्रसंग में 'धी:' के १३वें अंक (पृ. ३३-४४) में प्रकाशित "वसुधारा एवं कृष्णयमारि साधन" शीर्षक हमारा निबन्ध देखिये।

कल्कि:" (२०.५९)। त्रिपुरार्चा की प्राथमिकता और बुद्धावतार की अस्वीकृति— ये दो आन्तरिक प्रमाण इस ग्रन्थ को आचार्य शंकर के साथ जोड़ते हैं। उनके द्वारा रचित होने पर भी इसका समावेश तान्त्रिक वाङ्मय में होगा, क्योंकि "तन्त्रेऽस्मिन्" (३६.६३) कह कर स्वयं ग्रन्थकार ही इसका तन्त्रशास्त्र में समावेश मानते हैं। यह किसी विशेष सम्प्रदाय से नहीं जुड़ा है, सभी सम्प्रदायों को यहाँ एक साथ पिरो दिया गया है। इसीलिये पंचायतन-पूजापद्धति का प्रदर्शक होने से इसे स्मार्त धर्म का प्रतिष्ठापक ग्रन्थ माना जाता है। यहाँ वैदिक और तान्त्रिक वाङ्मय को समान रूप से मान्यता मिली है। कुछ लोग इसको वैष्णवों का ग्रन्थ मानते हैं। भगवान् विष्णु ने इसका उपदेश ब्रह्मा को किया है।

ग्रन्थ के सम्पादक का कहना है कि प्रपंचपंचक का सार यहाँ गृहीत है, अत: इसको प्रपंचसार नाम दिया गया (भूमिका, पृ. ४)। प्रयोगदीपिकाकार— "समस्तागमसार-संग्रहप्रपञ्चागमसारसंग्रहरूपम्" (पृ. १) इस विवरणकार के वचन की व्याख्या करते हुए कहते हैं— "समस्ता: सत्त्वसागरसंहितादय:, तेषां संग्रह: प्रपञ्चागम:, तस्यापि सारसंग्रहरूपमिति प्रपञ्चसार एवाभिप्रेत:" (पृ. ३८२)। इस व्युत्पत्ति को देखते हुए सम्पादक द्वारा प्रदर्शित व्युत्पत्ति के आधार की खोज करनी होगी। आजकल प्रपंचपंचक अथवा प्रपंचागम नाम का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। [1]ईशानशिवपद्धति, शारदातिलक-टीका[2] आदि में तत्त्वसागर नाम का ग्रन्थ अवश्य उद्धृत है। यह तत्त्वसागर तत्त्वसागरसंहिता से अभिन्न हो सकता है। अत: सत्त्वसागरसंहिता यह नाम लिपिदोष प्रयुक्त होना चाहिये। विवरणकार और प्रयोगक्रमदीपिका के अनुसार [3]तत्त्वसागरसंहिता जैसे समस्त आगमों का सार प्रपंचागम में संगृहीत है और उसका भी संक्षेप प्रपंचसार में किया गया है, यही मानना उचित होगा। ईशानशिव— "तथाहि तत्त्वसागरे प्रपञ्चके च दर्शितम्" (१.१४.२६०) इस तरह से तत्त्वसागर और प्रपंच को एक साथ स्मरण करते हैं और "तत्त्वसागरादितन्त्रचोदित:" (१.१४.२६४) यहाँ इसको तन्त्र-ग्रन्थ मानते हैं। इससे भी तत्त्वसागर और प्रपंचसार का संबन्ध सूचित होता है। तत्त्वसागरसंहिता पांचरात्र आगम के तामस विभाग में परिगणित है। उससे संबद्ध होने से यह वैष्णव मत का तथा अन्तत: स्मार्त सम्प्रदाय का ग्रन्थ है। इससे इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि प्रपंचसार पंचदेवोपासना-पद्धति का प्रथम ग्रन्थ नहीं है।

---

१. भा.१, पृ. ३५, ३६, ४०, ४३, ५३, १४१, १४२; भा. ३, पृ. ७९ देखिये।

२. पृ. १०७, १२८, १३१, २९९ द्रष्टव्य।

३. डॉ. श्रादर की पांचरात्र संहिताओं की सूची में यह नाम उपलब्ध है (पृ. ७)। ग्रन्थ के उद्धरणमात्र उपलब्ध हैं। डॉ. डेनियल स्मिथ ने अपने कलेक्शन में इसका कोई विवरण नहीं दिया, अत: ऐसा लगता है कि अब तक इसकी कोई मातृका उपलब्ध नहीं हुई है।

प्रपंचसार में किसी भी ग्रन्थ या ग्रन्थकार का नाम उपलब्ध नहीं है। केवल "अपरे, एके, केचित्, स्मृतिकोविदाः, तन्त्रः, आगमः, शैवागमः" जैसे शब्द ही देखने को मिलते हैं। इन शब्दों के सहारे ग्रन्थ के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता और प्रपंचागम, तत्वसागरसंहिता जैसे ग्रन्थ भी उपलब्ध नहीं है। इतना सब होते हुए भी सभी टीकाकार इस विषय में एकमत हैं कि यह ग्रन्थ भगवत्पाद शंकराचार्य की कृति है।

इस ग्रन्थ पर इक्कीस टीकाएँ लिखी गईं, इसकी [1]सूचना मिलती है। प्रयोगक्रमदीपिका पद्मपाद के विवरण की व्याख्या है। प्रपंचसारदीपिका और प्रपंचसारप्रयोगविधि— ये दोनों ग्रन्थ प्रयोगक्रमदीपिका से अभिन्न हो सकते हैं अथवा प्रपंचसारदीपिका प्रपञ्चसारगूढार्थदीपिका से अभिन्न हो सकती है। इसी तरह से प्रपंचसारसंबन्धटीका प्रपंचसारसंबन्धदीपिका से अभिन्न हो सकती है। इन सब टीकाओं की मातृकाओं की परीक्षा के बाद ही कुछ निश्चित रूप से कहा जा सकता है।

आचार्य शंकर का जन्म केरल में हुआ, इसमें कोई विवाद नहीं है, किन्तु उनका समय भी सुनिश्चित मानकर उनके द्वादश-शताब्दी-पूर्ति महोत्सव को पूरे देश में बड़े उत्साह के साथ मनाया गया। शक्तिसंगमतन्त्र के प्रमाण से हम इस मत का खण्डन कर चुके हैं और यह बता चुके हैं कि इससे भट्ट कुमारिल का काल ही आचार्य शंकर का भी काल है, यह सुनिश्चित हो जाता है। यहाँ स्पष्ट रूप से यद्यपि आचार्य शंकर का उल्लेख नहीं मिलता, तो भी इस ग्रन्थ के तीन स्थलों की एक साथ समीक्षा करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ उन्हीं की चर्चा है। इस स्थापना को डॉ. गान्द्रियान ने स्वीकार नहीं किया (पृ. ६०), तो भी वे कहते हैं कि ऐतिहासिकों ने आज उनका जो समय निर्धारित किया है (७८८-८२० ई.), उसे १०० वर्ष पहले अवश्य ले जाया जा सकता है[2] (पृ. १३१)। इस ग्रन्थ में शक्तिसंगमतन्त्र का परिचय देते समय डॉ. गान्द्रियान की आशंका का समाधान हम कर चुके हैं (पृ. ५९९-६००)। ***इतना हम अवश्य कहना चाहेंगे कि हमें गड्डुरिकाप्रवाह में नहीं बह जाना चाहिये और अपनी स्थापित परम्पराओं को बिना पुष्टतर प्रमाण उपलब्ध हुए, नहीं छोड़ना चाहिये।*** यह आश्चर्य की ही बात है कि इस ग्रन्थ में योगसंबन्धी कोई प्रकरण नहीं है।

---

१. "निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्" नामक ग्रन्थ में प्रकाशित "आचार्यशङ्करीयः प्रपञ्चसारः" (पृ. १८६-१८७) शीर्षक निबन्ध देखिये।

२. प्रस्तुत स्थल पर (पृ. १३१-१३४) डॉ. तून गान्द्रियान द्वारा प्रपंचसार का विस्तृत परिचय दिया गया है।

कर्मकाण्डक्रमावली

सोमशम्भु-कृत कर्मकाण्डक्रमावली के अब तक तीन संस्करण निकल चुके हैं। इनका समय निश्चित है। इन्होंने संवत् ११३० (१०७३ ई.) में अपने ग्रन्थ को पूरा किया था। ईशानशिव इनके परमेष्ठिगुरु, विमलेश परमगुरु और [१]व्योमशिव इनके गुरु थे। लीलावती शिवागम से इन्होंने अपने ग्रन्थ के निर्माण (पृ. ३१) में सहायता ली थी। दमनक पूजा का विधान इन्होंने स्वच्छन्दभैरव तन्त्र (पृ. ५५) से लिया था। यह स्वच्छन्दभैरव तन्त्र स्वच्छन्दतन्त्र से भिन्न ही लगता है। यहाँ सोमशम्भु स्वच्छन्दभैरव को समान तन्त्र मानते हैं। क्षेमराज के द्वारा स्वच्छन्दोद्योत में उद्धृत भुल्लक इस तन्त्र की द्वैतपरक व्याख्या करते हैं। इससे भी इसकी समानतन्त्रता स्पष्ट होती है। ईशानशिव की मुद्रित पद्धति में सोमशम्भु अनेक स्थलों पर उद्धृत हैं, अतः सोमशम्भु के परमेष्ठिगुरु ईशानशिव इनसे भिन्न ही हैं। वैरोचन के गुरु ईशानशिव इनसे भिन्न हैं या अभिन्न, अभी कुछ कहा नहीं जा सकता। इस ग्रन्थ का संक्षिप्त परिचय पहले (पृ. २६९) दिया जा चुका है।

इस ग्रन्थ के प्रारम्भ (पृ. १-४१) में नित्यकर्मविधि वर्णित है। आह्निक ग्रन्थों से इसकी तुलना की जा सकती है। प्रातःकृत्य, स्नान (विविध), सन्ध्या, सकलीकरण, मार्जन, तर्पण, सूर्योपासन, द्वारपालपूजन, भूतशुद्धि, अग्निपूजन, आहुतिद्रव्य एवं प्रमाण, बलिविधान, चण्डार्चन, कपिलार्चन, भोजनविधि जैसे सभी प्रतिदिन संपन्न होने वाले कृत्यों का विधान यहाँ बताया गया है। पवित्रारोपण, पवित्राधिवासन एवं पवित्रविधि (पृ. ४१-५४), दमनकपूजा (पृ. ५४-५७), प्रायश्चित्तविधि (पृ. ५७-६५), दीक्षाविधि (पृ. ६५-१०६) जैसे विषय भी वर्णित हैं। अधिवासदीक्षा, षडध्वशुद्धि, स्वप्नविचार, सप्तविषुव जैसे विषय भी यहाँ समाविष्ट हैं। आगे त्रितत्त्वदीक्षा, एकतत्त्वदीक्षा एवं अभिषेक का विधान है (पृ. १०७-११८)।

इसके बाद व्रतसमुद्धार, अन्त्येष्टिविधान और श्राद्धविधि (पृ. ११८-१२७) के वर्णन के बाद पाँच भेद वाली प्रतिष्ठाविधि वर्णित है (पृ. १२७-१३८)। शल्योद्धार, शिलान्यासविधान, वास्तुपूजा, अधिवासविधि जैसे विषय भी समाविष्ट हैं। आगे (पृ. १३९-१७०) विस्तार से लिंगप्रतिष्ठा का विधान बताकर गौरी, सूर्य, विष्णु और हृत्प्रतिष्ठा का विधान (पृ. १७०-१७८) वर्णित है।

प्रासादचैतन्य, ध्वजारोपण, जीर्णोद्धार, मठादि की प्रतिष्ठा, पुष्करिणी प्रतिष्ठा, वापी-कूप-तटाक प्रतिष्ठा, वृक्ष-आगम-उद्यान प्रतिष्ठा जैसे विषयों का भी यहाँ (पृ. १७८-१८६) संक्षेप में वर्णन मिलता है। धर्मशास्त्रीय निबन्ध-ग्रन्थों से हम इन सभी

---

१. सशम्भु को खशम्भु मान कर व्योमशिव नाम की कल्पना हमने की है।

शंभु-शिवान्त नाम वाले आचार्यों की रचनाओं की तुलना कर सकते हैं। तब हम देखेंगे कि इन ग्रन्थों में आगम-तन्त्र शास्त्र की, ततः पुराणों और स्मृतियों की प्रधानता देखने को मिलेगी। इन सबकी सहायता से नवीन आगम-ग्रन्थों की भी रचना हुई। स्मार्त-तन्त्र के नाम से इस पूरे साहित्य की पहचान की जा सकती है।

ईशानशिवपद्धति

ईशानशिवगुरुदेवपद्धति के नाम से त्रिवेन्द्रम से चार भागों में दो बार प्रकाशित इस ग्रन्थ का संक्षिप्त परिचय सिद्धान्तशैव प्रकरण (पृ. २७०-२७१) में दिया जा चुका है। [१]अभी बताया गया है कि इसमें सात स्थानों पर प्रपंच या प्रपंचसार को उद्धृत किया गया है और बौद्ध तन्त्रों में वर्णित [२]वसुधारा एवं यमान्तक मन्त्र का भी विवरण यहाँ मिलता है। ईशानशिव सोमशम्भु की कर्मकाण्डक्रमावली को उद्धृत करते हैं, जिसकी रचना ११३० वि. संवत् में पूरी हुई थी। पंचदेवोपासना का स्वरूप यहाँ भी देखने को मिलता है। छठी-सातवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक शिव-शम्भु नामान्त, मध्यदेशीय शैवाचार्यों की सूचना मिलती है, जो विभिन्न राजवंशों के पुरोहितों (राजगुरुओं) के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं। कुमारदेव की तत्त्वप्रकाश की टीका की और इन शिवाचार्यों के ग्रन्थों की प्रकृति को देखकर ऐसा लगता है कि इन्हीं शिवाचार्यों ने पंचदेवोपासना के माध्यम से स्मार्त धर्म की प्रतिष्ठा की है। इन आचार्यों के अब तक अप्रकाशित ग्रन्थों को देखने के उपरान्त ही किसी निश्चित स्थिति तक पहुँचा जा सकता है। इस प्रसंग में शोधार्थियों की सुविधा के लिये "निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्" नामक ग्रन्थ में प्रकाशित "आचार्यशङ्करीयः प्रपञ्चसारः" शीषर्क निबन्ध में इस पद्धति में उपलब्ध विशिष्ट सामग्री का विश्लेषण किया गया है (पृ. १८८-१९४)।

पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के रूप में यह ग्रन्थ विभक्त है। पूर्वार्ध में सामान्यपाद और मन्त्रपाद तथा उत्तरार्ध में क्रियापाद और योगपाद समाविष्ट हैं। आगम-ग्रन्थों के समान यहाँ भी चार पाद अवश्य हैं, किन्तु यहाँ निर्दिष्ट सामान्य और मन्त्र पादों का अन्यत्र उल्लेख नहीं है। इसी तरह से अन्यत्र उपलब्ध ज्ञान और चर्या पादों की यहाँ चर्चा नहीं है। त्रिलोचन शिवाचार्य ने अपनी सिद्धान्तसारावलि में आगमों में स्वीकृत पाद-विभाग को ही मान्यता दी है। ईशानशिवपद्धति की एक और विशेषता है कि यहाँ सामान्यपाद में १-१४ पटल तथा मन्त्रपाद में १५-५२ पटल हैं, अर्थात् दोनों पादों को मिलाकर पटल संख्या दी गई है, अलग-अलग नहीं। क्रियापाद में कुल ६४ पटल तथा योगपाद में केवल तीन पटल हैं।

---

१. पृ. ८३२ देखिये।

२. पृ. ८३३ की चौथी टिप्पणी देखिये।

प्रथम सामान्य पटल को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि मातृका, मन्त्र, कुण्ड-मण्डल, स्रुक्-स्रुव, उपचार, नित्यकर्म, भूतशुद्धि, वास्तुविद्या, अंकुरार्पण, मन्त्रदीक्षा एवं अग्निकल्प जैसे सभी तान्त्रिक दीक्षा-संबन्धी विषय संक्षेप में यहाँ बता दिये गये हैं और बाद में इनका विस्तार से विवरण दिया गया है।

द्वितीय मन्त्रपाद में एक या एकाधिक पटलों में गणपति, त्रिपुरा, वागीश्वरी, त्वरिता, नित्यक्लिन्ना, दुर्गा, वसुधारा, सूर्य, शिव, मृत्युंजय, अघोर, व्योमव्यापी, आवरणदेवता, अष्टाक्षर मन्त्र, श्रीकर, नृहरि, वराह, सुदर्शन, त्रैलोक्यमोहन, वामन जैसे देवताओं के मन्त्रों का उद्धार प्रदर्शित है। साथ ही विषप्रतीकार, विषचिकित्सा, बालचिकित्सा, ग्रहचेष्टा, भूततन्त्र, अपस्मारोन्माद, ज्वरादिचिकित्सा, नानारोगचिकित्सा, अभिचारादि प्रतीकार, संवननाकृष्टि, गोरक्षा, इन्द्रजाल, नर्मप्रकार, युद्धविजय जैसे गारुडतन्त्र, भूततन्त्र, चिकित्साशास्त्र आदि में वर्णित विषयों की भी संक्षेप अथवा विस्तार से चर्चा की गई है।

तृतीय क्रियापाद के प्रथम दो पटलों में आगमों के विद्यापाद में वर्णित विषय संक्षेप में प्रदर्शित हैं। प्रथम पटल में शैवागमों का, अष्टादश विद्याओं का तथा भारतीय वाङ्मय का परिचय दिया गया है और द्वितीय पटल में पशु, पाश, पति, शक्तिविचार एवं क्रिया-चर्या नामक [1]छः विषयों की बहुत ही संक्षेप में चर्चा की गई है। इस तरह का विभाजन अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। तृतीय पटल में नित्यस्नान[2] आदि का वर्णन है। आगे क्रमशः भूतशुद्धि, उपचार (पूजा), मन्त्रोद्धार, मुद्रा, कुण्ड-मण्डल, स्रुक्-स्रुव, अंकुरार्पण, साधकाचार्य-लक्षण, आवरणपूजा, अग्निकार्य, क्रिया-समय-निर्वाण दीक्षा, साधक-दीक्षा, आचार्याभिषेक, प्रायश्चित्त, पवित्रारोपण, दमनकपर्व जैसे विषयों का विस्तार से वर्णन किया गया है। भूमिपरीक्षा, शंकुछाया, शल्योद्धार, वास्तुपुरुष, वास्तुपूजा, प्रथमेष्टका-विन्यास, विमानादिलक्षण, पीठोपपीठ-विन्यास जैसे विषय भी इसी पाद में वर्णित हैं। यह स्मरणीय है कि इन सभी विषयों का अतिसंक्षेप में परिचय प्रथम सामान्य पाद में भी दिया गया है। क्रियापाद के इस प्रथम भाग में तीस पटल तक की सामग्री मिलती है।

क्रियापाद के दूसरे भाग में शिल्पशास्त्र के अवशिष्ट विषय समाविष्ट हैं। द्वार-तोरण निर्माण, दारु (काष्ठ) आदि का लक्षण, स्तूपीलक्षण, मानुष-आर्ष आदि

१. शैव प्रकरण (पृ. ३१०) में यह विषय चर्चित है।

२. ब्राह्म, आग्नेय, वायव्य, दिव्य, वारुण और यौगिक स्नानों का वर्णन कूर्मपुराण (२. १८. १२-१७) में मिलता है। सप्तविध अथवा अष्टविध स्थानों के भी लक्षण कर्मकाण्डक्रमावली (पृ. २-४) आदि में देखे जा सकते हैं।

लिंगलक्षण, पीठविधि, मिश्रलिंग-रत्नलिंग-निर्माणविधि, दशताल पुरुषमान, स्त्री-पुरुष मान, षोडशमूर्ति लक्षण जैसे वास्तुशास्त्र-संबन्धी विषयों की चर्चा करने के उपरान्त यहाँ रक्षोघ्न होम, प्रतिष्ठा, अधिवास, नित्योत्सव, महोत्सव, स्नपनोत्सव जैसे विषयों का परिचय दिया गया है। इसके आगे सूर्यतन्त्र, गणेशतन्त्र, स्कन्दतन्त्र, शंकर-नारायणतन्त्र, दुर्गातन्त्र, गौरीतन्त्र, वागीश्वरीतन्त्र, शास्तृतन्त्र, मातृतन्त्र, क्षेत्रपालतन्त्र जैसे शीर्षकों वाले विविध पटलों में इन देवताओं की आराधना-पद्धति का स्वरूप प्रदर्शित है। क्रियापाद की समाप्ति के पहले यहाँ चार पटलों में क्रमशः नव-नैवेद्य और कृत्तिका-दीप की, अन्त्येष्टि की, प्रायश्चित्त आदि की तथा जीर्णोद्धार की विधि वर्णित है।

चतुर्थ योगपाद में केवल तीन पटल हैं। प्रथम पटल के ५५ श्लोकों में वैराग्य की उत्पत्ति के लिये संसार की असारता निरूपित है। द्वितीय पटल में योग के विविध लक्षणों को बताने के बाद यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि नामक आठ योगांग परिगणित हैं। इनमें से यम, नियम और आसन के पाँच-पाँच, प्राणायाम के अनेक, प्रत्याहार के पाँच, धारणा के बहुधा, ध्यान के षड्धा और समाधि के तीन भेद वर्णित हैं। यमों और नियमों में से प्रत्येक का लक्षण भी यहाँ बताया गया है। इसके बाद याज्ञवल्क्य और वसिष्ठ के मत से यमों और नियमों के दस-दस भेद दिखाये गये हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं— अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार और शौच। ये दस यम हैं। तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजन, सिद्धान्तश्रवण, ह्री, मति, जप और हुत— ये दस नियम हैं (पृ. २३३-२३५)। आगे पाँच आसनों के लक्षण (श्लो. ३५-४०), रेचक आदि त्रिविध, मन्द आदि त्रिविध एवं सगर्भ-अगर्भ प्राणायाम (श्लो. ४१-४५), दस एवं अष्टादश नाडियाँ (श्लो. ५६-६६) पाँच और दस प्राण (श्लो. ६७-७२), इनके वर्ण, कार्य एवं स्थान (श्लो. ७२-८८)— ये सब विषय द्वितीय पटल में वर्णित हैं। धनंजय वायु मृत व्यक्ति को भी नहीं छोड़ता, इस विषय की सूचना यहाँ भी दी गई है।

योगपाद के तृतीय पटल में प्रथमतः (श्लो. १-५४) योगाभ्यास का प्रकार विस्तार से बताया गया है। तब पहले (श्लो. ५५-६०) प्रत्याहार एवं उसके १८ स्थानों का, पंचविध धारणा (श्लो. ६१-६८), ध्यान (श्लो. ६९-७८) तथा समाधि (श्लो. ७९-९६) का स्वरूप प्रदर्शित है। अन्यत्र प्रदर्शित योगविधियों से हम इसकी तुलना कर सकते हैं।

तत्त्वप्रकाश-तात्पर्यदीपिका

इस ग्रन्थ का विस्तृत परिचय हम शैवाधिकार (पृ. २७५-२८३) में दे चुके हैं। वहाँ बताया गया है कि तात्पर्यदीपिका के लेखक कुमारदेव वेद, स्मृति, पुराण, इतिहास

एवं तन्त्रागमशास्त्र को भी समान रूप से उद्धृत करते हैं। उदाहरण के रूप में विष्णुपुराण और ईश्वरगीता को प्रस्तुत किया जा सकता है। शतरुद्रिय, नीलरुद्रसूक्त, रौद्रसूक्त, त्रैयम्बकाध्याय आदि को उद्धृत करते समय इनकी श्रौत दृष्टि परिस्फुट होती है। अनेक उदाहरणों की सहायता से वहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि कुमारदेव अद्वयवाद का अथवा द्वैताद्वैतवाद का अनुसरण करते हैं, सिद्धान्त शैव-संमत द्वैतवाद का नहीं। वस्तुतः मध्यदेशीय शैवाचार्य प्रपंचसार की पद्धति से स्मार्त दृष्टि का अनुसरण करते हैं, शिवप्रधान पंचायतन पूजापद्धति को वे स्वीकार करते हैं, वरीयता देते हैं। अतः इस ग्रन्थ को शुद्ध द्वैतवादी सिद्धान्त मत का ग्रन्थ न मानकर स्मार्त मत का ग्रन्थ माना जाना चाहिये। इसीलिये इसकी हमने यहाँ पुनः चर्चा की है।

हमारा सोचना यह भी है कि टीकाकार कुमारदेव ही नहीं, ग्रन्थकार भोजदेव भी मध्यदेशीय आचार्यों की दृष्टि का अनुसरण करते हुए लगते हैं। भोजराज ३३वीं कारिका में वस्तुतः एक ही शिवतत्त्व को मान्यता देते हैं और इसके पूर्व की ३२वीं कारिका में बताते हैं कि शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या— इन पाँच शुद्ध तत्त्वों का क्रम वास्तविक नहीं, काल्पनिक है। इनके क्रम की और भेदों की काल्पनिकता का उद्घोष वे इन दोनों ही कारिकाओं में करते हैं। स्पष्ट है कि यह कथन शैवागमों की दृष्टि के विपरीत जाता है। इसीलिये इस ग्रन्थ के वृत्तिकार अघोरशिवाचार्य ३२वीं आर्या को प्रक्षिप्त मानते हैं (पृ. ५४)। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मध्यदेशीय शैवाचार्य प्रधान रूप से स्मार्त दृष्टि का अनुसरण करते हैं।

प्रो. एन. एन. भट्टाचार्य ने आतिमार्गिक विभाग में कापालिक और कालामुख के साथ मत्तमयूर शाखा का भी समावेश किया है (पृ. २६६-२६९)। १० वीं-११वीं शताब्दी में मध्यभारत में शैवों की मत्तमयूर शाखा का प्रादुर्भाव हुआ और इसमें शिव-शम्भु नामान्त अनेक शैवाचार्य अपनी विद्वत्ता के लिये प्रसिद्ध थे। शिलालेखों के प्रमाण से इनकी सत्ता ९वीं से १३वीं शताब्दी तक मानी गई है और पाल राजवंश के समय ये बंगाल तक फैल चुके थे। सोमशम्भु और उसकी पद्धति की भी यहाँ (पृ.२६८-२६९) चर्चा की गई है और इन सब शैवाचार्यों को अतिमार्गी बताया गया है, क्योंकि खजुराहो जैसे मन्दिरों का निर्माण इसी काल में हुआ।

इन शैवाचार्यों के द्वारा रचित साहित्य पर्याप्त मात्रा में मुद्रित और हस्तलेखों के रूप में भी उपलब्ध है। वहाँ हमें अतिमार्गी उपादान नहीं मिलते। खजुराहो के प्रेरक तत्त्वों की हमें तलाश करनी होगी। शैवाचार्यों का साहित्य कौल दृष्टि से नहीं, स्मार्त दृष्टि से अनुप्राणित है और तत्त्वसागरसंहिता, हयशीर्षपंचरात्र जैसे वैष्णव तन्त्रों पर भी

इसका प्रभाव देखने को मिलता है। इन्हींके गर्भ से प्रपंचसार, शारदातिलक जैसे ग्रन्थों का एवं पंचायतन पूजापद्धति का विकास हुआ है। हम यह भी कह सकते हैं कि धर्मशास्त्रीय निबन्ध-ग्रन्थों की रचना में इनका बहुत बड़ा हाथ है। पर हम इतना ही कह सकते हैं कि स्मार्त तन्त्र-साहित्य की रचना में तन्त्रागमीय वाङ्मय का तथा धर्मशास्त्रीय निबन्ध-ग्रन्थों की रचना में स्मृति-पुराण वाङ्मय का विशेष अवदान स्वीकार करना पड़ेगा।

शारदातिलक

तान्त्रिक साहित्य (पृ. ६२५-६२७) में शारदातिलक तथा उसकी टीकाओं का परिचय दिया गया है। वहाँ दो जगह बताया गया है कि विजयाचार्य के पौत्र और श्रीकृष्ण के पुत्र लक्ष्मण देशिकेन्द्र ने इस ग्रन्थ की रचना की। यहाँ लेखक के काल के विषय में कोई सूचना नहीं दी गई है। इस ग्रन्थ की राघव भट्ट की टीका के आधार पर आजकल प्रायः यह माना जाता है कि ये लक्ष्मण देशिकेन्द्र अभिनवगुप्त के गुरु लक्ष्मणगुप्त से अभिन्न हैं। अभी इस कथन की परीक्षा अपेक्षित है। इनके पिता श्रीकण्ठ, पितामह आचार्य पण्डित और प्रपितामह महाबल हैं, इसकी सूचना तो ग्रन्थकार स्वयं ही (२५.८३-८६) देते हैं। राघव भट्ट की टीका में उद्धृत वचन के अनुसार इनकी गुरुशिष्य-परम्परा इस प्रकार है— श्रीकण्ठ, वसुगुप्त, सोमानन्द, उत्पलाचार्य, लक्ष्मणगुप्त, अभिनवगुप्त और क्षेमराज। तदनुसार इनका समय ११वीं शताब्दी माना जाता है।

शारदातिलक की पदार्थादर्श टीका के लेखक राघव भट्ट ने यह टीका काशी में १५५० वि. (१४९४ ई.) में लिखी थी। इन्हें यह परम्परा कहाँ से प्राप्त हुई? आधुनिक विद्वानों का कहना है कि लक्ष्मणगुप्त ने श्रीशास्त्र की रचना की थी। यह शारदातिलक का ही दूसरा नाम है। यह कथन उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि यह श्रीशास्त्र का ग्रन्थ न होकर प्रपंचसार का अनुकरण करने वाला स्मार्त मत का ग्रन्थ है। यहाँ केवल १२वें पटल में त्रिपुरा की पूजनविधि वर्णित है। स्पष्ट है कि लक्ष्मणगुप्त द्वारा रचित श्रीशास्त्र यह हो नहीं सकता। कश्मीर के आचार्य शैव अथवा शाक्त सम्प्रदाय के अनुयायी थे, स्मार्त सम्प्रदाय के नहीं। शारदातिलक का एक भी वचन अभिनवगुप्त अथवा क्षेमराज के द्वारा उद्धृत नहीं है और न प्रपंचसार के समान अन्य किसी प्राचीन ग्रन्थ में ही यह उद्धृत है। प्रपंचसार में सर्वप्रथम त्रिपुरार्चा का विधान मिलता है, शारदातिलक में तो यह भी नहीं किया गया। तब यह श्रीशास्त्र का ग्रन्थ कैसे हो सकता है? परवर्ती काल में भूतलिपि के प्रसंग में यह स्मृत है। दीपिकाकार अमृतानन्द ने बिना नाम के इसके वचन को (७.२) आगमान्तर कहकर उद्धृत किया है। इससे अमृतानन्द से पहले इनकी स्थिति

मानी जा सकती है, किन्तु दीपिकाकार के अनुसार यह आगमान्तर है। तब इसको श्रीशास्त्र कैसे कह सकते हैं?

राघव भट्ट की टीका के अतिरिक्त शारदातिलक पर हर्ष दीक्षित की हर्षकौमुदी नामक टीका भी प्रकाशित हुई है। इसकी अन्य टीकाओं का विवरण भी विभिन्न ग्रन्थों एवं सूचियों में मिलता है।

स्पन्दप्रदीपिकाकार उत्पल वैष्णव— "अस्मत्पितुर्मातामहाचार्येण महाबलेन" (पृ. ८४) इस तरह से अपने पिता त्रिविक्रम के मातामह (नाना) के रूप में महाबल का उल्लेख करते हैं। इसके आधार पर कुछ विद्वान् उत्पल वैष्णव के साथ इनको जोड़ते हैं। इसके लिये भी अभी पुष्ट प्रमाण अपेक्षित है। ११वीं शताब्दी में इनकी स्थिति को सिद्ध करने के लिये भी अभी कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ है।

शारदातिलक में भी प्रपंचसार के समान प्रारंभ के सात पटलों में वे सभी विषय प्रतिपादित हैं, जो सामान्य रूप में सभी तन्त्रों में मिलते हैं। जैसे कि प्रथम पटल में सामान्य विषयों के अतिरिक्त अपनी दार्शनिक दृष्टि से शब्दब्रह्म, कुण्डलिनी, काल आदि का विवरण देते हुए सृष्टि-प्रक्रिया वर्णित है। तत्त्वों का निरूपण यहाँ भी सांख्य-पद्धति से ही किया गया है। ३६ तत्त्वों की भी सूचना यहाँ दी गई है। द्वितीय पटल में वैखरी सृष्टि का विस्तार से वर्णन है। पचास रुद्र एवं उनकी शक्तियों का वर्णन कर तदुपरान्त पचास केशव और उनकी शक्तियाँ यहाँ परिगणित हैं। यह ध्यान देने की बात है कि प्रपंचसार में इनकी संख्या ५१ है और यहाँ पचास। मन्त्रदोष, मन्त्रसंस्कार, पुरश्चरण आदि का तथा गुरु-शिष्य लक्षण-परीक्षा आदि का भी यहाँ विचार किया गया है। तृतीय पटल में दीक्षा, मण्डल, कुण्ड, स्थण्डिल, आदि का विवेचन किया गया है। चतुर्थ में दीक्षा के विविध भेद वर्णित हैं। कलशस्थापन, प्राणप्रतिष्ठा और विविध उपचार भी यहाँ निरूपित हैं। पंचम पटल में अग्निकार्यविधि के साथ षडध्वशोधन की पद्धति भी निरूपित है। शैव, वैष्णव आदि के भेद से तत्त्वों का विवरण भी यहाँ दिया गया है। षष्ठ पटल में मातृका आदि के न्यास, ध्यान आदि विवृत हैं। सप्तम पटल का भूतलिपि का परिचय इस ग्रन्थ की विशेषता है। साथ ही विविध यन्त्रों और मन्त्रों के पुरश्चरण आदि की प्रक्रिया भी यहाँ बताई गई है।

आगे के पाँच पटलों में क्रमशः लक्ष्मी, भुवनेश्वरी, त्वरिता, दुर्गा और त्रिपुरभैरवी शक्तियों का पूजाविधान बताया गया है। १३वें पटल में गणपति का, १४वें में सूर्य और सोम का, १५वें में विष्णु का और आगे के दो पटलों में नृसिंह और पुरुषोत्तम का पूजा-विधान वर्णित है। १८वाँ और १९वाँ पटल शिव और दक्षिणामूर्ति को समर्पित है। २० वें

पटल में अघोर, क्षेत्रपाल, बटुक आदि का पूजाविधान और २१वें में गायत्री-पुरश्चरण आदि के साथ विविध मन्त्रों का विधान बताया गया है। कृत्या, पुत्तली आदि से संबद्ध विषय २२वें पटल में मिलते हैं। त्र्यम्बकहोम, प्राणप्रतिष्ठा आदि का विधान, मुद्राओं का परिचय, अक्षमाला का लक्षण, जप-प्रकार, षट्कर्म, दिक्-काल आदि का विचार और मन्त्रों की ग्रथन आदि पद्धतियों के लक्षण २३वें पटल में दिये गये हैं। २४वें पटल में विविध यन्त्रों के निर्माण की, लेखन द्रव्य, आधार आदि की चर्चा की गई है। अन्तिम २५वाँ पटल योग एवं दर्शन को समर्पित है। राजयोग के साथ यहाँ कुण्डलिनी योग भी वर्णित है। इस तरह से २५ पटल वाला यह ग्रन्थ समाप्त होता है।

यह सम्पूर्ण ग्रन्थ दो भागों में राघव भट्ट की विस्तृत टीका के साथ आगमानुसन्धान समिति, कलकत्ता से सन् १९३३ में प्रकाशित हुआ था। इसके अन्य संस्करणों का परिचय [1]डॉ. तून गान्द्रियान के उक्त ग्रन्थ (पृ. १३४, टि. १३) से प्राप्त किया जा सकता है। ग्रन्थ के प्रारंभ के उपोद्घात में विस्तार से ग्रन्थ का परिचय दिया गया है। प्रथम पटल के विषयों का यहाँ (पृ. ६३-७०) किया गया विश्लेषण विशेष रूप से दर्शनार्ह है।

महाकालसंहिता

डॉ. किशोरनाथ झा के सम्पादकत्व में महाकालसंहिता का प्रकाशन गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, प्रयाग से हुआ है। इसके गुह्यकाली और कामकला नामक दो खण्ड हैं। गुह्यकाली खण्ड का प्रकाशन तीन भागों में हुआ है। प्रथम भाग में १-९, द्वितीय में १०-१२ और तृतीय में १३-१४ पटलों का प्रकाशन हुआ है। चतुर्थ जिल्द में प्रकाशित कामकला खण्ड में १५ पटल हैं। प्रथम जिल्द में नौ पटलों की विस्तृत विषयसूची के साथ आमुख और प्रस्तावना तथा अन्त में ८ परिशिष्टों के साथ यन्त्रों के चित्र भी संयोजित हैं। दूसरी जिल्द में संबद्ध पटलों की विषय सूची दी गई है और तीसरी जिल्द में संबद्ध पटलों की विषयसूची के साथ अन्त में पाँच परिशिष्ट जोड़े गये हैं। चतुर्थ परिशिष्ट में महाकालसंहिता के गुह्यकालीखण्ड में उद्धृत आचार्यों, सम्प्रदायों और ग्रन्थों की नामावली दी गई है। अन्त में विशिष्ट-शब्दसूची संयोजित है।

कामकला खण्ड में सम्पादकीय आमुख और विस्तृत सूची के साथ महामहोपाध्याय श्री श्री गोपीनाथ कविराज जी के द्वारा निबद्ध विस्तृत भूमिका दी गई है और अन्त में परिशिष्ट के रूप में आलोचनात्मक टिप्पणियों के अतिरिक्त ताराभक्तिसुधार्णव, पुरश्चर्यार्णव आदि ग्रन्थों में महाकालसंहिता से उद्धृत प्रकरणों को

१. डॉ. गान्द्रियान ने प्रस्तुत स्थल पर (पृ. १३४-१३६) पूरे ग्रन्थ का भी परिचय दिया है।

संगृहीत किया गया है या उनकी सूचना दी गई है। बीजाक्षरों और कूटाक्षरों के अतिरिक्त यहाँ भी विशिष्ट शब्दसूची दी गई है। इस तरह से हम देखते हैं कि विद्वान् सम्पादक ने कठिन परिश्रम कर पाठकों के लिये ग्रन्थ को सरलता से बोधगम्य बनाने का भरसक प्रयत्न किया है।

चारों वेदों, उनकी पैप्पलाद, सौमन्तवी आदि शाखाओं, पुराणों और उपपुराणों के साथ यामल, डामर आदि तन्त्रों एवं षडाम्नाय तन्त्रों को भी यहाँ उद्धृत किया गया है। अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती तन्त्रागमों के नाम यहाँ नहीं के बराबर उपलब्ध हैं। पंचायतन पूजा की संक्षिप्त चर्चा यहाँ अवश्य की गई है, जो इस प्रकार है—

पञ्चायतनरीतिं त्वं साम्प्रतं शृणु सादरा।।
अग्निनिर्ऋतिवागीश [१]कोणगांश्चतुरः सुरान्।
पूजयेन्मध्य ईशानीं पञ्चायतनमीदृशम्।।
पञ्चायतनपूजाया द्वौ पक्षौ नित्यकर्मणि।
केचिदावश्यकत्वेन प्रवदन्ति मनीषिणः।।
केचिन्नेत्यागमविदो मन्मतं चेदृशं प्रिये।
नैमित्तिक्यामथार्चायामावश्यकतयोदिता ।।
पञ्चायतनपूजा वै सर्वेष्वेवागमादिषु।
गणाधिपश्च सूर्यश्च विष्णू रुद्रस्तथैव च।।
किन्तु पूजास्थानमेषां पूजाकाले प्रवक्ष्यते।
मन्त्राणां चापि पार्थक्यं वर्ततेऽत्र सुरेश्वरि।।
तस्मिन्नेव क्षणे सर्वं प्रवक्ष्यामि विशेषतः।

(गुह्य. १२. २७४-२८०)

पंचायतन पूजा का यह क्रम कृष्णानन्द के तन्त्रसार में अधिक स्पष्ट रूप में वर्णित है। उसको बताया जा चुका है (पृ. ८१८-८१९)। यहाँ भी मध्य में ईशानी की और चारों कोणों में गणाधिप आदि चार देवताओं की पूजा का विधान बताया है। कुछ आचार्य इस पूजा को आवश्यक मानते हैं, अन्य आचार्य नहीं। प्रस्तुत संहिता के मत से नैमित्तिक अर्चा के प्रसंग में यह आवश्यक है। पूजा के स्थान और मन्त्रों की अन्यत्र चर्चा की जायगी, यह भी कहा गया है।

---

१. 'वाय्वीश' पाठ अपेक्षित है। वायु और ईशान कोण उसका अर्थ होगा।

तृचभास्कर

यह सूर्योपासना का महनीय ग्रन्थ है। महान् आगमाचार्य भास्करराय की यह रचना है। भास्करराय की परम्परा के आचार्य पं. बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते जी ने "भास्करराय भारती दीक्षित : व्यक्तित्व एवं कृतित्व" नामक ग्रन्थ (पृ. १३९-१७१) में इस ग्रन्थ का विस्तार से परिचय दिया है। "आदित्यमम्बिकां विष्णुं गणनाथं महेश्वरम्" इस पौराणिक उक्ति के आधार पर पंचायतन पूजा का समर्थन कर आचार्य खिस्ते जी ने यहाँ षष्ठ देव के रूप में स्कन्द या कुमार कार्तिकेय का भी समावेश माना है और कहा है कि इनकी उपासना विशेष रूप से दक्षिणभारत में प्रचलित है। इसीलिये शंकाराचार्य की विरुदावली में 'षण्मतप्रतिष्ठापनाचार्य' शब्द जोड़ा जाता है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन गायकवाड प्राच्य शोध संस्थान बड़ौदा से सन् १९८२ में हो चुका है।

कभी भगवान् सूर्य की प्रात:कालीन उपासना कोणार्क (उड़ीसा), माध्यन्दिन उपासना कालपी (उत्तरप्रदेश) और सायंकालीन उपासना मुलतान (अब पाकिस्तान) में होती थी। वेद, पुराण तथा तन्त्रों में सूर्य की आराधना पर विपुल साहित्य उपलब्ध है। सूर्यविषयक वैदिक मन्त्रों का समूह सौर शब्द से व्यवहृत होता है। षष्ठी या सप्तमी को सूर्य का व्रत करने की परम्परा रही है। रविवार को नमकरहित आहार से व्रत रखने की भी परम्परा है। बिहार में तथा अन्यत्र भी सूर्य षष्ठी (डाला छठ) का व्रत विशेष प्रसिद्ध है।

इस प्रकार भारतीय जीवन में सूर्योपासना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उगते हुए सूर्य को अर्घ्यदान के रूप में एवं सन्ध्योपासना के समय सूर्योपस्थान के रूप में यह सतत प्रवृत्त है। "तदेतन्मण्डलं तपति" शतपथब्राह्मण का यह पूरा प्रकरण भगवान् सूर्य की उपासना को समर्पित है। पंचायतन पूजा के रूप में पूरे भारत में इनकी उपासना होती ही है, अनेक राज्यों में इनके कलापूर्ण मन्दिर भी उपलब्ध होते हैं। इनमें उड़ीसा का कोणार्क, गुजरात का मोढेरा, राजस्थान का राणकपुर, झालरापाटन एवं कश्मीर का मार्तण्ड के नाम से प्रसिद्ध मन्दिर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वाराणसी में द्वादश आदित्यों के अलग-अलग स्थान प्रसिद्ध हैं। इनमें लोलार्क कुण्ड की अपनी विशेष ख्याति है। सूर्य संबन्धी स्तोत्रसाहित्य में आदित्यहृदय, सूर्यशतक, साम्बपञ्चाशिका आदि का विशेष स्थान है। क्षेमराज की टीका के साथ साम्बपंचाशिका का प्रकाशन एकाधिक स्थानों से हो चुका है।

"आरोग्यं भास्करादिच्छेत्" इस उक्ति के अनुसार सूर्य की उपासना प्रधान रूप से आरोग्य-प्राप्ति के लिये की जाती है। तृचभास्कर में और आचार्य खिस्ते जी के द्वारा

दिये गये परिचय में इसको विस्तार से देखा जा सकता है। भूमिशुद्धि, प्राणप्रतिष्ठा, विविध न्यास, पूजाविधि, पात्रनिर्णय, ध्यान, विविध उपचार, आवरणदेवता पूजा, सूर्यपरिचारक पूजा, अर्घ्यदान, उपस्थान, सूक्ष्ममातृका ध्यान, षडंग शक्तिपूजा, उत्तरविधि, मुद्रा, होम, व्रतविधान, नमस्कारविधान, यन्त्रधारण जैसे सूर्योपासना से संबद्ध सभी विषयों का वर्णन यहाँ किया गया है। तृचभास्कर में वर्णित सौर यन्त्र का स्वरूप पं. खिस्ते जी के ग्रन्थ (पृ. १६८) में देखा जा सकता है। त्रिपुरा भगवती आदि की उपासना के प्रसंग में भी आदित्य की द्वादश कलाओं की उपासना विहित है।

स्मार्त पंचायतन पूजा से संबद्ध यथोपलब्ध ग्रन्थों का यहाँ परिचय दिया गया है। दस महाविद्याओं को भी स्मार्त तन्त्रों से ही संबद्ध माना जाता है, अत: अब यहाँ उनकी विविध पक्षों से समीक्षा की जा रही है।

दस महाविद्या और उनसे संबद्ध साहित्य

उपनिषदों में [१]दहरविद्या, [२]मधुविद्या, [३]नचिकेतोविद्या का तथा [४]वाल्मीकिरामायण में बला और अतिबला विद्या का उल्लेख मिलता है। ब्रह्मसूत्र के दहराधिकरण और देवताधिकरण में दहरविद्या और मधुविद्या का तथा कठोपनिषत् में यम-प्रोक्त नचिकेतो-विद्या का जो विवरण मिलता है, उससे यह प्रतीत होता है कि इनका संबन्ध आध्यात्मिक उपासना की विशेष विधियों से है। इसके विपरीत वाल्मीकिरामायण की बला और अतिबला विद्याओं का संबन्ध शस्त्रास्त्र संचालन में विशेष सामर्थ्य के आधायक मन्त्रों से है। तन्त्रशास्त्र में भी [५]हादिविद्या, कादिविद्या आदि का उल्लेख

---

१. "अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः, तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्" (८.१.१.) छान्दोग्य उपनिषत् के इस वाक्य पर दहराधिकरण (ब्र.सू. १. ३. १४-२१) में विचार किया गया है। शास्त्रों में इस प्रकरण की दहरविद्या के नाम से प्रसिद्धि है।

२. "असौ वा आदित्यो देवमधु" (छा. उ. ३.१.१.) इस वाक्य पर देवताधिकरण (ब्र.सू. १. ३. २६-३३) के ३१वें सूत्र में विचार किया गया है। शांकरभाष्य में इस प्रकरण को मधुविद्या के नाम से संबोधित किया गया है।

३. "मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेताम्" (कठो. २.३.१८)।

४. बालकाण्ड का २२वाँ सर्ग देखिये। टीकाकारों ने इन विद्याओं का यहाँ कोई विवरण नहीं दिया है।

५. यद्यपि ज्ञानार्णव के १२वें पटल में श्रीविद्या के १३ भेद वर्णित हैं और श्रीविद्यार्णव में इसके शताधिक भेद उपदिष्ट हैं, किन्तु इनमें से दो ही प्रधान हैं। उनके नाम हैं— हादिविद्या और कादिविद्या। सौन्दर्यलहरी में इन दोनों का उद्धार मिलता है। योगिनीहृदयदीपिका के नूतन संस्करण के उपो. (पृ. २३) में इनका उद्धृत स्वरूप देखिये।

मिलता है। यहाँ पुरुष देवता की उपासना में प्रयुक्त होने वाले मनुओं को मन्त्र तथा स्त्री-देवता के मनुओं को विद्या कहा गया है। मनु शब्द का प्रयोग मन्त्र और विद्या दोनों के लिये होता है। वाल्मीकिरामायण में बला और अतिबला के साथ प्रयुक्त विद्या पद तान्त्रिक अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है।

नि. षो. के व्याख्याकार शिवानन्द मुनि ने [१]ऋजुविमर्शिनी में मन्त्र और विद्या पद का अर्थ बताते हुए कहा है कि गोपनीय अर्थ के धनी पुरुष-देवता के वाचक मन्त्रों तथा पिण्ड अथवा बीज मन्त्रों को मन्त्र पद से तथा स्फुट अर्थ वाले, स्त्री-देवता के वाचक मन्त्रों और माला-मन्त्रों को विद्या पद से जाना जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि तन्त्रशास्त्र में **विद्या** पद का प्रयोग स्त्री-देवताओं वाले मन्त्रों के लिये होता है।

स्त्री-देवताक मन्त्रों की संख्या अनन्त है, किन्तु इनमें अपनी अधिष्ठात्री देवियों के विशिष्ट माहात्म्य के कारण इनके दस मन्त्र दस महाविद्याओं के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये देवियाँ हैं— काली, तारा, त्रिपुरा, भुवनेश्वरी, भैरवी, छिन्नमस्ता, धूमावती, बगलामुखी, मातंगी और कमला। शिवपुराण की तृतीय शतरुद्रियसंहिता (१७.२-११) में महाकाल, तार, बलभुवनेश, षोडश श्रीविद्येश, भैरव, छिन्नमस्तक, धूमवान्, बगलामुख, मातंग और कमल नामक शिव के दस अवतारों के साथ महाकाली, तारा, भुवनेश्वरी, श्रीविद्या षोडशी, भैरवी, छिन्नमस्तका, धूमावती, बगलामुखी, मातंगी और कमला नामक शक्तियों का वर्णन मिलता है। वहाँ इनका माहात्म्य भी वर्णित है और कहा गया है कि तान्त्रिक विधि से इनकी उपासना करने से सारी मनोकामनाएँ पूरी हो जाती हैं और साधक में ब्रह्मतेज की वृद्धि होती है।

अठारह महापुराणों में कहीं वायुपुराण का और अन्यत्र शिवपुराण का समावेश किया गया है, किन्तु इनमें वायुपुराण वाला पक्ष प्रबल माना गया है। हमने भी इस विषय पर [२]अन्यत्र विचार किया है। वायुपुराण (१.९.७७-९०) में देवी की अनेक विभूतियों की चर्चा है, किन्तु वहाँ इन महाविद्याओं का उल्लेख नहीं मिलता। मत्स्यपुराण (१५३-१५९ अ.), पद्मपुराण (१.४५-४६ अ.) तथा शिवपुराण की द्वितीय शतरुद्रसंहिता के द्वितीय पार्वती खण्ड और चतुर्थ कुमारखण्ड में महाकवि कालिदास के कुमारसंभव का कथानक संक्षेप अथवा विस्तार से वर्णित है। मार्कण्डेयपुराण के ८१-९३ अध्यायों में वर्णित देवी माहात्म्य से, जो दुर्गासप्तशती के नाम से प्रसिद्ध है, हम

१. "गुप्तार्थभाजः पिण्डबीजात्मानः पुंरूपवाच्याधिष्ठिताश्च मन्त्राः,···संवेद्यमानस्फुटार्थरूपा मालामन्त्राः स्त्रीरूपवाच्याधिष्ठिताश्च विद्याः" (पृ. ४२-४३)। प्रपंचसार के प्रयोगक्रमदीपिका नामक विवरण में यही वाक्य उद्धृत है, किन्तु वहाँ 'गुप्तार्थभाजः' के स्थान पर 'उप्तार्थभाजः' यह अशुद्ध पाठ मिलता है।

२. द्रष्टव्य— शिवपुराणीयं दर्शनम्, तन्त्रयात्रा, पृ. ५०

सभी परिचित हैं।[1] वामनपुराण के १८-३२ अध्यायों में मत्स्यपुराण और मार्कण्डेय-पुराणों में वर्णित दोनों प्रकार की कथाओं का संक्षेप है। कूर्मपुराण के पूर्व विभाग के ११वें अध्याय में कथा का आरम्भ वायुपुराण की पद्धति से ही होता है, किन्तु बाद में यहाँ शक्ति के सती और पार्वती स्वरूपों की संक्षिप्त चर्चा कर शक्तितत्त्व की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। हिमवान् [2]अष्टोत्तरसहस्रनाम से देवी की स्तुति करते हैं। अन्त में यहाँ शक्ति का माहात्म्य वर्णित है। सम्पूर्ण देवीभागवत[3] में शक्ति का माहात्म्य ही निरूपित है, तो भी यहाँ पंचम स्कन्ध में मार्कण्डेयपुराण-प्रोक्त देवीमाहात्म्य का अधिक विस्तार से वर्णन है। १०८ [4]शाक्त पीठों की चर्चा यहाँ दो स्थलों (७.३०. ५५-८४; ७.३८.५-३१) पर आई है। यह नामावली मत्स्यपुराण (१३.२६-५४) में भी उपलब्ध है। देवीभागवत के पूरे तृतीय स्कन्ध में तथा द्वादश स्कन्ध के अन्त में भी १० महाविद्याओं में समाविष्ट भुवनेश्वरी देवी का माहात्म्य विशेष रूप से वर्णित है। मणिद्वीप को भगवती भुवनेश्वरी का निवास-स्थान माना गया है और बताया गया है कि सारी महाविद्याएँ यहीं निवास करती हैं (१२.११.१०६)। ब्रह्माण्डपुराण के अन्त में विद्यमान ललितोपाख्यान के अन्तर्गत ललितासहस्रनाम पर भास्करराय ने महनीय भाष्य की रचना की है।

---

१. वामनपुराण (६. ८६-९१) में शैवों के चार भेदों और उनके आद्य प्रर्वतकों का उल्लेख है। वहीं (४२. ९) जया, विजया, जयन्ती और अपराजिता नामक चार देवियों का उल्लेख मिलता है। ये शिव के तुम्बुरुनाथ नामक वाम-स्रोत पूजित स्वरूप की शक्तियाँ हैं। नेत्रतन्त्र के ११वें अधिकार में इनकी संक्षिप्त पूजाविधि वर्णित है। वीणाशिख नामक वामस्रोत के एक मात्र उपलब्ध ग्रन्थ में इसका विस्तार देखा जा सकता है।

२. जर्मन विद्वान् डॉ. एम. विण्टरनित्ज ने अपने "भारतीय साहित्य के इतिहास" के हिन्दी संस्करण (भा. १, ख. २, पृ. २३४) में इसका अर्थ आठ हजार किया है। भारतीय परम्परा से अनभिज्ञ होने से ऐसा वे कर सकते हैं, किन्तु कूर्मपुराण के बिब्लिओथिका इण्डिका संस्करण के संपादक श्री नीलमणि मुखोपाध्याय ने भी यह असावधानी की है।

३. वायुपुराण और शिवपुराण के समान ही श्रीमद्भागवत और देवीभागवत के विषय में भी महापुराण-उपपुराण विषयक विवाद प्रचलित है। सम्प्रदाय के भेद से इसकी व्यवस्था की जा सकती है।

४. शाक्त पीठों के भी आन्तर और बाह्य स्थानों का वर्णन शास्त्रों में मिलता है, किन्तु विडम्बना यह है कि प्रसिद्ध चार पीठों के बाह्य स्थानों के विषय में भी, जिनका वर्णन बौद्ध तन्त्रों में भी मिलता है, हमारा ज्ञान अपूर्ण है। शाक्त पीठों का परिचय डॉ. दिनेशचन्द्र सरकार ने "दी शाक्त पीठाज्" नामक ग्रन्थ में देने का प्रयत्न किया, किन्तु वहाँ तन्त्रालोक, हेवज्रतन्त्र आदि में वर्णित पीठ, उपपीठ आदि विभागों की कोई चर्चा नहीं है। इस ग्रन्थ का शाक्त अधिकार (पृ. ६७६-६८०) देखिये।

दस महाविद्याओं का उल्लेख रुद्रयामलतन्त्र (८८.४९) में मिलता है, किन्तु एक तो वहाँ इनका विशेष विवरण नहीं मिलता, दूसरे इनके नामों में भी अन्तर है। राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला के ५४वें ग्रन्थांक के रूप में पृथ्वीधराचार्य विरचित भुवनेश्वरी महास्तोत्र प्रकाशित हुआ है। इसमें रुद्रयामलोक्त भुवनेश्वरी-पंचांग भी समाविष्ट है। वहाँ (पृ. ४३) "श्रीरुद्रयामले दशविद्यारहस्ये श्रीभुवनेश्वरीपटलं सम्पूर्णम्" यह पुष्पिका-वाक्य है। इससे स्पष्ट होता है कि रुद्रयामल में भी दस महाविद्याओं की उपासना-विधि अलग-अलग पटलों में भी वर्णित की गई थी। रुद्रयामल के [1]वर्तमान मुद्रित संस्करणों में ये प्रकरण उपलब्ध नहीं होते। हम अनेक स्थानों पर लिख चुके हैं कि रुद्रयामल एक महत्त्वपूर्ण आगम-ग्रन्थ है। इसका सर्वांगपूर्ण परिष्कृत संस्करण अपेक्षित है।

इन दस महाविद्याओं में से काली, तारा और त्रिपुरा संबन्धी विशाल साहित्य उपलब्ध होता है। बंगाल में तो काली की उपासना आज भी प्रचलित है, किन्तु कभी कश्मीर में [2]क्रम मत के अनुसार काली कालसंकर्षिणी की उपासना प्रचलित थी। शक्तिपारम्यवादी[3] क्रमदर्शन के प्रसंग में इस मत का विस्तार से परिचय दिया गया है। नवीं शताब्दी के महाकवि रत्नाकरकण्ठ ने अपने हरविजय महाकाव्य (४७.५५) में काली की स्तुति की है। महाकवि सुबन्धु ने अपने गद्यकाव्य [4]वासवदत्ता में भगवती तारा का उल्लेख किया है। शक्तिसंगमतन्त्र में अनेक स्थलों पर **कालीतारामयं** यह कहा गया है। यह वार्ता प्रसिद्ध है कि भगवान् आद्य शंकराचार्य भगवती त्रिपुरा के उपासक थे। प्रपंचसार में तान्त्रिक दर्शन और दीक्षा आदि सामान्य विषयों का निरूपण करने के बाद पंचायतन देवताओं की उपासनाविधि का निरूपण करते समय सर्वप्रथम भगवती त्रिपुरा की आराधना वर्णित है। इस तरह से प्राचीन काल से अब तक क्रमदर्शन, बौद्ध तन्त्र, कालीकुल, श्रीकुल[5] आदि की परम्परा में दिव्यौघ, सिद्धौघ और

---

१. डॉ. तून गान्द्रियान ने रुद्रयामल के वर्तमान संस्करण की नवीनता के विषय में "हिन्दु तान्त्रिक." नामक अपने ग्रन्थ (पृ. ४७) में लिखा है।

२. काश्मीरी क्रमदर्शन (काली सम्प्रदाय) के ग्रन्थों और ग्रन्थकारों की विस्तृत जानकारी के लिये डॉ. नवजीवन रस्तोगी का "क्रम तान्त्रिसिज्म" देखिये।

३. शिवदृष्टि के तृतीयाह्निक के प्रथम श्लोक और उसकी व्याख्या में भट्ट प्रद्युम्न का शक्तिपारम्यवाद चर्चित है। इसकी चर्चा (पृ. ६२३) आ चुकी है।

४. "भिक्षुकीव तारानुरागरक्ताम्बरधारिणी भगवती सन्ध्या समदृश्यत"। दी कल्ट आफ तारा, पृ. ७ पर यह वचन उद्धृत है।

५. डॉ. तून गान्द्रियान ने "हिन्दु तान्त्रिक" ग्रन्थ में इस शीर्षक से त्रिपुरा सम्प्रदाय के तन्त्रों का परिचय दिया है (पृ. ५८-७४)।

मानवौघ क्रम से आचार्यों की मूल कृतियों और पद्धतियों के रूप में यह प्रवाह अब भी निरन्तर प्रवाहित हो रहा है।

भुवनेश्वरीस्तोत्र के रचयिता [1]पृथ्वीधराचार्य का शृंगेरीपीठ की गुरु-परम्परा में दूसरा स्थान माना गया है। उन्होंने उक्त स्तोत्र (श्लो. ३७) में स्वयं को सिद्धनाथ या [2]शम्भुनाथ का शिष्य माना है। चिद्गगनचन्द्रिका में और अभिनवगुप्त के ग्रन्थों में क्रमस्तोत्रकार सिद्धनाथ का और अभिनवगुप्त के कुलसम्प्रदाय के गुरु शम्भुनाथ का उल्लेख मिलता है। भुवनेश्वरीस्तोत्र के टीकाकार पद्मनाभ पृथ्वीधराचार्य के गुरु को नर्मदा-तटवासी मानते हैं। इस प्रकार देश और काल के भेद के कारण पृथ्वीधराचार्य के गुरु सिद्धनाथ (शम्भुनाथ) से क्रमस्तोत्रकार सिद्धनाथ और अभिनवगुप्त के कुल-सम्प्रदाय के गुरु शम्भुनाथ भिन्न ही लगते हैं।

लघुस्तुतिकार लघुपण्डित अथवा [3]धर्माचार्य पंचस्तवी के कर्ता माने जाते हैं। सरस्वतीकण्ठाभरण में यहाँ के कुछ वचन उद्धृत हैं। इसलिये धर्माचार्य सरस्वती-कण्ठाभरणकार राजा भोजदेव से प्राचीन ठहरते हैं। लघुस्तव[4] (श्लो.१७-१८) में शक्ति के काली, तारा, त्रिपुरा, भैरवी, मातंगी आदि स्वरूपों की स्तुति की गई है कि भूत, प्रेत, पिशाच आदि का भय उपस्थित होने पर भैरवी का, मन के किंकर्तव्यविमूढ हो जाने पर त्रिपुरा का और बाढ़, समुद्री तूफान आदि जलीय उपद्रवों के उपस्थित होने पर तारा का स्मरण करना चाहिये।

शक्तिसंगमतन्त्र का काली, तारा, सुन्दरी और छिन्नमस्ता नामक चार खण्डों में प्रकाशन हुआ है। विद्याओं के संबन्ध में यहाँ अनेक मत प्रदर्शित हैं। एक जगह बताया गया है कि विद्याएँ तो असंख्य हैं, किन्तु उनमें दस विद्याएँ प्रधान हैं। इनको महाविद्या कहा जाता है। यहाँ काली, तारा आदि खण्डों में उन-उन महाविद्याओं का विशेष रूप से वर्णन होने से यह नाम दिया गया है। वास्तव में प्रत्येक खण्ड में सर्वत्र दस

---

१. द्रष्टव्य— भुवनेश्वरीमहास्तोत्र की प्रस्तावना, पृ. १३-१४

२. द्रष्टव्य— क्रम तान्त्रिसिज्म, पृ. १४०-१४१

३. "आगम और तन्त्रशास्त्र" नामक ग्रन्थ में प्रकाशित "योगी अमृतानन्द" शीर्षक निबन्ध देखिये (पृ. ८६-८७)।

४. जैनाचार्य सोमतिलक सूरि की वृत्ति के साथ प्रकाशित लघुस्तव का परिचय दिया जा चुका है (पृ. ६०५)। वहाँ (पृ. ३७-४६) उमासहाचार्य विरचित आगमसार-स्थित मातंगीस्तोत्र भी प्रकाशित है। इसमें ९५ श्लोक हैं। स्पष्ट है कि त्रिपुरा, मातंगी आदि देवियों की उपासना जैन सम्प्रदाय में भी प्रचलित थी।

महाविद्याओं की किसी न किसी रूप में चर्चा आ जाती है। देवीमत के अनुसार कालिका, तारिणी और छिन्ना; अक्षोभ्य के मत से तारा, नीला और एकजटा; कराल के मत से डाकिनी, वर्णिनी और छिन्ना; वटवासी के मत से बगला, पंचदशी और षोढा– इन त्रिविध शक्तियों को यहाँ प्रधान माना गया है। अन्यत्र काली, तारा, छिन्ना और सुन्दरी के रूप में चार शक्तियाँ स्वीकृत हैं और कहा गया है कि काली ही तारा है और तारा ही कालिका है। काली और छिन्ना में कोई भेद नहीं है और छिन्ना एवं तारा भी अभिन्न हैं। इसी तरह से सुन्दरी और काली भी अभिन्न हैं। इन चारों में परस्पर कोई भेद नहीं है। चतुर्थ खण्ड में कृष्ण, राम और शिव में तथा काली, तारा और ललिता में अभेद बताकर कहा गया है कि इन सबमें एक ही चैतन्य विराजमान है। इन चार शक्तियों की प्रधानता के आधार पर ही शक्तिसंगमतन्त्र में इनके नाम पर विभिन्न चार खण्डों की रचना की गई है।

इस तन्त्र के चतुर्थ खण्ड के पंचम और षष्ठ पटल में दस महाविद्याओं की उत्पत्ति विस्तार से वर्णित है। तदनुसार महारात्रि के दिन अवन्ती में काली की (५.१०४), [1]मोहरात्रि के दिन शिवकांची (श्रीशैल) में त्रिपुरा की (५.१३०-१३१), कालरात्रि के दिन मेरु के पश्चिम तट पर स्थित चोल महाह्रद में तारा की (५.१३१, १४२), वीररात्रि के दिन पुष्पभद्रा नदी के तट पर छिन्ना की (५.१५८, १७०), शिवरात्रि के दिन सौराष्ट्र स्थित हरिद्राख्य सिद्ध कुण्ड में बगला की (६.५-६, ११), कदम्बवन में निवास करने वाले मतंग मुनि के तप के प्रभाव से भाद्रपद कृष्ण अष्टमी के दिन मातंगिनी की (६.११-१५), चैत्र शुक्ल नवमी (क्रोधरात्रि) के दिन भुवनेश्वरी की (६. १६-१८), फाल्गुन कृष्ण एकादशी (अबलारात्रि) के दिन कमला की (६.२२-२३), और अक्षय तृतीया के दिन दक्ष प्रजापति के यज्ञ में गौरीकुण्ड से उद्भूत धूम से धूमावती की (६.२४) उत्पत्ति हुई। इस प्रकरण में भैरवी की जयन्ती का उल्लेख नहीं मिलता।

द्वितीय ताराखण्ड (१.३८-५२) में दस महाविद्याओं की सर्वसंमत नामावली देने के बाद वीरनाथमत, नित्यामत और कुब्जामत[2] के अनुसार अलग-अलग तीन

---

१. शक्तिसंगमतन्त्र के प्रथम कालीखण्ड के १३वें पटल में इन विभिन्न रात्रियों का परिचय दिया गया है। आगमरहस्य और प्राणतोषिणी के दस महाविद्या से संबद्ध प्रकरण भी देखिये।

२. काली, तारा और त्रिपुरा के समान कुब्जिका अथवा कुलालिनी की उपासना का भी विशाल साहित्य उपलब्ध है। कुब्जिकामत का उल्लेख अभिनवगुप्त ने किया है। इसके दो संस्करणों का परिचय दिया जा चुका है (पृ. ५३०-५३१)। कुब्जिका पश्चिमाम्नाय की अधिष्ठात्री देवी मानी जाती है।

नामावलियाँ दी गई हैं और कहा गया है कि सिद्धविद्या के नाम से भी ये प्रसिद्ध हैं। इन दस महाविद्याओं की उपासना दक्षिण[१] वाम अथवा उभय मार्ग से की जा सकती है। यह विषय भी वहाँ (२.१.८३-११५; ४.६.८०-८७) विस्तार एवं संक्षेप में वर्णित है। इसी खण्ड के २०-३१ पटलों में इन दस महाविद्याओं की उपासना के दस क्रमों का विस्तार से वर्णन मिलता है।

तदनुसार महानील क्रम से काली, महाचीन क्रम से तारा, गन्धर्व क्रम से सुन्दरी, दिव्यचीन क्रम से छिन्नमस्ता, सौभाग्यचीन क्रम से बगला और दिव्यभावक्रम से भुवनेश्वरी की उपासना विहित है। इसी तरह से विभिन्न पटलों में कमला, धूमावती आदि के पूजाविधान भी यहाँ निर्दिष्ट हैं। [२]कादि से काली, हादि से सुन्दरी और कहादि से तारिणी विद्या यहाँ गृहीत है। महानीलक्रम सकल और निष्कल के भेद से दो प्रकार का है। सकल क्रम वाम मार्ग का और निष्कल क्रम दक्षिण मार्ग का अनुसरण करता है। ब्रह्म, दिव्य, वीर, महाचीन और निष्कल के भेद से चीन क्रम पंचविध हो जाता है। सकल और निष्कल के रूप में भी यह विभक्त है। सकल पद्धति से बौद्ध मत में तथा निष्कल पद्धति से अन्यत्र तारा की उपासना की जाती है।

दस महाविद्याओं की आराधना करने से पहले [३]कुल्लुकामण्डल, यक्षिणी-मण्डल और अप्सरोमण्डल आदि की उपासना करनी पड़ती है। इनके बिना की गई विद्याओं की

---

१. "भगवतो हि भर्गस्य सकलजगदनुग्रहमार्गो दक्षिणो वामश्च" (पृ. २५१) सोमदेव के यशस्तिलक चम्पू में यहाँ दक्षिण और वाम शब्द का प्रयोग वर्तमान समय में प्रचलित अर्थ में ही हुआ लगता है। इसके अनुसार सम्पूर्ण तान्त्रिक वाङ्मय दो भागों में बाँट दिया गया है। इनको समयी और कौल नामों से भी जाना जाता है। त्रिस्रोतोविभाग अथवा पंचस्रोतोविभाग के अन्तर्गत प्रयुक्त दक्षिण और वाम शब्दों का यही अर्थ नहीं है, क्योंकि वहाँ शिव के दक्षिण और वाम मुख से निःसृत शास्त्रों की पूजाविधि में समान द्रव्यों का विनियोग होता है। अन्तर इतना ही है कि प्रथम में दक्षिणावर्त क्रम से और द्वितीय में वामावर्त क्रम से पूजा सम्पन्न होती है। प्रथम व्याख्यान के अनुसार दक्षिण मार्ग में वैष्णव, सिद्धान्तशैव और स्मार्त आगमों की तथा वाम मार्ग में पंचमकार का विधान करने वाले तन्त्रों की गणना होगी। द्वितीय व्याख्या के अनुसार ६४ भैरवागमों की दक्षिण स्रोत में तथा २४ वाम तन्त्रों की वामस्रोत में गणना की जायगी।

२. कादि, हादि और कहादि विभागों के विशेष परिचय के लिये शक्तिसंगमतन्त्र के चतुर्थ खण्ड का उपोद्घात (पृ. २८-३०) देखिये। यह विभाग कादिविद्या और हादिविद्या के नाम से वर्णित विभाग से भिन्न प्रकृति का है। ऊपर दी गई पृ. ८४६ की ५वीं टिप्पणी देखिये।

३. कुल्लुका अथवा कुरुकुल्ला की उपासना बौद्ध तन्त्रों में भी मिलती है। साधनमाला के परिशिष्ट में दी गई शब्दसूची के आधार पर इससे संबद्ध साधनाओं को देखा जा सकता है। तन्त्रराज-तन्त्र (कादिमत) में भी षोडश नित्याओं की पूजा के बाद २२वें पटल में कुरुकुल्ला का पूजाविधान मिलता है।

उपासना निष्फल जाती है। कलियुग में इनकी उपासना से फल की प्राप्ति शीघ्र होती है। चतुर्थ खण्ड के प्रथम पटल में इन विद्याओं के अंग-मन्त्रों के साथ अनेक भेदोपभेद वर्णित हैं। निर्दिष्ट संख्या में इन विद्याओं के जप से नाना प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। वास्तव में यहाँ विद्या (मन्त्र) और देवता में कोई भेद नहीं माना गया है।

शक्तिसंगमतन्त्र में ही बताया गया है कि उन्मत्तभैरव और विरूपाक्ष के मत में १३ महाविद्याएँ तथा भैरवमत में १६ महाविद्याएँ मानी गई हैं। दस महाविद्याओं में चण्डेश्वरी, लघुश्यामा और त्रिपुरा को मिलाकर तेरह तथा वनदुर्गा, शूलिनी, अश्वारूढा, त्रैलोक्यविजया, वाराही एवं अन्नपूर्णा को मिलाकर १६ महाविद्याएँ होती हैं। महाकाल मत में महालक्ष्मी से लेकर कामकला पर्यन्त महाविद्याओं की संख्या ५१ है। इन सबका परिचय शक्तिसंगमतन्त्र के चतुर्थ खण्ड के द्वितीय परिशिष्ट की सहायता से प्राप्त किया जा सकता है। वहाँ के उपोद्घात (पृ. ६३-६७) में संक्षेप में यह संगृहीत है।

दस महाविद्याओं की पूजाविधि का व्यवस्थित वर्णन हमें शाक्तप्रमोद में मिलता है। शिवहर, मुजफ्फरपुर के राजा श्री राजदेवनन्दनसिंह ने नाना तन्त्र-ग्रन्थों की सहायता से इसकी रचना की है और बम्बई के श्रीवेंकटेश्वर प्रेस से अब इसका नया संस्करण प्रकाशित हो चुका है। इसमें काली, तारा, षोडशी (त्रिपुरासुन्दरी), भुवनेश्वरी, छिन्नमस्ता, (त्रिपुर)भैरवी, धूमावती, बगलामुखी, मातंगी और कमला नामक दस महाविद्याओं की उपासना के दस अंगों— ध्यान, मन्त्र, मन्त्रोद्धार, पूजाविधि, स्तोत्र, कवच, हृदय, उपनिषत्, शतनाम और सहस्रनाम का संकलन दिया गया है। उपनिषदें प्रथम तीन की तथा कमला की ही मिलती हैं।

श्री सरयूप्रसाद द्विवेदी के द्वारा रचित आगमरहस्य के षष्ठ पटल (पृ. ६८-८१) में प्रधानतः शक्तिसंगमतन्त्र के आधार पर ही दस महाविद्याओं का प्रादुर्भाव, उनके भैरव, अंग मन्त्र आदि विषय वर्णित हैं। अन्त में यहाँ (पृ. ८० -८१) भी दस महाविद्याओं और दशावतारों का अभेद बताया गया है। जैसे कि—

कदाचिदाद्या ललिता पुंरूपा कृष्णविग्रहा।
वेणुनादसमारम्भादकरोद् विवशं जगत्।।
कदाचिदाद्या श्रीतारा पुंरूपा रामविग्रहा।
समुद्रनिग्रहादीनि कुर्वाणा ख्यातिमागता।।
छिन्नमस्ता नृसिंहः स्याद् वामनो भुवनेश्वरी।
जामदग्न्यः सुन्दरी स्यान्मीनो धूमावती भवेत्।।
बगला कूर्ममूर्तिः स्याद् बलभद्रस्तु भैरवी।
महालक्ष्मीर्भवेद् बौद्धो दुर्गा स्यात् कल्किरूपिणी।।

श्री रामतोषण भट्टाचार्य द्वारा संदृब्ध प्राणतोषिणी (पृ. ७१७-७३५) में चामुण्डातन्त्र, कुब्जिकातन्त्र, तोडलतन्त्र, स्वतन्त्रतन्त्र और नारदपंचरात्र के आधार पर दस महाविद्याओं का निरूपण किया गया है। महाविद्यामाहात्म्य, महाविद्याओं के भैरव, इनका आविर्भावकाल, महारात्रि आदि का निर्णय और छिन्नोत्पत्ति के कथन के बाद काली, तारा, षोडशी, छिन्नमस्ता, धूमावती, बगला, मातंगी, भुवनेश्वरी और कमला की जयन्तियों का निर्णय कर आगे भगवती काली की विस्तार से चर्चा की गई है।

कल्याण के शक्त्यंक (पृ. ८९-११२) में वैदिक विद्वान् श्री मोतीलाल शर्मा का "दश महाविद्या" शीर्षक निबन्ध प्रकाशित हुआ है। वहाँ विद्या शब्द के और दस संख्या के रहस्य को बताने के बाद १. महाकालपुरुष और उसकी शक्ति महाकाली, २. अक्षोभ्य पुरुष और उसकी शक्ति तारा, ३. पंचवक्त्र शिव और उसकी शक्ति षोडशी, ४. त्र्यम्बक शिव और उसकी शक्ति भुवनेश्वरी, ५. कबन्ध शिव और उसकी शक्ति छिन्नमस्ता, ६. दक्षिणामूर्ति कालभैरव और उनकी शक्ति भैरवी, ७. पुरुषशून्या (विधवा) धूमावती, ८. महारुद्र और उसकी शक्ति बगलामुखी, ९. मतंग शिव और उसकी शक्ति मातंगी, १०. सदाशिव पुरुष और उसकी शक्ति कमला का परिचय अनोखे ढंग से दिया गया है। अन्त में एक तालिका के द्वारा शक्ति, नामान्तर, रात्रि, विद्या और शिव शीर्षक के अन्तर्गत दस महाविद्याओं का स्वरूप स्पष्ट किया गया है।

इस अंक में श्रीविद्या, काली, तारा आदि के संबन्ध में स्वतन्त्र लेख भी प्रकाशित हुए हैं।

बंगला विश्वकोश के हिन्दी संस्करण (भा. १०, पृ. २६९-२८२) में चामुण्डातन्त्र, [1]महाभागवतपुराण, [2]नारदपंचरात्र, [3]स्वतन्त्रतन्त्र और तोडलतन्त्र के आधार पर दस महाविद्याओं, उनके भैरवों आदि का वर्णन किया गया है और तोडलतन्त्र को उद्धृत कर बताया गया है कि दस महाविद्याओं ने ही विष्णु के दस अवतारों का स्वरूप धारण किया। तोडलतन्त्र के ये [4]श्लोक वहाँ उद्धृत हैं—

---

१. यह महाभागवतपुराण श्रीमद्भागवत और देवीभागवत से भिन्न है। डॉ. किशोरनाथ झा ने दिल्ली से प्रकाशित शाक्त पुराण के रूप में इसे उद्धृत किया है (भा. त., पृ. ३६७)।

२. अब तक छपे नारदपंचरात्र के संस्करणों में यह विषय उपलब्ध नहीं है। पांचरात्र आगम की अनेक संहिताएँ इसी नाम से उद्धृत हुई हैं। वहाँ यह विषय मिल सकता है।

३. स्वच्छन्दतन्त्र और तन्त्रराज(कादिमत)तन्त्र को भी इस नाम से उद्धृत किया जाता है, किन्तु यह स्वतन्त्रतन्त्र इन दोनों से भिन्न लगता है।

४. संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्रकाशित तन्त्रसंग्रह के द्वितीय भाग में समाविष्ट तोडलतन्त्र (१०.९-१२) में ये श्लोक उपलब्ध हैं।

तारा देवी मीनरूपा बगला कूर्ममूर्तिका।
धूमावती वराहः स्याच्छिन्नमस्ता नृसिंहिका।।
भुवनेश्वरी वामनः स्यान्मातङ्गी राममूर्तिका।
त्रिपुरा जामदग्न्यः स्याद् बलभद्रस्तु भैरवी।।
महालक्ष्मीर्भवेद् बुद्धो दुर्गा स्यात् कल्किरूपिणी।
स्वयं भगवती काली कृष्णमूर्तिसमुद्भवा।।
इति ते कथितं देव्यवतारं दशमेव हि।

अन्त में यहाँ टिप्पणी लगाई गई है कि इन विद्याओं का ध्यान तत्तत् शब्दों में और अपरापर विवरण मन्त्र और यन्त्र शब्दों में देखो।

श्रद्धेय श्री श्री गोपीनाथ कविराज ने अपने सन्दर्भ-ग्रन्थ तान्त्रिक साहित्य के उपोद्घात में और नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से सन् १९६५ में प्रकाशित हिन्दी विश्वकोश के पंचम खण्ड (पृ. २७८-२८९) में तन्त्र साहित्य शब्द का परिचय देते समय तन्त्र-ग्रन्थों का तथा दस महाविद्याओं का सामान्य और श्रीविद्या (षोडशी) का विशेष परिचय दिया है। इस प्रसंग में यह भी अवलोकनार्ह है।

"संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास" के एकादश तन्त्रागम खण्ड में प्रकाशित "दस महाविद्या एवं स्मार्ततन्त्र परम्परा" (पृ. ३६४-४०५) शीर्षक निबन्ध की पद्धति से हमने यहाँ छठे अधिकार के रूप में स्मार्त तन्त्रों का परिचय दिया है। पहले के पाँच अधिकारों में वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध और जैन तन्त्र विवेचित हैं। स्मार्त पंचायतन पूजा में देखने में तो वैदिक तन्त्र ही समाविष्ट हैं, किन्तु इन सभी तन्त्रों के घात-प्रतिघातात्मक स्वरूप की जब हम तुलनात्मक समीक्षा में प्रवृत्त होते हैं, तो इन पर परस्पर एक-दूसरे का अवदान स्पष्ट हो जाता है। षड्दर्शन, षट्शाम्भवमत की पृष्ठभूमि में इसको यहाँ दिखाने का प्रयत्न भी किया गया है। स्मार्त तन्त्र इसी पृष्ठभूमि में विभिन्न मतों में सामंजस्य बैठाने का एक स्तुत्य प्रयास रहा है। वर्तमान भारत की साम्प्रदायिक समस्या का समाधान इसी पद्धति से किया जा सकता है। इस विषय पर हम अलग से विचार करेंगे। अभी संक्षेप में स्मार्त-तन्त्र दर्शन को प्रस्तुत कर इस अधिकार को पूरा करते हैं।

स्मार्त-तन्त्र दर्शन

प्रपंचसार, ईशानशिवपद्धति और शारदातिलक के प्रारंभ में स्मार्त दार्शनिक पद्धति अपने-अपने ढंग से वर्णित है, उसको यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है। वैदिक

और तान्त्रिक सभी विषयों के वर्णन की प्रपंचसार (१.२१) में प्रतिज्ञा की गई है। इन सभी ग्रन्थों में तदनुसार एक समन्वय-प्रधान दृष्टि के आधार पर ही दर्शन को भी समुपस्थापित किया गया है। कहीं सांख्यदर्शन का, अन्यत्र पुराणों का और कहीं शैवागमों का भी यहाँ अनुसरण किया गया है।

प्रपंचसार (१.२१) ने प्रकृति, पुरुष और काल को नित्य माना है। इस वचन को कुमारदेव ने तत्त्वप्रकाश की अपनी टीका (श्लो. ३९) में उद्धृत किया है और इसकी पुष्टि में विष्णुपुराण (१.२.२४) को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया है। यहाँ प्रकृति को सांख्यदर्शन की पद्धति से जड़ नहीं माना गया, किन्तु उसे स्वसंवेद्य-स्वरूप माना है। प्रधान और शक्ति के रूप में यह समान रूप में वर्णित है। इस प्रकृति में काल कदाचित् विकार पैदा कर देता है। उस समय वह चिन्मात्र तत्त्व के रूप में ज्योति के सांनिध्य से बिन्दु का आकार धारण कर लेती है। काल के प्रभाव से यह परबिन्दु विभक्त होकर स्थूल, सूक्ष्म और पर नामक आकारों को ग्रहण कर बिन्दु, नाद और बीज का स्वरूप धारण कर लेता है। अब यह अपरबिन्दु भी काल के प्रभाव से जब विभक्त होता है, तो उससे अव्यक्त रव की उत्पत्ति होती है। इस अव्यक्त रव को ही शास्त्रवेत्ता विद्वान् शब्दब्रह्म कहते हैं।

इस अव्यक्त तत्त्व से महत्तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है, जो [1]तीन भेद वाली माया का ही स्वरूप है (१.४५)। इससे [2]भूतादि, वैकारिक और तैजस भेद वाले अहंकार-तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है (१.४६)। यहाँ आगे की सृष्टि का वर्णन सांख्यदर्शन की प्रक्रिया से ही किया गया है, किन्तु भूतादि का क्रम शैवागम का अनुसरण करता है, सांख्यदर्शन के क्रम का नहीं। पाँच भूतों के स्वभाव, वर्ण, मण्डल आदि के वर्णन में पुराणों से सहायता ली गई है। निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति और शान्त्यतीता नामक पाँच कलाओं की उत्पत्ति [3]नाद (१.५०) से मानी गई हैं।

शारदातिलक के प्रथम पटल में यह विषय इस तरह से वर्णित है— निर्गुण और सगुण के भेद से शिव के दो स्वरूप हैं। निर्गुण शिव तत्त्वातीत है। सगुण शिव सकल

---

१. माया, ग्रन्थि और गहन नामक तीन भेद वाले मायातत्त्व का विवेचन शैवाधिकार (पृ. ३४१-३४६) में किया जा चुका है।

२. हमारे द्वारा सम्पादित अष्टप्रकरण का उपोद्घात (पृ. ३७-३८) देखिये। प्रस्तुत ग्रन्थ में भी शैवाधिकार (पृ. ४१६-४१८) में इसकी चर्चा है।

३. श्रीकण्ठ सूरि के रत्नत्रय में "कलास्ता बिन्दुवृत्तय:" (श्लो. ८६) इस श्लोक में पंचविध कलाओं को बिन्दु की वृत्तियाँ माना है।

कहलाते हैं। इस सत्, चित्, आनन्द स्वरूप सकल परमेश्वर से शक्ति, नाद और बिन्दु की उत्पत्ति होती है। परमा शक्ति से सम्पन्न यह शिव पुनः तीन रूपों में विभक्त हो उठते हैं और ये तीन रूप बिन्दु, नाद और बीज शब्दों से अभिहित होते हैं। इनमें बिन्दु शिवात्मक, बीज शक्त्यात्मक और नाद इन दोनों का समन्वित स्वरूप है। बिन्दु से रौद्री शक्ति, नाद से ज्येष्ठा और बीज से वामा शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। इन शक्तियों से क्रमशः रुद्र, ब्रह्मा और विष्णु की, ज्ञान, इच्छा और क्रिया शक्तियों की तथा वह्नि, चन्द्र और सूर्य नामक ज्योतियों की सृष्टि होती है।

परबिन्दु के विभक्त होने पर अव्यक्त स्वरूप रव की उत्पत्ति होती है। सभी आगमों में यह शब्दब्रह्म के नाम से जाना जाता है। सभी प्राणियों में स्थित चैतन्य ही शब्दब्रह्म कहलाता है। प्राणियों के देह में कुण्डलिनी का स्वरूप धारण कर वही अन्ततः वर्णों के रूप में अभिव्यक्त होता है। इसी तरह से बिन्दु-स्वरूप शम्भु से सर्वव्यापी सदाशिव, सदाशिव से ईश्वर, ईश्वर से रुद्र, रुद्र से विष्णु और विष्णु से ब्रह्मा की सृष्टि होती है। मूलभूत अव्यक्त नामक परम तत्त्व के विकृत होने पर त्रिगुणात्मक महत्तत्त्व (बुद्धि) की अन्तःकरण के रूप में अभिव्यक्ति होती है और इससे त्रिविध अहंकार की। आगे की तत्त्वसृष्टि की प्रक्रिया सांख्यदर्शन का अनुवर्तन करती है। पाँच भूतों के स्वभाव, वर्ण, मण्डल आदि का वर्णन प्रपंचसार की पद्धति से ही किया गया है। निवृत्ति आदि पाँच कलाओं की नाद से उत्पत्ति यहाँ भी मानी गई है। कुण्डलिनी शक्ति का स्वरूप यहाँ (१.५१-५७) विस्तार से वर्णित है।

ईशानशिव ने अपने ग्रन्थ के प्रारंभ में मन्त्र और मातृका की उत्पत्ति की प्रक्रिया को समझाते हुए प्रथमतः निर्विकल्पात्मक ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया है (१.२५)। आगे (१.२७-२८) प्रदीप की प्रभा के समान इससे इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मक शक्तियों की अभिव्यक्ति की बात कह कर बताया है कि यह शक्ति ही बिन्दु का आकार ग्रहण कर लेती है। बाद में यह बिन्दु ही नाद और रव के रूप में विभक्त हो जाता है। यहाँ रव को ही अव्यक्त बताया गया है। अव्यक्त से तीन भेद वाला महत्तत्त्व और इससे त्रिविध अहंकार की सृष्टि होती है। आहंकारिक सृष्टि का क्रम यहाँ [१]भिन्न प्रकार का है (१.२९-३१)।

आगे यहाँ कालोत्तर के प्रमाण से नादतत्त्व को और रत्नत्रय की पद्धति से वैखरी आदि चतुर्विध वाणियों के स्वरूप को समझाने के लिये शक्ति, नाद, महामाया और

---

१. "महतश्चाप्यहङ्कारस्त्रेधा स च निगद्यते। वैकारिकस्तैजसश्च भूतादिरिति चापरः।।" (१.३१) यहाँ सांख्यकारिका का क्रम स्वीकृत है, आगमीय नहीं।

व्योम नामक तत्त्वों के स्वरूप को समझाते हुए चतुर्विध वाणियों को बिन्दु की ही वृत्तियाँ बताया है (१.३३)। वाणियों के भेदों को बताने के बाद कुण्डलिनी के स्वरूप को बताते हुए ईशानशिव इससे वाक्चतुष्टय की उत्पत्ति की प्रक्रिया को बताते हैं।

शैवागम-संमत ३६ तत्त्वों का और पति-पशु-पाश नामक त्रिविध तत्त्वों का विचार इस ग्रन्थ के क्रियापाद के प्रथम एवं द्वितीय पटल में विस्तार से किया गया है। वहीं २८ आगमों और १८ विद्याओं का परिगणन कर परपक्ष का खण्डन करते हुए शिवागमों के प्रामाण्य की भी स्थापना की गई है।

इस तरह से इन तीनों ग्रन्थों में अपने-अपने ढंग से दार्शनिक प्रक्रिया प्रदर्शित है।

भास्करराय ने अपने ललितासहस्रनाम के भाष्य (पृ. ९९-१००) में प्रपंचसार में वर्णित दार्शनिक प्रक्रिया का विशद विवेचन इस प्रकार किया है— प्रलयकाल में प्राणियों के कर्मों का परिपाक नहीं होने पाता। इस तरह के कर्मों के साथ माया शक्ति का भी सहारा लेकर ब्रह्म उस स्थिति में घनीभूत स्वरूप धारण कर लेता है। काल के प्रभाव से इन कर्मों की परिपाकावस्था की पूर्व स्थिति के आने पर उस ब्रह्म में विचिकीर्षा (सृष्टि करने की तीव्र इच्छा) उद्भूत हो उठती है। परिपाकावस्था में मायावृत्ति उत्पन्न होती है। इस तरह से कर्मों की परिपाकावस्था के कारण मायाशक्ति से सम्पन्न हुआ ब्रह्म अव्यक्त कहलाता है। ब्रह्म की यह अव्यक्त दशा ही शास्त्रों में उत्पत्ति मानी गई है। जगत् रूपी अंकुर की उत्पत्ति इसीसे मानी गई है, अतः इसे कारणबिन्दु कहा जाता है। प्रपंचसार (१.४१) में इसी स्थिति को स्पष्ट किया गया है। इस कारणबिन्दु से ही क्रमशः कार्यबिन्दु, उससे नाद और नाद से बीज नामक तीन तत्त्वों की सृष्टि होती है। पर, सूक्ष्म और स्थूल आकार के ये तत्त्व क्रमशः चिदंश, चिदचिदंश और अचिदंश से निर्मित होते हैं (१.४२-४३)।

कारणबिन्दु, कार्यबिन्दु, नाद और बीज नामक चार तत्त्वों के अव्यक्त, ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट् नामक चार अधिदेवता हैं। शान्ता, वामा, ज्येष्ठा और रौद्री तथा अम्बिका, इच्छा, ज्ञाना और क्रिया नामक शक्तियाँ हैं। इनके भौतिक स्वरूप का प्रतिनिधित्व कामरूप, पूर्णगिरि, जालन्धर और ओडयाण पीठ करते हैं। यह विषय योगिनीहृदय में वर्णित है। कारणबिन्दु का आध्यात्मिक स्वरूप मूलाधार स्थित कुण्डलिनी है। शक्ति, [१]पिण्ड, कुण्डलिनी— ये सब इसके पर्यायवाची शब्द हैं। लघुस्तवकर्ता धर्माचार्य अपने द्वितीय श्लोक में इसीकी स्तुति करते हैं। कारणबिन्दु मूलतत्त्व की अविभागावस्था है। कारणबिन्दु जब कार्यबिन्दु आदि की उत्पत्ति के लिये उन्मुख होता है, उस स्थिति में प्रथमतः अव्यक्त शब्दब्रह्म नामक रव की उत्पत्ति होती है (१.४४)।

१. "शक्तिः कुण्डलिनीति" धर्माचार्य के लघुस्तव के दूसरे श्लोक में यह विवृत है।

यह रव कारणबिन्दु से अभिव्यक्त होने के कारण उसीके समान सर्वत्र व्याप्त है, तो भी इसकी अभिव्यक्ति व्यंजक के प्रयत्न से प्रेरित पवन के कारण प्राणियों के मूलाधार में ही होती है। कारणबिन्दु के व्यापार से अभिव्यक्त यह शब्दब्रह्म स्वरूप रव प्रथमतः निष्पन्द अवस्था में प्रतिष्ठित रहता है। यही स्थिति परा वाक् कहलाती है। वही रव अभिव्यंजक के प्रयत्न से प्रेरित पवन से जब नाभि-स्थान तक आता है, उस समय विमर्शात्मक मन से संयुक्त होकर वह सामान्य स्पन्दमय प्रकाशात्मक कार्यबिन्दु का स्वरूप धारण कर पश्यन्ती वाणी कहलाता है। वही रव (शब्दब्रह्म) उसी पवन से प्रेरित होकर हृदय पर्यन्त उठकर वहाँ अभिव्यक्त होकर निश्चयात्मक बुद्धि से संयुक्त हो विशेष स्पन्दमय प्रकाशात्मक नाद-तत्त्व का स्वरूप धारण करता है, तो उस स्थिति का नाम मध्यमा वाक् है। इसके बाद वही रव उसी पवन से प्रेरित हो मुख में आकर वहाँ कण्ठ आदि स्थानों में अभिव्यक्त हो श्रोत्र से सुनने लायक अकार आदि वर्णों का स्वरूप धारण कर प्रकाशात्मक बीज बन जाता है, तो उसकी यही स्थिति वैखरी वाणी कहलाती है। प्रपंचसार (२.४३) में भी वाणी की ये ही चार अवस्थाएँ वर्णित हैं। भास्करराय ने किसी नित्यातन्त्र के श्लोकों को भी उद्धृत कर यहाँ वाक्चतुष्टय के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ मन के बाद बुद्धि का क्रम आया है। क्रमदर्शन को भी यही क्रम मान्य है।

सामान्य मनुष्य मातृका के किसी वर्ण को सुनता है, तो उसको केवल वैखरी वाणी का ही बोध होता है। परा, पश्यन्ती, और मध्यमा वाणी से इसकी क्रमशः कैसे अभिव्यक्ति हुई, इस बात को वह समझ नहीं पाता। भास्करराय ने इस अभिप्राय की "यद्वाचोऽनाप्तं तन्मनुष्या वदन्ति" इस श्रुति को और "चत्वारि वाक्" (ऋ. १.१६४.४५) इस प्रसिद्ध ऋङ्मन्त्र को भी उद्धृत किया है।

प्रपंचसार की विवरण-व्याख्या (२.४३) में पंचपदी और सप्तपदी वाक् का भी वर्णन किया गया है। [1]सूक्ष्मा, परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी— यह पंचपदी वाक् है। तथा सप्तपदी वाक् में इन पाँच के अतिरिक्त शून्या और संवित् का समावेश किया जाता है। यहाँ वाणी की अनुत्पन्न एवं निष्पन्द अवस्था शून्या वाक् तथा उत्पत्ति की तरफ उन्मुख हुई स्थिति संवित् कहलाती है। उत्पत्ति हो जाने पर यही [2]सूक्ष्मा वाक् कहलाती है। बाकी परा आदि चार वाणियों का स्वरूप बताया जा चुका है।

---

१. क्रमदर्शन में पाँच संख्या अधिक प्रिय है। तदनुसार ५० वीं गाथा में सूक्ष्मा वाणी का भी वहाँ निरूपण किया गया है।

२. "तत्रानुत्पन्ना निष्पन्दा शून्या वाक्, उत्पित्सुः संवित्, उत्पत्त्यवस्था च सूक्ष्मा, मूलाधारात् प्रथममुदिता परेति (प्रपंचसार-विवरण, २.४३)।

इस तरह से यहाँ प्रपंचसार, शारदातिलक, ईशानशिवपद्धति में वर्णित और भास्करराय द्वारा व्याख्यात स्मार्त तन्त्रों की दार्शनिक पद्धति का संक्षिप्त स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। ईशानशिव के ग्रन्थ को देखने से ज्ञात होता है कि अन्य दो ग्रन्थों में भी मन्त्रशास्त्र की पद्धति से यह विषय निर्दिष्ट है। प्रपंचसार में बिन्दु प्रथम तत्त्व है तथा शारदातिलक में नाद से बिन्दु की उत्पत्ति मानी गई है। दोनों ही ग्रन्थों में बिन्दु के ही बिन्दु नाद और बीज नामक तीन भेद बताये गये हैं। यहाँ कारणबिन्दु और कार्यबिन्दु तथा परनाद और अपरनाद के रूप में इनकी भिन्नता को समझना चाहिये। तन्त्रशास्त्र में भिन्न-भिन्न स्थलों पर दोनों तरह की सृष्टियाँ वर्णित हैं। रत्नत्रय में शिव, शक्ति और बिन्दु नामक तीन तत्त्व वर्णित हैं। यहाँ सृष्टि-कार्य में बिन्दु की प्रधानता है। कालोत्तर एवं नादकारिका में नाद-तत्त्व को प्रधान माना गया है। "स बिन्दुः परनादाख्यो नादबिन्द्वर्णकारणम्" (श्लो. २२) यह रत्नत्रय का वचन है और "नादाख्यं यत् परं बीजम्" (१.५) यह कालोत्तर का। ईशानशिव ने भी बिन्दु और नाद का यही स्वरूप बताया है। पर और अपर के भेद से इन दोनों की संगति बैठाई जा सकती है।

यहाँ इतनी बात समझ लेनी चाहिये कि तन्त्रागमशास्त्र में शब्दमयी और अर्थमयी, अर्थात् शिवप्रधान और शक्तिप्रधान द्विविध सृष्टि प्रतिपादित है। यहाँ शब्दसृष्टि में शक्ति की प्रधानता और नाद की उपादानता तथा अर्थसृष्टि में शिव की प्रधानता और बिन्दु की उपादानता मानी गई है। इस तरह से प्रक्रिया के भेद से इन दोनों तत्त्वों का गुण-प्रधान भाव यहाँ मान्य है। स्मार्त पंचायतन सम्प्रदाय को मान्यता देते हुए आचार्य शंकर ने प्रपंचसार में उन-उन देवताओं की उपासनापद्धति का प्रधान रूप से वर्णन किया है। जितना दार्शनिक अंश यहाँ देखने को मिलता है, उसमें मन्त्रशास्त्र की प्रक्रिया को ही स्पष्ट किया गया है। उसका शांकर वेदान्त दर्शन की प्रक्रिया से कोई विरोध भी नहीं है। इस तरह से दार्शनिक प्रक्रिया के आधार पर भी प्रपंचसार की भिन्नकर्तृकता नहीं सिद्ध की जा सकती, अतः किन्हीं पुष्टतर विपरीत प्रमाणों के अभाव में प्रपंचसार के रचयिता आद्य शंकराचार्य ही हैं, ऐसा कहा जा सकता है। इसीके साथ हम इस स्मार्ताधिकार को पूरा करते हैं।।



उपसंहाराधिकार

- सामान्य विश्लेषण
- तन्त्रशास्त्र और योगशास्त्र का भविष्य
- देवो भूत्वा यजेद् देवान्
- तान्त्रिकी वरिवस्या
- विहगावलोकन

उपसंहाराधिकार

सामान्य विश्लेषण

तन्त्रागमशास्त्र की छः शाखाओं पर संकल्पित अध्ययन को हमने पूरा कर लिया है। इन विषयों पर हमने अन्यत्र भी स्फुट विचार व्यक्त किये हैं। उनकी एक जगह सूचना दे देना उचित लगता है। इधर के अधिकांश निबन्धों का प्रकाशन तिब्बती संस्थान की षाण्मासिक शोधपत्रिका 'धी:' में हुआ है। इसके प्रथम अंक में "दीक्षाविषयक सौगत पक्ष पर क्षेमराज का दृष्टिकोण" शीर्षक निबन्ध छपा। इसमें दीक्षा के संबन्ध में प्रमाणवार्त्तिककार धर्मकीर्ति द्वारा निर्दिष्ट दीक्षाविषयक विचारों पर क्षेमराज द्वारा की गई समालोचना को प्रस्तुत किया गया है। "बौद्ध-शैव-शाक्त तन्त्रों में तुलनात्मक सामग्री" का संकलन इसके प्रथम और तृतीय अंक में किया गया है। "बौद्ध एवं शैव-शाक्त तन्त्रों का समान दृष्टिकोण" शीर्षक से इसका पुनः प्रकाशन "निगमागम संस्कृति" में हुआ। "सप्तविधालङ्काराख्यायिका न्याय" शीर्षक निबन्ध का प्रकाशन इसके छठे अंक में हुआ। यहाँ भी सप्तमातृका, सप्तविध पूजास्थान, षट्कोटिक व्याख्यान, षड्विध मन्त्रार्थ जैसे विषयों की परस्पर तुलना की गई है। "भारतीय तन्त्रशास्त्र : एक विहंगम दृष्टि" और "कालचक्रतन्त्र-विमलप्रभा समीक्षा" शीर्षक निबन्ध क्रमशः इसके २१वें एवं २२वें अंक में प्रकाशित हुए हैं। इसी तरह से "तन्त्रशास्त्र की दृष्टि में कायमीमांसा" शीर्षक निबन्ध २४वें अंक में छपा है। इस निबन्ध में शैव, शाक्त और बौद्ध तन्त्र, गर्भोपनिषत्, शिवमहापुराण एवं नाथयोग की दृष्टि से कायमीमांसा प्रस्तुत की गई है।

"बौद्ध और बौद्धेतर योगतन्त्र का तुलनात्मक विवेचन" शीर्षक निबन्ध "निगमागम संस्कृति" में प्रकाशित हुआ है। यहाँ आगम-तन्त्रशास्त्र में विवेचित [1]षडंग योग का प्रधान रूप से वर्णन है। नाडीचक्रविशुद्धि योग अथवा कुण्डलिनी योग और आनापान स्मृति अथवा अजपा जप की प्रक्रिया भी यहाँ विवेचित है। "संस्कृत वाङ्मय के बृहद् इतिहास" के तन्त्रागमीय एकादश खण्ड के सम्पादकीय वक्तव्य में भी सभी

---

१. षडंग योग की चर्चा नि. षो. के (पृ. ११७-११९) तथा विज्ञानभैरव के उपो. (पृ. ३३-३५) में भी देखी जा सकती है।

तन्त्रों की समीक्षा की गई है। "बौद्ध तन्त्रों के अनुशीलन के नये आयाम" में बौद्ध और बौद्धेतर तन्त्रों की समता और विषमता पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। इस निबन्ध का अंग्रेजी अनुवाद भी हो चुका है और यह डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य की स्मृति में कलकत्ता से प्रकाशित "तान्त्रिक बुद्धिज्म" में "ए न्यू डाइमेंशन टू दी स्टडी आफ बुद्धिस्ट तन्त्राज" शीर्षक से छपा है। "तन्त्रों पर वैदिक कर्मकाण्ड का प्रभाव" शीर्षक निबन्ध प्रकाशनाधीन है। इसमें शैव, बौद्ध, वैष्णव, प्रत्यभिज्ञादर्शन, वीरशैव एवं शाक्तमत पर वैदिक कर्मकाण्ड के, प्रधानतः अग्निकार्य से संबद्ध भूमिशुद्धि, कुण्डविधान, अग्नि-घृत आदि के संस्कार जैसे विधि-विधानों के प्रभाव का विश्लेषण किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के परिशिष्ट के रूप में इन सबका अवलोकन किया जा सकता है।

इसी प्रसंग में ग्रन्थ के कुछ अस्पष्ट स्थलों की भी चर्चा कर देना हम उचित समझते हैं, जिससे विद्वानों की ओर से इनका समाधान हमें मिल सके। जैसे कुलार्णव (३. ४२-४५) में वर्णित पंचविध संकेत का क्या अभिप्राय है, यह स्पष्ट नहीं होता (पृ. ३३)। भगवान् रुद्र रुद्राध्याय में स्तेनों, तस्करों आदि के भी आराध्य देवता माने गये हैं (पृ. १७७), इस पर शंका उठाई जाती है। वामनपुराण (६. ८६-९१) में गोपायन, ऋषभ, सोमकेश्वर, क्राथेश्वर, ऊर्णोदर जैसे शैवाचार्यों की चर्चा है। क्या ये नाम अन्यत्र भी उपलब्ध हैं (पृ. १७९)। सोमसिद्धान्त की शतरत्नसंग्रह (पृ. ८) में ग्रन्थ के रूप में एवं अन्यत्र अनेक स्थलों पर शैवमत के रूप में भी चर्चा मिलती है। क्या इस नाम का कोई ग्रन्थ उपलब्ध है? वामनपुराण-वर्णित चार सिद्धान्तों में ही इसका समावेश हो जायगा, या कभी इसकी स्वतन्त्र सत्ता भी रही हैं? (पृ. १७९-१८०)। लाकुल और सोम शब्द से कालामुख और कापालिक मत का ग्रहण करना क्या उचित है (पृ. १८०)। सिद्धनाथ और शंभुनाथ की चर्चा यहाँ विविध स्थलों पर विविध रूपों में मिलती है (पृ. २२४, ४०० आदि)। इनका सुस्पष्ट विवेचन अपेक्षित है। अमरौघशासन, यो. ह. दीपिका जैसे ग्रन्थों में प्रयुक्त कुछ योगशास्त्रीय शब्द और नाडी नामक आधार का अर्थ एवं स्थान स्पष्ट नहीं है। इसके लिये भी प्रयत्न अपेक्षित है (पृ. २३१-२३३)। कल्याणनगरी, त्रिपुरी आदि स्थानों की मध्यप्रदेश में कहाँ स्थिति है? इसकी भी जानकारी चाहिये। तन्त्रालोक (१.४६) में ज्ञानाज्ञानगत द्वित्व को बौद्ध और पौंस्न ज्ञानाज्ञान से जोड़ा गया है, यह भी उचित प्रतीत नहीं होता (पृ. ३३३)। पिटोपा या पिण्टोपा, इस नाम की परीक्षा अपेक्षित है (पृ. ६९८)। इसी तरह से कालचक्रतन्त्र की विमलप्रभा टीका (भा. १, पृ. १६९) में अठारह चक्रों की सूचना दी गई है, किन्तु आगे के ग्रन्थ में कहीं भी इनका उल्लेख नहीं मिलता (पृ. ७३४)।

तन्त्रागमशास्त्र पर विदेशी प्रभाव को हमने पूरी तरह से अस्वीकार कर दिया है (पृ. ५-६)। इसकी परीक्षा की जा सकती है। शैव मठों और शिवशम्भु-नामान्त आचार्यों की परम्परा का सर्वांगपूर्ण अध्ययन होना अभी बाकी है। **राजदन्त** का अर्थ द्वादशान्त किया गया है। क्या यह ठीक है ? अभिनवगुप्त, क्षेमराज आदि ने पद-प्रकरण की जो व्याख्या की है, उसमें आगमों का संवाद अपेक्षित है (पृ. ३८९)। अभिनवगुप्त ने पूर्वशास्त्र के प्रमाण से खेटपाल के मत की समालोचना की है, किन्तु **तैजस** शब्द की प्रवृत्ति वहाँ आगमिक **सात्त्विक** अर्थ में हुई है, सांख्य-संमत **राजस** अर्थ में नहीं (पृ. ४१७-४१८)।

तन्त्रागम शब्दार्थ

तनोति विपुलानर्थांस्तत्त्वमन्त्रसमन्वितान्।
त्राणं च कुरुते पुंसां तेन तन्त्रमिति स्मृतम्।। (१.११५)

तन्त्र शब्द की यह व्युत्पत्ति अजितागम में दी गई है। तन्त्रालोक के शास्त्र-संमेलन नामक ३५ वें आह्निक में आगमशब्द के अर्थ को समझाया है। मृगेन्द्रवृत्ति के विद्यापाद में "प्रसिद्धिमागमः प्राप्तो लोक इत्यभिधीयते" (१.१४) यह आगम का लक्षण दिया गया है। तन्त्रालोक के इसी आह्निक में—

लौकिकं वैदिकं सांख्यं योगादिपाञ्चरात्रकम्।
बौद्धार्हतन्यायशास्त्रं पदार्थक्रमतन्त्रणम्।।
सिद्धान्ततन्त्रशाक्तादि सर्वं ब्रह्मोद्भवं यतः।
श्रीस्वच्छन्दादिषु प्रोक्तं सद्योजातादिभेदतः।। (३५. २६-२७)

इन सब शास्त्रों की उत्पत्ति शिव के पंचब्रह्मस्वरूप [1]पाँच मुखों से मानी गई है। आगमों की उपजीव्यता और अवश्यग्राह्यता का विवरण तन्त्रालोक के ३७वें आह्निक में देखा जा सकता है। इस संक्षिप्त सूचना के साथ अब हम पूरे ग्रन्थ की सामग्री पर समीक्षात्मक दृष्टि डालते हुए कुछ भूले-विसरे विषयों की चर्चा करना चाहते हैं। तन्त्र और आगम शास्त्र में ही यामलों का भी अन्तर्भाव माना जाता है। अष्टविध यामलों की नामावली प्राचीन तन्त्रों में मिलती है। कोश-ग्रन्थों में इनके अष्टविध लक्षणों का भी इस प्रकार उल्लेख हुआ है—

सृष्टिश्च ज्योतिषाख्यानं नित्यकृत्यप्रदीपनम्।
क्रमसूत्रं वर्णभेदो जातिभेदस्तथैव च।
युगधर्मश्च संख्यातो यामलाष्टकलक्षणम्।।

---

१. तन्त्रा. (३५. २६-२७) देखिये।

सभी यामल आज उपलब्ध नहीं होते। वर्तमान में मुद्रित रुद्रयामल की प्राचीनता संदिग्ध है। इन सात लक्षणों की सभी आठ यामलों में संगति परीक्षणीय है। स्वयं किसी यामल ग्रन्थ में यामल के लक्षण की खोज भी अपेक्षित है। यामलतन्त्रों की प्रवृत्ति कब किस प्रकार हुई, यह भी अभी गवेषणा का ही विषय है।

उपक्रमाधिकार (पृ. २५-३५) में हमने तन्त्रशास्त्र की शाखा-प्रशाखाओं का परिचय दिया है। हमने देखा है कि उनमें से वैष्णव, शैव, शाक्त और बौद्ध तन्त्रों का ही विशेष परिचय हमें देखने को मिलता है। सौर, स्कान्द, गाणपत्य जैसे तन्त्रों के विषय में अभी बहुत कम लिखा गया है। जैन तन्त्रों की भी प्रायः यही स्थिति है। सूर्य, गणेश आदि देवताओं से तथा जैन तन्त्र से संबद्ध कुछ ग्रन्थ अभी निकले हैं, किन्तु प्रपंचसार ईशानशिवगुरुदेवपद्धति, शारदातिलक जैसे ग्रन्थों के आधार पर ही अब तक का अध्ययन हुआ है। जैन तन्त्र का अध्ययन भी इस मनोवृत्ति की पृष्ठभूमि में हुआ है कि तन्त्रशास्त्र जैन धर्म की प्रकृति के अनुकूल नहीं है। ग्रन्थालयों में इन मतों से संबद्ध अनेक हस्तलेख उपलब्ध हैं और तन्त्रशास्त्र पंचमकार तक ही सीमित नहीं है, इस पृष्ठभूमि में इन सब तन्त्रों पर स्वतन्त्र विस्तृत गवेषणा अपेक्षित है।

तन्त्रागमशास्त्र की विशेषता

उपक्रमाधिकार (पृ. ४१-४४) में निगम की अपेक्षा आगमशास्त्र की विशेषता पर प्रकाश डालते हुए हमने आगमशास्त्र की परिभाषा देकर एक अन्य परिभाषा पर अपनी असहमति जताई है। आगमशास्त्र के आविर्भाव की जो पद्धति यहाँ बताई गई है, तदनुसार हम इस्लाम और खीष्ट्र धर्म के मूल ग्रन्थों को भी इसी परिभाषा की परिधि में ला सकते हैं। विभिन्न सम्प्रदायों में भेद का मुख्य कारण पूजाविधि और पूजा-द्रव्यों की भिन्नता ही है। कौल सम्प्रदायों में पात्रासादन की भिन्नता के आधार पर भी भेद हो जाते हैं। वराहमिहिर के प्रमाण से इसी प्रकरण (पृ. ४२) में बताया गया है कि जो व्यक्ति जिस देवता की उपासना करता है, उसको यह उपासना उक्त शास्त्र में प्रदर्शित पद्धति के अनुसार ही करनी चाहिये। आज का मानव भी १५०० वर्ष पहले कही गई वराहमिहिर की उक्ति का अनुसरण कर सुख-शान्ति पूर्वक जीवन-यापन कर सकता है।

निगम की त्रैवर्णिक-विषयता तथा आगम की सर्ववर्ण-विषयता यहाँ प्रतिपादित है। तन्त्रागमीय संस्कृति प्रकरण (पृ. ५३) में आचार्य शंकर के प्रभाव की चर्चा की गई है। अपशूद्राधिकरण की व्याख्या में वीरशैवाचार्य ही शांकर प्रभाव से मुक्त रह सके। ब्रह्मसूत्र के श्रीपति पंडिताराध्य जैसे वीरशैव भाष्यकारों ने स्त्री और शूद्र को भी दीक्षा का अधिकारी माना और आज भी इस धर्म में इष्टलिंग की उपासना में सबको समान

अधिकार प्राप्त है। आगमशास्त्र के ग्रन्थों में मध्यदेश के आचार्यों की श्रेष्ठ गुरुओं में गणना की गई है और अधिकांश आगमों का आविर्भाव भी मध्यदेश में ही हुआ है, किन्तु आज शैव और वैष्णव शास्त्रों की स्थिति दक्षिणभारत तक ही सीमित रह गई है। शैव आगमों की गणना तो आज "सदर्न शैविज्म" के रूप में होने लगी है और स्थिति यहाँ तक पहुँच गई है कि इन आगमों को तमिल शैवसाहित्य का अनुवाद माना जाने लगा है। इस विषय में अभी गंभीर अध्ययन अपेक्षित है।

तन्त्रागमशास्त्र की प्राचीनता

भारतीय संस्कृति में विशिष्टता का आधान करने वाले इस तन्त्रागमशास्त्र का प्रादुर्भाव ई. आठवीं शताब्दी में हुआ, ऐसा ऐतिहासिकों का कहना है। यह सही नहीं है। ६०८ ई. के दधिमती शिलालेख में देवी दधिमती की प्रार्थना की गई है और दुर्गासप्तशती (११.१०) का श्लोक (सर्वमङ्गलमाङ्गल्ये) यहाँ उट्टंकित है। सातवीं शताब्दी के [1]सेनकपाट शिलालेख में [2]आमर्दक तपोवन से विनिर्गत सदाशिवाचार्य के [3]लाट देश में बस जाने का उल्लेख है। छठी शताब्दी में विद्यमान महाकवि सुबन्धु की [4]वासवदत्ता में बौद्ध देवी तारा वर्णित है— 'भिक्षुकीव तारानुरागरक्ताम्बरधारिणी भगवती सन्ध्या समदृश्यत"। [5]धर्मकीर्ति के दीक्षाविषयक मत की समालोचना क्षेमराज ने स्वच्छन्दोद्योत (५.८८) में की है। कुमारिल भट्ट और आचार्य शंकर ने पांचरात्र मत की समालोचना की है और महाकवि बाणभट्ट ने पांचरात्र एवं भागवत मत की चर्चा की है। ब्रह्मसूत्र में पाशुपत एवं पांचरात्र मत का खण्डन किया गया है। उदयपुर के पुरातत्त्व संग्रहालय में सुरक्षित ४९० ई. के शिलालेख में भ्रमराम्बा की स्तुति की गई है। यह शिलालेख चित्तौड़गढ़ के पास 'छोटी सादड़ी' नामक स्थान पर देवी भ्रमराम्बा के मन्दिर से प्राप्त हुआ था। द्वितीय शताब्दी के सातवाहन की गाथासप्तशती (गा. ४०८) में नवकापालिकी के भस्मोद्धूलन की चर्चा की गई है और लकुलीश के पाशुपतसूत्र में यह विधि वर्णित है। तन्त्रालोक (३७.१०) में शैवागम के दो आप्तपुरुष श्रीकण्ठ और लकुलीश चर्चित हैं। लकुलीश सम्प्रदाय के प्रवर्तक योगाचार्य लकुलीश का समय ई. की दूसरी शताब्दी माना जाता है। लाकुल, मौसुल, कारुक और वैमल नामक चतुर्विध

---

१. लुप्ता. उपो. की पृ. २०९ की ५वीं टि. देखिये।

२. वहीं (पृ. २०९) तीसरी टि. देखिये।

३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकार उत्पलदेव भी लाट देश से कश्मीर में आये थे, इसकी सूचना (पृ. ४५१) पर दी जा चुकी है।

४. "दी कल्ट आफ तारा" (पृ. ७) देखिये।

५. 'धी:' का प्रथम अंक (पृ. १०६-११२) द्रष्टव्य।

पाशुपतों की और लकुलीश के शिष्य, कारोहण तीर्थ में अवतीर्ण मुसुलेन्द्र की एवं उनके हृदयप्रमाण नामक ग्रन्थ की सूचना मिलती है। इन सब प्रमाणों से तन्त्रागम शास्त्र की प्राचीनता स्पष्ट हो जाती है। पांचरात्र (वैष्णव) और पाशुपत (शिव) मत की प्राचीनता शिलालेखों, पाणिनि के अष्टाध्यायी-सूत्रों, उपनिषदों, आरण्यकों एवं ब्राह्मण-संहिताओं के प्रमाण से भी स्थापित की जा चुकी है।

सर्वागमप्रामाण्य

रुचिभेद से मत-मतान्तरों की प्रवृत्ति होती है। गंगा का जल, अन्य नदियों के जल के साथ, समुद्र में मिल जाता है ; उसी तरह से मात्र एक भगवान् ही मनुष्यों के उपास्य हैं। उपासना में भेद हो सकता है, उपास्य तो एक ही है। इस दृष्टान्त से सभी धर्म और शास्त्र उसी एक परमेश्वर तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं, ऐसा मानकर और भगवद्गीता के वचन के अनुसार पर-धर्म को भयावह मानते हुए अपने धर्म में ही मृत्यु को वरण करना मानव का परम धर्म है। सद्योज्योति शिवाचार्य ने परमोक्षनिरासकारिका (श्लो. ४२) में उपहास के रूप में कहा है कि आपको तो द्रव्य प्रिय है, गुण नहीं। द्रव्यप्रियता के कारण ही आज धर्मान्तरण हो रहा है। द्रव्य-लोभ को छोड़कर आज गुणों के आधार पर विभिन्न धर्मों और दर्शनों की परीक्षा होनी चाहिये। इस प्रसंग में भी भगवान् श्रीकृष्ण के इस वचन को हमें याद रखना होगा कि अपने धर्म में भले ही कुछ कमियाँ हों, उसे छोड़ना नहीं चाहिये। यह मानव-जाति तभी शान्ति से रह सकती है। यह सारी मानव-जाति इस भद्र दृष्टि का अनुसरण करे, यह भगवान् शक्तिमान् शिव से हमारी प्रार्थना है। स्वच्छन्दतन्त्र के इस वचन को भी आप देखिये—

सांख्यं योगं पाञ्चरात्रं वेदांश्चैव न निन्दयेत्।
यतः शिवोद्भवाः सर्वे ह्यपवर्गफलप्रदाः।। (५.४४-४५)

शास्त्रों की अनुस्यूतता

मन्त्रों के ऋषि, देवता और छन्द के अनुस्मरण के साथ उनका नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मों से विनियोग; याग, होम आदि का अनुष्ठान करते समय वह्नि, कुण्ड, आज्य, भूमि आदि का संस्कार; दीक्षा से संबद्ध कार्यकलाप, ४८ संस्कार, शान्तिक-पौष्टिक आदि सौम्य तथा मारण-उच्चाटन आदि क्रूर षड्विध कर्मों की सिद्धि के लिये मणि, मन्त्र, ओषधी आदि का उपयोग— इस तरह के विषय आगम एवं तन्त्रशास्त्र में भी वैदिक पद्धति का ही अनुसरण करते हैं। "चत्वारि वाक् परिमिता पदानि" (ऋ. १.१६४.४५)", "अ इति ब्रह्म तत्रागतमहमिति" (ऐ. आ. २.३.८), "अकारो वै सर्वा वाक्"

(ऐ. आ. २.३.६), "छन्द:पुरुष इति यमवोचामाक्षरसमाम्नाय एव, तस्यैतस्याकारो रस:" (ऐ. आ. ३.२.३)", "वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता" (तै. ब्रा. २.८.८.४), "वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य" (तै. ब्रा. २.८.८.५), "अनाहतशीर्ष्णी वाग् ब्रुवाणा सोमस्य तृप्यतु" (तै. सं. ३. २. ५.), "सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्", "न काञ्चन परिहरेत् तद्व्रतम्" (छा. उ. २. १३. २), "यदेतत् स्त्रियां लोहितं भवत्यग्नेस्तद्रूपम्। तस्मात् तस्मात्र बीभत्सेत। अथ यदेतत् पुरुषे रेतो भवत्यादित्यस्य तद्रूपम्। तस्मात् तस्मात्र बीभत्सेत" (ऐ. आ. २.३.७), "अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या" (अ. वे. १०. २. ३१) इस तरह के श्रुतियों के वचन वाक्चतुष्टय, मातृकाप्रपंच, सुरापान, दूतीयाग, अर्घ्यनिष्पादन जैसे शाक्त तन्त्रों के विषयों की तथा कुण्डलिनी योग की भी सूचना देते हैं।

आगम और तन्त्रशास्त्र के ये सब विषय जैसे वैदिक विधि-विधानों का अनुसरण करते हैं, उसी तरह से सभी आगमों में मन्त्र, मुद्रा, न्यास, भूतशुद्धि, प्राणप्रतिष्ठा, दीक्षा, षडध्वविलापन, आभ्यन्तर एवं बाह्य वरिवस्या, व्रत-उत्सव, नित्य-नैमित्तिक-काम्य कर्म, प्रतिमा-प्रासाद आदि का निर्माण, समयी-पुत्रक-साधक-आचार्य का लक्षण और योगविधि जैसे विषयों में परस्पर समानता देखने को मिलती है। नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य कर्मों के न्यूनता आदि दोषों के निवारणार्थ पवित्रकविधि का अनुष्ठान भी प्राय: सर्वत्र किया जाता है। त्रिशिरोमत के वचन (तन्त्रा. वि. १५. ६९-७३) में शिष्य के निरीक्षण आदि पाँच संस्कार वर्णित हैं। सात्वतसंहिता (१९.३७) और उसके भाष्य में भी यह विषय आया है। इसी तरह से आत्मसप्तति, आत्मसंबोध, इष्टोपदेश, चन्द्रगर्भ, ज्ञानसार, स्वात्मसंबोध जैसे समान नाम वाले ग्रन्थों की उपलब्धि जैन, बौद्ध आदि सम्प्रदायों में भी मिलती है। इन सबसे प्रतीत होता है कि वैष्णव, शैव, शाक्त, जैन, बौद्ध आदि सभी मतों में समय-समय पर समन्वयवादी आचार्य हुए हैं।

इसी शृंखला की मजबूत कड़ी के रूप में हम अभिनवगुप्त को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। वे ई. प्र. वि. (भा. २, पृ. २०१) में विज्ञान को ही ब्रह्म मानते हैं और ई. प्र. वि. वि. (भा. ३, पृ. ४०५) पर कहते हैं कि आगमों में से द्वैतवाद को हटाकर, ब्रह्मवाद की अविद्या को मायाशक्ति के रूप में स्वीकार कर तथा विज्ञानाद्वयवाद का आत्मेश्वरवाद के रूप में निरूपण कर यह मानव सिद्धि-लाभ कर सकता है। विज्ञानाद्वय की आत्मेश्वरवाद के रूप में प्रतिष्ठा कैसे हो, इसके लिये प्रत्यभिज्ञा दर्शन में प्रतिपादित प्रकाश-विमर्शात्मक तत्त्व के स्वरूप को जानना जरूरी हो जाता है। शैवाधिकार के प्रत्यभिज्ञा प्रकरण में इसको बताया जा चुका है। जैन आचार्य हरिभद्र सूरि को भी हम इसी श्रेणी में रखते हैं।

तन्त्रशास्त्र और योगशास्त्र का भविष्य

तन्त्रशास्त्र और योगशास्त्र की आजकल पूरे विश्व में बड़ी चर्चा है, किन्तु इससे आने वाले खतरे की ओर से हमें अभी से सावधान हो जाना चाहिये। ब्रह्मचारी योगियों और तान्त्रिकों की पहुँच देश के बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों तक है (पहले यह राजाओं तक थी)। इसको उलट कर भी कह सकते हैं कि ये इनको बड़ी श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखते हैं और देखते थे। विदेशों में भारतीय योगशास्त्र का डंका बजाने वाले योगियों की भी कोई कमी नहीं है। यह बात सही है कि तन्त्रशास्त्र ने और उससे अनुप्राणित योगशास्त्र ने वर्ण, लिंग, जाति, सम्प्रदाय, देश आदि की सीमा को लाँघकर पूरी मानवता को इसका अधिकारी माना है, किन्तु ऐसा करते समय उसमें कुछ दोष भी आ गये हैं। प्राचीन भारत में गृहस्थ ऋषि को सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी, किन्तु बाद में स्थिति बदल गई। गृहस्थ ऋषि का स्थान भिक्षु, मुनि और संन्यासी ने ले लिया। ऋषि गृहस्थ रहते हुए भी सभी एषणाओं से मुक्त था, किन्तु भिक्षुओं, मुनियों और संन्यासियों के इर्दगिर्द मठों और मन्दिरों के रूप में सभी एषणाओं का एक रहस्यात्मक ताना-बना बुना जाने लगा और इसी पृष्ठभूमि में रहस्यात्मक शास्त्रों का भी आविर्भाव हो गया। उपनिषदों को रहस्यशास्त्र कहा जाता था, किन्तु औपनिषद रहस्य एक अलौकिक तत्त्व था। तान्त्रिक योगियों ने इस अलौकिक तत्त्व को तो सत्तर्क और स्वात्मप्रत्यभिज्ञा के द्वारा रहस्य के आवरण से मुक्त कर स्वात्मस्वरूप अथवा जीवन्मुक्त अवस्था के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया, किन्तु उसके स्थान पर उन्होंने लौकिक जीवन को ही रहस्यों में ढक दिया। मनुष्य की रागात्मक वृत्ति का प्रशमन तान्त्रिक अवधारणाओं का एक लक्ष्य माना जा सकता है, किन्तु विगत सहस्राधिक वर्षों में तन्त्रशास्त्र का रहस्यवाद महज अपनी कुंठाओं को छिपाने का एक बीभत्स प्रयास रहा है। तन्त्रशास्त्र के रहस्यवाद को औपनिषद अध्यात्मवाद से भी ऊँचा दर्जा दिलाने का प्रयास किया जाता रहा है और आज भी यह प्रयास रुका नहीं है।

इस अनोखे रहस्यवाद ने [1]ब्रह्मचारी शब्द का अर्थ ही बदल दिया। मारविजयी बुद्ध और कामदेव को भस्म कर देने वाले योगिराज शिव के द्वारा प्रवर्तित धर्मों में काम के इस अनोखे प्रवेश ने कृष्ण-भक्तिधारा में ही नहीं, राम-भक्तिधारा में भी रसिक संप्रदाय को जन्म दे दिया। मर्यादा पुरुषोत्तम राम के लोकमंगलकारी स्वरूप की रक्षा का श्रेय गोस्वामी तुलसीदास को दिया जाना चाहिये, अन्यथा राम का यह चरित्र भी

---

१. "ओष्ठ्यान्तत्रितयासेवी ब्रह्मचारी स उच्यते" (तन्त्रा. २९. २८)। ओष्ठ्यान्तत्रितयासेवी का तात्पर्य तीन मकारों के सेवन से है।

उसी तरह से पीछे ढकेल दिया जाता, जैसे भगवान् श्रीकृष्ण का महाभारत और भगवद्गीता में वर्णित स्वरूप हमारी आँखों से ओझल हो गया है। विश्व के उत्कृष्टतम ग्रन्थ महाभारत को घर में रखना अथवा पढ़ना आज महान् अमंगलकारी कार्य मान लिया गया है और गीता का अध्ययन गृहस्थ के लिये निषिद्ध है। इसके स्थान पर भागवत की, भागवत के दशम स्कन्ध की और रासलीला की उत्तरोत्तर प्रतिष्ठा बढ़ गई है, रासलीला के रहस्य को औपनिषद रहस्यवाद से भी ऊँचा स्थान दिया गया है। हम कहाँ पहुँच गये हैं।

स्वर्ग देखने के लोभ में नाक कटा लेना कोई बुद्धिमानी नहीं है। आज हमें एक जगह खड़े होकर देखना है कि आगे किस तरफ जाना है। किसी समय तान्त्रिक धर्म ने भारतीय संस्कृति के विस्तार के लिये स्तुत्य प्रयास किया था, किन्तु आज हम उसकी अच्छाइयों को भुला चुके हैं। समाज ऊँच-नीच, छोटे-बड़े के घेरे में बँटा हुआ है। सन्तों की वाणी का, जिनका प्रेरणास्रोत मुख्यत: [1]तान्त्रिक वाङ्मय ही रहा है, समाज पर केवल मौखिक प्रभाव है, अर्थात् उसका उपयोग केवल एक-दूसरे को उपदेश देने तक सीमित है। अपनी दैनिक दिनचर्या में उसको उतारने का प्रयास नहीं किया जाता। इसका भी एक मौलिक कारण है। उपनिषद्, भगवद्गीता या अन्य आध्यात्मिक ग्रन्थों के उत्कृष्ट उपदेशों का अधिकारी सामान्य मनुष्य को नहीं माना जाता। उनके लिये इन उत्कृष्ट आध्यात्मिक मूल्यों का अनुसरण कर पाना कठिन है, ऐसा मानकर नाना प्रकार के कर्मकाण्डों की सृष्टि कर दी गई है, जैसा कि विज्ञानभैरव के १० वें श्लोक में बताया गया है। ऐहलौकिक जीवन की अपेक्षा पारलौकिक जीवन पर ध्यान अधिक केन्द्रित कर दिया गया है। फलत: सामान्य मनुष्य निकृष्टतम जीवन बिताते हुए भी कुछ कर्मकाण्डों का नियमित आचरण कर धार्मिक बन बैठता है। इस स्थिति को दूर किया जाना चाहिये। विज्ञानभैरव जैसे ग्रन्थ इसमें सहायक हो सकते हैं।

शक्तिसंगमतन्त्र में समताष्टक-मार्ग का उल्लेख है। इसका परिचय हमने विज्ञानभैरव के ६४वें श्लोक में तथा प्रस्तुत ग्रन्थ (पृ. ५९-६०) में भी दिया है। सन्तों और भक्तों की परम्परा से और योगवासिष्ठ जैसे ग्रन्थों के माध्यम से यह समता-दृष्टि भारतीय जनमानस में सामान्य रूप से अपना स्थान बनाये हुए है। महात्मा गाँधी में इसी दृष्टि का उन्मेष हुआ था, किन्तु आज इस समता-दृष्टि के मूल स्रोत को हमने भुला दिया है। आज का प्रबुद्ध भारतीय इस साम्यवाद की खोज में उस कस्तूरी मृग की भाँति

---

१. डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी ने "तन्त्र और सन्त" नामक ग्रन्थ में इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है, किन्तु 'तन्त्र' शब्द का प्रयोग उन्होंने सीमित अर्थ में किया है। वस्तुत: प्राचीन शैव और वैष्णव आगम भी इसी श्रेणी में आते हैं और सन्तों की वाणी पर इस सबका प्रभाव है।

भटक रहा है, जिसको इसका ज्ञान ही नहीं है कि उस मनमोहक गन्ध का स्वामी तो वह स्वयं ही है। आज इस बात की आवश्यकता है कि जैसे तत्कालीन सभी धर्मों की उदात्त भावनाओं में समन्वय स्थापित कर पूरी मानव-जाति के कल्याण के लिये तान्त्रिक धर्म की प्रतिष्ठा की गई थी, उसी तरह से आज भी विश्व के सभी धर्मों की उदात्त भावनाओं में समरसता, समन्वय स्थापित कर एक विश्व-धर्म और विश्व-संस्कृति की प्रतिष्ठा की जाय।

देवो भूत्वा यजेद् देवान्

इस स्थिति तक पहुँचने के लिये बाह्य यजन की अपेक्षा आन्तर यजन को वरीयता देने की बात आगम-तन्त्रशास्त्र में कही गई है। वैदिक विधि-विधान में भी यह सिद्धान्त स्वीकृत है। सन्ध्यावन्दन आदि के अवसर पर भूतशुद्धि और प्राणप्रतिष्ठा की ही जाती है, ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों में भी दर्श-पूर्णमास आदि अनुष्ठानों के अवसर पर इस प्रक्रिया को स्वीकार किया गया है। "देवो भूत्वा देवानप्येति" इस वाक्य की बृहदारण्यक के चतुर्थ अध्याय के प्रथम आरण्यक में अनेक बार आवृत्ति हुई है। शतपथब्राह्मण के दर्शपूर्णमास प्रकरण के प्रारंभ में यजमान कहता है— "इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि" (१.१.१.४)। अनुष्ठान के अन्त में वह पुनः कहता है— "य एवास्मि सोऽस्मि" (१.९.३.२३)। यहीं बताया गया है— "अनृतं वै मनुष्याः सत्यं देवाः" (१.१.१.४)। इन तीनों वाक्यों का अभिप्राय यह है कि यजमान मनुष्यभाव को छोड़कर और देवभाव को स्वीकार कर यज्ञ-यागादिक धार्मिक अनुष्ठानों में प्रवृत्त होता है तथा अनुष्ठान के समाप्त हो जाने पर वह पुनः मनुष्यभाव में आ जाता है। यहाँ मनुष्य को अनृत तथा देवता को सत्य कहा गया है। इसी विषय को स्पष्ट करते हुए वहाँ कहा गया है— "स वै सत्यमेव वदेत" (१.१.१.५)। स्पष्ट है कि यहाँ देवभाव की प्राप्ति के लिये सत्य-भाषण को अनिवार्य माना गया है। इस पूरे प्रकरण का अभिप्राय इतना ही है कि आराधक स्वयं अपने इष्टदेव के स्वरूप के अनुरूप बन कर उसकी आराधना करे। आराधक आराध्य-स्वरूप कैसे बन सकता है? इसके लिये शास्त्रों में [१]भूतशुद्धि और प्राणप्रतिष्ठा का विधान है।

भूतशुद्धि

विभिन्न शास्त्रों में वर्णित भूतशुद्धि की प्रक्रिया को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है– कुंभक प्राणायाम की सहायता से मूलाधार में स्थित कमलनाल में विद्यमान सूक्ष्म तन्तुओं की जैसी अत्यन्त सूक्ष्म आकार की परदेवता कुण्डलिनी शक्ति

१. बौद्ध तन्त्रों में वर्णित उत्पत्ति-क्रम और निष्पन्न-क्रम से इनकी तुलना कर सकते हैं।

को जगा कर, वह ब्रह्मरन्ध्र स्थान तक व्याप्त हो गई है, ऐसा ध्यानकर, हृदय में स्थित दीपक की लौ के समान तेजोमय जीव को सुषुम्ना-मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र तक ले जाकर "ॐ हं सः, सोऽहम्" इस हंस मन्त्र से जीव को ब्रह्म के साथ संयोजित कर दे। यह भूतशुद्धि का संक्षिप्ततम स्वरूप है। भूतशुद्धि का लक्षण इस प्रकार बताया गया है— "अव्यक्त ब्रह्म के सम्पर्क से शरीर के आधारभूत पाँच महाभूतों का शोधन ही **भूतशुद्धि** कहलाती है"। भूतशुद्धि के बिना किया गया जप आदि का विधान निष्फल हो जाता है, अतः पूजा आदि के प्रारंभ में भूतशुद्धि का अनुष्ठान आवश्यक है। शरीर के आधारभूत पाँच महाभूतों की शुद्धि के लिये क्या करना चाहिये, ऐसी जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। विनियोग के साथ उसीका क्रम बताया जा रहा है।

विनियोग में ऋषि, देवता और छन्द का उल्लेख आवश्यक माना गया है। तदनुसार शरीर का ऋषि आत्मा, छन्द प्रकृति और देवता परमात्मा हैं। शरीर-स्थित भूतों की शुद्धि के लिये पाँच भूतों के बीज-मन्त्रों का विनियोग किया जाता है। जैसे पृथिवी के बीज-मन्त्र का ब्रह्मा ऋषि, गायत्री छन्द और पृथिवी देवता है। पृथिवी नामक भूत की शुद्धि में इसका विनियोग किया जाता है। पैर से लेकर जानु पर्यन्त पृथ्वी तत्त्व की स्थिति है। इसका [1]मण्डल चतुरस्र, पीत वर्ण और बिन्दु सहित **लँ** पृथिवी का बीज-मन्त्र है। यह वज्र से लांछित है। इस बीज-मन्त्र की भावना करने से सबसे पहले पृथ्वीतत्त्व का शोधन होता है।

वरुण (जल) के बीज-मन्त्र के हिरण्यगर्भ ऋषि, अनुष्टुप् छन्द और वरुण देवता हैं। जलतत्त्व के शोधन के लिये इसका उपयोग होता है। जानु से लेकर नाभि पर्यन्त इसकी स्थिति मानी गई है। इसका मण्डल धनुष के आकार का माना गया है। यह बिन्दु से लांछित है। इसका वर्ण शुभ्र है। बिन्दुसहित **वँ** इसका बीज-मन्त्र है। इस बीज-मन्त्र की भावना करने से जलतत्त्व का शोधन है।

वह्नि के बीज मन्त्र के कश्यप ऋषि, जगती छन्द और जातवेदा अग्नि देवता हैं। वह्नितत्त्व के शोधन में इसका विनियोग होता है। नाभि से लेकर हृदय पर्यन्त इसकी व्याप्ति रहती है। अग्नि का मण्डल त्रिकोणाकार है। यह पद्म से लांछित है। इसका वर्ण लाल है। बिन्दु सहित **रँ** इसका बीज-मन्त्र है। इस बीज-मन्त्र की भावना करने से वह्नि नामक तृतीय भूत की शुद्धि होती है।

वायु के बीज-मन्त्र के किष्किन्ध ऋषि, बृहती छन्द और देवता वायु हैं। चतुर्थ वायु नामक भूत की शुद्धि के लिये इसका विनियोग होता है। हृदय से भ्रूमध्य पर्यन्त

१. अन्य तन्त्रों में भी पृथिवी आदि भूतों के मण्डलों के आकार, वर्ण, बीज आदि का वर्णन इसी पद्धति से किया गया है।

इसकी व्याप्ति मानी गई है। वायु का मण्डल वर्तुल है। यह स्वस्तिक से अंकित है। यह धूम्र (कृष्ण) वर्ण का है। बिन्दुसहित **यँ** इसका बीज-मन्त्र है। इस बीज-मन्त्र का ध्यान कर वायु नामक चतुर्थ भूत की शुद्धि की जाती है।

आकाश के बीज-मन्त्र के रुद्र ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और देवता परमात्मा हैं। पंचम आकाश नामक भूत की शुद्धि के लिये इसका विनियोग होता है। भ्रूमध्य से ललाट पर्यन्त इसकी व्याप्ति है। आकाश के मण्डल का कोई आकार नहीं है और न कोई वर्ण ही है। बिन्दुसहित **हँ** इसका बीज-मन्त्र है। इस बीज का ध्यान कर पंचम भूत आकाश की शुद्धि की जाती है।

इस तरह से इन पाँच भूतों की विशुद्धि कर उनको अपने अपने कारणों में विलीन कर दे। उसकी प्रक्रिया इस प्रकार बताई गई है— पृथ्वी को जल में, जल को वह्नि में, वह्नि को वायु में, वायु को आकाश में, आकाश को अहंकार में, अहंकार को महान् (बुद्धि) में, महान् को प्रकृति में, प्रकृति को माया में और माया को आत्मा में विलीन कर दे। अन्त में आत्मा को भी परब्रह्म में विलीन कर दे। ऐसा करने के बाद "मैं ही देवस्वरूप हूँ, मैं ही ब्रह्म हूँ, मुझमें शोक आदि की कोई स्थिति नहीं है। मैं सत्, चित्, आनन्द स्वरूप निर्विकल्प स्वभाव का हूँ" इस तरह से अपने को परब्रह्म-स्वरूप मानकर अपने शरीर में पापपुरुष का ध्यान करे। उसका प्रकार यह है— शुद्ध सत्-चित्-स्वरूप बनकर अपनी वाम कुक्षि में विद्यमान, कृष्णवर्ण, अंगुष्ठ-परिमाण, विप्रहत्या ही जिसका सिर है, सुवर्ण की चोरी ही जिसके हाथ हैं, मदिरापान ही जिसका हृदय है, गुरुपत्नीगमन ही जिसका कटिभाग है, सर्वविध पातकियों का [1]संसर्ग ही जिसके चरण हैं, इन पंचविध महापातकों और उपपातकों से जिसके अंग-प्रत्यंग और रोमकूपों का निर्माण हुआ है, ऐसे लाल दाढी-मूंछ और नेत्र वाले, खड्ग-ढाल धारी, क्रुद्ध, काजल के समान काले वर्ण के पापपुरुष का ध्यान करे।

इस तरह से पापपुरुष का ध्यान कर हाथ में जल लेकर यह संकल्प करे— **यँ** इस वायु-बीज के किष्किन्ध ऋषि, जगती छन्द और वायु देवता हैं, **रं** इस अग्नि-बीज के कश्यप ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और वरुण देवता हैं, **वँ** इस वरुण-बीज के हिरण्यगर्भ ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और वरुण देवता हैं। इन तीन बीजों का मैं पापपुरुष के शोषण, दाहन और प्लावन के लिये विनियोग करता हूँ" इस तरह का संकल्प करने के बाद

---

१. "ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः। महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह।।" (११. ५४) मनुस्मृति के इस वचन में स्मृत पाँच महापातकों में चतुर्विध पातकियों से संसर्ग करने वाले का भी परिगणन किया गया है। प्रस्तुत स्थल में यहाँ उन्हींकी चर्चा है।

यँ इस वायु-बीज का पूरक प्राणायाम के साथ सोलह बार जप करते हुए उस बीज से उत्पन्न वायु से पापपुरुष को सूखता हुआ देखे। बाद में रँ इस वह्नि-बीज का कुंभक प्राणायाम के साथ चौसठ बार उच्चारण करते हुए उस बीज से उत्पन्न अग्नि से उसे भस्म होता हुआ देखे। तब वँ इस वरुण बीज का रेचक प्राणायाम के साथ बत्तीस बार उच्चारण करते हुए उस पापपुरुष की भस्म को बहते हुए देखे। भूतशुद्धि की यह मुख्य विधि है।

पक्षान्तर में— "वह्निमण्डल के मध्य में विराजमान त्रिकोण-स्थित रँ[१] इस बीजाक्षर का ग्यारह बार जप कर पापपुरुष के भस्म हो जाने की भावना करे" इस प्रकार तीनों बीजों का ग्यारह-ग्यारह बार जप कर शोष, दाह और आप्लावन की विधि को सम्पन्न करे। शोष, दाह और आप्लावन की इस प्रक्रिया का प्राणायाम के प्रसंग में [२]प्रपंचसार आदि ग्रन्थों में भी विवरण मिलता है। महार्थमंजरी में इसका स्वरूप इस प्रकार प्रदर्शित है—

> शोषो मलस्य नाशो दाह एतस्य वासनोच्छेदः।
> आप्लावनं तनूनां ज्ञानसुधासेकनिर्मिता शुद्धिः।।

अपनी इस गाथा को स्वयं महेश्वरानन्द ने ही स्वोपज्ञ परिमल नामक व्याख्या में इस प्रकार स्पष्ट किया है— "अर्चक को पूजा का प्रारंभ करते समय ही अपने में एक अलौकिक शक्ति को जगाना पड़ता है। इसका पर्यवसान शरीर में विद्यमान मल के प्रशमन से ही संभव है। इनमें उसके शरीर में विद्यमान मल के शोष का अर्थ है संसार रूपी अंकुर के जनक अज्ञान को सुखा देना, दाह का अर्थ है इस मल की संस्कार रूप में स्थित वासनाओं को भी सुखा देना। इसी तरह से आप्लावन का अर्थ है अज्ञान की निवृत्ति के साथ उत्पन्न स्वरूप-लाभ रूपी क्षण में आनन्द की अनुभूति के कारण उत्पन्न हुए अमृतस्राव रूपी ज्ञान से अपने स्वरूप के बोध के साथ उस अमृतधारा से सारे शरीर का पवित्र हो जाना" (पृ. १११)। इस तरह से शोष, दाह और आप्लाव की विधि से साधक का शरीर तेजोमय, पापरहित, सकल पुरुषार्थ का साधक, मलिनता से रहित होकर देवता की आराधना के योग्य बन जाता है, वह दिव्य देह से सम्पन्न हो जाता है। यही वह विधि है, जिससे साधक "देवो भूत्वा यजेद् देवान्" इस शास्त्रवचन की

---

१. सगर्भ प्राणायाम के अनेक प्रकार तन्त्रागमशास्त्र के योगपाद में, योगशास्त्र के ग्रन्थों में और पुराणों में भी मिलते हैं।

२. "अथवा शोषणदाहनप्लावनभेदेन शोषिते देहे। पञ्चाशद्भिर्मात्राभेदैर्विधिवत् समायमेत् प्राणान्।।" (१९.२५) द्रष्टव्य।

योग्यता प्राप्त कर लेता है। इसके उपरान्त प्राप्त हुए इस दिव्य देह में प्राण की प्रतिष्ठा उसी प्रकार आवश्यक मानी जाती है, जैसे मूर्ति में प्राणप्रतिष्ठा की जाती है।

प्राणप्रतिष्ठा

[1]इसकी विधि शास्त्रों में इस प्रकार वर्णित है— आचमन और प्राणायाम के उपरान्त हाथ में जल लेकर संकल्प करना चाहिये। इस प्राणप्रतिष्ठा मन्त्र के ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर ऋषि हैं, ऋक्, यजु और साम छन्द हैं तथा जगत् की सृष्टि करने वाली प्राणशक्ति देवता है। आँ बीज मन्त्र, ह्रीं शक्ति, क्रौं कीलक है। "मैं अपने प्राण की प्रतिष्ठा में इसका विनियोग करता हूँ" इस तरह के विनियोग के उपरान्त न्यासविधि सम्पन्न करे।

इस मन्त्र के ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर नामक ऋषियों को प्रणाम कर उनको अपने सिर पर स्थापित करे। ऋक्, यजुः और साम नामक छन्दों को नमस्कार कर उनका अपने मुख में न्यास करे। जगत् की सृष्टि करने वाली प्राणशक्ति रूप देवता का हृदय में, आँ बीज का गुह्य-स्थान पर, क्लीं शक्ति का पैरों में और क्रौं कीलक का आदरपूर्वक अपने पूरे शरीर में न्यास किया जाता है। यह अंगन्यास की विधि है। करन्यास का प्रकार यह है— अँ कं खं गं घं ङं आं का उच्चारण कर पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश का दोनों अंगुष्ठों में न्यास किया जाता है। इसी तरह इं चं छं जं झं ञं ईं का उच्चारण कर शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का तर्जनी में, उं टं ठं डं ढं णं ऊं का उच्चारण कर त्वक्, चक्षु, श्रोत्र, जिह्वा और घ्राण का मध्यमा में, एं तं थं दं धं नं ऐं का उच्चारण कर वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ का अनामिका में, ओं पं फं बं भं मं औं का उच्चारण कर वचन, आदान, गति, विसर्ग और आनन्द का कनिष्ठिका में, अं यं रं लं वं शं षं सं अः का उच्चारण कर मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त और विज्ञान का करतल और करपृष्ठ में न्यास करना चाहिये। करन्यास की पद्धति से हृदय आदि छः अंगों में भी न्यास-विधि सम्पन्न की जाती है। इसके बाद आं नमः कह कर नाभि से पाद पर्यन्त, ह्रीं नमः कहकर हृदय से नाभि पर्यन्त, क्रौं नमः कहकर भ्रूमध्य से हृदय पर्यन्त, विन्यास का हृदय-स्थान में सात धातुओं का न्यास करे। उसका क्रम यह है— यं त्वगात्ममे नमः, रं रक्तात्मने नमः, लं मांसात्मने नमः, वं मेदसात्मने नमः, सं अस्थ्यात्मने नमः, षं मज्जात्मने नमः, शं शुक्रात्मने नमः। इस तरह से हृदय-स्थान में त्वक् आदि सात धातुओं का न्यास कर लेने के उपरान्त ह्रीं के उच्चारण के साथ ओज

१. प्राणप्रतिष्ठा का यह विधान नि. षो. की व्याख्या अर्थरत्नावली (पृ. १५५) में प्रसंगवश बताया गया है। प्रपंचसार के पचीसवें पटल में भी यह विधि देखी जा सकती है।

का, हूँ के उच्चारण के साथ प्राण का और क्षं के उच्चारण के साथ जीव का भी हृदय में ही न्यास करे। इसके उपरान्त अं नमः, आं नमः, इं नमः— इस पद्धति से क्षकार पर्यन्त पूरी मातृका से व्यापक न्यास करे।

इसके बाद अपने हृदय में पीठशक्ति का न्यास एवं ध्यान कर, मानस उपचारों से पूजा कर, हृदय-स्थान पर ज्ञानमुद्रा बना कर प्राण की स्थापना करे। इसकी विधि यह है— "आं ह्रीं क्रौं यं रं लं वं शं षं सं हं सः सोऽहं प्राणा इह प्राणाः" इनका उच्चारण कर पुनः "आं ह्रीं क्रौं यं रं लं वं शं षं सं हं सः सोऽहं जीव इह स्थितः" इनका उच्चारण करे। पुनः "आं ह्रीं क्रौं यं रं लं वं शं षं सं हं सः सोऽहम्" इनका उच्चारण कर प्राण और जीव के समान ही सभी इन्द्रियाँ— वाणी, मन, त्वक्, चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, पाद, पाणि, पायु, उपस्थ— भी यहीं आकर सुखपूर्वक चिरकाल तक स्थित रहे, उनको मैं प्रणाम करता हूँ, इस तरह से कहता हुआ "ह्रीं क्षं सं हं सः ह्रीं ह्रीं" इस प्राणप्रतिष्ठा मन्त्र को तीन बार पढ़े। गर्भाधान आदि संस्कारों के लिये सोलह बार प्रणव का जप करे। तब ऐसी भावना करे कि मेरे इस देवमय शरीर के सोलह संस्कार सम्पन्न हो चुके हैं, अब मेरा यह देह सभी शुभ कर्मों को करने के योग्य हो गया है, इस तरह अपने ज्योतिर्मय शरीर की भावना करे। इसके बाद प्राणायाम करे। पहले अकार आदि सोलह स्वरों का उच्चारण करते हुए वाम नासिका से वायु का पूरण करे, तब ककार से मकार पर्यन्त पचीस वर्णों का उच्चारण करते हुए पूरित वायु को भीतर कुंभक विधि से रोक कर रखे। इसी तरह से यकार से लेकर क्षकार पर्यन्त वर्णों का उच्चारण करते हुए रोकी गई वायु को रेचक विधि से बाहर निकाल दे। यह प्राणायाम तीन बार किया जाता है। इस प्राणायाम का माहात्म्य शास्त्रों में इस प्रकार वर्णित है—

जैसे पर्वत आदि से निकलने वाली धातुओं के दोषों को अग्नि जला डालती है, उसी तरह से प्राणायाम की प्रक्रिया से शरीर में स्थित सारे दोष नष्ट हो जाते हैं[१]।

इस तरह से भूतशुद्धि और प्राणप्रतिष्ठा की विधि को सम्पन्न कर साधक प्रथमतः स्वयं इष्टदेवता स्वरूप होकर तब इष्टदेव की समाराधना करता है।

तान्त्रिकी वरिवस्या

बाह्य और आन्तर यजन की इस ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर चर्चा हुई है। वरिवस्या, पूजा, उपासना आदि इसी के पर्याय हैं। बाह्य पुष्प, धूप इत्यादि से अपने इष्टदेव की

१. मनुस्मृति का यह श्लोक देखिये— "दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः। तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्।।" (६.७१)।

आराधना बाह्य वरिवस्या और भावना-प्रवण चित्त से उसकी समाराधना आन्तर वरिवस्या कहलाती है। कुल-क्रम आदि सम्प्रदायों में स्वात्मदेवता की आराधना भी अपने-अपने शास्त्र की पद्धति से की जाती है। यह पूजा का तीसरा प्रकार है। इस तीनों प्रकार की पूजा का वर्णन परा, परापरा और अपरा के नाम से योगिनीहृदय (३. २-४) में मिलता है। इनमें बाह्य पूजा अपरा, आन्तर पूजा परा और स्वात्मदेवता की आराधना परापरा के नाम से जानी जाती है।

इनमें परा पूजा को श्रेष्ठ माना गया है। शक्तिसंगमतन्त्र (४.११.७४-७५, ७९) में बताया गया है कि मलिन सुवर्णघट की शुद्धि बाहर से चमकने मात्र से जैसे नहीं होती, उसी तरह मलिन वासनाओं से भरे चित्त से इष्टदेव की पूजा करने से भी कोई फल नहीं मिलता, अत: आन्तर शुद्धि के बाद ही बाह्य पूजा करनी चाहिये। इसीलिये योगिनीहृदय की दीपिका टीका के लेखक अमृतानन्द के अनुसार साधक बाह्य पूजा में जो कुछ करता है, उसकी भावना अपने मन में भी करनी चाहिये। वे एक वचन को उद्धृत करते हैं कि बाह्य पुष्प आदि द्रव्यों से जो रात-दिन पूजा की जाती है, वह वास्तविक पूजा नहीं है। अपने अद्वय स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना ही वास्तविक उपासना है (३.२)। शास्त्रों में बताया गया है कि बाह्य पूजा तो बालिका के गुड़िया के खेल जैसी है। इससे मन को कोई शान्ति नहीं मिल सकती। तत्त्वज्ञान से रहित व्यक्ति का पूजा, होम, व्रत, शास्त्रश्रवण, तप, ध्यान, जप, शुचिता आदि का अनुष्ठान निरर्थक माना जाता है। इस तरह से आन्तर वरिवस्या के बिना की गई बाह्य पूजा निरर्थक मानी गई है।

इसी दृष्टि को लेकर शिवानन्द कहते हैं कि वेद्य-स्वरूप सारे विश्व को चिद्भूमि में विलीन कर देना ही वास्तविक पूजा है। भट्ट गंगाधर के स्तोत्र को उद्धृत कर धूप, गन्ध, दीप और नैवेद्य के आन्तर स्वरूप को भी वे बताते हैं। महानयपद्धति में भी कहा गया है कि सभी प्रकार के आवरणों से उन्मुक्त स्व-स्वरूप का दृढ़ता के साथ साक्षात्कार करना ही पूजन है। प्रशस्तिभूतिपाद का भी कहना है कि यहाँ जिन-जिन सौन्दर्य और लावण्य से भरे दृश्यों को देखकर मन आनन्द से भर उठता है, उनका अनुभव करते समय अपनी स्थिति की, अर्थात् भगवदनुभव की भावना करना ही सज्जनों की पूजा है, क्योंकि "इस जगत् में जो भी कल्याणमय संवित्ति है, आनन्द से उच्छलित जो भी सुन्दर भाव है, इस जगत् में जो भी अद्भुत स्वरूप हैं, वे सब भगवती के ही आकार हैं" इस वचन के अनुसार सब कुछ देवी-स्वरूप ही तो है। इसीलिये आगमशास्त्र में कहा गया है कि योग और क्रिया दो भिन्न वस्तुएँ नहीं है। साधक की मति जब स्व-स्वरूप में आरूढ़ हो जाती है, तो उस समय चित्त की सारी वासनाएँ

शान्त हो जाती हैं। इसीको क्रिया कहा जाता है। यहाँ क्रिया-पद पूजन के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है और इससे परा पूजा ही निर्दिष्ट होती है, क्योंकि तभी योग से क्रिया की समरसता हो सकेगी। इस प्रकार परा पूजा की श्रेष्ठता इन सभी प्रमाणों से स्पष्ट हो जाती है। तब यह उचित ही है कि अपरा और परापरा पूजा की योग्यता अर्जित करने के लिये परा पूजा का प्रथमतः अभ्यास करे।

योगिनीहृदय (३.३) में श्रीचक्र की गन्ध, पुष्प आदि से जो पूजा की जाती है, उसे अपरा पूजा कहा गया है। इसीको बाह्य वरिवस्या कहा जाता है। यह पंचमहाभूतों के प्रतिनिधि गन्ध, पुष्प आदि पंचोपचारों से सम्पन्न होती है। शिवानन्द (पृ. १३४) ने प्रपंचसार के प्रमाण से इसका लक्षण बताया है। उपचारों के भेद से यह पूजा अनेक प्रकार की होती है।

इसी तरह से ज्ञानमय, अर्थात् पूर्वोक्त अद्वैतभावनामय स्वरूप में बाह्य अलग-अलग आवरण-स्थानों में विराजमान देवताओं का विलीनीकरण ही परापरा पूजा है। सुभगोदयवासना (श्लो. ३७) में इस विषय में कहा गया है कि साधक योगी वह्नि में घृत की आहुति के समान प्रकाशमय निज स्वरूप में सारे सांसारिक विकल्पजाल की आहुति परापरा पूजा के माध्यम से दे देता है।

यहाँ हमें परा और परापरा पूजा के भेद को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये। अशुद्ध विकल्पों के परिशोधन के लिये परापरा पूजा की जाती है और परा पूजा में तो सब कुछ शुद्ध संवित्स्वरूप ही है। आगे इस विषय पर विस्तार से विचार होगा। इस स्थिति में परापरा पूजा में जो पदार्थ जिस रूप में प्राप्त होता है, उसको उसी रूप में हृदयंगम कर, अर्थात् उसमें विद्यमान विकल्पों को हटाकर परमेश्वर की पूजा में उनका विनियोग करना चाहिये। इसको हम शाक्तोपाय से समरस कर सकते हैं। इसी विषय को पुनः स्पष्ट करते हुए ज्ञानेन्दुकौमुदी में बताया गया है कि चिच्छक्ति से सम्पन्न अपने स्वात्म-स्वरूप को छोड़कर साधक योगी किसी जड़ की पूजा क्यों करेगा? मुख्याम्नाय-रहस्यविधि का कहना है कि इन्द्रियों की सहायता से संग्राह्य गन्ध आदि से आत्मदेवता की सहज रूप में आराधना करनी चाहिये। ज्ञानी पुरुष के लिये यही श्रेष्ठ पूजा है। त्रिकसार के अनुसार आनन्द का प्रसार ही पूजा है और यह शिव एवं शक्ति की समापत्ति से प्राप्त होता है। पूजनस्तोत्र में इसके साथ स्वादु रस का भी समावेश किया है।

महेश्वरानन्द "चारराव" (श्लो. ७३) इत्यादि चिद्गगनचन्द्रिका के वचन के प्रमाण से चार, राव, चरु और मुद्रा नामक चतुर्विध पूजा का निरूपण करते हैं। वहाँ (पृ. १०६) चार का समयाचार, राव का विमर्श, चरु का प्रथम-द्वितीय आदि द्रव्य अर्थ किया है।

स्वात्मा में परमेश्वरता की अभिव्यक्ति के लिये अपने शरीर के कर, चरण आदि अंगों को विशेष स्थिति में रखना अथवा विचित्र वेष धारण करना मुद्रा पद का अर्थ है। महती मुद्रा का राव, अर्थात् विमर्श में ही समावेश माना जाता है। बौद्ध तन्त्रों में महामुद्रा पद इसके लिये प्रयुक्त है। यहाँ इन चारों प्रकार की पूजा में राव (विमर्श) की प्रधानता मानी गई है। इस शुद्ध विमर्श की प्राप्ति के लिये ही अन्य पूजाविधियों का विधान है। अत: स्व-स्वरूप का परामर्श ही श्रेष्ठ पूजा है। बाकी सब गन्ध, पुष्प, धूप, दीप आदि आडम्बरमात्र हैं। यहाँ विमर्शात्मक राव का परा पूजा में, चार और मुद्रा का अपरा में और चरु का परापरा पूजा में समावेश किया जा सकता है। इस तरह से अन्तत: पूजा के तीन ही प्रकार सर्वत्र मान्य हैं।

त्रिकदर्शन में आणव, शाक्त और शाम्भव नामक तीन उपाय वर्णित हैं। चतुर्थ अनुपाय प्रक्रिया का भी स्वात्म-प्रत्यभिज्ञा में उपयोग माना गया है। उनका भी इन्हींमें अन्तर्भाव किया जा सकता है। जैसे कि— आणवोपाय में से कुछ का अपरा में तथा अन्यों का परापरा में, शाक्तोपाय का परापरा में तथा शाम्भवोपाय और अनुपाय प्रक्रिया का परा पूजा में समावेश किया जा सकता है। आणवोपाय में से कुछ में प्राण एवं चक्र जैसे आन्तर साधनों का उपयोग होता है। इसी तरह से शाक्तोपाय एवं शाम्भवोपाय में स्वात्मदेवता की प्रीति के लिये ललना, मद्य, मांस (पवर्गान्त्यत्रय) स्वीकृत हैं। इनका परापरा पूजा में ही समावेश माना जायगा, परा में नहीं। शाम्भवोपाय की चरम अवस्था और अनुपाय प्रक्रिया में प्रविष्ट प्रबुद्ध साधक प्रातिभ ज्ञान के सिवाय किसी बाह्य या आन्तर साधन की अपेक्षा नहीं रखता। यह ठीक ही माना जायगा कि इस प्रकार की पूजा का परा पूजा में ही समावेश किया जाय। उपाय-चतुष्टय का परिचय अन्यत्र (पृ. ४७८-४८४) दिया जा चुका है। यहाँ अब ऊपर चर्चित त्रिविध पूजा का विस्तार से वर्णन किया जा रहा है।

अपरा पूजा

स्थानप्रकल्पन नामक आणव उपाय का परिचय देते समय तन्त्रालोक (६.२-४) में बताया गया है कि स्थानभेद त्रिविध है— प्राण, देह और बाह्य प्रदेश। इनमें प्राण पंचविध हैं। बाह्य और आन्तर के भेद से देह द्विविध है। बाह्य प्रदेश के ११ भेद हैं। इनके नाम ये हैं— मण्डल, स्थण्डिल, पात्र, अक्षसूत्र, पुस्तक, लिंग, तूर, पट, पुस्त, प्रतिमा और मूर्ति। जयरथ ने **पुस्त** का अर्थ लेप आदि से निर्मित आकृति तथा **मूर्ति** शब्द का अर्थ गुरु आदि की आकृति किया है। इन ग्यारह बाह्य स्थानों में अपने इष्टदेवता की स्थापना कर बाह्य पुष्प आदि से की गई आराधना अपरा पूजा कही जाती है।

सिद्धयोगीश्वरीमत में स्थण्डिल, तूर और पट का उत्तरोत्तर वैशिष्ट्य माना गया है। जयरथ ने **स्थण्डिल** का अर्थ याग के लिये गृहीत भूप्रदेश और **तूर** का अर्थ पात्र आदि में उत्कीर्ण आधारविशेष किया है। तूर का लक्षण सिद्धातन्त्र के आधार पर लुप्ता. (भा. २, पृ. १९९-२००) में संगृहीत है। तन्त्रा. (३७.२१) में मण्डल पद का निर्वचन बताया गया है। बौद्ध तन्त्रों में भी यह निर्वचन स्वीकृत है। हंसपारमेश्वर के अनुसार स्थण्डिल में अधिवासन की आवश्यकता नहीं मानी गई है और सिद्धान्तशास्त्र का कहना है कि अन्तर्लिंग की उपासना के उपरान्त ही बहिर्लिंग का पूजन करना चाहिये।

लुप्तागमसंग्रह के दोनों भागों में संगृहीत वचनों में बाह्य पूजा से संबद्ध अनेक विधि-विधान वर्णित हैं। मण्डल आदि की पूजा के अवसर पर दस दिक्पालों में से आठ का पूजन तो आठ दिशाओं में कर लिया जाता है, किन्तु बाकी बचे दो दिक्पालों का पूजन कहाँ किया जायगा? इसका समाधान अमृतानन्द की तत्त्वविमर्शिनी नाम के पद्धति-ग्रन्थ में किया गया है कि इन्द्र (पूर्व) और ईशान दिशा के बीच में गगनाधिप की और नैर्ऋत्य कोण एवं पश्चिम दिशा के बीच में पातालाधिप की पूजा करनी चाहिये। त्रिशिरोमत में नन्दी, रुद्र, गंगा और यमुना के पूजन का स्थान निर्दिष्ट है। इसी तरह से द्वार-देवताओं के पूजन का क्रम स्वच्छन्दोद्योत (२.२४-२५) में त्रिशिरोमत एवं वाम और सिद्धान्त मत के प्रमाण से निर्दिष्ट है। पराख्यसंहिता में पंचगव्य का विधान तथा स्वच्छन्दतन्त्र (३. ५४-५५) और सात्वतसंहिता (७.१०, १६.१३) में पंचगव्य का संस्कार देखने योग्य है।

सिद्धान्तशैव मत की पद्धति से स्नान, आसन, सन्ध्या, तर्पण, न्यास, मुद्रा, देहशुद्धि, भूपरिग्रह, अधिवास, मण्डप-निर्माण, अर्घ्यपात्र, मन्त्रजप, पूजा, अग्निकार्य आदि का स्वरूप किरण, निःश्वासोत्तर, पौष्कर, मतंग, मयसंग्रह, रौरव, स्वायंभुव आदि आगमों के प्रमाण से बताया गया है। शैव आदि आगमों के क्रिया और चर्या पादों में बाह्यार्चन का विस्तार देखा जा सकता है। पाशुपत मत के ग्रन्थ पंचार्थप्रमाण में अघोर मन्त्र की व्याख्या करते समय नमस्कार का लक्षण बताया गया है। वेदव्रत, महायज्ञ, ४८ संस्कार इन सबका लक्षण भी वहाँ देखा जा सकता है। ये सारे विषय परशुरामकल्पसूत्र के द्वितीय संस्करण के परिशिष्ट (पृ. ३८६-३९५, ४२८-५४१) में अतिविस्तार से प्रदर्शित हैं।

परा पूजा

क्रमवासना के वचनों में शोषण, करशुद्धि और उन्मज्जन का स्वरूप लक्षित है। सुभगोदयवासना के नाम से यह ग्रन्थ अब प्रकाशित हो चुका है। इस पूरे ग्रन्थ में और चिद्विलासस्तव में बाह्य और आभ्यन्तर पुष्प, प्राण आदि से निरपेक्ष इस भावना-प्रधान

आन्तर वरिवस्या का स्वरूप, जिसकी सहायता से साधक अपने महिमामय अद्वय धाम में प्रतिष्ठित हो जाता है, वर्णित है। विद्यानन्द की ज्ञानदीपविमर्शिनी में, जो अब प्रकाशित हो चुकी है, सन्ध्या, सूर्योपासना आदि के प्रकरणों में सभी बाह्य उपचारों का आन्तर स्वरूप भी प्रदर्शित है। इस ग्रन्थ में उद्धृत उदयाकरपद्धति में भी यह विषय देखा जा सकता है। विज्ञानभैरव के आरम्भ और अन्तिम भाग के श्लोकों में तथा विभिन्न धारणाओं के निदर्शक श्लोकों में अनुपाय प्रक्रिया के सहारे परा पूजा का ही प्रधानतः प्रतिपादन मिलता है। गीतानिष्यन्द, भट्टनायकस्तोत्र, पूर्वतन्त्र आदि के वचनों में भक्ति, जप, यजन, लिंग जैसे पदों का भी परा पूजा में ही विनियोग बताया गया है। योगिनीहृदय में वर्णित परा पूजा का स्वरूप आगे (पृ. ८४४) बताया जायगा।

परापरा (वाम) पूजा

तन्त्रालोक के १५वें आह्निक में ब्रह्मयामल, आनन्दशासन (आनन्देश्वर), योगसंचार, निर्मर्यादशास्त्र, त्रिशिरोमत, निशाटन (निशिसंचार) वीरावलीहृदय, मतभट्टारक, नन्दिशिखा, भर्गशिखा, गमशासन, संकर्षिणीयामल, नवनित्याविधान, भूतक्षोभ, पंचामृत, देवीयामल, माधवकुल, ऊर्मिकुल जैसे ग्रन्थों के आधार पर वामाचार-प्रधान पूजाविधि का स्वरूप बताया गया है। वे कहते हैं— सामान्य लोकव्यवहार के विपरीत यहाँ वाम हस्त से पूजा की जाती है और तर्पण भी वाम हस्त की अनामा से किया जाता है। मतंगपारमेश्वर में वाम शब्द का अर्थ गुह्य किया गया है, अतः वामाचार का अनुसरण करने वाला साधक भर्गशिखा आदि शास्त्रों में वर्णित पद्धति से यजन करे। सभी तीर्थों की यात्रा से, सभी प्रकार के यज्ञों के अनुष्ठान से जो पुण्य मिलता है, उससे कोटिगुणित फल अनामातर्पण से मिलता है (१५.२७८-२८१)। यहाँ वाम शब्द के निर्वचन के साथ अनामातर्पण के वैशिष्टय को बताया गया है। "अनामाङ्गुष्ठयोगेन तर्पयेच्चक्रदेवताः" (३. १९०) यह योगिनीहृदय का कथन है।

तन्त्रा. के टीकाकार जयरथ वाम पद के निर्वचन के साथ संकर्षिणीयामल, नवनित्याविधान, द्वादशसाहस्र आनन्देश्वर, भूतक्षोभ और पंचामृतशास्त्र के प्रमाण से अनामातर्पण का स्वरूप बताते हैं। इस पूरे आह्निक में स्थानाष्टक, वीरविग्रहाष्टक, यागस्थान, यागद्रव्य, यागक्रम, न्यास और मुद्रा की विधि, डामर याग, कुण्डसंस्कार, योजनिका, शिवहस्त, आचार्य-पुत्रक-देशिक दीक्षा, ४८ संस्कार, अष्टाष्टक समय जैसे विषय विवेचित हैं। इन सभी का उपयोग प्रथमतः अपरा में और अन्ततः स्वात्मदेवता की प्रीति के लिये परापरा पूजा में किया जाता है।

इसी आह्निक (१५. ५९५-५९६) में जाति, विद्या, कुल, आचार, देह, देश, गुण और अर्थ नामक आठ (आ)ग्रहों को गह्वरशास्त्र के प्रमाण से ग्रहों के सदृश बताया गया

है और निशिचार आदि में इनकी हेयता निरूपित है। वहीं आगे (१५.६०१-६०३) कहा गया है कि इस शास्त्र में शुद्धि आवश्यक नहीं है। देवी की तृप्ति के लिये द्विज और अन्त्यज को एक साथ रक्त और मांस से यजन करना चाहिये। भास्करराय ने भी नि. षो. (१.१७६) और ललितासहस्रनाम (श्लो. २२०) के भाष्य में वाम शब्द की इसी पद्धति से व्याख्या की है। उससे स्पष्ट होता है कि यह पूजा वामावर्त क्रम से की जाती है, अनामातर्पण की यहाँ विशेष मान्यता है और शिव के वाम मुख से यह शास्त्र उपदिष्ट है, अत: वाम शब्द से शास्त्रविशेष और पूजाविशेष दोनों का बोध होता है। क्रमकेलि के वचन को उद्धृत करते हुए महेश्वरानन्द (पृ. १७२) कहते हैं कि क्रम और कुल मत की तथा वाम और दक्षिण स्रोत की पूजाविधि एक-सरीखी है। इसकी पुष्टि तन्त्रालोक के इस वचन से भी होती है— "इसलिये कुल और क्रम से उत्तीर्ण त्रिक, मत आदि शास्त्रों में भी मद्य, कादम्बरी, सीधु आदि की विशेष महिमा है" (१५. १६९-१७०)। इस प्रसंग में जयरथ भी एक श्लोक को उद्धृत करते हैं कि नदियों में मधु नहीं बहता, पर्वताकार मांस उपलब्ध नहीं होता और सारे जगत् में केवल स्त्रियाँ ही नहीं हैं, ऐसी स्थिति में कुलागम की सिद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है? सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में सन् १९६५ में आयोजित तन्त्र-संमेलन में भी मिर्जापुर से आये एक कौल साधक ने कुछ इसी तरह के विचार व्यक्त किये थे।

परापरा (क्रम-कुल) पूजा

तन्त्रालोक (२७.४५-४६) में भैरवकुल के प्रमाण से कुलपूजा के बारह स्थानों के नाम इस प्रकार बताये गये हैं— स्थण्डिल, अग्नि, पट, लिंग, पात्र, पद्म, मण्डल, मूर्ति, धट, अस्त्रसंघात, घट और सूत्र। वहाँ कहा गया है कि अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार यह [1]पूजा की जाती है। इनमें संकर वर्जित है। इस प्रसंग में जयरथ कहते हैं कि यदि घर में पूजा की जाती है, तो वह घर में उपलब्ध द्रव्यों से और यदि श्मशान में की जाती है, तो वह श्मशान में उपलब्ध द्रव्यों से की जानी चाहिये। इनको आपस में मिलाना उचित नहीं है। इस शाबल्य के परिहार के लिये ही तन्त्रालोक के २९वें आह्निक में कुलप्रक्रिया के अनुसार पूरी पूजाविधि कुलयाग के रूप में वर्णित है। वहाँ (२९.३) बताया गया है कि सिद्धक्रम के अनुसार एक मास[2] तक आराधना करने से जो पुण्य मिलता है, अन्य सम्प्रदाय के विविध मन्त्रों की सहायता से हजारों वर्ष तक उपासना करने पर भी वह नहीं मिल सकती। इस विषय को स्पष्ट करते हुए जयरथ वहीं कहते

---

१. प्रस्तुत ग्रन्थ (पृ. ४२) में उद्धृत वराहमिहिर के वचन में भी यही बात कही गई है।
२. बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थों में भी इस प्रकार के वचन मिलते हैं।

हैं कि सिद्धान्त आदि तन्त्रों में वर्णित मन्त्र बलहीन होते हैं, उनमें शक्ति का तेज नहीं मिल पाता। इसके विपरीत कौलिक महामन्त्रों में स्वाभाविक तेजस्विता स्फुरित होती है, [1]वे अपने इस दिव्य तेज के कारण तत्काल फल देने में समर्थ होते हैं।

कुल शब्द का अर्थ बताते हुए वहाँ (२९.४) कहा है कि परमेश्वर की शक्ति और सामर्थ्य का ही नाम **कुल** है। ऊर्ध्वता, स्वातन्त्र्य, ओज, वीर्य, पिण्ड एवं संवित् के नाम से भी इसको जाना जाता है। कुलयाग के विषय में वहीं (२९.६) कहा गया है कि स्वात्मस्वरूप की प्राप्ति के लिये मन, वचन एवं शरीर की सहायता से वीर साधक के द्वारा जो कुछ भी किया जाता है, वह सब कुलयाग कहलाता है। इस कुलयाग के छः स्थान हैं— बाह्यप्रदेश, शक्ति, यामल, शरीर में, प्राणपथ में और मति (मन) में (२९.७)। इस प्रसंग में यह भी अवधेय है कि यहाँ स्नान, मण्डल, कुण्ड, षोढा न्यास आदि की वस्तुतः कोई उपयोगिता नहीं है। यदि कोई करता है, तो उसके निषेध की भी कोई आवश्यकता नहीं है। षड्विध मण्डल से विनिर्मुक्त, सभी आवरणों से वर्जित, ज्ञानज्ञेयमय कौल तत्त्व त्रिशिरोमत में वर्णित है। इस कुलयाग में अन्य शास्त्रों में निषिद्ध द्रव्यों का ही उपयोग होता है। ब्रह्मयामल में बताया गया है कि सुरा शिव का प्रसाद है। इसके बिना भोग और मोक्ष की भी प्राप्ति नहीं हो सकती (तन्त्रा. २९.८-११)। अभिनवगुप्त का भी कहना है कि बुद्धीन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में विद्यमान शक्तिचक्र की तृप्ति के लिये निषिद्ध द्रव्यों का उपयोग करना चाहिये। भर्गशिखा का कहना है कि कुलयाग के साधक को वीरव्रत का पालन करना चाहिये (तन्त्रा. १२. १९-२०; परा. अभि., पृ. २३५)। जैसा कि पहले बताया गया है, इस याग की न तो कोई विधि निश्चित है और न कोई पूजन का क्रम ही निर्धारित है।

इस विषय को आगे बढ़ाते हुए तन्त्रालोककार (२९.१४-१६) कहते हैं कि क्रमरहस्य में कौलिक याग के तीन रहस्यों के रूप में अर्घपात्र, यागधाम और दीप वर्णित हैं। इसमें से अर्घ की प्राप्ति शक्ति के साथ संयोग से होती है। भूमि, वस्त्र और काय-पीठ ये तीन याग के धाम (स्थान) हैं। इनमें उत्तरोत्तर उत्कृष्टता मानी गई है। [2]दीप गाय के घृत से बनता है, क्योंकि गायों को पृथिवी पर विचरण करने वाली देवता माना जाता है। इस तरह से इन तीनों तत्त्वों के प्रति कौलिक को विशेष सावधान रहना चाहिये। कुलयाग के द्रव्यों में यहाँ (वि. २९.२००) रत्नपंचक भी गृहीत हैं। इनके नाम—

---

१. "कौलिकास्तु महामन्त्राः स्वभावाद् दीप्ततेजसः। स्फुरन्ति दिव्यतेजस्काः सद्यः प्रत्ययकारकाः।।" (तन्त्रा. वि. २९.३)।

२. "दीपा घृतोत्था गावो हि" (तन्त्रा. २९.१६) यह अभिनवगुप्त का वचन है। बौद्ध तन्त्रों में 'गोकुदहन' नामक पंचप्रदीप वर्णित हैं।

शिवाम्बु, रेत, रक्त, नालाज्य और विश्वनिर्गम हैं। यह देहस्थ चरु देवताओं के लिये भी दुर्लभ माना गया है। द्वादश द्रव्यों के नाम भी विवेक-टीका (२९.१७) में ही इस प्रकार मिलते हैं— [१]रेत, हराम्बु, पुष्प, क्षार, नालाज्य, पौरुष, क्ष्माभव, छाग, मीनज, शाकुनीयक, पलाण्डु एवं लशुन। आनन्द के हेतु इन द्रव्यों के उपभोग से फल के रूप में प्राप्त कुण्डगोलक नामक द्रव्य से अर्घ्यपात्र को भरना चाहिये (२९.२२)। अर्घ्यपात्र के पूरण का क्रम जयरथ के द्वारा वहीं उद्धृत— "चरुक, सम्प्रदाय, विज्ञान, मेलक और पूजाक्रम का विधान योगिनियों के मुख में स्थित है" इस वचन के अनुसार गुरुमुख से ही जाना जा सकता है। तन्त्रालोक (२९.९७-९८) में योगसंचार के अनुसार ब्रह्मचर्य की नई परिभाषा दी गई है कि आनन्द ही परब्रह्म है। शरीर में तीन प्रकार से इसकी उपलब्धि होती है। इनमें दो उपकारक हैं और तीसरा इनका फल। इन तीन मकारों का सेवन करने वाला ब्रह्मचारी कहलाता है। आगे (२९.११७) कौल तत्त्व के स्वरूप को बताते हुए कहा गया है कि यह न तो शान्त है, न ही उदित। यह कौल तत्त्व तो [२]शान्तोदित स्वरूप की उपलब्धि का श्रेष्ठ साधन है।

इस कुलयाग का वहाँ आदियाग के रूप में वर्णन मिलता है। इसका स्वरूप भी वहाँ (२९.१६४) वर्णित है। आगे (२९.१६५-१६६) बताया गया है कि इस याग का वर्णन वीरावली, हार्देश, खमत, अर्णव, सिद्धामत, उत्फुल्लमत, निर्मर्यादशास्त्र आदि में विस्तार से किया गया है।

विद्या, मन्त्र, मुद्रा और मण्डल के रूप में चार पीठों का वर्णन होने से यह कौलिक शास्त्र [३]चतुष्पीठ तन्त्र कहलाता है, यह भी वहीं (पृ. ११४) बताया गया है। इसी प्रसंग में वहाँ इस पूरे आह्निक में मण्डल, शिवहस्त, [४]करस्तोभ, कारणषट्क, कारणाष्टक, सप्तविध जप, दीक्षा, अभिषेक जैसे विषय भी विवृत हैं। दशम आह्निक में वर्णित पिण्डस्थ आदि पाँच अवस्थाओं का भी वहाँ पुनः स्मरण कराया गया है और अष्टक पद का अभिप्राय भी बताया गया है। ये सारे विषय त्रिशिरोमत, ब्रह्मयामल,

---

१. "रेतो हराम्बु पुष्पं च क्षारं नालाज्यकं तथा। पौरुषं क्ष्माभवं छागं मीनजं शाकुनीयकम्।। पलाण्डुं लशुनं चैव द्रव्यद्वादशकं शुभम्।" (तन्त्रा. वि. २९.१७)।

२. प्रस्तुत ग्रन्थ के वैष्णव प्रकरण (पृ. १२०) में नित्योदित एवं शान्तोदित शब्दों की चर्चा आ चुकी है।

३. चतुष्पीठ तन्त्रों का विवरण उपक्रमाधिकार (पृ. ३०-३२) में देखिये। इसी नाम के तन्त्र का परिचय बौद्धाधिकार में दिया गया है।

४. करस्तोभ का विवरण यहाँ (२९. १९६-२०९) दिया गया है। तत्त्वज्ञानसंसिद्धि के शिष्यानुग्रह प्रकरण (श्लो. ५) में आवेश के रूप में इसका वर्णन इसी पद्धति से मिलता है।

क्रमरहस्य, कुलक्रीडावतार, देवीपञ्चशतिका, कालीकुल, कुलरत्नमाला, माधवकुल, देवीयामल, कुलक्रमोदय, योगसंचार, तन्त्रराजभट्टारक, सर्वाचारहृदय, तत्त्वरक्षाविधान, गमशास्त्र, वीरावली, निर्मर्यादशास्त्र, हृदयभट्टारक, खेचरीमत, योन्यर्णव, उत्फुल्लकमत, श्रीपंचाशिका, भोगहस्तक, पूर्वशास्त्र, आनन्देश्वर, तन्त्रसद्भाव, कुलगुह्वर, दीक्षोत्तर जैसे शास्त्रों के प्रमाण से निदर्शित हैं।

तन्त्रालोक (२८.७९-८२) में वर्णित पंचविध मूर्तियाग भी कुलयाग से भिन्न नहीं है। केवल, यामल, मिश्र, चक्रयुक् और वीरसंकर नाम के इस पंचविध याग में केवल साधक के द्वारा किया गया यजन **केवल,** गुरु के साथ किया गया **मिश्र,** सपत्नीक साधक के द्वारा किया गया **यामल** कहलाता है। इसके दो भेद हैं— एक तो अपनी पत्नी के साथ और दूसरा धन देकर लाई गई वेश्या आदि के साथ। शास्त्रों में चक्रिणी आदि शक्तियों का वर्णन मिलता है। इनके साथ किया गया **चक्रयुक्** तथा सबके साथ किया गया **वीरसंकर** कहलाता है। इस कुलयाग में सर्वसाधारण का प्रवेश वर्जित है। यदि कोई प्रविष्ट हो गया, तो उस पर विचार भी नहीं किया जाता। पिचुशास्त्र में कहा गया है कि प्रथमत: बाहरी व्यक्ति के प्रवेश को प्रयत्नपूर्वक रोकना चाहिये। इसके बाद भी यदि कोई प्रविष्ट हो गया, तो उसको निकालने का विचार भी नहीं करना चाहिये। "प्रविष्टेऽन्त: सीधुरसे" तथा "स्त्रिय: सर्वेषु वर्णेषु" क्रमोदय के इन वचनों में और "मेयराशिमयं हव्यम्" इस श्रीपराक्रम के वचन में कुलयाग ही वर्णित है। तन्त्रालोक के अनुसार कुलरत्नमाला में अन्य मतों की अपेक्षा कौल मत की श्रेष्ठता इस प्रकार प्रदर्शित है— "समस्त तन्त्रों का सार वाम और दक्षिण तन्त्रों में वर्णित है। त्रिकशास्त्र में इन सबको मिलाकर कौलशास्त्र की अवतारणा की गई है। मल, माया आदि से दूषित नाना कर्मों का विधान सिद्धान्तशास्त्रों में मिलता है। दक्षिण-तन्त्रों में रौद्र कर्मों का विधान भरा हुआ है और वाम-तन्त्र नाना प्रकार की सिद्धियों से व्याकुल है" (तन्त्रा. ३७. २५-२७)। इस तरह से यहाँ स्पष्ट किया गया है कि इन सभी तन्त्रों के दोषों से यह कौल तन्त्र मुक्त है। स्पष्ट है कि षडर्धशासन में कौल मत को विशेष मान्यता दी गई है।

महार्थमंजरीकार महेश्वरानन्द का कहना है कि महार्थ (क्रममत) और त्रिकदर्शन में बहुत अधिक भेद नहीं है (पृ. ९२)। [1]वे ही यह भी कहते हैं कि कौलदर्शन से भी इसकी बहुत भिन्नता नहीं है। तत्त्व का विवेचन समान पद्धति से हुआ है, किन्तु शब्दों की शय्या में, तत्त्व के प्रतिपादक पारिभाषिक शब्दों में भिन्नता अवश्य देखने को मिलती

१. नि. षो. की टीका अर्थरत्नावली (पृ. ५८८) में इनका जो विवरण दिया गया है, उससे यह विषय स्पष्ट हो जाता है।

है (पृ. १९२)। यही न्याय हम बौद्ध तन्त्रों पर भी लागू कर सकते हैं। वहाँ भी पारिभाषिक शब्दों के अतिरिक्त प्रतिपाद्य विषयों की कौल तन्त्रों से पूरी समानता है।

बौद्ध तन्त्रों में त्रिविध पूजा

बौद्ध तन्त्रों में बाह्या, आध्यात्मिकी (मनोमयी) और गुह्या के नाम से त्रिविध पूजा वर्णित है। इनमें बाह्या का अपरा में, आध्यात्मिकी का परा में और गुह्या का परापरा में समावेश किया जा सकता है। गुह्यपूजा स्वात्मदेवता की आराधना के लिये ही की जाती है। सप्तविध अथवा एकादश प्रकार की अनुत्तरपूजा का और चतुर्ब्रह्मविहार भावना का प्रयोजन आन्तर परिशुद्धि है। अनुत्तरपूजा के सात अंग ये हैं— पापदेशना, पुण्यानुमोदना, त्रिशरणगमन, मार्गाश्रयण, अध्येषणा, पुण्यपरिणामना और आत्मभावनिर्यातन। सप्तविध अनुत्तरपूजा की व्याख्या इस प्रकार की गई है— १. शरीर, वाणी अथवा मन से आचरित पापों को मैं जिनों के समक्ष बता रहा हूँ, २. तीनों लोकों में जो कुछ शुभ कार्य हो रहा है, उसका मैं प्रसन्नता के साथ अनुमोदन कर रहा हूँ, ३. मैं बुद्ध, धर्म और संघ नामक रत्नत्रय की शरण में जाता हूँ, ४. मैं जिनों के द्वारा उपदिष्ट मार्ग का अनुसरण करता हूँ, ५. लोककल्याण के लिये बुद्धों और बोधिसत्त्वों का अवतार हो और वे तब तक यहाँ बने रहें और धर्म का उपदेश कराते रहें, जब तक कि सबको निर्वाण की प्राप्ति न हो जाय, ६. इस संसार-सागर से सभी प्राणी सुखपूर्वक पार हो जाँय, इसके लिये जो कुछ मैंने शुभ कार्य किया है, उसे समर्पित कर रहा हूँ और ७. मैं अपने को जिनों को, उनके पुत्रों को और गुरुओं को सर्वतोभावेन समर्पित कर रहा हूँ। एक ही श्लोक में सप्तविध अनुत्तरपूजा का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

सर्वं पापमहं दिशामि परमं प्रीत्याऽनुमोदे शुभान्
आजन्मस्थितयेऽर्थये भगवतः सद्धर्मरत्नस्य च।
रत्नानां त्रयमभ्युपैमि शरणं बोधौ दधे मानसं
तन्मार्गं च समाश्रये शुभविधीन् संबोधये नामये।।

इस सप्तविध अनुत्तरपूजा के अतिरिक्त अकरणसंवर, याचना, बोधिचित्तोत्पाद, चतुर्ब्रह्मविहारभावना, आशयविशुद्धि, अहंकारममकारत्याग जैसे साधनों का भी उपदेश इस प्रसंग में मिलता है। पापदेशना और पुण्यानुमोदना में अकरणसंवर का और अध्येषणा में याचना का समावेश किया जा सकता है। आशयविशुद्धि, बोधिचित्तोत्पाद और अहंकारममकारत्याग— इन तीनों को हम सप्तविध अनुत्तरपूजा के फल के रूप में देख सकते हैं। चतुर्ब्रह्मविहारभावना की गणना एकादशविध अनुत्तरपूजा में अभी आगे की जा रही है।

साधनमाला में ११ प्रकार की अनुत्तरपूजा के नाम कहीं नहीं मिलते, किन्तु चतुर्ब्रह्मविहारभावना की चर्चा विस्तार से मिलती है। पूर्वोक्त सप्तविध पूजा में इस चतुर्विध भावना को मिलाकर यह संख्या पूरी की जा सकती है। यह चतुर्ब्रह्मविहार-भावना मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा के रूप में की जाती है। "मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्" (१.३३) इस पातंजल योगसूत्र में और "मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाऽविनेयेषु" (७.११) जैनाचार्य उमास्वाति के इस तत्त्वार्थसूत्र में भी इनका वर्णन मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि चित्त की विशुद्धि के लिये सर्वत्र इनको समान रूप से मान्यता मिली है।

चतुर्ब्रह्मविहार की भावना के बाद परिशुद्ध अन्तःकरण वाला योगी सर्वधर्मप्रकृति की परिशुद्धता की भावना इस प्रकार करता है— ये सभी धर्म प्रकृति, अर्थात् अपने स्वरूप में ही परिशुद्ध हैं, मैं भी स्वभाव से ही परिशुद्ध हूँ। इसी सर्वधर्मप्रकृति-परिशुद्धता का साधक "ॐ स्वभावशुद्धाः सर्वे धर्माः स्वभावशुद्धोऽहम्" इस मन्त्र की भावना से उसमें दृढ़ता लाता है। सर्वधर्मप्रकृतिपरिशुद्धता की भावना में दृढ़ता आ जाने पर साधक योगी सर्वधर्मशून्यता का ध्यान करता है। इसके ध्यान का प्रकार यह है— यह सारा संसार मनोमय है। यह मन ही उस-उस वस्तु के आकार के रूप में प्रकाशित होता है। जैसे स्वप्न में मन के सिवाय कोई बाह्य वस्तु नहीं रहती, जिसका मन से ग्रहण किया जाय और ग्राह्य वस्तु के अभाव में ग्राहक मन की भी कोई स्थिति नहीं रहेगी; उसी तरह से जाग्रत् अवस्था की भी स्थिति है, अतः यह सब कुछ मन की कल्पनामात्र है। इस शून्यता दृष्टि में यह सारा चराचरात्मक जगत् अद्वैत प्रकाशात्मक स्वरूप में भासित होता है। इसी शून्यता-दृष्टि को— "ॐ शून्यताज्ञानवज्रस्वभावात्मकोऽहम्" इस मन्त्र की सहायता से परिपुष्ट किया जाता है।

बौद्ध तन्त्रों में वर्णित आध्यात्मिकी (मनोमयी) अनुत्तर पूजा का यही स्वरूप है। बाह्यपूजा और गुह्यपूजा का स्वरूप ऊपर वर्णित अपरा और परापरा पूजा से बहुत भिन्न नहीं है।

योगिनीहृदय-वर्णित परा पूजा

यह सारा चराचरात्मक जगत् प्रकाश-विमर्श स्वरूप है, इस सिद्धान्त को प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुयायी भी मानते हैं। प्रकाश और विमर्श का स्वरूप वास्तव में चन्द्र और चन्द्रिका के समान अद्वय प्रकाशात्मक ही है। इस स्थिति में पूज्य, पूजक और पूजा के द्रव्यों की कोई सत्ता न रहने से प्रकाशात्मक तत्त्व की आराधना का एकमात्र साधन भावोपहार ही हो सकता है। इसीको परा पूजा कहा जाता है। त्रिगुणातीत मार्ग

में विचरण करने वाले योगी ही इसका सम्पादन कर सकते हैं। योगिनीहृदय में इसका स्वरूप इस प्रकार वर्णित है— "इस परा पूजा में महापद्मवन के अन्दर विद्यमान वाग्भव (त्रिकोण) में सारे जगत् का विस्तार करने वाली, परम उत्कृष्ट, अमृत की वर्षा करने वाली गुरुपादुका का ध्यान करना चाहिये। इसके बाद साधक को चाहिये कि वह परम अद्वैतभावना के मद से परिपूर्ण हो जाय।

इस स्थिति में साधक को चाहिये कि वह दहराकाश के अन्दर ध्वनित हो रहे नाद का सावधानी से अनुसन्धान करे और सारे जागतिक विकल्प-जाल से, नाना प्रकार के बाह्य वैखरी-वर्णों के उच्चारण से विमुख हो जाय। वह सदा अन्तर्मुख रहे। अपने में चित्कला का उल्लास भर कर, संकोच बुद्धि को दूर भगा कर मैं परमसुन्दर भगवती त्रिपुरसुन्दरी से अभिन्न हूँ, ऐसी भावना करे (३.५-७)। बौद्ध तन्त्रों में वर्णित परा पूजा की पद्धति से यह बहुत भिन्न नहीं है। बौद्ध साधक शून्यता में प्रतिष्ठित होता है और यहाँ साधक त्रिपुरसुन्दरी-स्वरूप बन जाता है।

परापरा पूजा की समीक्षा

योगिनीहृदय (३.८) की अगली पंक्ति में परापरा पूजा का स्वरूप निर्दिष्ट है, परा पूजा का नहीं, क्योंकि वहाँ इन्द्रियों को तृप्त करने वाले द्रव्यों से साधक स्वात्मस्वरूप इष्टदेव की पूजा करता है। स्पष्ट ही वहाँ बाह्य द्रव्यों का उपादान विहित है। अनन्त वासनाओं से मलिन हुआ चित्त कुमार्ग पर चल पड़ता है। विकल्पों के शोधन के बिना उसकी शुद्धि हो नहीं सकती। इसके लिये वाम, कुल, क्रम, त्रिक आदि मतों के तथा वज्रयान के तन्त्रों में स्वात्मदेवता की प्रीति के लिये एक अनोखी पूजापद्धति का आविष्कार किया गया, जो साधक को उन्नति के साथ पतन की ओर भी ले जा सकती है। इन्द्रियों की तृप्ति के माध्यम से मलिन वासनाओं का परिशोधन हो जाने पर वह साधक को कल्याण मार्ग की ओर ले जाती है और इस प्रक्रिया से विषयों के प्रति यदि अनुराग बढ़ता है, तो उससे साधक का पतन हो जाता है। योग्यभाष्यकार ने यह सही कहा है— "चित्तनदी नाम उभयतोवाहिनी। वहति कल्याणाय वहति पापाय च" (१. १२)। इसलिये इस स्वात्मयजन में शाक्तोपाय की प्रक्रिया से परिशोधित शुद्ध विकल्पात्मक तत्त्वों का ही उपयोग होता है।

शक्तिसंगमतन्त्र के तीन खण्डों के संपादक डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य द्वितीय खण्ड की प्रस्तावना में इस परापरा पूजा से संबद्ध प्रकरणों को भी कुण्डलिनी योग की आन्तर वरिवस्या से जोड़ देते हैं। किन्तु— "मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन नामक

पंचमकार से की गई पूजा कुलाचार कहलाती है" (२. ३६. २०-२१), "नीवी की मुक्ति में चतुर्विध मोक्ष विद्यमान है" (४. २. ११३), "रक्त और श्वेत रूप नरम और चिकना जो तत्त्व प्राप्त होता है, उसे कुण्डसार कहते हैं" (४. ३. ११२-११३), "हाथापाई के साथ जो योग होता है, उसे निह्नव कहते हैं" (४. ३. २०८), "हे महेशानि! इस जगत् में योनि से बढ़कर कोई श्रेष्ठ पदार्थ नहीं है" (४. ४. ३०-३३) इस तरह के वचनों का कामशास्त्र से ही संबन्ध जोड़ा जा सकता है, धर्म या मोक्ष शास्त्र से नहीं। साथ ही माता, भगिनी और पुत्री के विषय में यहाँ (४. ११. १४-१५) जो कुछ कहा गया है अथवा कौलतीर्थ पटल (२. ३) में जो कुछ वर्णित है, उससे सामाजिक उच्छृंखलता ही पनप सकती है। श्रीमद्भागवत (१. ५. १५) में ठीक ही कहा गया है कि धर्म के नाम पर जुगुप्सित अनुष्ठानों का उपदेश करने वाले, संसार में अनुरक्त व्यक्तियों के ये कार्य समाज में विषमता को पैदा करते हैं, क्योंकि धर्म के नाम से उपदिष्ट इस तरह की विधियों को धर्म ही मान लिया जाता है, जिसका समझदार व्यक्ति के पास कोई जबाव नहीं रहता। ***एक दूसरे रूप में हम इस्लाम के कुछ विधानों को भी इस वचन की परिधि में ला सकते हैं।*** नाक के रहते हुए स्वर्ग नहीं दिखाई देगा, इस वचन को सुनकर अपनी नाक कटा लेना कोई बुद्धिमानी नहीं है।

हिंसाबहुल वैदिक कर्मकाण्ड की भगवान् महावीर और बुद्ध ने समालोचना की और वह प्रक्रिया अब थम गई है। इसी तरह सौन्दर्यलहरी के व्याख्याता लक्ष्मीधर आदि ने अभिनवगुप्त आदि के द्वारा निर्दिष्ट रहस्यात्मक कौलिक बाह्यपूजाविधान का निषेध कर आन्तर वरिवस्या प्रधान पूजन की समयी मत के नाम से प्रतिष्ठा की। वैदिक प्रक्रिया से यह समरस है। शक्तिसंगमतन्त्र में भी अनेक स्थलों पर वर्णित है कि "ब्राह्मण को ऐसा कार्य करना चाहिये, जिससे उसका ब्राह्मण्य नष्ट न हो" (१. ८. १७, ९. ३६; २. १. ३४), ऐसे कार्यों में पूजा में सुरा का अर्पण न करना (१. ९. ५१), उसके स्थान पर प्रतिनिधि [1]द्रव्य समर्पित करना तथा वर्णधर्म का अनुसरण करने वाली तान्त्रिक विधियों का अनुष्ठान संमिलित है (१. २. ८०, ८२; २. १. ३३-३६)। विभिन्न वर्णों और जातियों में नाना प्रकार के विचित्र आचार प्रचलित हैं। वाल्मीकिरामायण (अयो. १०३. ३०) में बताया गया है कि जिस व्यक्ति का जो अन्न है, उसके देवता भी उसी को ग्रहण करते हैं। तन्त्रशास्त्र मानवमात्र के कल्याण के लिये प्रवृत्त है, अतः

---

१. समय पूजा में तथा जैन तन्त्रों में भी प्रतिनिधि द्रव्य ही समर्पित किये जाते हैं। जैनाधिकार (पृ. ७७६) देखिये।

अपने-अपने आचार-विचार के अनुसार अपने अभीष्ट फल की प्राप्ति के उनको तन्त्रशास्त्र के माध्यम से नानाविध उपाय बताये गये हैं। दृष्टिभेद एवं देश-काल के भेद से इनके नाना सम्प्रदाय हो गये हैं। इनमें बाह्य आचारों की प्रधानता रहती है। देश-काल के भेद से इनमें भिन्नता आ जाती है और ऐसा भी होता है कि इनका पूरी तरह से लोप ही हो जाय। असम राज्य के आसपास के क्षेत्रों को इसके उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है, जहाँ ***ईसाई मिशनरियों के द्वारा इनके पुराने संस्कार मिटाये जा रहे हैं। उनमें प्रचलित तान्त्रिक संस्कारों के माध्यम से ही उन्हें पुनः स्वस्थ किया जा सकता है।***

तन्त्रशास्त्र के समर्थन में एक बात और कही जा सकती है। ऊपर उसकी चर्चा हो भी चुकी है। यशस्तिलक चम्पू में नीलपट[1] की एक उक्ति संगृहीत है (भा. २, पृ. २५२)। उसका अभिप्राय यह है कि कामदेव की, सभी प्रकार के भोग और ऐश्वर्य को देने वाली स्त्री के रूप में विद्यमान महामुद्रा का, जो कुबुद्धि मिथ्या फल की खोज में मोहवश उपेक्षा कर देते हैं, उनके साथ वे बड़ी निर्दयता का व्यवहार करती हैं। इससे पीड़ित होकर कुछ अपना सिर मुँडवा लेते हैं, कुछ अपने केश नोंच लेते हैं, कुछ पाँच शिखाएँ रख लेते हैं, कुछ जटा धारण कर लेते हैं और अन्य लोग कापालिक बन जाते हैं। ऐसी स्थिति में मलिन चित्त वाले योगियों के मानसिक विकारों की शान्ति के लिये तन्त्रशास्त्र में वर्णित यामल उपासना का समर्थन किया जा सकता है।

भास्करराय ने तन्त्रों का धर्मशास्त्र में अन्तर्भाव माना है। त्रिपुरसुन्दरीबाह्यवरिवस्या-विधि में तन्त्रों के प्रामाण्य पर विचार करते समय और तन्त्रराजतन्त्र की व्याख्या में इनके धर्मशास्त्र में अन्तर्भाव पर विचार किया था। उनकी तन्त्रराज की व्याख्या आज उपलब्ध नहीं है। बाह्यवरिवस्याविधि अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है, किन्तु इसका उपोद्घात भाग हमारे पास है। यहाँ तन्त्रों की वेदानुवर्तिता स्पष्ट की गई है। याज्ञवल्क्यस्मृति के व्याख्याता अपरार्क ने शैव, पांचरात्र आदि आगमों का आंशिक प्रामाण्य माना है। भास्करराय ने उक्त ग्रन्थ में किस विधि का अनुसरण किया है, ग्रन्थ के अनुपलब्ध होने से कुछ कहा नहीं जा सकता। इतना स्पष्ट है कि अपरार्क की पद्धति से शाक्त तन्त्रों का भी आंशिक प्रामाण्य ही मान्य हो सकेगा। ऊपर प्रदर्शित कौलिक बाह्यवरिवस्या का प्रामाण्य तो कामशास्त्र के अंग के रूप में ही स्वीकार्य हो सकता है, धर्मशास्त्र के अंग के रूप में नहीं।

---

१. शक्तिसंगमतन्त्र के चतुर्थ खण्ड के उपोद्घात (पृ. ८९) में **नीलपट** की यह उक्ति उद्धृत है।

जर्मन विद्वान् विण्टरनित्ज ने कहा है कि "पुराणों और तन्त्रशास्त्र का अनुशीलन रुचिकर नहीं है। तन्त्रशास्त्र के विषय में यह पूरी तरह से सही है, क्योंकि हीनकोटि के लेखकों ने [1]व्याकरण के नियमों से मुक्त भाषा में इनकी रचना की है। यद्यपि परवर्ती काल में आविर्भूत कुछ तन्त्रों को देखकर विद्वान् लेखक की यह धारणा बनी है, तो भी प्राचीन तन्त्रों की ऐसी स्थिति नहीं है। विण्टरनित्ज की प्रतिक्रिया को हमें दूसरी दृष्टि से देखना होगा। वैष्णव, शैव, शाक्त आदि सभी सम्प्रदायों के आध्यात्मिक क्षेत्र में अनेक रहस्यात्मक प्रवृत्तियाँ प्रविष्ट हो गई हैं। "अन्त: शाक्ता बहि: शैवा: सभामध्ये च वैष्णवा:" इस तरह के वचन उपलब्ध हैं। इस तरह के व्यक्ति दोहरा जीवन जीते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के मोहक स्वरूप की ये आराधना करते हैं, लोकमंगलकारी रूप की नहीं। मर्यादा पुरुषोत्तम राम के चरित को भी रसिक सम्प्रदाय ने कलुषित कर दिया है। 'योगा' के बहाने देश-विदेश में इन रहस्यात्मक क्रियाओं का प्रचार किया जा रहा है। वास्तव में धर्म और मोक्ष के नाम पर अर्थ और काम को सर्वत्र फैलाया जा रहा है। आज का संभ्रान्त समाज "मनस्यन्यत्, वचस्यन्यत्, कर्मण्यन्यत्" की स्थिति में पहुँच गया है। इस परिस्थिति में आध्यात्मिकता अथवा नैतिकता का क्या हश्र हो सकता है? समझदार व्यक्ति को स्वयं ही विचार करना चाहिये।

इस विचित्रता को देखकर सामान्य मानव विषाद से भर जाता है। इसको दूर करने के लिये, चिरन्तन आध्यात्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिये और सम्पूर्ण मानव-समाज की सुव्यवस्था के लिये आवाप और उद्वाप, त्याग और ग्रहण की मीमांसा-पद्धति के अनुसार वैदिक एवं तान्त्रिक श्रुतियों में समन्वय के माध्यम से आधुनिकता के अनुरूप नूतन मानव-धर्म की प्रतिष्ठा आवश्यक है। इसके लिये शक्तिसंगमतन्त्र का यह वचन हमारी सहायता कर सकता है—

यद्यप्यस्ति　　त्रिकालज्ञस्त्रैलोक्याकर्षणक्षम:।
तथापि लौकिकाचारं मनसाऽपि न लङ्घयेत्।। (२.४६.४२)

विहगावलोकन

अब हम पूरे ग्रन्थ का विहगावलोकन कर लेना चाहते हैं। वैखानस आगम को यहाँ निगम बताया गया है (पृ. ७९) और दूसरी टिप्पणी में इस पर विचार किया गया है। इसकी वेदानुवर्तिता के प्रसंग में सावित्रीकल्प, साकार और निराकार समाराधन,

१. कालचक्रतन्त्र के टीकाकार पुण्डरीक ने अपनी विमलप्रभा टीका (भा.१, पृ. २९) में व्याकरण के नियमों से रहित भाषा के प्रयोग को ही समर्थन दिया है।

त्रिविध अग्नि एवं त्रिविध बेर, पंचविध[1] अग्नि और [2]पंचविध बेर आदि उदाहरणों के आधार पर यहाँ (पृ. ८०-८५) विस्तार से वैदिक वाङ्मय से इस आगम का अतीव साम्य दिखाया गया है। इन सब प्रमाणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि तन्त्रागमशास्त्र की समस्त शाखाओं में वैखानस आगम वेदों का सबसे समीपवर्ती है। इसीलिये हमने सबसे पहले यहाँ इसी का निरूपण किया है।

दर्शन प्रकरण (पृ. ८९-९४) में वैष्णवाण्ड की सर्वोपरि स्थिति मानी गई है। चेतन और अचेतन द्विविध[3] प्रकृति यहाँ (पृ. ९१) निरूपित है। आमोद, प्रमोद आदि चार लोक यहाँ मान्य हैं। सांख्यदर्शन के २५ तत्त्वों को अशुद्ध सृष्टि के रूप में मान्यता दी गई है। दर्शन प्रकरण (पृ. ९२-९३) में ही शरीर की [4]उत्पत्ति की प्रक्रिया को समझाया गया है। नाड़ियों की संख्या १४ मानी गई है। दशविध प्राणों की नामावली अन्य तन्त्रों के समान ही है। टिप्पणी में लिंगपुराण के प्रमाण से १४ वायुओं की चर्चा की गई है। इनमें वैरंभ नामक वायु की चर्चा बौद्ध तन्त्रों में भी मिलती है। भगवान् की आराधना के जप, होम, अर्चन एवं ध्यान नामक [5]चार प्रकार वर्णित हैं। इनके लक्षण भी यहाँ (पृ. ९३-९४) बताये गये हैं।

वैखानस मत के योग प्रकरण (पृ. ९४-९६) की भी अपनी विशेषता है। यहाँ यम और नियम की संख्या दस-दस मानी गई है। प्रत्याहार के पाँच भेद, १८ मर्मस्थान,

---

१. वैदिक याग में गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि नामक तीन अग्नियों की आराधना की जाती है (पृ. ८४)। इनके साथ सभ्य और आवसथ्य को मिलाने से इनकी संख्या पाँच हो जाती है (पृ. ८५)। सात्वता (६.१२९) में ओदनम्पचनात्मा चतुर्थ अग्नि स्वीकृत है। इसको हम आवसथ्य से अभिन्न मान सकते हैं। 'कूर्मपुराण : धर्म और दर्शन' के परिशिष्ट (पृ. ३४०) में इसका विवरण देखिये।

२. ध्रुव, कौतुक और उत्सव नामक तीन बेरों (मूर्तियों) की त्रिविध अग्नियों के प्रतिनिधि के रूप में तथा स्नपन और बलि को मिलाकर पाँच बेरों की पाँच अग्नियों के रूप में स्वीकृति वैखानस आगम प्रकरण (पृ. ८४-८५) में बताई गई है।

३. भगवद्गीता (७. ४-५) में पर और अपर प्रकृति के रूप में इन्हीं का वर्णन किया गया है।

४. 'धीः' के २४वें अंक (पृ. २९-४६) में प्रकाशित "तन्त्रशास्त्र की दृष्टि में कायमीमांसा" शीर्षक निबन्ध में इस पर विस्तार से विचार किया गया है। सात्वता (१०.८) में भी देह को सर्वदेवमय माना गया है।

५. "तपोयोगजपध्यान" (१२.४५), "जपपूर्वं चतुष्टयम्। योगक्रियातपोऽन्तं च" (१२.१३८) इस तरह से सात्वता में ये वर्णित हैं। नर, नारायण, हरि और कृष्ण नामक विभवावतारों को इनका परिरक्षक माना गया है। महाभारत (१२.३३४.९; १६-१८) में धर्म की सन्तति के रूप में ये वर्णित हैं। सात्वता. उपो. (पृ. ३३) देखिये।

धारणा के आठ भेद जैसे विषयों की यहाँ विशेष रूप से चर्चा है। पुराणों में इन विषयों की विस्तार से चर्चा मिलती है। उनको देखने से पता चलता है कि समस्त अंगों एवं उपांगों के लक्षणों के साथ पुराणों में इनका निरूपण किया गया है। चतुःस्थानार्चन के प्रसंग (पृ. ८४) में दी गई टिप्पणी विशेष रूप से अवधेय है। पांचरात्रागमों में इसका विशेष रूप से उल्लेख मिलता है।

गणेशसहस्रनाम के १२४वें श्लोक में वैखानस, भागवत और पांचरात्र के अतिरिक्त सात्वत मत की भी अलग से चर्चा है। अन्यत्र पांचरात्र मत में ही इसका समावेश माना गया है। पारमेश्वरसंहिता (१०.३७६-३८२) में मायावैभवागम का राजस तथा तत्त्वसागरसंहिता का पांचरात्र आगम की तामस संहिता में परिगणन किया गया है। तत्त्वसागरसंहिता के सार-संक्षेप के रूप में प्रपंचसार की रचना की गई है। इस पृष्ठभूमि में प्रपंचसार को वैष्णव तन्त्र बताना अनुचित नहीं माना जा सकता। मायावामनसंहिता का पांचरात्र संहिताओं में नाम उपलब्ध नहीं होता, किन्तु स्पन्दप्रदीपिका और नेत्र-तन्त्रोद्योत में यह उद्धृत है। विषय की दृष्टि से यह वैष्णवागम से ही संबद्ध लगती है। अलशिंग भट्ट ने सात्वतामृत को अपने पिता की रचना बताया है। सात्वतामृतसार इन्हींकी रचना होनी चाहिये, इनके पिता की नहीं (सा. उपो., पृ. ९-१०)। सात्वतसंहिता से पृथक् सात्वततन्त्र का परिचय हम दे चुके हैं (पृ. १०५)। इस तरह के अन्य भी अनेक पांचरात्र-तन्त्रों का परिचय डॉ. तून गांद्रियान ने अपने ग्रन्थ (पृ. १०५-११०) में दिया है। पांचरात्ररक्षा (पृ. ५१) में प्रयोगपद्धतिरत्नावली भोजराज की कृति मानी गई है। ये भोजराज तत्त्वप्रकाशकार भोजदेव से अभिन्न हो सकते हैं। पद्धति-ग्रन्थों और कल्प-ग्रन्थों की प्रकृति एक सरीखी है। तन्त्रागमीय अथवा श्रौत कर्मकाण्ड को इनके माध्यम से सरलता से समझाया गया है।

विभव देवताओं में विशाखयूप का एक विशिष्ट स्थान है। इसका गहन विश्लेषण अपेक्षित है। सिद्धदशक के नाम विष्णुसहस्रनाम में उपलब्ध हैं और उनका भाष्यकारों ने विश्लेषण भी किया है। भवोपकरण देवताओं की संख्या २४ है। इनकी सांख्य-संमत २४ तत्त्वों से कोई समानता नहीं है। सात्वता (१०.२८) में मण्डल-देवताओं में वर्धमान नाम भी उपलब्ध है। सिद्धदशक में भी इनकी गणना की गई है। जैन तीर्थंकर महावीर का भी यह नाम है। विष्वक्सेन की स्थिति चण्ड के समान ही मानी गई है (सात्वता, पृ. ३१३)।

सभी तन्त्रों पर अग्निकार्य के प्रसंग में वैदिक कर्मकाण्ड के प्रभाव की चर्चा हमने की है। सात्वतभाष्य (पृ. १०३) से इसकी पुष्टि होती है कि यज्ञीय भस्म से तिलक

लगाना वैष्णवों के लिये भी निषिद्ध नहीं है। वैष्णव संहिताओं में मारण-मोहन आदि क्रूर कर्मों की अपेक्षा शान्तिक-पौष्टिक आदि कर्मों का विधान मिलता है। संसारी जीव के लिये सात्वता (५.१) में भवी शब्द का प्रयोग हुआ है। सिद्धान्तशास्त्र और वीरशैव मत में भी उस संसारी प्राणी के लिये इस शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसकी प्रवृत्ति अध्यात्म की ओर है ही नहीं। इसकी तुलना सिद्धान्तशैवों के केवलावस्थ पशु से की जा सकती है। मन की यहाँ (१२.१५१) राक्षस से तुलना की गई है। सात्वता के उपो. (पृ. ६५-६७) में अन्य भी अनेक विषय चर्चित है। उन्हें वहीं देखना चाहिये। भागवत आगम का परिचय संतोषजनक नहीं है। इस पर अभी सामग्री अपेक्षित है।

शिवपुराण (७. १. ३२. ११-१३) में श्रौत एवं स्वतन्त्र के रूप में शिवागमों के दो भेद किये गये हैं। इनमें से श्रीकण्ठ-प्रवर्तित मत का श्रौत तथा लकुलीश-प्रवर्तित मत एवं कामिक आदि २८ आगमों का स्वतन्त्र विभाग में समावेश करना उचित होगा। पुराणों में पाशुपत मत को अवैदिक माना गया है। उक्त वचनों की प्रवृत्ति लकुलीश पाशुपत मत के लिये ही मानी जायगी, श्रौत श्रीकण्ठ पाशुपत मत के लिये नहीं। इसीलिये हमने यहाँ इन दोनों मतों का अलग-अलग विश्लेषण किया है। अभिनवगुप्त का "द्विप्रवाहमिदं शास्त्रम्" (तन्त्रा. ३७. १४-१५) यह वचन भी इसमें प्रमाण है। इसीलिये अतिमार्ग विभाग में भी लकुलीश पाशुपत मत का ही समावेश होगा। तन्त्रयात्रा (पृ. ५६-५७) में इस विषय पर विचार किया गया है।

श्रीकण्ठ-प्रवर्तित पाशुपत मत के विषय में अभी विस्तार से कुछ कहा नहीं जा सकता, किन्तु लकुलीश पाशुपत मत के प्रतिपादक कुछ ग्रन्थ उपलब्ध हैं और उनके आधार पर इसके स्वरूप पर विचार किया भी गया है। वैखानस मत के समान यहाँ भी सांख्य-संमत तत्त्वों को स्वीकार किया भी गया है। चर्या (पृ. १९७), घृणा (पृ. १९८), मूर्ति (पृ. २००) जैसे पारिभाषिक शब्दों के यहाँ अपने विशेष अर्थ हैं। लिंगधारण (पृ. १९८) का गुणभूत विधि में समावेश किया गया है, किन्तु उसका स्वरूप स्पष्ट नहीं किया गया। पंचवक्त्र अथवा पंचमन्त्रतनु शिव की चर्चा पाशुपत एवं सिद्धान्तशैव मत में भी मिलती है। यहाँ ईशान, तत्पुरुष, अघोर, सद्योजात और वामदेव नामक पाँच मन्त्रों का और इन्हीं नामों से प्रसिद्ध शिव के पाँच मुखों अथवा अंगों का ग्रहण किया जाता है। कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणी संहिता (२.९.१, १०) में केवल तत्पुरुष और अघोर मन्त्र ही मिलते हैं।

श्रीकण्ठ पाशुपत मत की परम्परा से नाथ सम्प्रदाय की और लकुलीश पाशुपत मत की परम्परा से कालामुख-कापालिक मत और कौलिक सिद्ध सम्प्रदाय की प्रवृत्ति

हुई, ऐसा माना जा सकता है। इस पर अभी गंभीर अनुशीलन अपेक्षित है। "एकत्र मिलितं कौलम्" (तन्त्रा. ३७.२६) अभिनवगुप्त के इस वचन से इसकी पुष्टि की जा सकती है। पाशुपत मत का अभी बहुत कम साहित्य उपलब्ध हुआ है। शिवानन्द की योगचिन्तामणि में पाशुपत योग की चर्चा मिलती है। पुराणों, उपपुराणों तथा योगशास्त्र के ग्रन्थों की सहायता से इस अध्ययन को आगे बढ़ाया जा सकता है।

लकुलीश के पाशुपतसूत्रों पर कौण्डिन्य का पंचार्थभाष्य उपलब्ध है। इसका और इसके संस्करणों का परिचय दिया जा चुका है। यहाँ उद्धृत दो श्लोकों के आधार पर इनके कालनिर्णय में सहायता मिल सकती है। ये हैं वे श्लोक—

सूत्रप्रकरणाध्यायैः संबन्धस्त्रिविधः स्मृतः।
दूरस्थश्चार्थशेषेण पूर्वात् संबन्ध इष्यते।। (पृ. १०९)
यस्य येनार्थसंबन्धो दूरस्थमपि तेन हि।
अर्थतोऽन्यसमानानामानन्तर्येऽप्यसंगतिः।। (पृ. ११७)

पंचविध अथवा षड्विध संबन्धों की चर्चा यहाँ (पृ. ३०५) हो चुकी है। प्रस्तुत इन दोनों श्लोकों में त्रिविध अथवा चतुर्विध संबन्ध चर्चित हैं। वाक्यपदीय, श्लोकवार्त्तिक एवं तन्त्रवार्त्तिक में ये वचन उपलब्ध नहीं हैं।

कापालिक, महाव्रती, महाव्रत जैसे नामों के विश्लेषण एवं इनके सिद्धान्तों की जानकारी के लिये शंकरदिग्विजय-आनन्दगिरिटीका, भवभूति के मालतीमाधव की जगद्धरकृत टीका, प्रबोधचन्द्रोदय नाटक, यशस्तिलक चम्पू, नैषधचरित जैसे ग्रन्थों की चर्चा की जाती है। डॉ. लोरेंजन ने कालामुख और कापालिक मत पर परिश्रमपूर्वक प्रामाणिक ग्रन्थ लिखा है। उस ग्रन्थ में इस पूरी सामग्री का उपयोग हो चुका है। अतः इन पर यहाँ पुनः विचार नहीं किया गया। इतनी सूचना अवश्य देनी है कि यहाँ लकुलीश से विद्यागुरु पर्यन्त अठारह तीर्थेशों की नामावली तो अवश्य दी गई है (पृ. १८१), किन्तु श्वेत से लकुलीश पर्यन्त २८ योगाचार्यों और उनके ११२ शिष्यों की कोई चर्चा नहीं है। उनकी दृष्टि में और एस. एन. दासगुप्त जैसे भारतीय विद्वानों की दृष्टि में यह सब मिथिक है।

कौलमत के प्रसंग में अभिनवगुप्त की यह उक्ति प्रसिद्ध है— "एकत्र मिलितं कौलम्"। वहाँ दक्षिण-वाम आदि मतों की तो चर्चा है ही। हम समझते हैं, सिन्धुघाटी की सभ्यता से अथवा अथर्ववेदीय व्रात्यसूक्त से, नेत्रतन्त्र में वर्णित विश्वरूप के ऊर्ध्वमेढ्र ध्यान से तथा एकलिंग जी के मन्दिर में स्थित ऊर्ध्वमेढ्र-लकुटधारी लकुलीश

की मूर्ति से और नीलपट-दर्शन से जोड़कर इसका अनुशीलन करना होगा। कौल मत के समर्थन में "सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्" यह वैदिक विधि-वाक्य अनेक स्थलों पर उद्धृत मिलता है। वैदिक पदानुक्रमकोश में ऐतरेय ब्राह्मण (७.९) में 'सौत्रामण्याम्' पद तो मिलता है, किन्तु वहाँ का प्रसंग भिन्न है। वैदिक वाङ्मय में इसकी खोज अपेक्षित है। नाथ सम्प्रदाय को हम कौल-सम्प्रदाय का परिष्कृत स्वरूप भी मान सकते हैं। 'जाग मछिन्दर गोरख आया" यह उक्ति इसी ओर इंगित करती हुई-सी लगती है। यही स्थिति कर्णाटक के कालामुख सम्प्रदाय की भी मानी जा सकती है।

बृहदितिहास के तन्त्रागमीय खण्ड (पृ. ११४-११७) में शिवपुराण की वायवीय-संहिता का परिचय देते समय इस पुराण के दो तरह के संस्करणों की सूचना दी गई थी। शिवपुराण के प्रसिद्ध संस्करण का परिचय प्रस्तुत ग्रन्थ (पृ. २५० -२५२) में दिया गया है। दूसरा संस्करण आजकल उपलब्ध नहीं होता। शके १८०६, सन् १८६७ में इसका प्रकाशन बम्बई से गणपत कृष्णा जी के छापाखाने के मालिक आत्माराम कान्होबा ने किया था। यह संस्करण धर्म, कैलास, ज्ञान आदि १२ खण्डों में विभक्त है। ग्रन्थ के उपलब्ध न होने से हम इसका परिचय नहीं दे पा रहे हैं। हमारे बालमित्र पं. मदनमोहन व्यास जी के व्यक्तिगत संग्रह में यह पुराण उपलब्ध था। खेद है कि वे अब नहीं रहे।

वीरशैव मत के लिंगधारणचन्द्रिका जैसे ग्रन्थों में लिंगोद्भवपुराण के उद्धरण मिलते हैं। कुमारदेव की तत्त्वप्रकाश-तात्पर्यदीपिका (पृ. २२-२४) में भी यह उद्धृत है। दक्षिणभारत से तेलुगु लिपि में लिंगपुराण मुद्रित है। उत्तरभारतीय लिंगपुराण से इसमें कुछ भिन्नता हैं। वहाँ इन वचनों की खोज होनी चाहिये।

शैव और शाक्त आगमों के आविर्भाव के विषय में हमने तन्त्रयात्रा (पृ. ६५-६८) में भी कुछ सूचनाएँ दी हैं। शैवाचार्य प्रमाण-तारतम्य के साथ ही सभी शास्त्रों का प्रामाण्य स्वीकार करते हैं। इसकी सूचना शैव प्रकरण (पृ. २९९-३०२) में तथा इस उपसंहाराधिकार (पृ. ८६६) में भी स्पष्ट रूप से सप्रमाण दी गई है। प्रो. एन. एन. भट्टाचार्य (पृ. ४०) के अनुसार छठी शताब्दी के कैलासनाथ मन्दिर में राजसिंह वर्मन् के द्वारा उत्कीर्ण [1]शिलालेख में शिवागम चर्चित हैं।

सिद्धान्तसारावलि (पृ. १५८) में मण्डप की चारों दिशाओं को न्यग्रोध आदि के पल्लवों के तोरणों से सजाने का विधान है। वहीं आगे (पृ. २५५) आमर्दक आदि चार मठों को कदम्ब आदि चार वृक्षों से संबद्ध किया गया है। महाभारत में प्लक्ष-प्रस्रवण

१. साउथ इण्डियन इंस्क्रिप्शंस, भा. १, पृ. २४-२५ देखिये।

तीर्थ का उल्लेख है। वहाँ बताया गया है कि पवित्र सरस्वती नदी का उद्गम प्लक्ष वृक्ष की जड़ से हुआ था। आजकल पूजा के अवसर पर घट को पंच-पल्लवों से अलंकृत किया जाता है। लगता है यह विधान इसी परम्परा से जुड़ा हुआ है।

कुमारदेव की तत्त्वप्रकाश-तात्पर्यदीपिका टीका का विशेष परिचय हमने दिया है। उसकी एक-दो विशेषताओं पर हम यहाँ विचार करना चाहते हैं। उन्होंने प्रीति और आनन्द शब्दों की भिन्नार्थकता को स्थापित किया है (पृ. ६)। वहाँ सत्त्व शब्द की कुछ उसी तरह की व्याख्या की गई है, जैसी रामानुजीय वेदान्त में विशुद्धसत्त्व शब्द की की जाती है। यतीन्द्रमतदीपिका में यह लक्षण इस प्रकार है— "शुद्धसत्त्वं नाम त्रिगुणद्रव्य-व्यतिरिक्तत्वे सति सत्त्ववत्त्वं..." (पृ. ५२)। शुद्धसत्त्व को यहाँ त्रिगुण से भिन्न माना गया है। उसी तरह से कुमार ने प्रीति को सत्त्वगुणात्मक तथा आनन्द को त्रिगुणातीत माना है।

दक्षिण का सिद्धान्तागम अद्वयोन्मुख होता गया है। इस पर भी कुमारदेव और श्रीकण्ठभाष्य का प्रभाव परीक्षणीय है। मोक्ष की परिभाषा बताते हुए कुमार का कहना है कि शरीर, इन्द्रिय आदि उपाधियों के न रहने पर शिवस्वभाव जीवात्मा परमशिव में उसी तरह से विलीन हो जाता है, जैसे घटाकाश की उपाधि घट के नष्ट हो जाने पर परमाकाश में विलीन हो जाती है (पृ. ११)। वे अन्यत्र (पृ. १५) महासुख को ही अपवर्ग मानते हैं। प्रीति और आनन्द शब्दों के अर्थ की चर्चा ऊपर हो चुकी है। कुमार की इस व्याख्या से अघोरशिव के इस आक्षेप की पुष्टि हो जाती है कि अद्वैत दर्शन की वासना से आविष्ट व्यक्तियों ने इसकी गलत व्याख्या की है। स्पष्ट है कुमार की यह व्याख्या अद्वैतवेदान्त का अनुसरण करती है और परवर्ती काल में इसी दृष्टि का अनुसरण कर दक्षिण का सिद्धान्तशैव दर्शन भी अद्वयोन्मुख हो गया। पृ. ३६० की ३ टि. से संबद्ध स्पष्टीकरण का अभिप्राय यह है कि रामकण्ठ विरचित किरणवृत्ति के पांडिचेरी से मुद्रित प्रथम भाग में छः प्रकरण (पटल) प्रकाशित हुए हैं। पाँचवें पटल में शक्तिपात पर विचार किया गया है। क्षेमराज द्वारा उद्धृत कैरण वृत्ति (पृ. ३२२) के वचन से मिलते-जुलते वाक्य यहाँ उपलब्ध हैं। मतान्तर भी चर्चित हैं।

"साम्प्रतिकसंग्रहेषु काश्मीरागमग्रन्थाः"[१] शीर्षक निबन्ध में हमने कश्मीर के आगम, दर्शन और स्तोत्र ग्रन्थों का परिचय दिया है। इसी तरह से "काश्मीरेतिहासः"[२] शीर्षक निबन्ध में इसी नाम के ग्रन्थ की समालोचना के प्रसंग में अपने सुझावों के रूप

---

१. तन्त्रयात्रा, पृ. ९३-९५ द्रष्टव्य।

२. तन्त्रयात्रा, पृ. ९६-१०५ द्रष्टव्य।

में कुछ संशोधन और परिवर्धन प्रस्तुत किये हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में इनका समावेश स्वल्प मात्रा में ही हो सका है। विशेष जिज्ञासु इनको वहीं देख सकते हैं।

अभिनवगुप्त के मत की यहाँ तीन स्थलों पर समालोचना की गई है। एकाशीति पदों के रूप में वे एकाशीतिपदक मन्त्र को उपस्थित करते हैं। क्षेमराज भी इन्हींका अनुसरण करते हैं (पृ. ३८९-३९०)। इसमें आगमों का संवाद अपेक्षित है। इसी तरह से आहंकारिक सृष्टि के प्रसंग में तैजस और वैकृत सृष्टि को लेकर वे खेटपाल के मत की समीक्षा करते हैं (पृ. ४१७-४१८)। इस प्रसंग की भी परीक्षा अपेक्षित है। मलप्रकरण की टिप्पणी में भी ज्ञानाज्ञानगत द्वित्व के प्रसंग (पृ. ३३३, टि. ४) में अभिनवगुप्त के मत की समीक्षा की गई है। पृ. ३२५ पर टिप्पणी की गई है कि तन्त्रालोक में यहाँ का क्रम विपर्यस्त हो गया है। यह इसलिये लिखा गया है कि वहाँ (९. १४०-१४१) विज्ञानाकल और सकल के बाद प्रलयाकल का स्वरूप प्रतिपादित है। विवेक-टीका में यह विषय अधिक स्पष्ट रूप में उल्लिखित है। इन सभी स्थलों पर विद्वानों को विचार करना चाहिये।

शिवोपाध्याय की विवृति के अन्तिम श्लोकों (पृ. १४३) से मालूम होता है कि उनके समय में १ से २४ श्लोक तक की ही क्षेमराज की व्याख्या उपलब्ध थी। शिवोपाध्याय की वृत्ति और क्षेमराज की लेखन-शैली को देखने पर ऐसा लगता है कि शिवोपाध्याय के सामने क्षेमराज की वृत्ति के अन्य कुछ अंश भी रहे होंगे। यह भी अवधेय है कि सन् १९६१ में रिविस्ता डेग्ली स्टडी ओरियन्तली में ४२ श्लोक का क्षेमराज का बोधविलासाख्य योगशास्त्र प्रकाशित हुआ है।

डॉ. गान्द्रियान (पृ. ११०-१११) ने वीरशैवों के प्रसंग में केवल पारमेश्वरतन्त्र का संक्षिप्त परिचय दिया है। यह ग्रन्थ अब पारमेश्वरागम के नाम से शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, वाराणसी से प्रकाशित हो चुका है। डॉ. एन. एन. भट्टाचार्य (पृ. २५७-२५९) ने भी इस मत का और साहित्य का परिचय दिया है। प्राय: सभी आधुनिक इतिहासज्ञ इस मत की प्रवृत्ति १२वीं शताब्दी के बाद ही मानते हैं। डॉ. एस.एन. दासगुप्त ने इस मत की थोड़े विस्तार से चर्चा की है। भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग ५, अध्याय ३५, पृ. ४०-६१ में उन्होंने इस मत के इतिहास और साहित्य को प्रस्तुत किया है। डॉ. दासगुप्त के इतिहास के पाँचवें भाग के विषय में हम लिख चुके हैं[१]। वहाँ (पृ. ५४) मत्स्येन्द्रनाथ को गोरक्ष का शिष्य बताया गया है। मायिदेव के अनुभवसूत्र का वहाँ (पृ. ५७-६१) अवश्य अच्छा परिचय दिया गया है। डॉ. लोरेंजन का इस मत का

१. बृहदितिहास, तन्त्रागम खण्ड (पृ. ११६-११७) देखिये।

परिचय भी इसी ढर्रे का अनुसरण करता है (पृ. १६७-१७२)। लिंगधारणचन्द्रिका के अतिविस्तृत उपोद्घात में प्रो. साखरे ने और "हैण्डबुक और वीरशैविज्म" में प्रो. नन्दीमठ ने इस मत के धर्म-दर्शन और साहित्य का अच्छा परिचय दिया है। इधर काशी के जंगमबाड़ी मठ, ज्ञान सिंहासन के वर्तमान पीठाधीश्वर डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामी जी ने इस विषय पर बहुत कार्य किया है। उसका परिचय दिया जा चुका है।

अपने मत की पुष्टि में वीर शैवाचार्यों ने "तत्प्राणेष्वन्तर्मनसो लिङ्गमाहुः" इस आथर्वण श्रुति को उद्धृत किया है। इस तरह के उद्धृत वचनों में से कुछ वचन मूल स्थान में उपलब्ध नहीं होते। यह समस्या प्राय: सभी सम्प्रदायों की है। इसका कारण हम यही मान सकते हैं कि आचार्य शंकर के द्वारा कृतान्तचतुष्टय की अवैदिकता सिद्ध कर देने पर वैदिकीकरण की जो प्रक्रिया प्रारंभ हुई, उसका यह प्रतिफल हो सकता है। पांचरात्र प्रकरण (पृ. ११२-११३) में चर्चित ब्रह्मसूक्त और महोपनिषत् की भी ऐसी ही स्थिति है।

शाक्ताधिकार में क्रम-मत में प्रतिपादित काली कालसंकर्षिणी तथा क्रमदर्शन का एवं त्रिपुरा-मत में भगवती त्रिपुरसुन्दरी का और वामकेश्वर दर्शन का परिचय दिया गया है। दस महाविद्याओं का पश्चिम स्मार्ताधिकार में इसलिये दिया गया है कि उन पर वैदिक एवं तन्त्रागमीय दृष्टि का समान प्रभाव है। परवर्ती काल में इनका विकास हुआ है। रुद्रयामल एक प्राचीन तन्त्र है। नित्याषोडशिकार्णव, संकेतपद्धति, ज्ञानदीपविमर्शिनी आदि में इस तन्त्र की और इसमें प्रतिपादित कुछ विषयों की भी सूचना मिलती है। परात्रीशिका, विज्ञानभैरव जैसे ग्रन्थ इसके अंश माने जाते हैं। वर्तमान में मुद्रित रूप में उपलब्ध रुद्रयामल में ये विषय नहीं मिलते। रुद्रयामल के परिष्कृत संस्करण की आवश्यकता के संबन्ध में हम अनेक स्थलों पर लिख चुके हैं। संस्कृत विश्वविद्यालय से यह कार्य हो सकता है। जिनको यह लिखित सलाह दी गई, उनको यह अच्छा लगा कि ऐसे सुझावों को ही मिटा दिया जाय।

हालैण्ड में सन् १९८७ में सम्पन्न हुई विश्व संस्कृत परिषद् के ७वें अधिवेशन में आगम-तन्त्र विषयक गोष्ठी में कामकला पर सचित्र लेख पढ़ा गया था। शांकर मठों में कादिमत की परम्परा प्रचलित है या हादिमत की? शुभागमपंचक के नाम से परिगणित संहिताएँ आज उपलब्ध हैं या नहीं? इन सब विषयों की जानकारी अपेक्षित है। शाक्त मत में याग, होम, जप, व्रत और योग नामक पाँच उपाय वर्णित हैं। इस तरह के चार या पाँच उपायों का वर्णन वैष्णव और शैव ग्रन्थों में भी मिलता है।

क्रमदर्शन के अन्तर्गत श्रीपीठ, पंचवाह, नेत्रत्रय, वृन्दचक्र, गुरुपंक्ति, सृष्ट्यादि पंचशक्ति, अनाख्या एवं भासा तत्त्व जैसे विषय "तन्त्रागमीय ज्ञानकोश" में शब्दानुक्रम

से संनिविष्ट हैं। उनका विवरण वहीं देखा जा सकता है। "केवलो यामलो मिश्रश्चक्रयुग् वीरसंकरः" इन पाँच प्रकारों में सम्पन्न होने वाली पूजा का विधान तन्त्रा. (२८. ७९-८२) में बताया गया है। यहाँ (पृ. ८४१) भी यह विषय चर्चित है। तन्त्रा. (१. ११०-१११) में ही इसका दूसरा प्रकार भी वर्णित है। विवेककार ने उसकी विशद व्याख्या की है। छान्दोग्योपनिषद् (१. १२. ४) में श्वानों द्वारा हींकार के उच्चारण की चर्चा बताई जाती है। उत्तरकौल मत शक्तिपारम्यवादी है। शाक्ताधिकार और कौल प्रकरण दोनों स्थलों पर इसका विवरण देखा जा सकता है। भासा आदि क्रमदर्शन के पंचकृत्यों की सिद्धान्तशैव मत में वर्णित पंचकृत्यों से तुलना की गई है। ज्ञानदीपविमर्शिनी (पृ. ५२) में षड्विध आसनों में अमृतार्णव और पोताम्बुज की भी गणना है। तन्त्रा. (८.२१) में पोतारूढ अनन्त का उल्लेख है। यहाँ पोताम्बुजासन की ही चर्चा लगती है। तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में वेदों के समर्थन और विरोध में वचन मिल सकते हैं, विषयानुक्रमणी के आधार पर इनकी जानकारी मिल सकती है। तन्त्रवार्त्तिक[1] में— "स्त्र्युपायमांसभक्षादिपुरुषार्थमपि श्रितः" इस वचन में कौल उपादानों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इससे भट्ट कुमारिल के समय में भी कौल मत की प्रवृत्ति की सूचना मिलती है। इससे डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय के द्वारा निर्धारित मत्स्येन्द्रनाथ के समय की पुष्टि होती है। शाक्त तन्त्रों की प्राचीनता पर "आगम और तन्त्रशास्त्र" की पृ. १४ की २-५ टिप्पणियों में तथा तन्त्रयात्रा (पृ. ८५-८९) में भी प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं। धर्मकीर्ति के किसी ग्रन्थ में कुलालिकाम्नाय चर्चित है, ऐसी सूचना मिलती है। इनके प्रमाणवार्त्तिक में दीक्षाविषयक मत की समालोचना का प्रसंग आ चुका है। इससे भी शाक्त तन्त्रों की प्राचीनता पर प्रकाश पड़ता है।

कुल्लुका अथवा कुरुकुल्ला की उपासना शक्तिसंगमतन्त्र (२. ६. १६-३५), तन्त्रराजतन्त्र (२२ पटल) आदि में वर्णित है। बौद्ध तन्त्रों में इनका विशद विवेचन मिलता है। साधनमाला जैसे ग्रन्थों में इनसे संबद्ध अनेक साधन उपलब्ध है। इसको हम परवर्ती शाक्त तन्त्रों पर बौद्ध प्रभाव मान सकते हैं।

वैष्णवाधिकार में लोकनाथ के नाम से बुद्धावतार चर्चित है, यह विस्तार से बताया जा चुका है (पृ. १२३-१२४)। बौद्ध वाङ्मय में लोकनाथ और शास्ता शब्द का प्रयोग भगवान् बुद्ध के लिये किया गया है। सिद्धान्तशैव प्रकरण में भी शास्ता पद प्रयुक्त हुआ है (पृ. ४०५)।

---

१. त. वा. (१.३.२७), आनन्दाश्रम संस्करण, पृ. २२३

शैव और वैष्णव आगमों में विद्या (ज्ञान), क्रिया, योग और चर्या का एक ही ग्रन्थ के चार पादों के रूप में वर्णन हुआ है, किन्तु बौद्ध तन्त्रों में कुछ ही ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनमें इन सभी का एक साथ वर्णन मिलता है। वहाँ के अधिकांश तन्त्र ऐसे हैं, जिनमें क्रिया, चर्या, योग एवं अनुत्तर विभागों का और अनुत्तर विभाग में भी पितृ-मातृ-अद्वय तन्त्रों का अलग-अलग ग्रन्थों में वर्णन हुआ है। यह कैसे हुआ ? इस पर विचार अपेक्षित है।

कौल तन्त्रों के विषय में यहाँ स्वतन्त्र कौल प्रकरण में तथा शाक्ताधिकार के अन्तर्गत भी विचार किया गया है। उसके साथ बौद्ध तन्त्रों की तुलना अपेक्षित है। महामुद्रा का परिचय बौद्ध तन्त्रकोश प्रथम भाग की प्रस्तावना (पृ. ४०-४२) में दिया गया है। मालिनीमत में भी महामुद्रा की चर्चा मिलती है। इनकी तुलना अपेक्षित है। शक्तिसंगम- तन्त्र आदि के प्रमाण से समताष्टक मार्ग का परिचय दिया जा चुका है (पृ. ५८)। बौद्ध और बौद्धेतर सिद्धियों के रूप में सिद्धियों का जो वर्णन हुआ है, वह उचित नहीं है, यह बताया जा चुका है। पातंजल योगसूत्र में वर्णित सिद्धियों के प्रसंग में डॉ. सम्पूर्णानन्द जी ने अपने 'योगशास्त्र' नामक ग्रन्थ में जो विचार व्यक्त किये हैं, वे विचारणीय हैं। सिद्धियों के साथ सिद्ध जुड़े हुए हैं। शैवसिद्धान्त प्रकरण में इनकी चर्चा आ चुकी है। पृ. ६८५ के अनुसार लुइपा मत्स्येन्द्रनाथ से अभिन्न हैं, किन्तु पृ. ६९७ और पृ. ६९९ में चर्चित लुइपा परवर्ती आचार्य ही होने चाहिये। जैन शास्त्रों में सिद्धशिला की भी चर्चा मिलती है।

शून्यवाद के प्रतिष्ठापक नागार्जुन का शून्य चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त है, किन्तु आलोकमालाकार कम्बलपाद ने शून्य का लक्षण यह दिया है—

विरुद्धत्वात् तमोवृत्तेर्नावकाशं ददाति सा।
सावस्था काप्यविज्ञेया मादृशां शून्यतोच्यते।
न पुन लोंकरूढ्यैव नास्तिकार्थानुपातिनी।।

इसी के साथ—

सर्वालम्बनधर्मैश्च सर्वतत्त्वैरशेषतः।
सर्वक्लेशाशयैः शून्यं न शून्यं परमार्थतः।।

यह वचन भी स्पन्दनिर्णय तन्त्रालोकविवेक जैसे शैव ग्रन्थों में मिलता है। शून्य की कुछ इसी तरह की परिभाषा शैव-शाक्त तन्त्रों के और अद्वैतवादी सन्तों के वचनों में भी उपलब्ध होती है। बौद्ध तन्त्रों में वीर शब्द का प्रयोग भी उसी अर्थ में होता है, जिस अर्थ में वह शाक्त तन्त्रों में, विशेषकर कौल तन्त्रों में हुआ है (पृ. ३९१ टि.)। शाक्त तन्त्रों

में त्रिकोण को केवल एकाराकृति कहा है, किन्तु बौद्ध तन्त्रों ने इसे वंकारभूषित भी माना है (पृ. ३९५)।

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थमाला में प्रकाशित ग्रन्थों की सूचना हम दे चुके हैं। यह एक गतिशील प्रक्रिया है और इधर यहाँ से आर्यदेव के चर्यामेलापकप्रदीप का तथा सटीक तत्त्वज्ञानसंसिद्धि का भी प्रकाशन हुआ है। बौद्ध तन्त्रों के समान कुब्जिकामत में भी २४ पीठ वर्णित हैं। इनकी समीक्षा अपेक्षित है।

बौद्ध स्थविरवादियों के समान जैन धर्मावलंबियों का भी यह आग्रह है कि इनके यहाँ तन्त्रशास्त्र का कोई स्थान नहीं है। इस विषय पर बौद्धों की अपेक्षा जैन अधिक आग्रहशील हैं। इस मानसिकता के कारणों की समीक्षा हम कर चुके हैं (पृ. ७७६)। जैन धर्म से संबद्ध आधुनिक ग्रन्थों में वैदिक वाङ्मय के लिये ब्राह्मण शब्द प्रयुक्त हुआ है। यह उन पर पाश्चात्य दृष्टि का प्रभाव है। यह इसलिये कहा जा रहा है कि प्राचीन जैन ग्रन्थों में और पं. सुखलाल जी संघवी जैसे समन्वयवादी आधुनिक जैन विद्वान् ने उसके लिये वैदिक शब्द का ही आदरपूर्वक प्रयोग किया है, बौद्ध विद्वानों के जैसे उपहास के रूप में नहीं। अब तक हमें जैन तन्त्र के रूप में केवल नवचक्रेश्वर तन्त्र की ही सूचना मिली है, किन्तु सौन्दर्यलहरी की व्याख्या लक्ष्मीधरा में ६४ तन्त्रों की गणना करते समय जैन तन्त्रों और क्षपणक तन्त्रों का भी उल्लेख मिलता है। इस उल्लेख को बहुत प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। नवचक्रेश्वर तन्त्र के विषय में भी हमें कोई जानकारी नहीं है। जैन पुस्तक भाण्डागारों में दिव्यौघ अथवा सिद्धौघ परम्परा के जैन तन्त्रों की खोज होनी चाहिये।

जैन तन्त्रों के समान हम स्मार्त तन्त्रों पर भी विशद प्रकाश नहीं डाल पाये हैं। छठी शताब्दी से पहले के शिलाशासनों का अनुशीलन अवश्य हुआ होगा। उसकी जानकारी हमें नहीं है। इनसे पांचरात्र-पाशुपत मत और स्मार्त-परम्परा की जानकारी मिल सकती है। प्रपंचसार से पहले के तत्त्वसागरसंहिता जैसे स्मार्त तन्त्रों की परम्परा कितनी पुरानी है, इसका अभी निश्चय करना है। विष्णुधर्मोत्तर उपपुराण छठी-सातवीं शताब्दी का ग्रन्थ माना जाता है। वायुपुराण की स्थिति इससे भी पहले मानी गई है। पहले ग्रन्थ में पंचायतन पूजा के उपादान मिलते हैं। वायुपुराण की षड्दर्शनों की नामावली में आर्हत दर्शन का भी उल्लेख है। इस पूरी सामग्री का उपयोग हम स्मार्त-तन्त्रों और स्मार्त-दृष्टि की पृष्ठभूमि की तलाश में कर सकते हैं। स्मार्त-तन्त्रों के प्रसंग में यहाँ स्मार्त वैष्णवों की चर्चा आई है (पृ. ८२१)। वैष्णवाधिकार में वैखानस, पांचरात्र और भागवत नामक त्रिविध वैष्णवागमों की तथा

दस प्रकार के वैष्णव सम्प्रदायों की चर्चा आई है। इनमें से कुछ सम्प्रदायों का स्मार्त तन्त्रों में तथा अन्य का विविध वैष्णव मत-मतान्तरों में समावेश कर सकते हैं।

इस विहगावलोकन के साथ ही अब हम लेखनी को विराम देना चाहते हैं। ग्रन्थ में समाविष्ट षड्विध तन्त्रों के दीक्षा, मन्त्र, मुद्रा जैसे प्रमुख विषयों के, दार्शनिक दृष्टिभेद के और तन्त्रागमीय संस्कृति के विश्लेषण की इच्छा थी, किन्तु ग्रन्थ का आकार अपेक्षा से अधिक बढ़ गया है, अतः अब हम अपने लोभ का संवरण कर रहे हैं। प्रबुद्ध पाठकों की सुविधा के लिये यहाँ विशद विषयानुक्रमणी संयोजित की गई है। उसकी सहायता से पाठकगण स्वयं भी विभिन्न विषयों और दार्शनिक दृष्टियों में तारतम्य स्थापित कर सकते हैं। तन्त्रागमीय संस्कृति के ऊपर हमने बहुत कुछ लिखा है और आगे भी लिखते रहने का विचार है। अन्त में विद्वानों से हमारा यह नम्र निवेदन है—

तन्त्रागमाब्धिं संमथ्य स्वधिया गुरुलब्धया।
उद्घाटितास्ततो लब्धाः सिद्धान्ताः सुविचारिताः।।
गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
सूचनीयास्ततो ह्यर्थाः सन्तोषाय मनीषिभिः।।

।। इति शुभम् ।।

***

अनुक्रमणी भाग

- ग्रन्थकार-नामानुक्रमणी
- ग्रन्थ-नामानुक्रमणी
- मत-मतान्तर-नामानुक्रमणी
- स्थानादि-नामानुक्रमणी
- देवता-नामानुक्रमणी
- विशिष्ट-विषयानुक्रमणी

ग्रन्थकार-नामानुक्रमणी



ग्रन्थ-नामानुक्रमणी

***

मतमतान्तर-नामानुक्रमणी

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)



स्थानादि-नामानुक्रमणी

***

देवता-नामानुक्रमणी

***

विशिष्ट-विषयानुक्रमणी

***

OTHER IMPORTANT PUBLICATIONS

1. **Liṅgadhāraṇacandrikā**
   Nandikeshvara Shivacharya Rs.150.00
2. **Siddhāntaśikhāmaṇi (Marathi)**
   Ed. by Dr. Chandrashekhar Shivacharya Mahaswami Rs.200.00
3. **Brahmasūtraśrīkanṭhabhāṣyam**
   Ed. by Pt. Vrajavallabha Dwivedi Rs.150.00
4. **Vīraśaiva Aṣṭāvaraṇa Vijñāna**
   Dr. Chandrashekhar Shivacharya Mahaswami Rs. 50.00
5. **Siddhāntaśikhāmaṇisamīkṣā**
   Dr. Chandrashekhar Shivacharya Mahaswami Rs.200.00
6. **Nigamāgama Sanskṛti (Hindi)**
   Pt. Vrajavallabha Dwivedi Rs.200.00
7. **Sūkṣmāgamaḥ**
   Ed. by Pt. Vrajavallabha Dwivedi Rs.150.00
8. **Candrajñānāgamaḥ**
   Ed. by Pt. Vrajavallabha Dwivedi Rs.200.00
9. **Makuṭāgamaḥ**
   Ed. by Pt. Vrajavallabha Dwivedi Rs.125.00
10. **Kāraṇāgamaḥ**
    Ed. by Prof. Rama Chandra Pandey Rs.175.00
11. **Nigamāgamīyamsanskṛ tidarśanam**
    Pt. Vrajavallabha Dwivedi Rs.300.00
12. **Pārameśvarāgamaḥ**
    Ed. by Pt. Vrajavallabha Dwivedi Rs.350.00
13. **Candrajñānagama (English)**
    Tr. by Dr. Rama Ghose Rs.300.00
14. **Iśāvāsyopaniṣad**
    Ed. by Pt. Jagannath Shastri Tailanga Rs.150.00
15. **Kenopaniṣad**
    Ed. by Pt. Jagannath Shastri Tailanga Rs.200.00
16. **Siddhāntaprakāśikā**
    Ed. by Pt. Vrajavallabha Dwivedi Rs.100.00

17. **Makuṭāgama (English)**
Tr. by Dr. Rama Ghose Rs.175.00

18. **Śaktiviśiṣṭādvaitatattvatrayavimarśaḥ**
Dr. Chandrashekhar Shivacharya Mahaswami Rs.300.00

19. **Anubhavasūtram**
Ed. by Pt. Gajanana Shastri Musalgaonkar Rs.200.00

20. **Siddhāntaśikhopaniṣad**
Ed. by Pt. Jagannath Shastri Tailanga Rs.350.00

21. **Brahmasūtraśānkarīvṛttiḥ**
Ed. by Dr. Kedarnath Tripathi Rs.250.00

22. **Siddhāntasārāvaliḥ**
Ed. by Pt. Vrajavallabha Dwivedi Rs.550.00

23. **Srī Gurugītā**
Ed. by Pt. Vrajavallabha Dwivedi Rs.200.00

24. **Śivādvaitadarpaṇaḥ**
Shivanubhava Shivacharya Rs.150.00

25. **Siddhāntaśikhamaṇi Mīmāmsā**
Ed. by Pt. Vrajavallabha Dwivedi Rs.350.00

26. **Devīkālottarāgamaḥ**
Ed. by Vrajavallabha Dwivedi Rs.150.00

27. **Tantrāgamīya Jñānakośa**
Ed. by Dr. Chandrashekhar Shivacharya Mahaswami et.al. Rs.300.00

28. **Pārameśvarāgama (English)**
Tr. by Dr. Rama Ghose Rs.400.00

29. **Sanskrit mein Vīraśaiva Sāhitya**
Shanmukhayya Akkurmath Rs.150.00

30. **Ṛgvedasyaprathamamaṇḍalasya Sāyaṇavenkaṭa mādhavabhāṣyayostulanatmakamadhyayanam**
Dr. Pramodini Panda Rs.400.00

शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्
जंगमवाडी मठ, वाराणसी-२२१००१